अक्टूबर-दिसंबर : 2010

मूल्य : 100 रुपये

फ़ैज़ जन्मशती विशेषांक

नया पथ

अक्टूबर-दिसंबर : 2010

संस्थापक
शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श
शिव कुमार मिश्र
ज़ुबैर रज़वी

संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

संपादकीय सहयोग

कांतिमोहन सोज़
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार

इस अंक की सहयोग राशि
दो सौ रुपये (डाक ख़र्च अलग)

कार्यालय सहयोग
सुजीत कुमार

संपादकीय कार्यालय
42, अशोक रोड
नयी दिल्ली - 110001
Email : jlscentre@yahoo.com
फोन : 011-23738015
मो. : 9818859545, 9811119391
Website: www.jlsindia.org

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतः गैरव्यावसायिक और अवैतनिक।

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

फ़ैज़ विशेषांक

अंक-4 अक्टूबर-दिसंबर 2010

अनुक्रम

संपादकीय : यूं ही उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क़ / 3

खंड एक : यादों के अक्स

आपबीती दास्तान एक : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 7
आपबीती दास्तान दो : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 17
यादों के साये : *एलिस फ़ैज़* / 23
एक हौसलामंद दिल की आवाज़ : *अलेक्ज़ेंडर सुर्कोफ़* / 29
रूदादे-क़फ़स : *मेजर मुहम्मद इस्हाक़* / 33
शख़्सियत के जुदा-जुदा पहलू : *आफ़ताब अहमद* / 54
फ़ैज़ से मेरी मुलाक़ात : *सूफ़ी गुलाम मुस्तफ़ा 'तबस्सुम'* / 69
मंटगोमरी से मास्को तक : *लुदमिला वेसिलेवा* / 71
उनका दूसरा घर : मास्को में हिंदुस्तान का दूतावास : *इंद्रकुमार गुजराल* / 85
वो बात जिसका फ़साने में कोई ज़िक्र न था : *कांतिमोहन* / 93
मैंने फ़ैज़ को देखा था : *केदारनाथ सिंह* / 109
हमारे वजूद का एक हिस्सा : *असग़र वजाहत* / 112
हिंदुस्तान में जश्ने फ़ैज़ की एक रपट : *शरद दत्त* / 115

खंड दो : ख़तोकिताबत और बातचीत

फ़ैज़ अपने ख़तों के आईने में : *ज़हूर सिद्दीक़ी* / 123
एलिस के ख़त फ़ैज़ के नाम : *नूर ज़हीर* / 131
रज़िया सज्जाद ज़हीर के नाम फ़ैज़ का एक ख़त / 136
ज़बान सरकारों से नहीं, लोगों से चलती है : *इब्बार रब्बी* / 140
दृष्टिकोण कला का अभिन्न अंग है : *नईम अहमद* / 157
बुद्धिजीवी और राष्ट्रीय एकता : *सुनीत चोपड़ा* / 151

खंड तीन : चुनी हुई रचनाएं

रख दी है हर एक हल्क़ा-ए-ज़ंजीर में ज़बां मैंने

नज़्में और ग़ज़लें / 159

लेख-आलेख

फ़ैज़-अज़-फ़ैज़ / 207
प्रगतिशील लेखकों से कुछ बातें : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज* / 211
अविकसित देशों की सांस्कृतिक समस्याएं : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 218
ग़ज़ल की भावभूमि में अन्विति : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 221
इक़बाल अपनी नज़र में : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 228
इब्तिदाइया : *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* / 233

खंड चार : अदीबों की नज़र में

सच्चाई का नूर एक : *सज्जाद ज़हीर* / 237
सच्चाई का नूर दो : *सज्जाद ज़हीर* / 239
असलियत का राज़ खोलने वाली शायरी : *शमशेरबहादुर सिंह, मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी* / 246
परंपरागत ज़बान में एक जुदा अंदाज़ का जादू : *मुहम्मद अली सिद्दीक़ी* / 249
विश्वकाव्य की अमूल्य धरोहर : *मुहम्मद हसन* / 258
अभिप्राय और व्यंजना की निरंतरता : *वज़ीर आग़ा* / 262
नवक्लासिकीयत और तरक़्क़ीपसंदी में मिलाप बिंदु की तलाश : *शमीम हनफ़ी* / 273
फ़ैज़ की काव्य शैली : *ज़ुबैर रज़वी* / 286
जिस धज से कोई मक़तल में गया : *कांतिमोहन* / 293
लय में सामूहिकता का एहसास : *राजेश जोशी* / 304
ख़्वाब का शायर : *मंगलेश डबराल* / 309
इज़हारे-अक़ीदत और वक़्त की कैफ़ियत : *असद ज़ैदी* / 313
रूमानियत का एक ख़ास अंदाज़ : *अरुण कमल* / 320
कपास में आग : *कृष्ण कल्पित* / 325
ग़ुरूरे इश्क़ का बांकपन : *मनमोहन* / 334
निर्वासन के दर्द का एहसास : *चंचल चौहान* / 343
आशा भरे अवसाद के विश्व-कवि : *प्रणय कृष्ण* / 349
हिंदुस्तान का गीतात्मक इतिहास : *आमिर आर. मुफ़्ती* / 363
शायरी है कि पैग़ाम है : *ज़हूर सिद्दीक़ी* / 374
हर दौर में तारीख़ का उन्वां : *अर्जुमंद आरा* / 379
हर क़दम हमने आशिक़ी की है : *वैभव सिंह* / 390
सुर्ख़ चिराग़ की लौ : *मोहम्मद ज़फ़र इक़बाल* / 398
पंजाबी कविता : *सतिंदर सिंह नूर* / 404
कथा-साहित्य के संदर्भ में आलोचना-दृष्टि : *अली अहमद फ़ातमी* / 407
फ़ैज़ के गायक : *सुहैल हाशमी* / 417

फ़ैज़ के प्रति

रोशनी की आवाज़ : *देवी प्रसाद त्रिपाठी* / 421
फ़ैज़ को समर्पित एक ग़ज़ल : *नसीम अजमल* / 422
फ़ैज़ : जीवन-वृत्त / 423

संपादकीय

यूं ही उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क़

ज़ुल्म और ख़ल्क़ के बीच चल रहे अंतहीन संघर्ष की समझ रखने वाले एक महान रचनाकार और चिंतक के नाते फ़ैज़ को उनकी जन्मशती पर याद करने का मतलब है ख़ुद को इस टकहराट में हस्तक्षेप के लिए तैयार करना। यों तो फ़ैज़ की सृजन-यात्रा आज भी संपूर्ण लेखक-पाठक समुदाय के लिए बहुत ही प्रेरक और प्रासंगिक है।

पर हिंदुस्तान के प्रसंग में, पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध की ज़रूरतों के बारे में कृश्नचंदर की आत्मकथा *आधे सफ़र की पूरी कहानी* पुस्तक का हवाला देना ज़रूरी है। मई 1967 में फ़ैज़ और कृश्नचंदर दोनों सोवियत लेखकों के एक सम्मेलन में मास्को के एक बड़े होटल के प्रीतिभोज समारोह में उपस्थित थे, जहां हिंदुस्तान की अलग मेज़ थी और पाकिस्तान की अलग। दोनों मेज़ों पर दोनों देशों के अलग-अलग झंडे लगे थे। दोनों देशों की मेज़ों के बीच 30 मेज़ों की दूरी थी। पुस्तक में इस घटना को याद करते हुए कृश्नचंदर बताते हैं : 'यकायक मेरी और फ़ैज़ की आंखें चार हुईं। वे फ़ौरन अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए, मैं अपनी कुर्सी से। फिर हुआ यह कि मैं अपनी मेज़ से हिंदुस्तान का झंडा लिये उठा और फ़ैज़ अपनी मेज़ से पाकिस्तान का झंठा लिये उठे और हम दोनों एक दूसरे की तरफ़ बढ़ते हुए, मेज़ें पार करते हुए बीच की किसी मेज़ पर आकर रुक गये। उस मेज़ पर हम दोनों ने हिंदुस्तान और पाकिस्तान के झंडे साथ-साथ लहरा दिये और एक-दूसरे के गले लग गये। सारा हॉल तालियां पीटने लगा।'

फ़ैज़ केवल भारत-पाक दोस्ती के समर्थक ही नहीं, पाकिस्तान में लोकतंत्र की स्थापना के संघर्ष के भी अग्रणी संस्कृतिकर्मी थे। सिर्फ़ यही नहीं, वैश्विक पूंजी और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सारी दुनिया के उत्पीड़ित देशों और जनगणों के मुक्तिसंघर्ष के साथ एकजुटता का इज़हार करने वाले कलास्रष्टा और व्याख्याता के नाते भी उनकी ज़बर्दस्त भूमिका रही है। इसीलिए वे हमें प्रेरित करते हुए यह अपनी तरह से बता जाते हैं कि हक़ीक़त और अपनी परंपरा के प्रति हमें क्या रुख़ अख़्तियार करना चाहिए। निरंतर लौ देने वाली इस थाती, इस विरसे और इस चिराग़ को हम भूल नहीं सकते और इस चिराग़ की लौ से नये-नये चिराग़ रौशन होते रहेंगे।

आज की साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यसूची को ध्यान में रखकर ही हम लोगों ने फ़ैज़ जन्मशती विशेषांक की योजना बनायी। इस संदर्भ में एक ख़ास वजह यह भी है कि हिंदी पाठक-समुदाय के लिए उनके जीवन और संघर्ष से संबंधित कोई किताब है ही नहीं, किसी भी प्रकाशक ने नहीं छापी। पत्रिकाओं ने छिटपुट ढंग से कुछ चीज़ें छापी हैं। पर इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण प्रयास नवंबर 1984 के अंक के माध्यम से सव्यसाची के संपादन में *उत्तरगाथा* के फ़ैज़ विशेषांक द्वारा किया गया था। उसके

संपादकमंडल के सहयोगियों में *नया पथ* संपादक मंडल के तीन सदस्य भी उस समय शामिल थे और कांतिमोहन सोज़ ने तो उसमें अग्रणी भूमिका निभायी थी। अतः *उत्तरगाथा* के उस विशेषांक की कुछ महत्वपूर्ण सामग्री भी इस विशेषांक में शामिल कर ली गयी है। इस विशेषांक को भी *उत्तरगाथा* के उसी विशेषांक की एक कड़ी के रूप में देखना चाहिए।

अपने इस विशेषांक की सीमाओं का भी हमें एहसास है। इस अंक में हम एफ्रो-एशियन लेखक संघ और उसकी पत्रिका *लोटस* से संबंधित न तो कोई दस्तावेज़ प्रस्तुत कर पा रहे हैं और न एफ्रो-एशियन लेखकों के आंदोलन के बारे में कोई विश्लेषणात्मक आलेख ही दे सके हैं। यह उल्लेखनीय है कि एफ्रो-एशियन लेखक संघ की स्थापना के समय से ही अर्थात 1958 से फ़ैज़ उससे जुड़े हुए थे और कुछ वर्षों तक उन्होंने बैरूत (लेबनान) से *लोटस* पत्रिका का संपादन भी किया था।

फ़ैज़ के व्यक्तित्व, चिंतन, संघर्षशीलता और उनकी शायरी के प्रति गहरा अनुराग रखने वाली हिंदी-उर्दू भाषी जनता की भावनाओं को हिंदी के वरिष्ठ और युवा रचनाकारों के आलेखों और उनकी टिप्पणियों में पढ़ा जा सकता है। यह पहली बार है कि हिंदी के कवियों ने एक साथ एशिया महाद्वीप की इस मुखर क्रांतिकारी आवाज़ को याद किया है और उन्हें अपनी रचनात्मक ऊर्जा का स्रोत बताया है।

इस विशेषांक के लिए कुछ दुर्लभ सामग्री प्राप्त करने में हमारी मदद विशेष रूप से प्रो. अली अहमद फ़ातमी (इलाहाबाद), ज़ुबैर रज़वी, ज़हूर सिद्दीक़ी और के. जी. वर्मा(दिल्ली) तथा डॉ. केवल धीर (लुधियाना) ने की है, इन तीनों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं।

कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, लॉस एंजिल्स कैम्पस के तुलनात्मक साहित्य विभाग में प्रोफ़ेसर आमिर मुफ़्ती के प्रति भी हम शुक्रिया अदा करते हैं, जिन्होंने न केवल अंग्रेज़ी में लिखित अपना आलेख ही भेजा, बल्कि निर्वासन की पीड़ा पर एडवर्ड सईद की किताब का फ़ैज़ से संबंधित अंश भी ई-मेल के ज़रिये हमें उपलब्ध कराया।

इस विशेषांक के लेखकों, अनुवादकों और फ़ैज़ की जन्मशती पर अपनी कलाकृतियां रचने वाले कलाकारों के प्रति हम आभारी हैं।

सौजन्य-सहयोग करने वाले मित्रों तथा विज्ञापनदाताओं के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

खंड एक

यादों के अक्स

आपबीती दास्तान एक

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने 7 मार्च 1984 ई. को अपनी मृत्यु से आठ महीने पहले एशियन स्टडी ग्रुप के निमंत्रण पर इस्लामाबाद के एक सम्मेलन में बेबाक अंदाज़ में अपनी ज़िंदगी के लंबे सफ़र को जिस तरह बयान किया था, उसे पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है; ज़िंदगी के इस सफ़र को 'पाकिस्तान टाइम्स' ने दो किस्तों में फ़ैज़ की सालगिरह के अवसर पर 13, 14 जनवरी 1990 के संस्करण में पहली बार प्रकाशित किया था। फ़ैज़ की इस आपबीती को साभार पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है। सं.

मेरा जन्म उन्नीसवीं सदी के एक ऐसे फक्कड़ व्यक्ति के घर में हुआ था जिसकी ज़िंदगी मुझसे कहीं ज़्यादा रंगीन अंदाज़ में गुज़री। मेरे पिता सियालकोट के एक छोटे से गांव में एक भूमिहीन किसान के घर पैदा हुए, यह बात मेरे पिता ने बतायी थी और इसकी तस्दीक गांव के दूसरे लोगों द्वारा भी हुई थी। मेरे दादा के पास चूंकि कोई ज़मीन नहीं थी इसलिए मेरे पिता गांव के उन किसानों के पशुओं को चराने का काम करते थे जिनकी अपनी ज़मीन थी। मेरे पिता कहा करते थे कि पशुओं को चराने गांव के बाहर ले जाते थे जहां एक स्कूल था। वह पशुओं को चरने के लिए छोड़ देते और स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त करते, इस तरह उन्होंने प्राथमिक स्तर की शिक्षा पूरी की। चूंकि गांव में इससे आगे की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी, वह गांव से भाग कर लाहौर पहुंच गये। उन्होंने लाहौर की एक मस्जिद में शरण ली। मेरे पिता कहते थे कि वह शाम को रेलवे स्टेशन चले जाया करते थे और वहां कुली के रूप में काम करते थे। उस ज़माने में ग़रीब और अक्षम छात्र मस्जिदों में रहते थे और मस्जिद के इमाम से या आस-पास के मदरसों में निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। इलाक़े के लोग उन छात्रों को भोजन उपलब्ध कराते थे। जब मेरे पिता मस्जिद में रहा करते थे तो उस ज़माने में एक अफ़गानी नागरिक जो पंजाब सरकार का मेयर था, मस्जिद में नमाज़ पढ़ने आया करता था। उसने मेरे पिता से पूछा कि क्या वह अफ़ग़ानिस्तान में अंग्रेज़ी अनुवादक के तौर पर काम करना पसंद करेंगे, तो मेरे पिता ने अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए अफ़ग़ानिस्तान जाने का इरादा कर लिया। यह वह समय था जब अफ़ग़ानिस्तान के राजमहल में आये दिन परिवर्तन होता रहता था। अफ़ग़ानिस्तान और इंग्लैंड के बीच डूरंड संधि की आवश्यकता का अनुभव भी उसी समय में हुआ और इसीलिए अफ़ग़ानिस्तान के राजा ने मेरे पिता को अंग्रेज़ों के साथ बात-चीत करने में सहायता करने के उद्देश्य से दरबार से अनुबंधित कर लिया। इसके बाद वह मुख्य सचिव और फिर मंत्री भी नियुक्त हुए। उनके ज़माने में विभिन्न क़बीलों का दमन किया गया जिसके परिणामस्वरूप हारने वाले क़बाइल (क़बीला का बहुवचन) की ख़ास औरतों को राजमहल के कारिंदों में वितरित कर

दिया जाता था। ये औरतें मेरे पिता के हिस्से में भी आयीं, नहीं मालूम उनकी संख्या तीन थी या चार। बहरहाल अफ़ग़ानिस्तान के राजमहल में पंद्रह साल सेवा देने के बाद वह तंग आ गये और उनका ऊब जाना स्वाभाविक भी था क्योंकि राजा के अफ़ग़ानी मूल के कर्मचारियों को एक विदेशी का दरबार में प्रभावी होना खटकता था। मेरे पिता को प्रायः ब्रितानी एजेंट घोषित किया जाता और जब उस अपराध के फलस्वरूप उन्हें मृत्युदंड दिये जाने की घोषणा होती तो नियत समय पर यह सिद्ध हो जाता के वह निर्दोष हैं और उन्हें आगे पदोन्नति दे दी जाती। लेकिन एक दिन उन्होंने फ़कीर का भेस बदला और अफ़गानिस्तान के राजमहल से फ़रार हो गये और लाहौर वापस आ गये लेकिन यहां वापस आते ही उन्हें अफ़ग़ानी जासूस होने के आरोप में पकड़ लिया गया।

मेरे पिता की तरह फक्कड़ाना स्वभाव रखने वाली एक अंग्रेज़ महिला भी उस ज़माने में डाक्टर के रूप में दरबार से जुड़ी थी। उसका नाम हैमिल्टन था। उससे मेरे पिता की मित्रता हो गयी थी। अफ़ग़ानिस्तान के राजा से उसे जो भी पुरस्कार मिला था उसे उसने लंदन में सुरक्षित कर रखा था। इस प्रकार जब मेरे पिता अफ़ग़ानिस्तान से निकल भागे तो उसने उन्हें लिखा 'तुम लंदन आ जाओ'। इस आमंत्रण पर मेरे पिता लंदन पहुंच गये और जब ब्रिटेन की सरकार को उनके लंदन आगमन की सूचना मिली तो मेरे पिता को यह संदेश मिला कि चूंकि अब तुम लंदन में हो तो मेरे दूत क्यों नहीं बन जाते? मेरे पिता ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। और साथ ही उन्होंने कैंब्रिज में अपनी आगे की शिक्षा का क्रम भी जारी रखा। वहीं उन्होंने क़ानून की डिग्री भी प्राप्त की। मेरे पिता का नाम सुल्तान था इसलिए मैं फ़ारसी का यह मुहावरा तो अपने लिए दुहरा ही सकता हूं कि 'पिदरम सुल्तान बूद' (मेरे पिता राजा थे)।

क़ानून की डिग्री प्राप्त करने के बाद मेरे पिता सियालकोट लौट आये। मेरी आरंभिक शिक्षा मुहल्ले की एक मस्जिद में हुई। शहर में दो स्कूल थे एक स्कॉच मिशन की और दूसरा अमरीकी मिशन की निगरानी में चलता था। मैंने स्कॉच मिशन के स्कूल में प्रवेश ले लिया। यह हमारे घर से नज़दीक था। यह ज़माना ज़बरदस्त राजनीतिक उथल-पुथल का था। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था और भारत में कई राष्ट्रीय आंदोलन आकर्षण का केंद्र बन रहे थे। कांग्रेस के आंदोलन में हिंदू और मुसलमान दोनों ही क़ौमें हिस्सा ले रही थीं लेकिन इस आंदोलन में हिंदुओं की बहुलता थी। दूसरी ओर मुसलमानों की तरफ़ से चलाया जाने वाला ख़िलाफ़त आंदोलन था।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर परिदृश्य यह था कि तुर्क क़ौम ब्रितानी और यूनानी आक्रांताओं के विरुद्ध पंक्तिबद्ध थी परंतु उस्मान वंशीय ख़िलाफ़त को बचाया नहीं जा सका और तुर्की अंततः कमाल अतातुर्क के क्रांतिकारी विचारों के प्रभाव में आ गया जिन्हें आधुनिक तुर्की का निर्माता कहा जाता है। एक तीसरा आंदोलन सिक्खों का अकाली आंदोलन था जो सिक्खों के सभी गुरुद्वारों को अपने अधीन लेने के लिए आंदोलनरत था। इस प्रकार लगभग छः सात साल तक हिंदू, मुस्लिम और सिक्ख तीनों ही अंग्रेज़ के विरुद्ध एक साझे एजेंडे के तहत आंदोलन चलाते रहे।

हमारे छोटे से शहर सियालकोट में जब भी महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू और सिक्खों के नेता आते थे तो पूरा शहर सजाया जाता, बड़े-बड़े स्वागत द्वार फूलों से बनाये जाते थे और पूरा शहर उन नेताओं के स्वागत में उमड़ पड़ता था। राजनीतिक गहमागहमी का यह दौर हमारे मन पर अपने प्रभाव छोड़ने का कारण बना।

इसी दौरान रूस में अक्टूबर क्रांति घटित हो चुकी थी और उसका समाचार सियालकोट तक भी पहुंच रहा था। मैंने लोगों को कहते हुए सुना कि रूस में लेनिन नाम के एक व्यक्ति ने वहां के बादशाह का तख़्ता उलट दिया है और सारी संपत्ति श्रमजीवियों में बांट दी है।

स्कूल की पढ़ाई का यही वह ज़माना था जब शायरी में मेरी रुचि उत्पन्न हुई। इसके पीछे दो कारण थे। हमारे घर के पास एक नौजवान किताबें किराये पर पढ़ने के लिए दिया करता था। मैंने उससे किराये पर किताबें लेनी शुरू कर दीं और धीरे-धीरे मैंने उसकी ऐसी सभी किताबें पढ़ डालीं जो क्लासिक साहित्य से संबंधित थीं। मेरा सारा जेब ख़र्च भी किताबें किराये पर लेने में खर्च हो जाता था। उस ज़माने में सियालकोट का एक प्रसिद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व अल्लामा इक़बाल का था जिनकी नज़्मों को बड़े शौक से सभाओं में गाया और पढ़ा जाता था। वहां एक प्राथमिक विद्यालय भी था जिसमें मैं पढ़ता था। वहां मुशायरे भी होते थे, यह मेरे स्कूल की शिक्षा के अंतिम दिन थे। हमारे हेडमास्टर ने हमसे एक दिन कहा कि मैं तुम्हें एक मिसरा देता हूं, तुम इस पर आधारित पांच छः शेर लिखो, हम तुम्हारे कलाम (ग़ज़ल) को शायर इक़बाल के उस्ताद के पास भेजेंगे और वह जिस कलाम को पुरस्कार का अधिकारी घोषित करेंगे उसे ही पुरस्कार मिलेगा। इस तरह मैंने शायरी के उस पहले मुक़ाबले में पुरस्कार के रूप में एक रुपया प्राप्त किया था, जो उस ज़माने में बहुत समझा जाता था। सियालकोट में दो साल गुज़ारने के बाद मैंने लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में प्रवेश ले लिया। सियालकोट से लाहौर आना रोमांच से भरपूर था। यूं लगा जैसे कोई गांव छोड़ के किसी अजनबी शहर में आ गया हो। उसकी वजह यह भी थी कि उस ज़माने में सियालकोट में न बिजली थी और न पानी के नल थे। भिश्ती पानी भरते थे या फिर कुंओं से पानी भरा जाता था। कुछ बड़े घरों में पीने के पानी के कुंए उपलब्ध थे। हम सब ही उस ज़माने में मिट्टी के तेल से जलने वाली लालटेनों की रौशनी में पढ़ते थे। यह लालटेन बड़ी ख़ूबसूरत हुआ करती थी। सियालकोट में मोटर कभी नहीं देखी। वहां के सभी अधिकारी बग्घियों में आते जाते थे। मेरे पिता के पास दो घोड़ों वाली बग्घी थी। जब मैं लाहौर आया तो हैरान रह गया। यहां मोटरें थीं, औरतें बिना बुर्क़े के नज़र आ रही थीं। और लोग अजनबी पहनावे अपने बदन पर पहने हुए थे। हमारे कॉलेज में आधे से अधिक शिक्षक अंग्रेज़ थे। हमारे अंग्रेज़ी के शिक्षक लैंघम (Langhom) थे, जो बहुत कड़े स्वभाव के थे, लेकिन शिक्षक बहुत अच्छे थे। मैंने अंग्रेज़ी के पर्चे में 150 में से 63 नंबर लिये तो सब दंग रह गये। कॉलेज में मेरा क़द बढ़ गया। और मुझे यह सलाह दी जाने लगी कि मैं इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी करूं। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं परीक्षा में बैठूंगा लेकिन मैं इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी करने के बजाय धीरे-धीरे शायरी करने लगा। इस परिस्थिति के लिए कई कारण ज़िम्मेदार थे। एक यह कि डिग्री प्राप्त करने से पहले ही मेरे पिता का निधन हो गया और हमें यह पता चला कि वह जो कुछ संपत्ति छोड़ गये हैं उससे कहीं अधिक कर्ज़ चुकाने के लिए छोड़ गये थे और इस तरह शहर का एक खाता-पीता ख़ानदान हालात के झटके में ग़रीब और असहाय हो गया। दूसरा जो मेरे और मेरे ख़ानदान की परेशानियों का कारण बना वह व्यापक आर्थिक संकट और मंदी था जिसके प्रभाव से उस ज़माने में कोई भी व्यक्ति सुरक्षित न रह सका। मुसलमानों पर इसका प्रभाव अधिक पड़ा, चूंकि उनमें बहुतायत खेतिहर लोगों की थी। मंदी का प्रभाव कृषि पर अधिक पड़ा था। नतीजा यह हुआ कि गांव से शहर की ओर पलायन आरंभ हो गया क्योंकि छोटी जगहों में रोज़गार उपलब्ध कराने वाले संसाधन नहीं थे और ऐसे संसाधन पर प्रायः हिंदुओं का क़ब्जा था। सरकारी नौकरी भी एक रास्ता

था लेकिन चूंकि मुसलमान शिक्षा के क्षेत्र में काफ़ी पिछड़े हुए थे इसलिए यहां भी उनके लिए अधिक अवसर नहीं थे। मेरे और मेरे ख़ानदान के लिए यह ज़माना राजनीतिक और वैयक्तिक कारणों से परीक्षा और परेशानियों का था। इस तनाव और सोच-विचार को अभिव्यक्ति के माध्यम की आवश्यकता थी सो यह शायरी ने पूरी कर दी।

मेरी उम्र 17-18 साल के आस-पास थी और जैसा कि होता है मैं बचपन से ही साथ खेलने वाली एक अफ़ग़ान लड़की की मुहब्बत में गिरफ़्तार हो गया। वह बचपन में तो सियालकोट में थी लेकिन बाद में उसका ख़ानदान आज के फैसलाबाद के समीप एक गांव में आबाद हो गया था। मेरी एक बहन की उसी गांव में शादी हुई थी। जब मैं अपनी बहन के पास गया तो उसके घर भी गया, वह लड़की तब पर्दा करने लगी थी। एक सुबह मैंने उसे तोते को कुछ खिलाते हुए देखा। वह बहुत ख़ूबसूरत लग रही थी। हम दोनों ने एक दूसरे को देखा और एक दूसरे की मुहब्बत में गिरफ़्तार हो गये। हम छुप-छुप के मिलते रहे और एक दिन जैसा कि होता है उसकी कहीं शादी हो गयी और जुदाई का यह अनुभव छः-सात बरस तक मुझे उदास करता रहा। इस अवधि में मेरी शिक्षा भी जारी रही और शायरी भी। स्थानीय मुशायरे में तीसरी बार जब मुझे भाग लेने का अवसर मिला तो मेरी शायरी को काफ़ी सराहा गया और इस तरह लाहौर जैसे शहर की बड़ी साहित्यिक हस्तियां मेरी शायरी से परिचित हुईं और सबने मुझे अपना आशीर्वाद देना चाहा। मैं अब अच्छा ख़ासा शायर बन चुका था।

यही वह दौर था जब उपमहाद्वीप में उग्रपंथ के पहले आंदोलन का आरंभ हुआ। उस आंदोलन के प्रभाव हमारे कॉलेज के अंदर भी पहुंच रहे थे और मेरा एक अभिन्न मित्र जिसे बाद में एक प्रसिद्ध संगीतकार ख़्वाजा ख़ुर्शीद अनवर के रूप में जाना गया, उस आंदोलन का सक्रिय कार्यकर्त्ता था। वह बम बनाने के लिए कॉलेज की प्रयोगशाला से तेज़ाब चुराने के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया गया। उसे तीन साल की सज़ा भी सुनायी गयी। वह कुछ समय तक ज़रूर जेल में रहा था लेकिन बाद में वह अपने प्रभावशाली पिता के रसूख के कारण छूट गया। मेरी बहुत सी जानकारियों का माध्यम वही था। वह अक्सर अपने आंदोलन का साहित्य मेरे कमरे में छोड़ जाता और जब कभी मैं उसे पढ़ता तो मेरे ऊपर जुनून सा छा जाता था, क्योंकि मेरे पिता अंग्रेज़ों के वफ़ादार और उपाधि प्राप्त थे लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि मैं उग्रपंथियों के आंदोलन और उसके बहुत से राजनीतिक समूहों से परिचित हो गया। मेरे ऊपर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा लेकिन वह सब कुछ मेर लिए महत्वहीन नहीं था।

तीन चार साल बाद मैंने पहले अंग्रेज़ी में और फिर अरबी में एम.ए. कर लिया और फिर मैंने शिक्षण का कार्य अपना लिया। उससे मुझे काफ़ी सहारा मिला और खानदान को आर्थिक संकटों से उबारने में सहायता भी। इस अवधि में मेरे कॉलेज के ज़माने के दो साथी आक्सफ़ोर्ड से मार्क्सिस्ट होकर लौटे थे। उनके अलावा उच्च घरानों के कुछ और लड़के भी इंग्लैंड की यूनवर्सिटियों से कम्युनिस्ट विचार लेकर लौटे थे। उनमें से कुछ तो राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यस्त हो गये, कुछ ने नौकरी के चक्कर में इस तरह के विचार को छोड़ दिया। लेकिन इसी टोली के नेतृत्व में साहित्य के प्रगतिशील आंदोलन का आंरभ हुआ। यह साहित्यिक आंदोलन, कम्युनिस्ट या मार्क्सिस्ट आंदोलन नहीं था। वैसे उसमें सक्रिय भाग लेने वालों में कुछ कम्युनिस्ट भी थे और मार्क्सिस्ट भी। असल में प्रगतिशील आंदोलन साहित्य में सामाजिक यथार्थ को बढ़ावा देने से संबंध रखता था और रूढ़िबद्ध होकर कविता करने को बुरा समझता था। भाषा की कलाबाज़ी भी इस आंदोलन के लिए व्यर्थ थी। इस आंदोलन के प्रभावस्वरूप यथार्थवादी और

राजनीतिक गीतों के चलन को बढ़ावा मिला। इस प्रकार का साहित्यिक चलन यूरोप और अमेरिका में भी फ़ासीवाद विरोधी साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में उभरा, जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक सरोकार वाले साहित्य का जन्म हुआ।

1932-35 के मध्य का यही वह समय था जब उस साहित्यिक, राजनीतिक आंदोलन से मेरा जुड़ाव शुरू हुआ। मज़दूरों, श्रमजीवियों और किसानों के आंदोलनधर्मी गीत और राजनीतिक अभिव्यक्ति और नयी-पुरानी काव्य पद्धति के मिश्रण को लोगों ने सराहा और उन्हें पसंद भी किया। जब 1941 में मेरा पहला संग्रह प्रकाशित हुआ तो वह तेज़ी से बिक गया। फिर द्वितीय विश्व युद्ध की लहर आयी लेकिन हम लोगों ने उसका ज़्यादा नोटिस नहीं लिया। हमारे विचार में उस युद्ध से ब्रिटेन और जर्मनी का सरोकार था मगर 1941 में जापान भी उस युद्ध में शामिल हो गया तो हमें कुछ आभास हुआ। क्योंकि उस समय अगर एक ओर जापानी भारत की सीमा तक आ गये थे तो दूसरी ओर नाज़ियों और फासिस्टों के क़दम मास्को और लेनिनग्राद तक पहुंच गये थे और तभी हमने महसूस किया कि युद्ध से हमारा संबद्ध होना आवश्यक है। इसलिए हम फ़ौज में शामिल हो गये। मुझे याद है पहले दिन जनसंपर्क विभाग के निरीक्षक एक ब्रिगेडियर के सामने मेरी पेशी हुई। वह आपैचारिक रूप से फ़ौजी नहीं था, वह बहुत ज़िंदादिल आइरिश था और *लंदन टाइम्स* से संबंध रखने वाला एक पत्रकार था। मुझे देखकर उसने कहा तुम्हारे बारे में पुलिस की खुफ़िया रिपोर्ट कहती है कि तुम एक पक्के कम्युनिस्ट हो, बताओ हो या नहीं। मैंने कहा मुझे नहीं पता कि पक्का कम्युनिस्ट कौन होता है। मेरा यह उत्तर सुनकर उसने कहा मुझे इससे कोई मतलब नहीं, चाहे तुम फ़ासीवादी विचार ही क्यों न रखते हो, जब तक तुम हमें कोई धोखा नहीं देते; मैं समझता हूं तुम धोखा नहीं दोगे। मैंने समर्थन में सिर हिला दिया।

यही वह ज़माना था जब ब्रिटेन और मित्र देशों के बीच संबंध बहुत अच्छे नहीं थे। उधर महात्मा गांधी ने भारत छोड़ो आंदोलन आरंभ कर दिया था, जो पूरे देश में आग की तरह फैल गया था। ब्रिटेन के सामने दो संकट थे। एक तो फ़ौज़ में लोगों की भर्ती और दूसरे सरकार के विरुद्ध ज़ोर पकड़ता हुआ जन आंदोलन। ब्रिटेन की फ़ौज के ब्रिगेडियर ने मुझसे इस आंदोलन के विषय में विचार-विमर्श करते हुए पूछा तो मैंने कहा कि ब्रिटेन अपने अस्तित्व के लिए भाग ले रहा है, जापान ब्रिटेन के लिए एक बड़ा ख़तरा है और अगर जापान तथा जर्मनी विजयी होते हैं तो ब्रिटेन को सौ-दो सौ साल तक गुलाम रहने का दंश झेलना होगा, और इसका मतलब यह है कि हमें अपने देश को इस कष्ट से सुरक्षित रखने के लिए ब्रिटेन की फ़ौज का हिस्सा बनकर लड़ना चाहिए। अंग्रेज़ अपने लिए नहीं लड़ रहा है वह भारत के लिए लड़ रहा है। मेरे इस तर्क को सुनकर उसने कहा तुम जो कुछ कह रहे हो ये तो सब राजनीति है मगर इस तर्क को फ़ौज के लिए स्वीकार्य कैसे बनाया जाये? मैंने कहा कि इस विचार को फ़ौज के लिए स्वीकार्य बनाने का तरीक़ा वही होना चाहिए जो कम्युनिस्टों का है। उसने चौंककर पूछा क्या मतलब? मेरा जवाब था, हम कम्युनिस्ट एक छोटी टोली बनाते हैं। फ़ौज के हर यूनिट में इस तरह की एक विशेष टोली बनाने के बाद हम अफ़सरों को यह बताते हैं कि फ़ासिज़्म क्या है और उन्हें यह भी समझाते हैं कि जापान और इटली वालों के इरादे क्या हैं। इसके बाद उन अफ़सरों से कहा जाता है कि वे उक्त टोली में बतायी जाने वाली बातों को अपने यूनिटों के सिपाहियों को जाकर समझायें और बतायें। इस तरह हम इस रणनीति के तहत पहले फ़ौजी अफ़सरों को मानसिक रूप से सुदृढ़ करते थे और फिर उनके माध्यम से आशिक्षित सिपाहियों को भी एक दिशा देते थे। इस पद्धति का विरोध भी बहुत हुआ।

बात वायसराय, कमांडर-इन-चीफ़ और फिर इंडिया आफ़िस तक पहुंची। मुझसे कहा गया कि मैं अपनी योजना को लिखित रूप में प्रस्तुत करूं। अंततः इस योजना को मंजूरी मिल गयी और हमने फिर 'जोश ग्रुप' बनाये जो बहुत सफल रहा और इसके परिणामस्वरूप मैं ब्रिटेन द्वारा सम्मानित किया गया और तीन सालों में कर्नल बना दिया गया। उस ज़माने में ब्रितानी फ़ौज में एक भारतीय के लिए इससे ऊंचा फ़ौजी पद कोई और नहीं था। उस ज़माने में मुझे फ़ौज की कार्य पद्धति और ब्रितानी सरकार को जानने का अवसर मिला। मुझे पत्रकारिता का अनुभव भी उसी ज़माने में हुआ, क्योंकि सभी मोर्चे पर भारतीय फ़ौज के प्रचार का काम मेरे ही जिम्मे था और मैं बहुत हद तक भारतीय फ़ौज के लिए राजनीतिक अधिकारी (पॉलीटिकल कमिश्नर) का काम करने लगा। युद्ध की समाप्ति पर मैं फ़ौज से अलग हो गया। उस समय मेरे सामने दो रास्ते थे या तो विदेश सेवा से संबंद्ध हो जाता या फिर सिविल सेवा से। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया।

यह वह ज़माना था जब पाकिस्तान के लिए आंदोलन और भारतीय कांग्रेस का स्वाधीनता आंदोलन अपने चरम पर था। मेरे एक पुराने मित्र जो एक बड़े ज़मींदार भी थे और जो पंजाब कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष रहने के बाद मुस्लिम लीग में आ गये थे मुझसे कहने लगे कि मैं सिविल सेवा में जाने की इच्छा समाप्त कर दूं क्योंकि वह लाहौर से एक अंग्रेज़ी दैनिक निकालने की योजना बना रहे थे। उन्होंने उस अख़बार का संपादन करने का प्रस्ताव दिया जो मैंने स्वीकार कर लिया और मैंने जनवरी 1947 में लाहौर आकर *पाकिस्तान टाइम्स* का संपादन संभाल लिया। मैं चार साल *पाकिस्तान टाइम्स* का संपादक रहा। इसी अवधि में पाकिस्तान ट्रेड यूनियन का उपाध्यक्ष भी मुझे बना दिया गया। 1948 में नागासाकी और हिरोशिमा पर होने वाली बमबारी के बाद कोरियाई युद्ध भी छिड़ गया। इस बीच स्काटहोम से यह अपील आयी कि हम शांति-स्थापना के लिए आंदोलन चलायें। उस अपील के समर्थन में अमन कमेटी की स्थापना हुई और मुझे उसका संचालक बना दिया गया। अब मैं ट्रेड यूनियन, अमन कमेटी और *पाकिस्तान टाइम्स* तीनों मोर्चे पर सक्रिय था और सक्रियता तथा कार्यशैली के लिहाज़ से यह बहुत व्यस्त समय था। उसी ज़माने में आई.एल.ओ की एक मीटिंग में भाग लेने के लिए पहली बार देश से बाहर जाने का अवसर मिला। मैंने सन फ़्रांसिस्को के अतिरिक्त जेनेवा में भी दो अधिवेशनों में भाग लिया और इस तरह अमेरिका और यूरोप से मैं पहली बार परिचित हुआ।

1950 में मेरी मुलाक़ात अपने एक पुराने मित्र से हुई। यह जनरल अकबर ख़ान थे जो उस वक़्त फ़ौज में चीफ़ आफ़ जनरल स्टाफ़ नियुक्त हुए थे। जनरल अकबर ने बर्मा और कश्मीर के मोर्चे पर होने वाले युद्धों में बड़ा नाम कमाया था। मैं इस साल मरी में छुट्टियां बिताने गया हुआ था। वहीं उनसे भेंट हुई। बातों के दौरान उन्होंने कहा कि हम लोग फ़ौज में हैं। उन्होंने यह भी बताया कि जिन्होंने कश्मीर में हुई मोर्चेबंदी का सामना किया है वे देश की वर्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट हैं और यह मानते हैं कि देश का नेतृत्व कायरों के हाथों में है। हम अभी तक अपना कोई संविधान नहीं बना पाये। चारों ओर अव्यवस्था और वंशवाद का चलन है। चुनाव की कोई संभावना नहीं, हम लोग कुछ करना चाहते हैं। मैंने पूछा क्या करना चाहते हो? उनका जवाब था हम सरकार का तख़्ता पलटना चाहते हैं और एक विपक्षी सरकार बनाना चाहते हैं। मैंने कहा यह तो ठीक है लेकिन उन्होंने मेरी राय भी मांगी। मैंने कहा यह तो सब फ़ौजी क़दम है। इसमें मैं क्या राय दे सकता हूं। इस पर जनरल अकबर ख़ान ने मुझे अपनी गोष्ठियों में आने और उनकी योजनाओं के बारे में जानकारी लेने की बात कही। मैं अपने दो ग़ैर-फ़ौजी

दोस्तों के साथ उनकी गोष्ठी में गया और उनकी योजनाओं से अवगत हुआ। उनकी योजना यह थी कि राष्ट्रपति भवन, रेडियो स्टेशन वग़ैरह पर क़ब्ज़ा कर लिया जाये और फिर राष्ट्रपति से यह घोषणा करवा दी जाये कि सरकार का तख़्ता पलट दिया गया है और एक विपक्षी सरकार सत्ता में आ गयी है। छः महीने के भीतर चुनाव कराये जायेंगे और देश का संविधान निर्मित किया जायेगा। इसके अरिक्ति अनगिनत सुधार किये जायेंगे। इस पर पांच छः घंटे तक बहस होती रही और अंततः यह तय हुआ कि अभी कुछ न किया जाये क्योंकि अभी देश किसी भी ऐसी स्थिति से नहीं जूझ रहा है कि जिसके आधार पर जनता को आंदोलित किया जाये। दूसरे, इस तरह की योजनाओं के क्रियान्वयन में ख़तरों का सामना करना पड़ता है। उस समय पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाक़त अली ख़ान थे। किसी तरह इस योजना की ख़बर सरकार के कानों तक पहुंच गयी। मैं तो इस अवधि में उन सभी घटनाओं को भूल चुका था कि अचानक सुबह चार बजे मेरे घर को फ़ौजियों ने घेर लिया और मुझसे कहा गया कि मैं उनके साथ चलूं। मैंने कारण पूछा तो मुझे जवाब मिला कि मुझे गवर्नर जनरल के आदेश से गिरफ़्तार किया जा रहा है। चार महीने तक मुझे क़ैद रखा गया और फिर मुझे मालूम हुआ कि मुझे क्यों क़ैद किया गया। संवधिान सभा ने एक विशेष अधिनियम को पारित किया और उसे रावलपिंडी षड्यंत्र अधिनियम का नाम दिया गया। उस अधिनियम के तहत हम पर गुप्त मुक़द्दमा चलाया गया। अंग्रेज़ों के ज़माने से ही षड्यंत्र संबंधी क़ानून बड़े ख़राब थे। आप कुछ कर नहीं सकते थे। अगर यह सिद्ध हो जाये कि दो व्यक्तियों ने मिलकर क़ानून तोड़ने की योजना बनायी है तो उसे षड्यंत्र का नाम दे दिया जाता था और अगर कोई तीसरा व्यक्ति इसकी गवाही दे दे तो फिर अपराध सिद्ध मान लिया जाता था। सरकार ने अधिनियम बनाकर बचाव करने की सभी संभावनाओं को समाप्त कर दिया था। बनाये जाने वाले अधिनियम के तहत तो केवल सज़ा ही मिल सकती थी, भागने का कोई रास्ता भी नहीं था। यह मुक़द्दमा डेढ़ साल तक चलता रहा और हममें से हर एक के लिए उसके पद के अनुसार भिन्न-भिन्न दंड निश्चित किये गये। जनरल को दस साल, ब्रिगेडियर को सात साल, कर्नल को छः साल और हम सब असैनिकों को उससे कम यानी चार साल की क़ैद की सज़ा सुनायी गयी।

मेरी हिरासत का यही वह समय था जो रचनात्मक रूप से मेरे लिए बहुत उर्वर सिद्ध हुआ। मेरे पास लिखने-पढ़ने के लिए वक़्त ही वक़्त था, फिर मुझमें शासकों के विरुद्ध बहुत आक्रोश और क्रोध था, क्योंकि मैं निर्दोष था।

इसी अवधि में मेरी शायरी के दो संग्रह, काल कोठरी के उस दौर में तैयार हो गये। एक तो हिरासत के दिनों में ही प्रकाशित हो गया था और दूसरा मेरी रिहाई के बाद प्रकाशित हुआ। जब आप को चार साल के क़रीब जेल में रखा गया हो और बंदी होने का दुख भी आपके हिस्से में आया हो, तो निश्चित रूप से बाहर की दुनिया में आपका मूल्य बढ़ जाता है। जब मैं जेल से बाहर आया तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं पहले की तुलना में अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हो गया हूं। मैं दोबारा *पाकिस्तान टाइम्स* से जुड़ गया और मैंने अमन कमेटी तथा ट्रेड यूनियन से अपने संबंध फिर से स्थापित कर लिये। यह तीन चार साल का समय ऐसी ही गहमागहमी में गुज़र गया। पाकिस्तान में वामपंथी आंदोलनों पर पाबंदी लगा दी गयी। यही स्थिति तीन चार साल तक जारी थी कि देश में पहला मार्शल लॉ लागू हो गया और पहली सैनिक सरकार स्थापित हो गयी, जिसका अर्थ था कि किसी भी व्यक्ति को बिना किसी अपराध के गिरफ़्तार किया जा सकता है। उस समय के मार्शल लॉ ने एक अत्याचार यह भी किया कि हर उस

व्यक्ति को पकड़ना शुरू कर दिया गया जिसका नाम 1920 के बाद की पुलिस रिपोर्टों में दर्ज़ मिला था। इस तरह जेल में हमें नब्बे साल और अस्सी साल के बूढ़े मिले, कुछ की तपेदिक तथा अन्य बीमारियों के कारण जेल में ही मृत्यु हो गयी। मैंने लाहौर क़िला में डेढ़ महीने गुज़ारा और फिर चार पांच महीने के बाद मुझे रिहा कर दिया गया। मैंने फिर *पाकिस्तान टाइम्स* के दफ़्तर की ओर रुख़ किया और तब मैंने देखा कि उसका दफ़्तर पुलिस के घेरे में था। मेरे पूछने पर पता चला कि *पाकिस्तान टाइम्स* पर फ़ौजी सरकार ने क़ब्जा कर लिया है और इस तरह मेरी पत्रकारिता का अंत हो गया। मैं ऊहापोह में था कि क्या करूं। उन दिनों एक अमीर वर्ग जो मेरी शायरी को पसंद करता था, मेरी चिंता से अवगत था। उन लोगों ने पूछा आप क्या करना चाहते हैं? मैंने कहा मुझे नहीं मालूम तो किसी ने सुझाव दिया, क्यों न संस्कृति से संबंधित कोई गतिविधि आरंभ की जाये। मैंने कहा यह अच्छा विचार है और इस प्रकार हमने लाहौर में 'आर्ट कौंसिल' की स्थापना की। कौंसिल एक पुराने और टूटे-फूटे घर में थी जो आज के आलीशान भवन जैसा आकर्षक नहीं था। कौंसिल का आरंभ हुआ और उसके भवन में प्रदर्शनियों, नाटकों और आयोजनों का तांता लगा रहता था। तीन चार साल तक यह गतिविधि चलती रही और मैं इसी अवधि में बीमार पड़ गया। पहली बार दिल का दौरा पड़ा। और इसी बीच मुझे लेनिन विश्व शांति पुरस्कार दिये जाने की घोषणा हुई। किसी ने मुझे फोन पर ख़बर सुनायी तो मुझे विश्वास नहीं हुआ, मैंने जवाब में कहा बकवास मत करो, मैं पहले ही बीमार हूं। मेरे साथ ऐसा मज़ाक न करो। उसने उत्तर में कहा, मैंने टेलीप्रिंटर पर यह ख़बर ख़ुद देखी है, तुम्हारे साथ पुरस्कार पाने वालों में पिकासो और दूसरे भी हैं।

जब मैं स्वस्थ हो गया तो मुझे पुरस्कार ग्रहण करने और मास्को आने के लिए आमंत्रित किया गया। मैं मास्को के बाद लंदन चला गया और लंदन में दो वर्ष तक रहा। मैं लंदन से लाहौर आने के बजाय कराची लौट आया। कराची में मैं मिस्टर महमूद हारून के निवास स्थान पर ठहरा। उनकी बहन जो डाक्टर थीं और मेरी मित्र थीं, उन्होंने मुझे लिखा कि श्रीमाती हारून बीमार हैं और आपको देखना और मिलना चाहती हैं। मेरे आने पर श्रीमती हारून ने मुझे बताया कि उनका जो फ़लाही फ़ाउंडेशन है उसके अधीन स्कूल, अस्पताल और अनाथालय चल रहा है। उनके लड़के के पास फ़ाउंडेशन चलाने के लिए समय नहीं है क्योंकि वह व्यापार तथा राजनीतिक गतिविधियों में व्यस्त रहे हैं। अच्छा होगा कि फ़ाउंडेशन की व्यवस्था मैं संभाल लूं। मैंने फ़ाउंडेशन के स्थान पर उसकी गतिविधियों का निरीक्षण किया तो देखा कि वह गंदी बस्ती का इलाक़ा था, जहां मछुआरे, ऊंट वाले, नशीली दवाओं का व्यापार करने वाले और आपराधिक गतिविधियों में लिप्त व्यक्ति रहा करते थे। मुझे यह इलाक़ा अच्छा लगा, और हमने इस क्षेत्र में अपनी गतिविधि तेज़ कर दी। स्कूल को कॉलेज में परिवर्तित कर दिया, एक तकनीकी संस्थान भी स्थापित किया और अनाथालय की भी व्यवस्था की। इस प्रकार कोई आठ साल तक मैं शैक्षणिक और प्रशासनिक गतिविधियों से जुड़ा रहा। इस बीच 65 और 71 के युद्ध भी हुए। इन दोनों युद्धों के दौरान मैं अत्यधिक मानसिक तनाव से प्रभावित रहा। उसका कारण यह था कि मुझसे बार-बार देशभक्ति के गीत लिखने की फ़रमाइश की जा रही थी। मेरे इनकार पर यह ज़ोर दिया जाता कि देशभक्ति और मातृभूमि की मांग यही है कि मैं युद्ध के या देशभक्ति के गीत लिखूं। लेकिन मेरा तर्क यह था कि युद्ध अनगिनत व्यक्तियों के लिए मृत्यु का कारण बनेगा और दूसरे पाकिस्तान को इस युद्ध से कुछ नहीं मिलने वाला है। इसलिए मैं युद्ध के लिए कोई गीत नहीं लिखूंगा। लेकिन मैंने 65 और 71 के युद्धों

के विषय में नज़्में लिखीं, 65 के युद्ध से संबंधित मेरी दो नज़्में हैं।...

बांग्लादेश युद्ध के ज़माने में मैंने तीन-चार नज़्में लिखीं। लेकिन उन नज़्मों की रचना में युद्ध गीतों का आग्रह करने वालों को मुझसे और भी निराशा हुई। परिणामस्वरूप मुझे सिंध में भूमिगत हो जाना पड़ा। युद्ध समाप्त हुआ तो पाकिस्तान के दो टुकड़े हो चुके थे।

चुनाव के बाद फ़ौजी सरकार समाप्त हो गयी थी और भुट्टो के नेतृत्व में पीपुल्स पार्टी की सरकार स्थापित हो चुकी थी। उनसे मेरे अच्छे संबंध थे उस ज़माने में जब वह विदेश मंत्री थे और उस समय भी जब वह विपक्षी पार्टी के नेता थे। उन्होंने मुझे अपने साथ काम करने के लिए आमंत्रित किया। मैंने पूछा मेरा काम क्या होगा, तो उन्होंने स्पष्ट किया कि मैं पहले से ही सांस्कृतिक गतिविधियों में भागीदार रह चुका हूं। क्यों न उसी क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर कुछ काम करूं। मैंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और नेशनल कौंसिल ऑफ़ आर्ट्स (राष्ट्रीय कला परिषद्) की स्थापना की। इसके अतिरिक्त मैंने 'फ़ोक आर्ट्स' जो अब 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ोक हेरिटेज' है, की स्थापना की। मैं इन परिषदों की देख-रेख में चार साल तक व्यस्त रहा कि सरकार फिर से बदल गयी। इस अवधि में मेरा गद्य और पद्य लिखने का क्रम लगातार जारी रहा। इसी अवधि में मेरी शायरी का अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, रूसी तथा अन्य दूसरी भाषाओं में अनुवाद होता रहा। ज़ियाउल हक़ के शासन काल में मेरे प्रभाव को नकार दिया गया। वैसे भी इस सरकार में संस्कृति का महत्व पहले जैसा नहीं रहा था, मैंने सोचा मुझे कुछ और करना चाहिए।

मैं एशियाई और अफ़्रीकी साहित्यकार संगठन के लिए कुछ-न-कुछ करता ही रहता था। उनकी गोष्ठियों में भी भागीदारी होती रहती थी। उस संगठन का दफ़्तर काहिरा में था जहां से उस संगठन की पत्रिका *लोटस* (Lotus) का प्रकाशन होता था।

कैंप डेविड समझौते के बाद अरब के लोगों का यह अनुरोध था कि उसका दफ़्तर काहिरा से कहीं और स्थानांतरित कर दिया जाये। *लोटस* का मुख्य संपादक जो संगठन का सचिव भी था, उसकी साइप्रस में गोली मार कर हत्या कर दी गयी थी। अब *लोटस* का संपादन करने वाला कोई नहीं था। इस समय एफ़्रो-एशियाई साहित्यकार संगठन का दफ़्तर कहीं नहीं था। इस पत्रिका के संपादन के लिए मुझे आमंत्रित किया गया और यह भी फैसला हुआ कि संगठन का दफ़्तर बैरूत में स्थानांतरित कर दिया जाये। मैं अफ़्रीकी एशियाई साहित्यकारों के संगठन और उसकी पत्रिका *लोटस* से चार साल तक जुड़ा रहा और फिर हमें इससे फ़ुर्सत मिल गयी।

बैरूत पर आक्रमण के एक महीने बाद मैं किसी-न-किसी तरह वहां से निकलने में सफल हो गया और पाकिस्तान पहुंच गया। यहां आते ही मैं एक बार फिर बीमार हो गया।

अब जो यह एलिस के बारे में आप लोग पूछ रहे हैं तो मैं बताऊं। जब मैं कॉलेज में पढ़ाने लगा था तो जैसा मैंने बताया, मेरे कुछ साथी आक्सफ़ोर्ड से वापस लौटे तो वे मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक थे। उसी में एक साथी जो मार्क्सिस्ट था उसकी पत्नी जो अंग्रेज़ थी वह भी मार्क्सिस्ट थी। एक दिन उसने मुझसे पूछा, तुम उदास और निराश क्यों रहते हो, फिर स्वयं ही बोली, तुम्हें इश्क़ हो गया है क्या? तुम बीमार लगते हो। उसने कुछ किताबें मुझे दीं और कहा कि उन्हें पढ़ूं उसने स्पष्ट किया, तुम्हारा दुख बहुत कुछ व्यक्तिगत ढंग का है। ज़रा पूरे हिंदुस्तान पर नज़र डालो, अनगिनत लोग भूख और बीमारी के शिकार हैं। तुम्हारा दुख तो उनकी तुलना में कुछ भी नहीं है। और तब प्रेम के विषय से मेरा ध्यान हट गया और मैंने व्यापक संदर्भों में सोचना आरंभ कर दिया। मेरी नज़्म 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी

महबूब न मांग' इसी बदलते हुए सोच का परिणाम थी। मेरे मित्र जिनकी पत्नी का उल्लेख मैंने किया वह एक अच्छे साहित्यकार थे और एक कॉलेज के प्रिंसिपल भी थे। उनके साथ शिक्षण के कार्य में व्यस्त हो गया। कोई तीन चार साल बाद मेरे मित्र की अंग्रेज़ पत्नी की एक बहन उन लोगों से मिलने अमृतसर आयी, जहां मैं पढ़ा रहा था। मेरी उस महिला से जब मुलाक़ात हुई तो हम मित्र बन गये लेकिन उन्हीं दिनों युद्ध छिड़ गया और वह महिला अपने देश वापस न लौट सकी। मैं भी कैंब्रिज जाने वाला था मगर न जा सका और इस तरह हमारी मित्रता गहरी होती गयी और एक दिन हमने शादी कर ली। वह महिला एलिस थी।

जहां तक बैरूत में मेरे प्रवास का संबंध है तो मैं यह स्पष्ट कर दूं कि मैं फ़िलिस्तीनियों का समर्थक था जिन्हें एक षड्यंत्र द्वारा अपने देश से निकाल दिया गया था। यह अजीब बात थी कि इज़राइली जिन्हें नाज़ियों के हाथों कठोर यातना झेलनी पड़ी थी, वे भी अब फ़िलिस्तीनियों को इसी प्रकार कष्ट देने के लिए उतारू थे, जबकि फ़िलिस्तीनियों ने इज़राइलियों का कुछ नहीं बिगाड़ा था। लेकिन शायद इज़राइलियों के अत्याचारी व्यवहार के पीछे हिंसक मनोग्रंथि काम कर रही थी। शक्तिशाली का साथ तो सब देते ही हैं क्योंकि उसमें कोई हानि नहीं होती। कमज़ोर का साथ देने वाले कम होते हैं और उसमें केवल हानि ही हिस्से में आती है। मैंने बैरूत प्रवास के दिनों में कमज़ोर का साथ देने को अपना रचनात्मक धर्म स्वीकार किया था।

उर्दू से अनुवाद : मो. ज़फ़र इक़बाल
मो. : 09868584878

आपबीती दास्तान दो*

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

हमारे शायरों को हमेशा यह शिकायत रही है कि ज़माने ने उनकी क़द्र नहीं की। ... हमें इससे उलट शिकायत यह है कि हम पे लुत्फ़ो-इनायात की इस क़दर बारिश रही है; अपने दोस्तों की तरफ़ से, अपने मिलनेवालों की तरफ़ से और उनकी जानिब से भी जिनको हम जानते भी नहीं कि अक्सर दिल में हिचक महसूस होती है कि इतनी तारीफ़ और वाहवाही पाने का हक़दार होने के लिए जो थोड़ा-बहुत काम हमने किया है, उससे बहुत ज़ियादा हमें करना चाहिए था।

यह कोई आज की बात नहीं है। बचपन ही से इस क़िस्म का असर औरों पर रहा है। जब हम बहुत छोटे थे, स्कूल में पढ़ते थे, तो स्कूल के लड़कों के साथ भी कुछ इसी क़िस्म के तअल्लुक़ात क़ायम हो गये थे। ख़ाहमख़ाह उन्होंने हमें अपना लीडर मान लिया था, हालांकि लीडरी के गुन हमें नहीं थे। या तो आदमी बहुत लट्ठबाज़ हो कि दूसरे उनका रौब मानें, या वह सबसे बड़ा विद्वान हो। हम पढ़ने-लिखने में ठीक थे, खेल भी लेते थे, लेकिन पढ़ाई में हमने कोई ऐसा कमाल पैदा नहीं किया था कि लोग हमारी तरफ़ ज़रूर ध्यान दें।

बचपन का मैं सोचता हूं तो एक यह बात ख़ास तौर से याद आती है कि हमारे घर में औरतों का एक हुजूम था। हम जो तीन भाई थे उनमें हमारे छोटे भाई (इनायत) और बड़े भाई (तुफ़ैल) घर की औरतों से बाग़ी होकर खेलकूद में जुट रहते थे। हम अकेले उन ख़वातीन के हाथ आ गये। इसका कुछ नुक़सान भी हुआ और कुछ फ़ायदा भी। फ़ायदा तो यह हुआ कि उन महिलाओं ने हमको इंतिहाई शरीफ़ाना ज़िंदगी बसर करने पर मजबूर किया; जिसकी वजह से कोई असभ्य या उजड्ड क़िस्म की बात उस ज़माने में हमारे मुंह से नहीं निकलती थी। अब भी नहीं निकलती। नुक़सान यह हुआ, जिसका मुझे अक्सर अफ़सोस होता है, कि बचपन के खिलंदड़ेपन या एक तरह की मौजी ज़िंदगी गुज़ारने से हम कटे रहे। मसलन यह कि गली में कोई पतंग उड़ा रहा है, कोई गोलियां खेल रहा है, कोई लट्टू चला रहा है; हम सब खेलकूद देखते रहे थे, अकेले बैठकर। 'होता है शबो-रोज़ तमाशा मेरे आगे' वाला मामला। हम उन तमाशों के सिर्फ़ तमाशाई बने रहते, और उनमें शरीक होने की हिम्मत इसलिए नहीं होती थी कि उसे शरीफ़ाना शग़ूल या शरीफ़ाना काम नहीं समझते थे।

उस्ताद भी हम पर मेहरबान रहे। आजकल की मैं नहीं जानता, हमारे ज़माने में तो स्कूल में सख़्त

---

* फ़ैज़ के काव्य-संग्रह 'शामे-शहरे यारां' का आरंभिक गद्य-भाग। संपादक

पिटाई होती थी। हमारे वक़्तों के उस्ताद तो निहायत ही जल्लाद क़िस्म के लोग थे। सिर्फ़ यही नहीं कि उनमें से किसी ने हमको हाथ नहीं लगाया बल्कि हर क्लास में मॉनिटर बनाते थे : बल्कि (साथी लड़कों को) सज़ा देने का मंसब भी हमारे हवाले करते थे, यानी-फ़लां को चांटा लगाओ, फ़लां को थप्पड़ मारो। इस काम से हमें बहुत-कोफ़्त होती थी, और हम कोशिश करते थे कि जिस क़दर भी मुमकिन हो यों सज़ा दें कि हमारे शिकार को वह सज़ा महसूस न हो। तमाचे की बजाय गाल थपथपा दिया, या कान आहिस्ता से खींचा, वग़ैरह। कभी हम पकड़े जाते तो उस्ताद कहते 'यह क्या कर रहे हो! ज़ोर से चांटा मारो!'

इसके दो प्रभाव बहुत गहरे पड़े। एक तो यह कि बच्चों की जो दिलचस्पियां होती हैं उनसे वंचित रहे। दूसरे यह कि अपने दोस्तों, क्लासवालों और उस्तादों से हमें बेहद स्नेह आशीष, खुलापन और अपनाव मिला; जो बाद के ज़माने के दोस्तों और समकालीनों से मिला, और आज भी मिल रहा है।

सुबह हम अपने अब्बा के साथ फ़ज्र की नमाज़ पढ़ने मस्जिद जाया करते थे। मामूल (नियम) यह था कि अज़ान के साथ हम उठ बैठे, अब्बा के साथ मस्जिद गये, नमाज़ अदा की; और घंटा-डेढ़ घंटा मौलवी इब्राहीम मीर सियालकोटी से, जो अपने वक़्त के बड़े फ़ाजिल (विद्वान) थे, क़ुरान-शरीफ़ का पाठ पढ़ा-समझा; अब्बा के साथ डेढ़-दो घंटों की सैर के लिये गये; फिर स्कूल। रात को अब्बा बुला लिया करते, ख़त लिखने के लिए। उस ज़माने में उन्हें ख़त लिखने में कुछ दिक़्क़त होती थी। हम उनके सेक्रेटरी का काम अंजाम देते थे। उन्हें अख़बार भी पढ़कर सुनाते थे। इन कई कामों में लगे रहने की वजह से हमें बचपन में बहुत फ़ायदा हुआ। उर्दू-अंग्रेज़ी अख़बारात पढ़ने और ख़त लिखने की वजह से हमारी जानकारी काफ़ी बढ़ी।

एक और याद ताज़ा हुई। हमारे घर से मिली हुई एक दुकान थी, जहां किताबें किराये पर मिलती थीं। एक किताब का किराया दो पैसे होता। वहां एक साहब हुआ करते थे जिन्हें सब 'भाई साहब' कहते थे। भाई साहब की दुकान में उर्दू साहित्य का बहुत बड़ा भंडार था। हमारी छठी-सातवीं जमात के विद्यार्थी-युग में जिन किताबों का रिवाज था, वह आजकल क़रीब-क़रीब नापैद हो चुकी हैं, जैसे तिलिस्मे-होशरुबा, फ़सानए-आज़ाद, अब्दुल हलीम शरर के नॉवेल, वग़ैरह। ये सब किताबें पढ़ डालीं इसके बाद शायरों का कलाम पढ़ना शुरू किया। दाग़ का कलाम पढ़ा। मीर का कलाम पढ़ा। ग़ालिब तो उस वक़्त बहुत ज़ियादा हमारी समझ में नहीं आया। दूसरों का कलाम भी आधा समझ में आता था, और आधा नहीं आता था। लेकिन उनका दिल पर असर कुछ अजब क़िस्म का होता था। यों, शेर से लगाव पैदा हुआ, और साहित्य में दिलचस्पी होने लगी।

हमारे अब्बा के मुंशी घर के एक तरह के मैनेजर भी थे। हमारा उनसे किसी बात पर मतभेद हो गया तो उन्होंने कहा 'अच्छा, आज हम तुम्हारी शिकायत करेंगे कि तुम नॉवेल पढ़ते हो; स्कूल की किताबें पढ़ने की बजाय छुपकर अंट-शंट किताबें पढ़ते हो।' हमें इस बात से बहुत डर लगा, और हमने उनकी बहुत मिन्नत की कि शिकायत न करें; मगर वह न माने और अब्बा से शिकायत कर ही दी। अब्बा ने हमें बुलाया और कहा 'मैंने सुना है, तुम नॉवेल पढ़ते हो।' मैंने कहा 'जी हां।' कहने लगे 'नॉवेल ही पढ़ना है तो अंग्रेज़ी नॉवेल पढ़ो, उर्दू के नॉवेल अच्छे नहीं होते। शहर के क़िले में जो लायब्रेरी है, वहां से नॉवेल लाकर पढ़ा करो।'

हमने अंग्रेज़ी नॉवेल पढ़ना शुरू किये। डिकेंस, हार्डी, और न जाने क्या-क्या पढ़ डाला। वह भी आधा

समझ में आता था और आधा पल्ले न पड़ता था। मगर इस पढ़ने की वजह से हमारी अंग्रेज़ी बेहतर हो गयी। दसवीं जमात में पहुंचने तक महसूस हुआ कि बाज़ उस्ताद पढ़ाने में ग़लतियां कर जाते हैं। हम उनकी अंग्रेज़ी दुरुस्त करने लगे। इस पर हमारी पिटाई तो न हुई; अलबत्ता वो उस्ताद कभी ख़फ़ा हो जाते और कहते 'अगर तुम्हें हमसे अच्छी अंग्रेज़ी आती है तो फिर तुम ही पढ़ाया करो, हमसे क्यों पढ़ते हो!'

उस ज़माने में कभी-कभी मुझ पर एक ख़ास क़िस्म का भाव छा जाता था। जैसे, यकायक आस्मान का रंग बदल गया है बाज़ चीज़ें कहीं दूर चली गयी हैं.... धूप का रंग अचानक मेंहदी का-सा हो गया है... पहले जो देखने में आता था, उसकी सूरत बिल्कुल बदल गयी है। दुनिया एक तरह की पर्दए-तस्वीर के क़िस्म की चीज़ महसूस होने लगती थी। इस कैफ़ीयत (भावना) का बाद में भी कभी-कभी एहसास हुआ है, मगर अब नहीं होता।

मुशायरे भी हुआ करते थे। हमारे घर से मिली हुई एक हवेली थी जहां सर्दियों के ज़माने में मुशायरे किये जाते थे। सियालकोट में पंडित राजनारायन 'अरमान' हुआ करते थे, जो इन मुशायरों के इंतिज़ामात किया करते थे। एक बुज़ुर्ग मुंशी सिराजदीन मरहूम थे अल्लामा इक़बाल के दोस्त, श्रीनगर में महाराजा कश्मीर के मीर मुंशी, वह सदारत किया करते थे। जब दसवीं जमात में पहुंचे तो हमने भी तुकबंदी शुरू कर दी, और एक-दो मुशायरों में शेर पढ़ दिये। मुंशी सिराजदीन ने हमसे कहा 'मियां, ठीक है, तुम बहुत तलाश से (परिश्रम से) शेर कहते हो, मगर यह काम छोड़ दो। अभी तो तुम पढ़ो-लिखो, और जब तुम्हारे दिलो-दिमाग़ में पुख़्तगी आ जाये तब यह काम करना। इस वक़्त यह महज़ वक़्त की बर्बादी है।' हमने शेर कहना बंद कर दिया।

अब हम मरे कालेज सियालकोट में दाख़िल हुए, और वहां प्रोफ़ेसर यूसुफ़ सलीम चिश्ती उर्दू पढ़ाने आये, जो इक़बाल के मुफ़स्सिर (भाष्यकार) भी हैं। तो उन्होंने मुशायरे की तरह डाली। और कहा 'तरह' पर[1] शेर कहो! हमने कुछ शेर कहे, और हमें बहुत दाद मिली। चिश्ती साहब ने मुंशी सिराजदीन से बिल्कुल उलटा मशविरा दिया और कहा फ़ौरन इस तरफ़ तवज्जुह करो, शायद तुम किसी दिन शायर हो जाओ!

गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर चले गये। जहां बहुत ही फ़ाज़िल और मुश्फ़िक़ (विद्वान और स्नेही) उस्तादों से नियाज़मंदी हुई। पतरस बुख़ारी थे; इस्लामिया कालेज में डॉक्टर तासीर थे; बाद में सूफ़ी तबस्सुम साहब आ गये। इनके अलावा शहर के जो बड़े साहित्यकार थे इम्तियाज़ अली ताज थे; चिराग़हसन हसरत, हफ़ीज़ जालंधरी साहब थे; अख़्तर शीरानी थे उन सबसे निजी राह-रस्म हो गयी। उन दिनों पढ़ानेवालों और लिखनेवालों का रिश्ता अदब (साहित्य) के साथ-साथ कुछ दोस्ती का-सा भी होता था। कॉलेज की क्लासों में तो शायद हमने कुछ ज़ियादा नहीं पढ़ा; लेकिन उन बुज़ुगों की सुह्बत और मुहब्बत से बहुत-कुछ सीखा। उनकी महफ़िलों में हम पर शफ़क़त[2] होती थी, और हम वहां से बहुत-कुछ हासिल करके उठते थे।

हमने अपने दोस्तों से भी बहुत सीखा। जब शेर कहते तो सबसे पहले ख़ास दोस्तों ही को सुनाते

1. दिये हुए सांचे पर
2. स्नेहयुक्त आशीष की भावना

थे। उनसे दाद मिलती तो मुशायरों में पढ़ते। अगर कोई शेर ख़ुद पसंद न आया, या दोस्तों ने कहा, निकाल दो, तो उसे काट देते। एम.ए. में पहुंचने तक बाक़ायदा लिखना शुरू कर दिया था।

हमारे एक दोस्त हैं ख़्वाजा ख़ुर्शीद अनवर। उनकी वजह से हमें संगीत में दिलचस्पी पैदा हुई। ख़ुर्शीद अनवर पहले तो दहशतपसंद (क्रांतिकारी) थे, भगतसिंह ग्रुप में शामिल। उन्हें सज़ा भी हुई, जो बाद में माफ़ कर दी गयी। दहशतपसंदी तर्क करके वह संगीत की तरफ़ आ गये। हम दिन में कॉलेज जाते और शाम को ख़ुर्शीद अनवर के वालिद ख़्वाजा फ़ीरोज़ुद्दीन मरहूम की बैठक में बड़े-बड़े उस्तादों का गाना सुनते। यहां उस ज़माने के सब ही उस्ताद आया करते थे; उस्ताद तवक्कुल हुसैन ख़ां, उस्ताद अब्दुल वहीद ख़ां, उस्ताद आशिक़ अली ख़ां, और छोटे गुलाम अली ख़ां, वग़ैरह। इन उस्तादों के साथ के और हमारे दोस्त रफ़ीक़ ग़ज़नवी मरहूम से भी सुह्बत होती थी। रफ़ीक़ ला-कॉलेज में पढ़ते थे। पढ़ते तो ख़ाक थे, बस रस्मी तौर पर कॉलेज में दाख़िला ले रक्खा था। कभी ख़ुर्शीद अनवर के कमरे में और कभी रफ़ीक़ के कमरे में बैठक हो जाती थी। ग़रज़ इस तरह हमें इस फ़न्ने-तलीफ़ (ललित-कला) से आनंद का काफ़ी मौक़ा मिला।

जब हमारे वालिद गुज़र गये तो पता चला कि घर में खाने तक को कुछ नहीं है। कई साल तक दर-ब-दर फिरे और फ़ाक़ामस्ती की। इसमें भी लुत्फ़ आया, इसलिए कि इसकी वजह से 'तमाशाए-अहले-करम'[3] देखने का बहुत मौक़ा मिला, ख़ास तौर से अपने दोस्तों से। कॉलेज में एक छोटा-सा हल्क़ा (मंडली) बन गया था। कोयटा के हमारे दोस्त थे, एहतिशामुद्दीन और शेख़ अहमद हुसैन, डॉ. हमीदुद्दीन भी इस हल्क़े में शामिल थे। इनके साथ शाम को महफ़िल रहा करती। जवानी के दिनों में जो दूसरे वाक़िआत होते हैं वह भी हुए, और हर किसी के साथ होते हैं।

गर्मियों में कॉलेज बंद होते, तो हम कभी ख़ुर्शीद अनवर और भाई तुफ़ैल के साथ श्रीनगर चले जाया करते, और कभी अपनी बहन के पास लायलपुर पहुंच जाते। लायलपुर में बारी अलीग और उनके गिरोह के दूसरे लोगों से मुलाक़ात रहती। कभी अपनी सबसे बड़ी बहन के यहां धरमशाला चले जाते, जहां पहाड़ की सीनरी देखने का मौक़ा मिलता, और दिल पर एक ख़ास क़िस्म का नक़्श (गहरा प्रभाव) होता। हमें इनसानों से जितना लगाव रहा, उतना क़ुदरत के मनाज़िर (सीन-सीनरी) और नेचर के हुस्न को देखने-परखने का नहीं रहा। फिर भी उन दिनों मैंने महसूस किया कि शहर के जो गली-मुहल्ले हैं, उनमें भी अपना एक हुस्न है जो दरिया और सहरा, कोहसार या सर्व-ओ-समन से कम नहीं। अलबत्ता उसको देखने के लिए बिल्कुल दूसरी तरह की नज़र चाहिए।

मुझे याद है, हम मस्ती दरवाज़े के अंदर रहते थे। हमारा घर ऊंची सतह पर था। नीचे नाला बहता था। छोटा-सा एक चमन भी था। चार-तरफ़ बाग़ात थे। एक रात चांद निकला हुआ था। चांदनी नाले और इर्द-गिर्द के कूड़े-करकट के ढेर पर पड़ रही थी। चांदनी और साये, ये सब मिलकर कुछ अजब भेद-भरा-सा मंज़र बन गये थे। चांद की इनायत से उस सीन पर भद्दा पहलू छुप गया था और कुछ अजीब ही क़िस्म का हुस्न पैदा हो गया था; जिसे मैंने लिखने की कोशिश भी की है। एकाध नज़्म में यह मंज़र खेंचा है जब शहर की गलियों, मुहल्लों और कटरों में कभी दोपहर के वक़्त कुछ इसी क़िस्म

---

3. पैसेवालों की कृपा का नाटक
(ग़ालिब का शेर है : बनाकर फ़क़ीरों का हम भेस ग़ालिब/तमाशाए-अहले-करम देखते हैं)

का रूप आ जाता है जैसे मालूम हो कोई परिस्तान है। 'नीम-शब', 'चांद', 'ख़ुदफ़रामोशी', 'बाम्-ओ-दर ख़ामुशी के बोझ से चूर', वग़ैरह उसी ज़माने से संबंध रखती हैं।

एम.ए. में पहुंचे तो कभी क्लास में जाने की ज़रूरत महसूस हुई, कभी बिल्कुल जी न चाहा। दूसरी किताबें जो कोर्स में नहीं थीं, पढ़ते रहे। इसलिए इम्तिहान में कोई ख़ास पोज़ीशन हासिल नहीं की। लेकिन मुझे मालूम था कि जो लोग अव्वल-दोअम आते हैं, हम उनसे ज़ियादा जानते हैं, चाहे हमारे नंबर उनसे कम ही क्यों न हों। यह बात हमारे उस्ताद लोग भी जानते थे। जब किसी उस्ताद का, जैसे प्रोफ़ेसर डिकिन्सन या प्रोफ़्रेसर कटपालिया थे, लेक्चर देने को जी न चाहता तो हमसे कहते हमारी बजाय तुम लेक्चर दो; एक ही बात है! अलबत्ता प्रोफ़ेसर बुख़ारी बड़े क़ायदे के प्रोफ़ेसर थे। वह ऐसा नहीं करते थे। प्रोफ़ेसर डिकिन्सन के ज़िम्मे उन्नीसवीं सदी का नस्री अदब (गद्य साहित्य) था; मगर उन्हें उससे दरअस्ल कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए हमसे कहा दो-तीन लेक्चर तैयार कर लो! दूसरे जो दो-तीन लायक़ लड़के हमारे साथ थे, उनसे भी कहा दो-दो तीन-तीन लेक्चर तुम लोग भी तैयार कर दो! किताबों वग़ैरह के बारे में कुछ पूछना हो तो आके हमसे पूछ लेना। चुनांचे, नीमउस्ताद[4] हम उसी ज़माने में हो गये थे।

शुरू-शुरू में शायरी के दौरान में, या कॉलेज के ज़माने में हमें कोई ख़याल ही न गुज़रा कि हम शायर बनेंगे। सियासत वग़ैरह तो उस वक़्त ज़ेहन में बिल्कुल ही न थी। अगरचे उस वक़्त की तहरीकों (आंदोलनों) मसलन कांग्रेस तहरीक, ख़िलाफ़त तहरीक, या भगतसिंह की दहशतपसंद तहरीक के असर तो ज़ेहन में थे, मगर हम ख़ुद इनमें से किसी क़िस्से में शरीक नहीं थे।

शुरू में ख़याल हुआ कि हम कोई बड़े क्रिकेटर बन जायें, क्योंकि लड़कपन से क्रिकेट का शौक़ था और बहुत खेल चुके थे। फिर जी चाहा, उस्ताद बनना चाहिए; रिसर्च करने का शौक़ था। इनमें से कोई बात भी न बनी। हम क्रिकेटर बने न आलोचक; और न रिसर्च किया, अलबत्ता उस्ताद (प्राध्यापक) होकर अमृतसर चले गये।

हमारी ज़िंदगी का शायद सबसे ख़ुशगवार ज़माना अमृतसर ही का था; और कई एतिबार से। एक तो कई इस वजह से, कि जब हमें पहली दफ़ा पढ़ाने का मौक़ा मिला तो बहुत लुत्फ़ आया। अपने विद्यार्थियों से दोस्ती का लुत्फ़; उनसे मिलने और रोज़मर्रा की रस्मो-राह का लुत्फ़; उनसे कुछ सीखने, और उन्हें पढ़ाने का लुत्फ़। उन लोगों से दोस्ती अब तक क़ायम है। दूसरे यह कि, उस ज़माने में कुछ संज़ीदगी से शेर लिखना शुरू किया। तीसरे यह कि, अमृतसर ही में पहली बार सियासत में थोड़ी-बहुत सूझ-बूझ अपने कुछ साथियों की वजह से पैदा हुई; जिनमें महमूदुज़्ज़फ़र थे, डॉक्टर रशीद जहां थीं, बाद में डॉक्टर तासीर आ गये थे। यह एक नयी दुनिया साबित हुई। मज़दूरों में काम शुरू किया। सिविल लिबर्टीज़[5] की एक अंजुमन (संस्था) बनी, तो उसमें काम किया, तरक़्क़ीपसंद तहरीक शुरू हुई तो उसके संगठन में काम किया। इन सबसे ज़ेहनी तस्कीन (मानसिक-बौद्धिक संतोष) का एक बिल्कुल नया मैदान हाथ आया।

तरक़्क़ीपसंद अदब के बारे में बहसें शुरू हुई, और उनमें हिस्सा लिया। 'अदबे-लतीफ़' के संपादन

4. आधे (अधकचरे) अध्यापक (नीमहक़ीम के वज़न पर)
5. जनता के मौलिक अधिकारों की स्वतंत्रता

की पेशकश हुई तो दो-तीन बरस उसका काम किया। उस ज़माने में लिखनेवालों के दो बड़े गिरोह थे; एक अदब-बराय-अदब ('साहित्य साहित्य के लिए') वाले, दूसरे तरक़्क़ी-पसंद थे। कई बरस तक इन दोनों के दरमियान बहसें चलती रहीं; जिसकी वजह से काफ़ी मसरूफ़ियत रही जो, अपनी जगह ख़ुद एक बहुत ही दिलचस्प और तस्कीनदेह तजुर्बा था। पहली बार उपमहाद्वीप में रेडियो शुरू हुआ। रेडियो में हमारे दोस्त थे। एक सैयद रशीद अहमद थे, जो रेडियो पाकिस्तान के डायरेक्टर जनरल (महाधीक्षक) हुए। दूसरे, सोमनाथ चिब थे, जो आजकल[6] हिंदुस्तान में पर्यटन विभाग के अध्यक्ष हैं। दोनों बारी-बारी से लाहौर के स्टेशन डायरेक्टर मुक़र्रर हुए। हम और हमारे साथ शहर के दो-चार और अदीब (साहित्यकार) डॉक्टर तासीर, हसरत, सूफ़ी साहब और हरिचंद 'अख़्तर' वग़ैरह रेडियो आने-जाने लगे। उस ज़माने में रेडियो का प्रोग्राम डायरेक्टर ऑफ़ प्रोग्राम्ज़ नहीं बनाता था, हम लोग मिलकर बनाया करते थे। नयी-नयी बातें सोचते थे और उनसे प्रोग्राम का ख़ाका तैयार करते थे। उन दिनों हमने ड्रामे लिखे, फ़ीचर लिखे, दो-चार कहानियां लिखीं। यह सब एक बंधा हुआ काम था। रशीद जब दिल्ली चले गये, तो हम देहली जाने लगे। वहां नये-नये लोगों से मुलाक़ात हुई। देहली और लखनऊ के लिखनेवाले गिरोहों से जान-पहचान हुई। मजाज़, सरदार जाफ़री, जॉनिसार अख़्तर, जज़्बी और मख़दूम मरहूम से रेडियो के वास्ते से राबिता (संपर्क) पैदा हुआ; जिससे दोस्ती के अलावा समझ और सूझ-बूझ में तरह-तरह के इज़ाफ़े हुए। वह सारा ज़माना मसरूफ़ियत (व्यस्तता) का भी था, और एक तरह से बेफ़िक्री का भी।

प्रस्तुति : मिर्जा ज़फ़रुल हसन
उर्दू से अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

6. संभवतः सन् 1977 में

यादों के साये

एलिस फ़ैज़

यह बात लगभग नामुमकिन है कि किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में औपचारिक आदर-भाव के साथ बात की जाये जो चौबीस साल तक रगे-जां की तरह साथ रहा है एक ऐसा व्यक्ति जो मेरा पति है।

फ़ैज़ पर लिखते समय जाती बातें और साथ झेले हुए अनुभव विचित्र आकर्षण की तरह दामने-दिल को खींचते हैं। लेकिन जब यह चुनने का प्रश्न उठे कि क्या लिखूं तो वही बातें चुननी चाहिए, जो दूसरों के जीवन पर अपने प्रभाव की मुहर लगा सकें, दूसरों के दिलों को यूं छू लें कि उनका स्पर्श मुस्कान और मुक्त हंसी को जन्म दे सके,... यही नहीं, बल्कि जो बातें आंसुओं के सीमांचल तक पहुंचा दें।

मैं विगत दिनों की ओर देखती हूं... मेरी निगाहें अनिवार्यतः बंदीगृह के दरवाज़े से होकर विगत तक पहुंचती हैं। जेल के ये साल हमारे सम्मिलित जीवन में एक अवरोधक अंतराल की तरह नज़र आते हैं। मगर इन बरसों ने हम दोनों को वह कुछ दिया है जो किसी तरह भी हम हासिल नहीं कर सकते थे; चंद साल, जिनमें घुटनियों चलती हुई एक बच्ची छोटी-सी लड़की बन गयी; जिनमें एक लड़की धीरे-धीरे नौजवान महिला बन गयी; जिसमें जीवन के एक अचानक मोड़ की तरह 'किसी' के सर के बालों पर सफ़ेदी छाने लगी, और किसी चेहरे पर झुर्रियां आहिस्ता-आहिस्ता अपना जाल बुनती रहीं। जेल के दरवाज़े अवरोधस्वरूप हमारे बीच में थे; लेकिन उन दरवाज़ों में दाख़िल होते हुए, उनसे निकलते हुए ज़ंजीरों की झनकार और तालों में कुंजियों के घूमने की आवाज़ के साथ ज़ंजीरों-बेड़ियों से बंधे ये दिन अपने पीछे-पीछे हर्ष और आनंद से भरे-पूरे क्षण लेकर आये : अविश्वसनीय रूप से मानो आंचल में फूलों का उपहार लिये, ये क्षण। ... मैं उन दिनों के ग़म बल्कि ग़मों की बात नहीं करूंगी। क्योंकि मौत (और ग़म) ने अपनी इच्छाएं हम दोनों को सौंपी हैं।... मैं तो ख़ुशी के क्षणों की याद ताज़ा करना चाहती हूं, ताकि सूरज की रौशनी से ये बीते हुए क्षण जगमगा उठें... हालांकि मैं जानती हूं कि साये भी उतने ही प्यारे होते हैं।

जब मार्च की एक सुब्ह को फ़ैज़ ने मुझे और सोते हुए बच्चों को ख़ुदा हाफ़िज़ कहा तो मेरे सामने सबसे पहला और संगीन मस्अला यह था कि चार सौ रुपये मासिक की आमदनी से घर को कैसे चलाया जायेगा। न चाहते हुए भी उदास दिल से हमने शफ़ीउल्ला के अलावा दूसरे पुराने नौकरों को अलग कर दिया; शफ़ीउल्ला, जो अब भी हमारे साथ हैं। सहज-स्वभाव, अपनापे की मूर्ति, फ़ैज़ की सौतेली बहन हमारे साथ रहने के लिए आ गयी, ताकि वह बदले हुए हालात में ज़िंदगी बसर करने में मेरी मदद कर सके।

पहली चोट हमारे बच्चों पर पड़ी। क्वीन मेरी कॉलेज से उनका नाम कटवाकर केन्याज़ मिशन स्कूल में दाख़िल कराना पड़ा। मुझे तो इस बात का अंदाज़ा बाद में हुआ कि यह फ़ैसला हमारी बच्चियों के लिए कितना लाभकर सिद्ध हुआ। मुनीज़ा अक्सर मुझे बुरा-भला कहती : 'जब अब्बा यहां थे तो मेरे पास एक आया थी। स्कूल में झूले थे, चकरघिन्नी थी, तरह-तरह के खेल थे...!' अपनी नयी परिस्थिति में उसे फ़र्श पर बैठना पड़ता था। लेकिन प्रार्थना-पद्धति के नये रूपों ने उसमें एक अजीब-सा बौद्धिक मानसिक उत्साह पैदा कर दिया था...मेरी ननद की आपत्तियों के बावजूद वह रात को सोने से पहले अपने घुटनों पर झुककर, सज्दे के लिए आधी झुकी-सी भाव-मुद्रा में, 'आस्मानी बाप' (परमेश्वर) की स्तुति बिगड़ी हुई और किंचित हास्यास्पद-सी उर्दू में करती। एक रात जब वह अपने स्रष्टा से विनती करने में लीन थी और हम उसे सुलाने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे, उसने कहा 'और आस्मानी बाप..तुम जो हैदराबाद जेल में हो, जल्दी से वापस आ जाओ!' जब हमने अपनी घुटी हुई हंसी पर काबू पा लिया और मुनीज़ा की शेष प्रार्थना सुन ली, तो उसे बिस्तर में लिटा दिया। फिर उसे (अर्द्धनिद्रा की दशा में) यह कहते हुए सुना : 'बाजी...बहुत जल्द सब कुछ ठीक हो जायेगा!'

जेल में मुलाक़ात की इजाज़त मुद्दतों की प्रतीक्षा के बाद मिलती है, और हर मुलाक़ात की याद (अगली मुलाक़ात तक) हम सीने में लगाये रहते। अगली मुलाक़ात तक हर पिछली मुलाक़ात की एक-एक निगाह, एक-एक शब्द, अंग-परिचालन की एक-एक गति को हृदय और मस्तिष्क में परम निधि के समान सुरक्षित रखते। ये मुलाक़ातें दो-तीन महीने में एक बार होतीं। ... हर मुलाक़ात के लिए हमें सिंध मरुभूमि के विस्तारों को पार करना पड़ता। ये यात्राएं थका देने वाली थीं। और फिर उस थकन पर ख़र्चों का बोझ। जेलर हर मुलाक़ात की निगरानी करता। ख़ास तौर पर मेरी मुलाक़ात की निगरानी; क्योंकि मुझे 'संभावित' जानकारियों का माध्यम समझा जाता था। हम मुलाक़ात के उन क्षणों को हलकी-फुलकी घटनाओं और मित्रों के संदेशों से मधुरतम बनाते; ताकि उनका बोझ सुखानुभूति के तले दब जाये।

मुझे अच्छी तरह याद है कि एक मुलाक़ात के मौक़े पर जब मैं एक कहानी सुना रही थी, हमारा जेलर उस कहानी की दिलचस्पियों में यों गुम हो गया कि जब संतरी और जेलर की ड्यूटी का वक़्त पूरा हो गया, तो उसने दूसरे जेलर से कहा : 'भाई, थोड़ी देर ठहर जाओ। मैं इस कहानी का अंजाम तो सुन लूं!'

मित्रों ने मुझसे अक्सर पूछा कि भला किसी ग़ैर की मौजूदगी में बातें कैसे होती होंगी! दो दिलों की मुलाक़ात के दरमियान किसी तीसरे की मौजूदगी! हर बात सुनता हुआ आदमी! सच पूछिए तो हमें अक्सर किसी और की मौजूदगी का एहसास ही कब होता था! हां, कभी-कभी 'दरमियान का पर्दा' अपनी मौजूदगी से मुलाक़ात को तंग कर देता था, और जैसे, शुरू-शुरू में जेलर साहब मेरे और फ़ैज़ के दरमियान बैठने पर इसरार फ़र्माते थे।

फ़ैज़ की गिरफ़्तारी और उनके अवैध एकांत कारावास (मैं अवैध इसलिए कह रही हूं कि एक नियत अवधि से अधिक किसी व्यक्ति को एकांत कारावास की यातना में बांध रखना अवैध है) के तीन महीने बाद मैं अपनी दोनों बच्चियों के साथ उनसे मिलने लायलपुर जेल गयी। हमें सुपरिन्टेंडेंट के कमरे में पहुंचा दिया गया। उसने मेरा नाम पूछा। मैंने बता दिया। फिर उसने हम तीनों को देखा। मुझे अब यह महसूस होता है कि शायद उस क्षण हम बहुत अकेले, मायूस, चिंताकुल और बुझे-बुझे नज़र आ रहे थे,

मानो हमारे चेहरे हमारी मानसिक भावस्थिति के आईने बन गये हों। सुपरिन्टेंडेंट ने मुझसे पूछा 'आपकी यही दो बच्चियां हैं?' मैंने उसे बताया कि 'यही बच्चियां हमारी पूंजी हैं हमारी ज़िंदगी का हासिलज़रब (गुणनफल)।' उसने झिझकते हुए सवाल किया 'कोई लड़का नहीं है?' मैंने नकार में गर्दन हिलायी।... उसने एक आह भरी...एक लंबी आह! फिर मेरी तरफ़ देखा और कहा 'कैसे अफ़सोस की बात है! कैसी अफ़सोसनाक बात!...' उसके लहजे से मुझे यह एहसास हुआ जैसे अब किसी बेटे की मां बनना मेरे मुक़द्दर में नहीं, जैसे...मेरा सुहाग लुट चुका हो!

और जब फ़ैज़ कमरे में दाख़िल हुए तो दोनों बच्चियां दौड़ती हुई उनकी गोद में समा गयीं। मुनीज़ा ने जैसे बुड़बुड़ाते हुए कहा 'अब्बू! 'वो' कहते थे कि आपके हाथ और पैर काट डाले जायेंगे!' 'वो' कौन थे, यह मुझे कभी नहीं मालूम हो सका। लेकिन उस क्षण जब हमारी (मेरी और फ़ैज़ की) निगाहें एक-दूसरे से मिलीं तो हमें मालूम हुआ कि बेयक़ीनी (भविष्य के प्रति निराशा) के अनुभव और भय के बीच हम ही अकेले नहीं गुज़र रहे थे।

हैदराबाद तक हमारे सफ़र का मतलब था अधिक मुलाक़ातें। उन मौक़ों पर हम (स्वर्गीय) सुहरवर्दी के साथ ठहरते, जो मुलज़िम की क़ानूनी पैरवी कर रहे थे। सलीमा और मुनीज़ा सुहरवर्दी साहब से जैसे बेसाख़्ता प्यार करने लगीं, और उनसे निकट आती गयीं। सुहरवर्दी मरहूम बच्चियों के लिए नृत्य-संगीत की धुन पर 'वाल्ट्ज़' करते गोल घेरे में नृत्य। एक दिन सलीमा ने अपने सर को झटकते हुए कहा 'आज मैं नहीं नाचूंगी।' लेकिन मुनीज़ा फ़ौरन उछल कर खड़ी हो गयी। सुहरवर्दी साहब ने अपना हाथ आगे बढ़ाया, और पुरानी दुनिया के शिष्टाचार का मूर्त नमूना बनकर, जैसे नृत्य की फ़र्माइश करते हुए किंचित झुके। मुनीज़ा ने एक युवा महिला की तरह झुककर उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। सुहरवर्दी साहब का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा और वह दोनों कमरे में एक आहिस्ता और मद्धम-से फ़्रांसीसी अंदाज़ के शाहाना नृत्य (minuet) में तन्मय हो गये। बाद में सुहरवर्दी साहब ने गाड़ी में सिंधु नदी तक चलने का प्रस्ताव पेश किया। और फिर दरिया की मौजों पर कश्ती चलाते हुए उन्होंने हमें एक पंजाबी लोकगीत सुनाया, जो लड़कियों को पहले से याद था। यह सब कुछ कितना आनंदप्रद था! लेकिन जब हम यह सोचते कि यह कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभाशाली व्यक्ति कल सुब्ह न्याय की प्राप्ति के लिए जेल की चारदीवारी के अंदर अपना संघर्ष शुरू कर देगा, तो हर बात अर्थहीन और अप्रासंगिक मालूम होने लगती।

'दरबारे-वतन में जब इक दिन...'

यह फ़ैज़ की अत्यधिक प्रिय और लोकप्रिय क़व्वालियों में से है। मुझे हैदराबाद की एक ईद याद है जब अधिकतर बंदियों के परिवार एक ही स्थान पर इकट्ठा हो गये थे। शोख़ रंगों के रंगारंग और भड़कीले कपड़े पहने हुए इतने बच्चे वहां जमा थे जिन्हें देखने वाला यह भी भूल जाता कि बिना किसी अपवाद के उन सबके बाप ऐसे अभियोगों में पकड़े गये थे जिनके आधार पर सरकारी वकील मृत्युदंड तक की मांग कर सकता था।

ईद की उस पार्टी में यह क़व्वाली जिस जोश, चाव और तेज़ धुन में गायी गयी, उसकी कल्पना भी एक मुश्किल काम है।... और जब क़व्वाली ख़त्म हुई तो उस वक़्त तक तमाम बच्चे, बीवियां और

माएं सभी इस क़व्वाली में शरीक हो चुकी थीं। सबके होंठों पर यही बोल थे :

'दरबारे-वतन में जब इक दिन सब जानेवाले जायेंगे'

हम सबने निहायत पुर-तक़ल्लुफ़ दावत का प्रबंध किया। और जब हम 'घर' यानी डाकबंगले वापस पहुंचे तो बच्चियों ने कहा 'ऐसा खाना तो हमने बहुत दिनों से नहीं खाया था! है ना, अम्मी?'

खाने की बात पर मुझे एक दिलचस्प वाक़िआ याद आया। यह उन दिनों का वाक़िआ है जब फ़ैज़ को सज़ा दी जा चुकी थी, और वह अपनी क़ैद की मीआद मंटगोमरी जेल में पूरी कर रहे थे। मुनीज़ा और सलीमा ने अपने अब्बू को ख़त में लिखा 'हम आ रहे हैं। आप दोपहर के खाने के लिए कोई अच्छी चीज़ ज़रूर पकाइयेगा!' हमें एक साथ दोपहर का खाना खाने की इजाज़त दे दी गयी थी। जब हम लोग मंटगोमरी जेल पहुंचे तो नाइब सुपरिन्टेन्डेन्ट लोधी साहब ने मुनीज़ा से कहा 'तुम्हारे अब्बू ने यक़ीनन तुम्हारे लिए कोई ख़ास चीज़ पकायी होगी।'

'आपको कैसे मालूम हुआ?' मुनीज़ा ने पूछा।

'मैंने तुम्हारे ख़त में पढ़ा था।' लोधी साहब ने जवाब दिया।

जेल के अधिकारीगण निश्चय ही चिट्ठी-पत्री की जांच करते थे। मुनीज़ा उठकर खड़ी हो गयी और बोली 'तो क्या तुम मेरे ख़त पढ़ते हो?'

'हां।' लोधी साहब बोले।

'उफ़! बदतमीज़ कहीं के!'

मैं नहीं कह सकती कि यह वाक्य सुनकर लोधी साहब पर क्या बीती। लेकिन मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उनके चेहरे पर उस वक़्त कैसे भाव छा गये थे। चेहरे का रंग उड़ गया था। बेचारे लोधी साहब!

जब 1959 के शुरू महीनों में मार्शल ला के अंतर्गत फ़ैज़ फिर जेल के मेहमान बने तो लाहौर जेल से वह लाहौर क़िले में भेज दिये गये। मैंने उनसे मुलाक़ात के लिए प्रार्थना-पत्र दिया। सी.आई.डी. के अधिकारियों ने जानबूझकर झूठ से काम लिया। उन्होंने इस बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की कि फ़ैज़ लाहौर जेल से क़िले में ले आये गये हैं। चुनांचे (इस जानबूझकर बोले गये झूठ की वजह से) मैं लाहौर जेल गयी और वहां पता चला कि फ़ैज़ तो वहां से जा चुके हैं। और जब मैंने मुलाक़ात के लिए दोबारा प्रार्थना-पत्र दिया तो मैं गुस्से के मारे सचमुच उबल पड़ी थी। आख़िरकार मैं अपनी बूढ़ी सास के साथ लाहौर क़िले पहुंची। फ़ैज़ को उनकी कोठरी से बुलाया गया। उन्हें देखते ही मुझे अंदाज़ा हुआ कि या तो उन्हें शेव करने की इजाज़त नहीं दी गयी या उन्होंने ख़ुद ही दाढ़ी बनाने का कष्ट नहीं उठाया। उनके चेहरे से पता चलता था कि उनके पिछले चौबीस घंटे ख़ुशगवार हर्गिज़ न थे।

मैंने पूछा 'तुमने नाश्ता किया है?'

फ़ैज़ ने मुस्कराते हुए जवाब दिया 'हां।'

'क्या?' यह था मेरा दूसरा सवाल।

'ओ..! एक बन, एक प्याली चाय!' फ़ैज़ ने जवाब दिया।

'बन्' का शब्द सुनते ही मैं जैसे बारूद बन गयी। जैसे किसी ने बंदूक की लबलबी पर हाथ रख दिया हो। मेरे स्वभाव में यह परिवर्तन क्योंकर हुआ? इसका जवाब मुझे भी कभी न मिल सका। लेकिन शायद उस वक़्त 'बन्' एक अर्थपूर्ण चिन्ह बन गया था। एक संकेत उन तमाम अन्यायों, दुख-दर्द,

अपमान, धोखा-फ़रेब और झूठ का था, जिनका मैं गत कई महीने से शिकार थी।

मैं क्रोध से उत्तेजित होकर जेलर की तरफ़ पलटी और चीख़ उठी : 'तुमने मेरे शौहर को बन् दिया!.. सिर्फ़ बन्!' जेलर का मुंह खुला। मगर मैंने उसे एक शब्द भी कहने का मौक़ा न दिया। मैं फिर बरस पड़ी : 'तुम क्या जानो! उन्होंने अपनी ज़िंदगी में कभी बन् नहीं खाया। तुमने बन् ही तो कहा था? बन्! बन्!'

बेचारा ग़रीब आदमी कुछ न बोला। लेकिन अपने आवेशपूर्ण भाषण के बाद मैंने एक अजीब-सी शांति अनुभव की। ऐसा संतोष जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता। उस क्रोधावेश से भरे समय के एक घंटे बाद जब मैं घर गयी तो मैंने अंडों, मक्खन, डबल रोटी से एक टोकरी भरी और जेलर के नाम एक पुर्ज़ा लिखकर भेज दिया कि 'नाश्ता इस क़िस्म की चीज़ को कहा जाता है।'

बाद में 'बन्' के वाक़िए पर हम दोनों बेतहाश हंसा करते थे, ऐसी हंसी जो ख़त्म होने को ही न आती थी। क्योंकि, लाहौर के क़िले की-सी काल-कोठरी में क़ैद आदमी के लिए 'बन्' का महत्व ही क्या था!... लेकिन शायद उस समय उस 'बन्' का महत्व उस लंबे और थका देनेवाले एकाकीवास और खोखलेपन से जुड़ गया था जो भविष्य के पर्दे में छुपा हुआ था।

मेरी सास ने मुझे बाद में बताया कि मेरे पुरजोश भाषण को सुनकर वह यह समझी थीं कि फ़ैज़ को शायद क़िले में यातना दी गयी थी जिस पर मैं बिगड़ रही थी।

फ़ैज़ से (विभिन्न जेलों में) मिलने के लिए हमें अक्सर रेलगाड़ी में सफ़र करना पड़ता था। हम लोग तीसरे या दरमियाने दर्जे में सफ़र करते थे। इसलिए बच्चियों को साथ के यात्रियों से बात भी ज़रा ज़ियादा ही करनी पड़ती थी। (ऊंचे क्लासों के मुसाफ़िर-तौबा! कसे रा बा-कसे कारे न बाशद![1]) सलीमा से जब कोई पूछता कि उसके माता-पिता कौन हैं और क्या करते हैं, तो वह झिझक जाती थी। एक ऐसे मौक़े पर मैंने उसे यह कहते सुना (उसका चेहरा सुर्ख़ हो गया था-क्योंकि उसे सफ़ेद झूठ से नफ़रत थी) 'अब्बू हैदराबाद में काम करते हैं!' मुनीज़ा उसकी तरफ़ मुड़ी और गुस्से में उसके हाथ पर हाथ मारती हुई बोली-'चल! झूठी कहीं की! वह जेल में हैं!'

कुछ दिन हुए मुझे एक कापी मिली, जिसमें जेल से फ़ैज़ की वापसी के बाद तक के वाक़िआत हैं। इतने दिनों की ग़ैरहाज़िरी के बाद हमें एक बार फिर फ़ैज़ को अपनी घरेलू ज़िंदगी का हिस्सा बनाना था हमारी घरेलू ज़िंदगी, जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्थान पर एक विशुद्ध और सुदृढ़ मातृसत्तात्मक व्यवस्था बन गयी थी! हम इस कापी को 'एकता-योजना' (वन यूनिट प्लैन) कहते थे और हममें से हरेक का नाम पाकिस्तान के किसी भूतपूर्व प्रांत के नाम पर था। इस 'एकता' में एक भानजा भी शामिल था। हमारा काम और ज़िम्मेदारी यह थी कि पुरानी और नयी आदतों में और घर के नये सदस्यों के साथ आपसी मतभेदों का फ़ैसला करें घरेलू ज़िंदगी को बेहतर और सुखद बनाने के लिए।

हम हर सप्ताह एक मीटिंग करते थे। शिकायतें पेश होती थीं, और उनके हल ढूंढे जाते थे।

अब मैं इस कापी पर नज़र डालती हूं तो ऐसे वाक्य और याददिहानियां नज़र आती हैं :

'मैं कुछ सहेलियों को चाय पर बुलाना चाहती हूं। क्या इसकी गुंजाइश निकल सकती है?'

1. किसी को किसी से कोई मतलब नहीं।

'हमें घर पर सालगिरह (बर्षगांठ) की पार्टी करनी चाहिए।'

'अब्बू को बालरूम डांसिंग सीखने की मश्क़ ज़रूर करनी चाहिए।'

'नसीर को अपनी अल्मारी के ख़ाने ख़ुद साफ़ करने चाहिए।'

'अब्बू को एक दिन में तीस से ज़ियादा सिगरेट नहीं फूंकने चाहिए। अगर वह नहीं मानेंगे तो मैं यह शिकायत कापी पर पांच मर्तबा लिखूंगी।'

'घर पर जब कोई दावत हो तो बड़ों के साथ बच्चों को भी बुलाया जाये।'

कभी-कभी 'सीमाप्रांत' की तरह मुनीज़ा आंदोलनकर्त्ता बन जाती और शोर मचाती। उसकी ज़िंदगी में यह नया अनुशासन शांति के साथ नहीं आया। फ़ैज़ 'सिंध' थे, क्योंकि सलीमा कहती थी 'अब्बू तो सिंध से ही तअल्लुक़ रखते हैं।' और मैं 'बलूचिस्तान' थी, शायद इसलिए कि कभी-कभी मैं दूसरों के लिए असुविधा का कारण बन जाती। हमारे आर्थिक साधन सीमित थे, और मांगें बढ़ती जा रही थीं। और हमें बहुत-सी अच्छी चीज़ों की सीमा बांधनी पड़ती थी (आसान उर्दू में 'राशनबंदी') और यह सीमाबंदी उस वक़्त तक आवश्यक थी जब तक फ़ैज़ जेल से लौटकर दोबारा काम शुरू न कर देते। लेकिन जल्द ही हमारा लोकतंत्र सफल हो गया। और कुछ ही अर्से बाद हमारा घर ऐसे ढंग पर चल रहा था जैसे घर का सरपरस्त इस घर से बाहर कभी गया ही न हो।

उर्दू से अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

एक हौसलामंद दिल की आवाज़

अलेक्ज़ेंडर सुर्कोफ़

1962 में 'सरे-वादिए-सीना' का रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस रूसी संग्रह की भूमिका उसके अनुवादक और फ़ैज़ की शायरी के प्रेमी और विद्वान अलेक्ज़ेंडर सुर्कोफ़ ने स्वयं लिखी। इस भूमिका को पहले तो रूसी से उर्दू में सहर अंसारी ने प्रस्तुत किया था, अब इसे हिंदी में गोबिंद प्रसाद प्रस्तुत कर रहे हैं। सं.

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में ज़बां मैंने

मास्को में दिसंबर की सर्दियों की एक शाम को ज़िंदगी में पहली बार फ़ैज़ के इस जोशीली शायरी ने मेरे दिल में बेचैनी पैदा कर दी थी। 1954 ई. का साल रूख़्सत हो रहा था और बर्फ़ का एक तूफ़ान पुश्किन के सुरमयी बुत के आस-पास सुरीली आवाज़ में गा रहा था। पहरेदार सिपाही चौराहों पर खड़े सर्दी से कांप रहे थे। मास्को के एक गर्म और आरामदेह फ़्लैट में पूर्वी सोवियत के मित्र लोकतांत्रिक राज्यों के शायरों और सुदूर पूर्वी भू-भाग से आये हुए मेहमानों की महफ़िल में हिंदुस्तान के शायर अली सरदार जाफ़री एक अनजानी ज़बान के शेर लगभग गुनगुनाने के अंदाज़ में पढ़ रहे थे। शेर सबके दिलों में जादू जगाते जा रहे थे। इन शेरों में मुहब्बत के नाज़ुक जज़्बों की कसक थी, जेल की तन्हा कोठरी में क़ैद इनसानी तमन्नाओं का ग़म था और एक इंक़लाबी का भड़कीला आक्रोश भी था। ये शेर फ़ैज़ अहदम फ़ैज़ के थे जो हमारी बातचीत में शामिल न हो सके थे और मास्को से बहुत दूर मंटगोमरी जेल में तन्हाई के रात-दिन बसर कर रहे थे। इसी लम्हे शायद वो सलाख़ों से बाहर का दृश्य देख रहे होंगे, वो चमकते सितारों से भरे आसमान को तक रहे होंगे या फिर शायद अपने हौसलामंद तपते हुए दिल की गहराई में जन्म लेने वाले मिसरे (पंक्तियां) मन ही मन दोहरा रहे होंगे।

तीन महीने बाद वक़्त वही था जो मास्को में पिछली सर्दियों की हवाओं की मौजूदगी में था मैंने एक बार फिर ऐसे शेर सुने जो दिल को अपनी तरफ़ खींच लेते हैं और उनकी अनुभूतियों की ऊर्जा से ही मानी की मंज़िलें तय होने लगती हैं।

उस वक़्त मैं देहली में था। मार्च शुरू ही हुआ था। सियाह आसमान पर बेशुमार सितारे झिलमिला रहे थे और पृष्ठभूमि में सदाबहार दरख़्त रात की धुंध में खड़े नज़र आ रहे हो। लाल क़िले से बहुत दूर और संगीन दीवारों के साये में गाड़ियां ख़ामोशी से गुज़र रही थीं और रिक्शा छलावों की तरह भाग रहे

थे। वो सब उस जगह की तरफ़ आ-जा रहे थे जहां बिजली के लट्टुओं से रौशन विशाल, रंगारंग पंडाल, हरियाली और बेशुमार रंगीन फूलों से लदे हुए अनजान पेड़ अपनी बहार दिखा रहे थे।

पंडाल में एक मुशायरा हो रहा था। एक के बाद दूसरे शायर माइक्रोफ़ोन पर आते रहे और मुशायरे में जान पड़ती रही और फिर अली सरदार जाफ़री ने चंद ऐसी नयी नज़्मों को सुनाया जो मंटगोमरी जेल के तन्हा कमरे की उदास और रंगीन दीवारों की क़ैद में लिखी गयी थीं।

अब फ़ैज़ वहां अपनी क़ैद का पांचवां साल गुज़ार रहे थे।

रंग-बिरंगे पंडाल में अचानक सन्नाटा और कांपती हुई चुप्पी छा गयी। हर लफ़्ज साफ सुनायी दे रहा था। एक-एक लफ़्ज दिलों में उतरता चला जा रहा था और ऐसी जगहों पर जहां शायर के शेर एहसास की गहराई में डूब जाते और फिर आक्रोश की प्रतिध्वनि बनकर उभरते तो जैसे सारा पंडाल एकदम जाग उठता और गायक की आवाज़ के साथ बड़े जोशो-ख़रोश से दाद देने लगता।

उस वक़्त मैं फ़ैज़ अहदम फ़ैज़ के बारे में क्या जानता था?

यही कि अपनी जनता को औपनिवेशिक शासन की ग़ुलामी से आज़ाद कराने की जद्दोजहद में वो जवानी के ज़माने से ही पूरी लगन के साथ शामिल हैं। मुझे मालूम था कि दूसरे महायुद्ध के ज़माने में फ़ासिज़्म से अपनी घृणा की अभिव्यक्ति के लिए वो विदेसी एंग्लो-इंडियन फ़ौज में एक अफ़सर बन गये थे और जंग के बाद कर्नल की हैसियत से कार्य मुक्त हुए। वो एक पुरजोश पत्रकार थे जो औपनिवेशिक शिकंजे और स्थानीय आकाओं की ग़ुलामी से अपनी जनता को आज़ाद कराने के विचारों को बढ़ावा देने के लिए दिलो-जान से सक्रिय थे।

फ़ैज़ अपने राजनीतिक लेखों और एक निःस्वार्थ क्रांतिकारी की हैसियत से अपनी सरगर्मियों के ज़रिये पाकिस्तान के बेहतरीन राष्ट्र सपूतों के कंधे से कंधा मिलाकर बेग़र्जी और जोशो-ख़रोश के साथ जद्दोजहद में व्यस्त थे। प्रतिक्रियावादी इस बेमिसाल शायर की सत्यनिष्ठा और शब्द शक्ति से भयभीत थे। इसलिए अकेलेपन की यातना और जबरदस्ती बेकारी का शिकार बनाने के लिए उन्होंने मंटगोमरी और हैदराबाद की जेलों में फ़ैज़ को पांच साल की लंबी क़ैद के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन शायर की ज़िंदा और जीवन में जान फूंकने वाली दिल की धड़कनों पर पथरीली जेल की अंधेरी रात हावी न हो सकी और न क़ैद के दिनों की संवेदनशून्य और घनी ख़ामोशी उनके नग़मों पर कोई चुप्पी लगा सकी।

जेल की संगीन दीवारों में से भी उनके हौसलामंद दिल से वो नग़मे बेताब होकर निकलते रहे जो जनता, ज़िंदगी और मादरे-वतन की मोहब्बत से भरे हुए थे। उनके नग़मों के पैरों की सरसराहट पाकिस्तान और चंद दूसरे मुल्कों की सरज़मीन पर सुनायी देती रही और लाखों इनसानों के दिलों को गरमाती रही।

आख़िरकार प्रतिक्रियावाद का अंधेरा और इंक़बाली शायरी की रौशनी की जंग में शायरी ही कामयाब और फ़तहयाब रही। ख़तरे और वो भी मौत के लगातार ख़तरों से भरे हुए पांच साल की क़ैदोबंद की मुसीबतें ख़त्म हुईं और देशभक्त शायर आज़ाद हो गया। एक बार फिर अतीत की तरह, बल्कि उससे भी ज़्यादा जोश और उत्साह के साथ इस जद्दोजहद को जारी रखने के लिए, जिसकी ख़ातिर उसने अपनी ज़िंदगी भेंट कर दी थी, शायर अपना काम करने लगा। अपने हमवतनों के लिए, तमाम कौमों के बीच दोस्ती को बढ़ावा देने के लिए और तमाम इनसानों के लिए शांति का माहौल पैदा करने के लिए और अब ज़ंग खायी ज़ंजीरों और हथकड़ियों की गिरफ़्त से आज़ाद होकर वो ज़्यादा ताक़त और जज़्बे की

सच्चाई के साथ अपने जोशीले और भड़कीले नग़मे फ़ज़ा में बिखेर रहा है।

1958 ई. की पतझड़ ऋतु के बाद ताशक़ंद में अफ़्रो-एशियाई लेखकों का मशहूर सत्र हुआ जिसमें फ़ैज़ ने सशक्त लीडर की हैसियत से शिरकत की। वहां उनसे पहली बार मेरी मुलाक़ात हुई। उस शायर से मुलाक़ात हुई जिसकी कल्पना मैं अपने दिल में बसाये हुए था।

फ़ैज़ के लिए वो पहले के मुक़ाबले उदासी का ज़माना था। पाकिस्तान में हुकूमत का तख़्ता उलटकर ग़ैरलोकतांत्रिक शक्तियों ने शासन संभाल लिया था।

मास्को में साहित्यकारों की संस्था के एक कमरे में हम बैठे हुए थे। हम दोनों नज़्में पढ़ रहे थे और रूसी ज़बान में फ़ैज़ की नज़्मों का एक संग्रह प्रकाशित करने के बारे में बातचीत कर रहे थे। फिर इत्तिफ़ाक़ से हमारी गुफ़्तगू का रुख़ नज़्मों से हटकर उस वक़्त की सियासत की तरफ़ हो गया।

तो फिर निकट भविष्य में आपका क्या इरादा है?

फ़ैज़ ने अपनी सियाह आंखों से, जिनकी गहराई में कुछ उदासी थी, मेरी तरफ़ देखा। लेकिन उनके होंठों पर हल्की सी मुस्कुराहट मौजूद थी।

'बस पहले तो मैं लंदन जाऊंगा, वहां अपने चंद दोस्तों से मिलूंगा जो अभी-अभी पाकिस्तान से आये हैं। उसके बाद ज़ाहिर है कि मैं कराची, लाहौर, अपने वतन वापस चला जाऊंगा ....।'

'लेकिन आप जानते हैं कि अब वहां...।'

उनके होंठों के किनारों पर वही हल्की सी मुस्कुराहट थी।

'ज़ाहिर है कि इस सूरत में तो मुझे वतन ही वापस जाना चाहिए।'

'तो फिर जेल यक़ीनी है...।'

'शायद... और अगर किसी बड़े मक़सद की ख़ातिर इनसान को जेल भी जाना पड़े तो ज़रूर जाना चाहिए।'

'लेकिन अगर... जेल से भी बदतर कुछ हो तो...?'

शायर ने खिड़की से बाहर की तरफ़ देखा जहां बाग़ के बीचोबीच तोल्सतॉय की मूर्ति थी, सर्द और उजड़े हुए आसामन पर नज़र डाली। मुस्कुराहट बदस्तूर मौजूद थी। कुछ पल ठहरकर उन्होंने अपने ख़ास अंदाज़ में आहिस्ता से कहा --

'अगर जेल से भी बदतर कोई चीज़ हुई तो फिर यक़ीनन बुरा होगा। लेकिन तुम जानते हो जद्दोजहद बहरहाल जद्दोजहद है...।'

ये था उनका शांतिपूर्ण लेकिन विश्वास से भरा हुआ जवाब।

मैं अपनी ज़िंदगी में ऐसे बहुत से लोगों से मिल चुका हूं। उनमें से बहुत से निडर बेबाक़ और साहसी भी थे और अपनी ज़िंदगी के मक़सद को पूरा करने के लिए जानो-दिल से अपने कामों में डूबे रहते थे। वे हर किस्म की यातना, यहां तक कि अड़ियल मौत को भी बर्दाश्त करने का हौसला रखते थे।

फ़ैज़ में ये धैर्य और सहनशीलता और यह भरोसा, यातना सहने का माद्दा मौत से लड़ने की बदौलत पैदा हुआ है। एक ऐसी मौत जो जद्दोजहद के लिए अपने को भेंट कर देने वालों के लिए निश्चित होती है।

फिर भी मुसीबतों की आंखों में आंखें डालकर देखने की जो जुरअत फ़ैज़ में थी उसने मेरे सारे वजूद (अस्तित्व) को डगमगा दिया।

फ़ैज़ की शायरी का तर्जुमा करने की ग़रज़ से मैंने उनका एक-एक मिसरा बड़े ग़ौर से पढ़ा। मेरी कोशिश यह थी कि जहां तक मुमकिन हो अनूदित मिसरों में लय-सुर और उनकी भावुकता और हौसलामंद दिल का जज़्बा बरक़रार रहे। इस कोशिश में न सिर्फ़ उनके शेरों का भावनात्मक उतार-चढ़ाव जिसे दूसरी भाषा में रूपांतरित करना लगभग असंभव है, बल्कि एक जांबाज़ शायर और इनसान का शांतिपूर्ण और स्पष्ट धैर्य मेरी रूह में गूंजने लगा। शायर, जिसने एक इंक़लाबी की हैसियत से ख़ुद अपनी ज़िंदगी को एक नग़मे में ढाल लिया और अपने नग़मे को जद्दोजहद का एक प्रभावशाली हथियार बना लिया है। जद्दोजहद की मंज़िलों से गुज़रते हुए पूरब के एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के इन नग़मों को सोवियत पाठकों से परिचित कराते हुए मुझे बेहद ख़ुशी हो रही हे। अध्ययन के दौरान फ़ैज़ की शायरी में क़ैद की यातनाओं की अनुभूति भी होती है जिससे दिल उदास हो जाता है। लेकिन फिर भड़कीला जोश और जज़्बा इस अनुभूति पर छा जाता है। अंधेरे का रूपक उनकी शायरी में बार-बार आता है। लेकिन वो शेर ज़्यादा रौशन हैं जिनमें शायर के वतन पर उदय होने वाली सुबह की पहली किरणों का स्वागत किया गया है और अध्ययन करने वाला यक़ीनन महसूस करेगा कि आज़ादी की मुहब्बत और शायर के मुसीबतज़दा वतन को असल शायरी किस तरह एक अंदाज़ और एक रंग में ढाल देती है।

अनुवाद : गोबिंद प्रसाद

रूदादे-क़फ़स*

मेजर मुहम्मद इस्हाक़

रावलपिंडी साज़िश केस में चार साल तक जेल के साथी रहे मुहम्मद इस्हाक़ का यह संस्मरण फ़ैज़ की रचनाशीलता को अपने ढंग से आलोकित करता है। यद्यपि यह संस्करण 'जिंदांनामा' का आमुख या प्राक्कथन है,पर यह मूलतः जेलजीवन की डायरी है। सं.

कीमियागर बगुस्सा मुर्दा ब-रंज
अब्ला अंदर ख़राबा याफ़्ता गंज।

(सोना बनाने की कोशिश करने वाला कीमियागर अपनी नाकामी के कारण आने वाले ग़ुस्से की तकलीफ़ को बर्दाश्त न कर सका और मर गया। लेकिन मूर्ख को (अपनी ख़ुशक़िस्मती से) खंडहर में भी ख़ज़ाना मिल गया।)

फ़ैज़ साहब की किसी रचना का प्राक्कथन लिखने का सौभाग्य एक ख़जाना पाने से क्या कम हो सकता है, लेकिन इसकी कठिनाइयों का एहसास मुझे उस समय हुआ जब लिखने बैठा। कहते हैं पुराने ज़माने के राजे-महराजे जब किसी दुर्भाग्य के मारे सफ़ेदपोश की परेशानियां बढ़ाना चाहते थे तो उसे एक हाथी इनाम में दे दिया करते थे।

मामला बिल्कुल ऐसा ही तो नहीं है लेकिन एक सीधे-सादे फ़ौजी आदमी के लिए फ़ैज़ के क़लाम के बारे में कुछ लिखना काफ़ी परेशानी का कारण हो सकता है। और फिर एक किसान और ख़ासकर उपनिवेश के किसान के बेटे की तरबियत ही क्या होती है! देहाती स्कूलों की तालीम और वह भी अंधविश्वास और अज्ञानता के घिनौने साये तले। ऐसे माहौल में जिसमें ग़रीबी और साधनहीनता के सौजन्य से लिखने की जगह हल की लकीर सीधी रखना, ढोर-डंगर की निगरानी करना और बैलों के लिए चारा लाना अधिक सम्मान की नज़र से देखा जाता है, जहां हर नयी चीज़, हर नये ख़याल का घृणा के साथ मज़ाक उड़ाया जाता है, जहां दुनिया का ऊंचे से ऊंचा ख़याल और पवित्रतम भावना दो बीघे ज़मीन के पैमाने से नापी जाती है, मेरी तालीमी पृष्ठभूमि ऐसी ही थी। साहित्य और कला जब मेरे गुरुजनों के बस की ही बात नहीं थी तो मैं उनको कैसे छू पाता। किताबें जीवन का हिस्सा नहीं थीं, केवल इम्तिहान पास करने का साधन थीं। लाइब्रेरियां, विद्वज्जनों की संगत, इल्मी बहसें, मुशायरे, ड्रामे, संगीत, नृत्य, आर्ट

* जेल की कहानी

गैलरियां, म्यूज़ियम सब ग़ायब। और चारों तरफ़ साम्राज्यवादियों और उनके देसी एजेंटों के आर्थिक बोझ तले कराहती हुई जनता।

ऐसी रूखी-फीकी तालीम के बाद आठ-दस साल की फ़ौज की 'साहब बहादुरी' ने रही-सही कसर निकाल दी। वहां का तो बाबा आदम ही निराला था और 'काले लोगों' की अपनी भाषाओं को अपने देश में ही देशनिकाला मिला हुआ था या उनकी हैसियत अंग्रेज़ी ज़बान की लौंडियों-बांदियों की सी थी। जेल के चार साल इस लिहाज़ से लाभप्रद रहे कि एकाग्रता से पढ़ाई का मौक़ा मिल गया। सोने पर सुहागा यह हुआ कि दो एक प्रोफ़ेसर भी साथ ही क़ाबू में आ गये।

ज़िंदांनामा (जेलवृत्तांत) का प्राक्कथन लिखने के बहाने मैं अपना जीवनवृत्तांत लिखने का इरादा नहीं रखता। मैं समझता हूं कि किसी रचना की सही जांच उसी समय हो सकती है जब शायर के स्थान और क्षमताओं को पूरी तरह समझ लिया जाये। इसमें कोई शक नहीं कि मैं चार साल से कुछ ही महीने कम दिन-रात फ़ैज़ के साथ रहा हूं। यह लंबा समय हमने जेल के एक ही अहाते में पास-पास स्थित कोठरियों में गुज़ारा, सैकड़ों बार सुबह-सबेरे सबसे पहले एक-दूसरे के मुंह लगे हैं, अपनी खुशियां और ग़म आपस में बांटने पर मजबूर रहे। जेल के बाहर आदमी सैकड़ों लोगों से रोज़ मिलता है मिलता न भी हो, देख ज़रूर लेता है। कई तरह की आवाज़ें सुनता है, बीसियों दृश्यों से वास्ता पड़ता है। किसी से नफ़रत है तो कन्नी काट के निकल सकता है, किसी से मुहब्बत है तो मुलाक़ात की राहें ढूंढ़ लेता है या उनकी तलाश में जी बहला लेता है। जेल में आदमी की मर्ज़ी उससे छीन ली जाती है और उसकी गतिविधि सीमित कर दी जाती है। वहां का संसार दो-चार क़ैदी, दो-चार पहरेदार, कुछ कोठरियां और कुछ दीवारें, एक-आध पेड़, एक-दो गिलहरियां, आधे दर्जन के क़रीब छिपकलियां और कुछ कौए और दूसरे परिंदे होते हैं जिनमें महीनों, बल्कि सालों तक कोई बदलाव नहीं आता। मुझे इस छोटी सी दुनिया में फ़ैज़ साहब के साथ लगातार चार साल तक रहने का मौक़ा मिला है। लेकिन इस लंबी संगत के बावजूद ज़रूरी नहीं कि मैं अपने विषय के साथ पूरा इंसाफ़ कर सकूं। एक अंधा इस ब्रह्मांड की रंगारंगी में जीवन गुज़ार कर भी रंगों का अंदाजा नहीं कर सकता। कई लोग अच्छी-भली नज़र रखते हुए भी कई रंगों को नहीं पहचान सकते। रेडियो प्रोग्राम सुनने के लिए ताक़तवर रेडियो स्टेशन ही नहीं चाहिए, रिसीविंग-सेट भी त्रुटिहीन होना चाहिए।

यहां पर *ज़िंदांनामा* (फ़ैज़ का तीसरा संकलन) की नज़्मों और ग़ज़लों पर टीका-टिप्पणी करने का उद्देश्य नहीं, फिर भी शायर के साथ के संस्मरण में उनकी चर्चा ज़रूरी है। फ़ैज़ की गहरी संवेदनशीलता का वर्णन मेरे बस की बात नहीं है। असर लखनवी के शब्दों में, 'फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की शायरी तरक़्क़ी की सीढ़ियां तय करके अब उस चरम बिंदु पर है जिस तक शायद ही किसी दूसरे प्रगतिशील शायर की पहुंच हुई हो। कल्पना ने रचना के जौहर दिखाये हैं और मासूम जज़्बात को सुंदर आकृति दी है। ऐसा मालूम होता है परियों का एक झुंड, एक जादुई फ़ज़ा में उड़ने में इस तरह तल्लीन है कि एक पर एक परियां टूटी पड़ रही हैं और इंद्रधनुष की छवि लिये बादलों से सतरंगी बारिश हो रही है...। हर कोई अपनी योग्यता के अनुसार इस संवेदना को महसूस कर सकता है। मैं सिर्फ़ यह चाहता हूं कि अपनी समझ के अनुसार गिनी-चुनी नज़्मों की पृष्ठभूमि का बयान कर दूं। इतना याद रहे कि सही अदब अपनी पृष्ठभूमि की सीमाओं को तोड़कर बहुत आगे निकल जाता है। फ़ैज़ की शायरी को अपने पस-मंजर के सांचे में सीमित करके देखना ज़ुल्म है। इसलिए मेरे प्रयास को एक साइन बोर्ड से ज़्यादा महत्व नहीं

देना चाहिए। आगे रास्ता सबका अपना-अपना है, और अपनी-अपनी हिम्मत।

फ़ैज़ साहब 9 मार्च 1951 को क़ैद हुए और अप्रैल 1955 में रिहा हुए। इस तरह उनकी क़ैद के दिन चार साल से कुछ ऊपर बनते हैं। इस अर्से में वह पहले तीन महीने सरगोधा और लायलपुर की जेलों में क़ैदे-तनहाई में रहे। इसके बाद जुलाई 1953 ई. तक हैदराबाद (सिंध) जेल में रावलपिंडी साज़िश केस के अन्य क़ैदियों के साथ रहे। जुलाई 1953 में हम सबको छोटी-छोटी टुकड़ियों में बांटकर लाहौर, मंटगोमरी, मच्छ (बलूचिस्तान) और हैदराबाद की जेलों में भेज दिया गया। फ़ैज़ साहब के लिए, मेरे और कैप्टिन ख़िज़्र हयात के साथ मंटगोमरी सेंट्रल जेल का चयन किया गया। लेकिन वह चूंकि इलाज के लिए कराची चले गये थे इसलिए कहीं 1953 में जाकर हमारे पास मंटगोमरी पहुंचे। यहां से हम इकट्ठा रिहा हुए।

मुझे फ़ैज़ साहब की गिरफ़्तारी के कोई तीन महीने बाद मई 1951 में बंदी बनाया गया था, इसलिए ख़ल्क़े-ख़ुदा (जन साधारण) की सरगोशियां सुनता रहा। उन दिनों फ़ैज़ साहब के साथ उनके दोस्तों और प्रियजनों को मिलने की इजाज़त नहीं थी, न वे किसी से पत्राचार कर सकते थे। उनके बारे में तरह-तरह की अफ़वाहें फैली हुई थीं और क़ैद में उनके साथ व्यवहार के विषय में अजीब-अजीब हृदयविदारक क़िस्से मशहूर थे। जब पहली बार उनसे हैदराबाद जेल में भेंट हुई तो जाकर सुकून मिला। वही मुस्कराता ललाट, वही चमकती हुई आंखें, वही गौतमी मुस्कुराहट जिसका नूर सब तरफ़ फैल रहा था और फिर वह दुनिया को जीत लेने वाली मुहब्बत जिससे उनको जानने वाले परिचित हैं।

जेल एक तरह का जादुई शीशाघर होता है जहां सूरतों की नहीं बल्कि सीरतों (स्वरूप) की छवि अद्‌भुत शक्लें बनाकर प्रकट होती है। किसी का मिज़ाज झगड़ालू है तो वह हर किसी से लड़ाई मोल लेने की चिंता में होगा, कोई कायर स्वभाव का है तो वह गोबर के कीड़े की तरह हर समय सिर छुपाने की धुन में होगा। कोई निराशावादी है तो वह हर अच्छी-बुरी ख़बर में अपने दिल टूटने की वजह ढूंढ़ निकालेगा। किसी को कोई सनक है तो वह दीवानगी की हद तक बढ़ जायेगी। स्वभाव में कमीनगी और तंग-नज़री विशेषतः फलती-फूलती है और छोटी-छोटी बातों पर अपने साथियों और जेलवालों से झगड़े हो जाते हैं। इसकी एक वजह तो यह है कि इनसान की सारी कायनात जेल की चारदीवारी में सीमित कर दी जाती है और जिसकी वजह से सोच-विचार और दृष्टि में तंगी आ जाती है। दूसरा कारण है कि इनसानों पर हैवानी बंदिशें लगा दी जाती हैं। कोठरी में बंद करना, एक परिसर में क़ैद कर देना, बेड़ियां पहनाना, प्रियजनों और मित्रों से मिलने पर पाबंदियां, विवशता का आलम ये सब चीज़ें क़ैदियों के दिल पर सूई की नोक का काम करती हैं। जेल के कुछ अफ़सर भी क़ैदियों के दिल तोड़ने के मौक़े ढूंढ़ते रहते हैं और क़ैदी के आत्मसम्मान और मान को ठेस पहुंचाने में ख़ूब दक्ष होते हैं, अगरचे यह बात सबके बारे में ठीक नहीं।

इन हालात में एक आदमी क़ैद होकर अपना रोज़मर्रा का व्यक्तित्व क़ायम न रख सके तो कोई अचरज की बात नहीं। कमाल तो उन लोगों का है जो जेल जाकर भी वज़ेदारी क़ायम रख सकते हैं। जिन लोगों को मैं जेल जाने से पहले जानता था उनमें फ़ैज़ साहब ही ऐसे थे जो प्रत्यक्ष रूप में टस से मस नहीं हुए। लेकिन आम लोगों की तरह तबीयतों का बोझ कम करने के लिए लड़ाई-झगड़े, दंगा-फ़साद और इसी प्रकार के दूसरे सेफ़्टी-वाल्व इस्तेमाल न करने से फ़ैज़ साहब पर जो मानसिक और शारीरिक दबाव पड़ा वह उनके दोस्तों से छिपा नहीं रहा। शायरी ग़नीमत थी जिसके द्वारा वे दिल का

ग़ुबार निकाल लिया करते थे, लेकिन शायरी स्वयं दिलो-जिगर के ईंधन पर जीवन पाती है :

जो हम पे गुज़री सो गुज़री, मगर शबे-हिज्रां[1]
हमारे अश्क तेरी आक़बत[2] संवार चले।

हैदराबाद में मुक़दमे के दौरान बीतने वाले दिन भी अजीब थे। तीन महीनों से टोडी क़िस्म के लोग अख़बारों, इश्तहारों, जलसों, जुलूसों में हमें गोली का निशाना बनाने की मांग कर रहे थे। कई अख़बारों ने 'ग़द्दार विशेषांक' निकाल दिये थे। कुछ ऐसा माहौल पैदा कर दिया गया था कि मुल्क में स्वतंत्र स्वभाव रखने वाला हर आदमी यह समझने लगा था कि उसको भी साज़िश में धर लिया जायेगा। चारों तरफ़ एक दहशत और भय की फ़ज़ा थी और हमारे रिश्तेदार और दोस्त हमारी जानों से हाथ धो बैठे थे। लेकिन जेल के अंदर हमारी अपनी हालत यह थी कि हम मानो पिकनिक पर आये हुए हैं। सब तरफ़ हंसी-मज़ाक था, क़हक़हे थे, उम्मीद थी, हौसला था। क़व्वालियां होती थीं, स्वांग भरे जाते थे, इसकी एक वजह तो यह हो सकती है कि हमें अपनी रिहाई पर पूरा भरोसा था और दूसरी बात शायद यह हो सकती है कि एक बहुत बड़े ख़तरे के सामने आदमी आम तौर से दो ही रास्ते पाता है या तो उल्टे पांव भाग उठता है या मुक़ाबले की ठान लेता है। अंतिम बात की भी आगे दो सूरतें होती हैं। चुनांचे हम में कई ऐसे भी होंगे जो कठिनाइयों की भयावहता के सामने कांप-कांप कर हंस रहे थे और कुछ ऐसे भी थे :

इश्रतेक़त्ल-गहे अहले-तमन्ना मत पूछ
ईदे-नज़्ज़ारा है शमशीर का उरियां होना
(ग़ालिब)

(अपने क़त्ल के समय क़त्ल होने की आकांक्षा रखने वालों की ख़ुशी का कुछ न पूछो। जब उनके सामने तलवार को नंगा किया जाता है तो यह उनके लिए अपने इष्ट के दर्शन जैसा प्रसन्नतादायक होता है।)

यह स्थिति सिर्फ़ हैदराबाद (सिंध) की ही विशिष्टता नहीं थी, लाहौर में हम जो चंद दिन रुके थे, वहां भी हमारी यही हालत थी। चुनांचे लाहौर की बर्ड बुड बैरक्स में पुलिस को सौंपे जाने के कोई पांच मिनट बाद ही, मई 1951 में गिरफ़्तार होने वाले सातों फ़ौजी अफ़सर, ज़फ़रुल्लाह पोशनी के नेतृत्व में फ़ुजूल क़िस्म के फ़ौजी कोरस अलाप रहे थे। (इस तरह की बेज़रर बेहूदगियों की छोटे फ़ौजी अफ़सरों को ख़ास मौक़ों पर इजाज़त होती है)। लाहौर जेल की एक घटना याद करता हूं तो अब भी हंसी आ जाती है। वहां हमें बम केस बार्ड में रखा गया था। (यह वार्ड भगत सिंह और उनके साथियों के लिए ख़ास तौर पर तामीर किया गया था)। इसके आंगन में एक बारादरी सी है जिसके दरवाज़ों में लोहे की मज़बूत जाली लगी हुई है। रात को हम यहीं सोया करते थे। एक दिन सोने की तैयारी में थे कि एक बूढ़ा संतरी जाली से लगकर अंदर झांकने लगा। खिज़्र हयात ने पूछा, 'बाबा! तुम्हें हम क़ैदी दिखायी देते हैं? उसने कहा, 'जी हां जनाब।' ख़िज़्र हयात बोला, 'लेकिन बाबा हमें तो तुम क़ैद में नज़र आते हो।' इस पर बूढ़ा संतरी पहले तो बौखला सा गया, फिर इतने ज़ोर से हंसने लगा कि हम भी हंसते-हंसते लोट-पोट हो गये। एक नशा था जिसमें सब मगन थे :

1. वियोग की रात
2. परलोक

जो तुझसे अहदे-वफ़ा उस्तावर रखते हैं
इलाजे-गर्दिशे-लैलो-नहार रखते हैं।

(अगर तुझसे वफ़ादरी की प्रतिज्ञा की है, तो फिर रात और दिन (समय) की गर्दिश का इलाज करना भी जानते हैं।)

लाहौर ही का एक और लतीफ़ा याद आ गया। एक दिन हमें रिमांड के लिए अदालत ले जाया जाना था। ख़बर मिली कि सैयद सज्जाद ज़हीर भी साथ जायेंगे। जेल के बड़े दरवाज़े के अंदर पुलिस की क़ैदियों को ढोने वाली गाड़ी खड़ी थी। हम वहां रुक गये और सैयद साहब का इंतज़ार करने लगे। इतने में फांसी की कोठरियों की तरफ़ से सफ़ेद शलवार कुर्त्ता पहने, सिर पर जिन्ना केप जमाये, एक भारी भरकम, जीवन से संतुष्ट व्यक्ति आता नज़र आया। हम आपस में कानाफूसी करने लगे कि क्या यही सज्जाद ज़हीर हो सकता है। हममें से उनके साथ किसी की भी जान पहचान नहीं थी। कुछ लोगों का ख़याल था कि कम्युनिस्ट बदसूरत पाशविक प्रकृति के इनसान होते हैं। दायें-बायें पिस्तौल लगाते हैं, पेट पर कटार बांधते हैं। बड़ी-बड़ी मूंछें और ख़ूंख़ार आंखें रखते हैं और उनकी बातचीत का विषय क़त्लो-ग़ारत के सिवा कुछ नहीं होता। सज्जाद ज़हीर चूंकि पाकिस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेट्री थे, इसलिए इन लोगों के ख़याल में उनके मुंह से हर सांस में आग निकलनी चाहिए थी और उनको इस क़िस्म का काइयां इनसान होना चाहिए था कि डुबकी लगाये तो जेल से बाहर चला जाये। यह व्यक्ति जो नर्म चाल, पाक नैन नक़्श और एक अदद आलिमाना तोंद लिये हुए था, सज्जाद ज़हीर कैसे हो सकता था। हमारे ये साथी अपनी राय पर कुछ ऐसे अड़े हुए थे मानो यह उनके धर्म का हिस्सा हो। चुनांचे हम सबने यह मान लिया कि ये सज्जाद ज़हीर नहीं हो सकते कश्मीरी बाज़ार के शेख़ होंगे या पुलिस के कोई ख़िज़्र सूरत एजेंट। इसलिए अदालत तक के पूरे सफ़र में हम गुमसुम बैठे उनकी तरफ़ कनखियों से देखते रहे। अदालत में जब वे खड़े होकर गरजे कि, जनाबे-वाला पंद्रह दिन हो गये हैं और मुझे अभी तक नहीं बताया गया कि मैं किस जुर्म मैं गिरफ़्तार किया गया हूं। यह बिल्कुल बेहूदा बात है।' तो हमें यक़ीन हो गया कि वे सज्जाद ज़हीर ही हैं। रिमांड के लिए हमें जज साहब की कोठी में ले जाया गया था। वहां पुलिस गार्डों और गाड़ियों की इतनी गहमा-गहमी थी कि कोठी की ऊपर की मंज़िल में बहुत से लोग तमाशा देखने के लिए जमा हो गये थे। ज़ियाउद्दीन ने इशारे से मुझे बुलाकर कहा, भई ऐसे बैठे हो जैसे मवेशी चराने आये हो। सीधे होकर बैठो, कालर ठीक करो, ज़रा-ज़रा मुस्कुराओ। देखते नहीं हो, पब्लिक देख रही है।' और ख़ुद भी तनकर ऐसे बैठ गया मानो तस्वीर उतरवाने आया हो। एअर कमोडोर जंजुआ से मेरी पहली मुलाक़ात वहीं हुई। उन्होंने हाथ मिलाते वक़्त मेरे हाथ को इस फुर्ती से निचोड़ा कि अब तक याद है।

हैदराबाद में अदालत की इमारत जेल के अंदर थी। अदालत का वक़्त आठ से बारह बजे तक होता था। हफ़्ता और इतवार के दिन ख़ाली होते थे। शाम के वक़्त कभी-कभी हमारे वकील मशविरे के लिए आ जाया करते थे। बाक़ी वक़्त हमारा अपना होता था। एक ही अहाते में सबके लिए जगह नहीं थी। इसलिए फ़ैज़ साहब, मुहम्मद हुसैन अता, जनरल अकबर ख़ां, ब्रिगेडियर सादिक़ ख़ां, कर्नल ज़ियाउद्दीन, कर्नल नियाज़ मुहम्मद अरबाब, मेजर हसन ख़ां, कैप्टिन ज़फ़रुल्लाह पोशनी, कैप्टिन खिज़्र हयात और मैं, एक अहाते में रखे गये। और सैयद सज्जाद ज़हीर, जनरल नज़ीर अहमद, एयर कमोडोर जंजुआ, और ब्रिगेडियर लतीफ़ ख़ां को एक दूसरा अहाता दिया गया। बेगम अकबर ख़ां के लिए अलग व्यवस्था थी।

खाने का बंदोबस्त हमारी तरफ़ था। हमें ज़हूर अहमद और आदिल ख़ां दो क़ैदी निहायत अच्छा पकाने वाले मिले हुए थे और खाने की व्यवस्था एक बाक़ायदा आफ़िसर्स मेस की तरह थी जिसका सेक्रेट्री समय-समय पर चुना जाता था। शाम के वक़्त वॉलीबाल और बैडमिंटन भी हमारे अहाते में ही खेले जाते थे। इस तरह इन मिली-जुली सरगार्मियों का केंद्र यही अहाता था। मुशायरे, कव्वालियां, ड्रामे आम तौर से यहीं होते थे। सैयद सज़्ज़ाद ज़हीर वाले अहाते में हम छुट्टी के दिन की सुबह जाया करते थे जहां कॉफ़ी और बिस्कुट से आवभगत होती और अदबी व सियासी बातें होती थीं।

मिर्ज़ा सौदा के (मुलाज़िम) गुंचे की तरह फ़ैज़ साहब की बयाज़ (शायरी की कापी) उठाने का काम मेरे ज़िम्मे था। जब वे मुशायरे की महफ़िल की तरफ़ या सज्जाद ज़हीर के यहां जाते तो मैं नोट बुक उठाये पीछे-पीछे होता। दूसरे मित्रगण जब हमें इस तरह जुलूस में चलता देखते थे तो चारों तरफ़ ख़ुशी की लहर दौड़ जाती, इसलिए कि जेल में फ़ैज़ साहब के ताज़ा कलाम का वरूदे-मसूद (पवित्र आगमन) जश्न से कम नहीं होता था। और फिर जिस अदा से हम चलते थे, वह भी प्रसन्नता की एक अच्छी ख़ासी हास्यास्पद स्थिति होती थी। फ़ैज़ साहब धीमे-धीमे मुस्कुराते हुए, शरमाये से चलते थे, और मैं एक लठैत जाट की तरह गर्दन अकड़ाये, नाक आसमान की तरफ़ उठाये, लोगों के सिरों के ऊपर से देखता हुआ चलता था और जब तक फ़ैज़ साहब के तशरीफ़ रखने पर, निहायत अदब से लेकिन एक आनबान के साथ बयाज़ उनकी ख़िदमत में पेश नहीं कर देता था, मुस्कुराता तक नहीं था। मियां गुंचा और मुझमें इतना फ़र्क़ ज़रूर था कि मिर्ज़ा सौदा जब किसी बात पर नाराज़ हुआ करते थे तो गुंचे को सिर्फ़ कलमदान आगे बढ़ाना होता था, बाक़ी मिर्ज़ा ख़ुद भुगत लिया करते थे। यहां सूरत यह थी कि फ़ैज़ साहब तो हमेशा से 'बा दुश्मनां मुरव्वत, बा दोस्ता मदारा' (दुश्मनों के साथ कृपालु और दोस्तों के साथ सत्कारशील) के क़ायल रहे हैं और किसी के सामने उससे नाराज़ नहीं होते, और गुंचा द्वितीय उन दिनों दोस्त, दुश्मन सबके सिर काटने को हर वक़्त तैयार रहते थे।

हैदराबाद में फ़ैज़ साहब, मैं और अता, साथ-साथ के कमरों में रहते थे। मैं और अता उनके हर मूड से परिचित हो गये थे। शेर कहने का आलम होता तो फ़ैज़ साहब ख़ामोश हो जाया करते थे। अलबत्ता उठते-बैठते गुनगुना चुकने के बाद इधर-उधर देखने लगते। हम भांप लेते थे कि श्रोताओं की ज़रूरत हैं। चुनांचे हम दोनों कई कांफ़्रेंसों और लगातार सरगोशियों के बाद मौक़े की मुनासबत का अंदाज़ा लगाकर, गुरु नानक देवजी के भाई बाला और मर्दाना की तरह, हुज़ूरे शायर पहुंच जाते थे और इधर-उधर की हांकने के बाद ग़ज़ल या नज़्म की मांग शुरू कर दिया करते थे कि अब बहुत अर्सा हो गया है और लोग क्या कहेंगे, वग़ैरह वग़ैरह। अगर नज़्म या ग़ज़ल तैयार होती थी तो एक आध शेर सुना दिया करते थे वर्ना हुक्म होता कि भाग जाओ। हम समझ जाते थे कि इस इंकार में इक़रार छिपा है, और बात फैला दी जाती थी कि

मानी की सरज़मी पे नजूले-सरोश है

उनके आस-पास शोर-शराबा, दंगा-फ़साद, लड़ाई-झगड़ा हर मुमकिन हद तक बंद कर दिया जाता था। फ़ैज़ साहब ने बहुत नाज़ुक तबीयत पायी है। पड़ोस में तू-तू मैं-मैं हो रही हो, दोस्तों में तलख़ कलामी हो, यूं ही किसी ने त्योरी चढ़ा रखी हो, उनकी तबीयत ज़रूर ख़राब हो जाती है, और इसके साथ ही शायरी की कैफ़ियत काफ़ूर हो जाती है। जो लोग अता को और मुझे जानते हैं वे दिल ही दिल में मुस्कुरा रहे

होंगे कि ये हज़रात जिनको शायरी देख पाये तो नस्र (गद्य) में मुंह छिपाले, फ़ैज़ की तबीयत पर क्योंकर बोझ नहीं बनते थे। इसका भेद फ़ैज़ साहब ही खोल सकते हैं।

हैदराबाद में क़रीबन हर पखवाड़े मुशायरे की महफ़िल जमाने का रिवाज हो गया था। यह मुशायरा कभी 'तरही' होता था, कभी ग़ैर-तरही[3] और सभी को इसमें हिस्सा लेना पड़ता था। *दस्ते-सबा* (फ़ैज़ का दूसरा संकलन) में निम्नलिखित पंक्तियों पर कही हुई ग़ज़लें मौजूद हैं :

1. ज़िक्रे-मुर्ग़ाने-गिरफ़्तार करूं या न करूं
2. आज क्यूं मशहूर है हर एक दीवाने का नाम
3. देखना वो निगहे-नाज़ कहां ठहरी है
4. वगरना हम तो तवक़्को ज़्यादा रखते हैं

फ़ैज़ की ग़ज़ल 'वहीं है दिल के क़राइन तमाम कहते हैं', हसरत मोहानी की एक ग़ज़ल पर कही गयी है।

मेरे ज़ेहन में फ़ैज़ साहब की जेल की शायरी के चार रंग हैं (या मूड कह लीजिए)। पहला रंग सरगोधा और लायलपुर की जेलों में उनकी तीन महीनों की क़ैदे-तन्हाई का है। वे बहुत मुश्किल दिन थे। काग़ज़, क़लम, दवात, किताबें, अख़बार, ख़त सब चीज़ें मना थीं। उन्होंने इस तरफ़ इशारा भी किया है :

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में जबां मैंने

सिर्फ़ एक शम्सुद्दीन थे जो नवाबो, जिनों, भूतों, देवों, परियों,आमिलों (प्रेतात्मा बुलाने वाले, झाड़ फूंक करने वाले) और मामूलों से अपने संबंधों के क़िस्से सुनाकर फ़ैज़ साहब का जी बहलाया करते थे।

हैदराबाद में तो फ़ैज़ साहब उनके ज़िक्र से भरपूर थे, आजकल भी अक्सर याद करते रहते हैं। इस क़ैदे-तन्हाई का उनपर असर हुआ था कि हैदराबाद पहुंचने पर वे अकेले रहने से बहुत वहशत खाते। अपनी-अपनी कोठरियों के अलावा एक हॉल भी हमें दिया गया था। हमें इजाज़त थी कि जहां चाहें अपना बिस्तर जमा लें। हम अपने-अपने कमरे में रहना चाहते थे लेकिन फ़ैज़ साहब हॉल में रहने की ज़िद कर रहे थे। कहते थे कि तुम्हें मेरी तरह तन्हाई में रहना पड़ता तो दोस्तों की संगत की क़द्र होती। लेकिन उनकी यह हालत ज़्यादा देर नहीं रही और कुछ अर्से के बाद वे अपने कमरे में चले गये। अब उनका ज़्यादातर वक़्त हमें अपने कमरे से निकालने में ख़र्च होता था।

फ़ैज़ साहब कहा करते थे कि उन दिनों उनकी तबीयत में बहुत ज़ोरों की आमद थी और तरह-तरह के मज़ामीन (विषय वस्तु) सूझ रहे थे। उस दौरान का कलाम कुछ तो उनके ज़ेहन से उतर गया, जो बच गया वह सब *दस्ते-सबा* में निम्नांकित में समाविष्ट है :

---

3. तरही मुशायरे में शेर की एक पंक्ति दी जाती है जिसकी ज़मीन और वज़न में, क़ाफ़िया रदीफ़ के मुताबिक़ ग़ज़ल सुनानी होती है। ग़ैर-तरही मुशायरे में शायर को स्वतंत्रता है कि कैसी भी ग़ज़ल सुनाये।

1. मता-ए-लौहो-क़लम
2. दामने-यूसुफ़
3. तौक़ो-दार का मौसम (पहला हिस्सा)
4. तेरा जमाल निगाहों में लेने उट्ठा हूं
5. तुम आये हो न शबे-इंतज़ार गुज़री है
6. तुम्हारी याद के जब ज़ख़्म भरने लगते हैं
7. शफ़क़ की राख में जल बुझ गया सितारा-ए-शाम

कुछ कलाम ऐसा भी है जो सिर्फ़ सीना-ब-सीना चल सकता है, और जिससे फ़ैज़ साहब सिर्फ़ विशेष दोस्तों को नवाज़ते हैं।

उनकी शायरी का दूसरा रंग हैदराबाद का है। यहीं हमें हर तरह का जिस्मानी आराम मिला, जो जेल में मुमकिन हो सकता है, मयस्सर था : 'गोशे में क़फ़स के मुझे आराम बहुत है।' की सी हालत थी कि बाहरी आराम व आसाइश के पर्दे में हज़ारों हसरतों का ख़ून और लाखों तमन्नाओं का क़ब्रिस्तान था। हमारे ख़िलाफ़ कई आपराधिक धाराएं ऐसी लगी हुई थीं जिनकी सज़ा मौत थी। इसके साथ अपनी सफ़ाई पेश करने की सहूलतें बहुत हद तक हमें मिली हुई नहीं थी। लेकिन हमने समझ रखा था कि

दर बयाबां गर बशौक़ो-काबा ख़ाही ज़द क़दम
सरज़निशहा गर कुनद ख़ारे-मुग़ीलां ग़म मख़ूर।

(अगर काबे (इष्ट) की जुस्तजू में तू बीहड़ में क़दम रखे और अगर ऐसे में बबूल के कांटे तुझे (चुभकर) चेतावनी दें तो इन कठिनाइयों से परेशान न हो जाना।)

और वक़्ती तौर पर शोर-शराबे, हा-ओ-हू, गाली-गलौज के ज़रिये आने वाले ख़तरों की आहट को दबाये हुए थे। डेढ़-दो बरस तक हमारी बातचीत का विषय सिर्फ़ 'फ़तेह' (विजय) रहा। मुझे याद नहीं पड़ता कि मेरे सामने किसी ने कभी शिकस्त का ज़िक्र किया हो। हम समझते थे कि ऐसा ज़िक्र एक बार शुरू हो गया तो ऐसे नहीं रुकेगा। हम फ़ैज़ के उस मशहूर उदाहरण पर अमल कर रहे थे कि जब बचाव की सूरत न रहे तो धावा बोल दो। चुनांचे शुरू दिन से हम अदालत के अंदर अपनी सामर्थ्य अनुकूल बोलते रहे। फ़ैज़ साहब ने इसमें बहुत कम हिस्सा लिया। लेकिन हमें रोका भी नहीं। वे अपना जोश और बलबला अपनी शायरी में ज़ाहिर कर लिया करते थे :

फिर हश्र के सामां[4] हुए एवाने-हवस[5] में
बैठे हैं ग़विल-अद्ल[6], गुनहगार खड़े हैं
हां जुर्मे वफ़ा देखिए किस-किस पे हो साबित
वो सारे ख़ताकार[7] सरे-दार[8] खड़े हैं
....

4. कयामत की तैयारियां
5. लालासा का भवन
6. न्याय वाले
7. मुर्जिम
8. सूली चढ़ने को तैयार

यही जुनूं का, यही तौक़ो-दार[9] का मौसम
यही है जब्र[10] यही इख़्तियार[11] का मौसम
क़फ़स है बस में तुम्हारे, तुम्हारे बस में नहीं
चमन में आतिशे-गुल के निखार का मौसम
बला से हमने न देखा तो और देखेंगे
फ़रोग़े-गुलशनो-सौते-हज़ार[12] का मौसम

हुई है हज़रते-नासेह[13] से गुफ़्तगू जिस शब[14]
वो शब ज़रूर सरे-कूए-यार[15] गुज़री है

....

हमारे दम से है कूए-जुनूं[16] में अब भी ख़िजल[17]
अबा-ए-शेख़ो-क़बाए-अमीरो-ताज़-शही[18]
हमीं से सुन्नते-मंसूरो-क़ैस[19] ज़िंदा है
हमीं से बाक़ी है गुल-दामनी-ओकज-कुलही[20]

....

ऐ ख़ाक नशीनो[21] उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ पहुंचा है
जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे।

....

इज्ज़े - अहले - सितम[22] की बात करो
इश्क़ के दम-क़दम की बात करो

देखने वाले देखेंगे कि *दस्ते-सबा* के दूसरे हिस्से में जोशो-ख़रोश का वह आलम नहीं है जो पहले आधे हिस्से में है। इसकी एक वजह तो यह हो सकती है कि कुछ समय मुक़दमे की सुनवाई हो चुकने के बाद हमें यह उम्मीद हो चली थी कि अगर अदालत की कार्रवाई में दिलचस्पी लें तो शायद बहतरी की

9. फांसी और सूली
10. दमन
11. प्रभुता
12. बहार और बुलबुलों के चहचहे
13. उपदेश देने वाला
14. रात
15. प्रेयसी की गली के पास से
16. दीवानगी की गली
17. शर्मिंदगी
18. धर्मगुरु और धनवान की वेशभूषा और बादशाहों का ताज (जो धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के द्योतक हैं)
19. मंसूर और मजनूं की परंपरा जिन्होंने अपने ध्येय के लिए जान दी।
20. दामन को फूलों से भरना और तिरछी टोपी रखना, अर्थात महरबानी और आत्मसम्मान
21. ज़मीन पर बैठने वाले
22. अत्याचारियों की नाकामी व मजबूरी

कोई सूरत निकल आये। इसलिए सोच-विचार ने दीवानगी की जगह ले ली थी। इसकी दूसरी वजह उनके भाई की दुखद मौत थी। वे हैदराबाद उनसे मिलने आये थे और अपने एक रूहानी पेशवा की तरफ़ से उनकी रिहाई की ख़ुशख़बरी लाये थे। अभी हैदराबाद में ही थे कि 18 जुलाई 1952 ई. की सुबह को नमाज़ पढ़ते हुए इस दुनिया से कूच कर गये। फ़ैज़ साहब को इतना सदमा हुआ कि महीनों तक नीम-मुर्दा हालत में रहे। एक दिन तो चारपाई से उतरते हुए बेहोश होकर फ़र्श पर गिर पड़े। आवाज़ सुनकर मैं और अता भागे-भागे आये और ज़मीन से उठाकर बिस्तर पर लिटाया। यह घाव अभी तक भरा नहीं है, यद्यपि उन्होंने अपनी आदत के अनुसार उसे 'कैमुफ़्लाज' कर लिया है।

फ़ैज़ साहब की 'कैमुफ़्लाज' करने की आदत भी अजीब है। कई बार ऐसा हुआ कि सिग्रेट ख़त्म हो गयी लेकिन इसके बजाय कि साथियों से मांग लें, बेक़रारी दूर करने के लिए अहाते के चक्कर काटने शुरू कर दिये। इस बेक़रारी को पहचानने में हमें काफ़ी समय लगा। उनको छिपकालियों से बहुत घिन आती थी, मेरा ख़याल है, डरते थे। एक दिन हम सब बरामदे में चारपाइयां डालकर सोने की तैयारी में थे कि फ़ैज़ साहब ने अचानक उठकर इधर-उधर चक्कर काटने शुरू कर दिये। अता की चारपाई पास ही थी। उसने सोचा कि दाल में कुछ काला है। हाथ की तरफ़ देखा तो सिग्रेट सुलग रहा था। फ़ैज़ साहब की नज़रों का पीछा किया। देखा कि उनकी नज़रें बार-बार छत की तरफ़ उठ रही थीं। वे चारपाई के पास आते थे और आगे निकल जाते थे, और घूम कर फिर यही क्रिया दुहराते थे। अता ने छिपकली को देख लिया और उठकर फ़ैज़ साहब की चारपाई एक तरफ़ कर दी।

तीसरा रंग कराची का है। जहां फ़ैज़ साहब दो महीने के लिए ठहरे। दरअसल यह रंग दूसरे और चौथे रंग की दरमियानी कड़ी है। कराची अस्पताल में फ़ैज़ साहब जेल के मुक़ाबले ज़रा आज़ाद माहौल में रहे। दोस्तों के साथ बिना किसी परेशानी के मुलाक़ात हो जाया करती थी। वहां उन्हें इन्हीं वजहों से आज़ादी की नेमतों का बड़ी तीव्रता से एहसास हुआ। इस शदीद एहसास के बाद जब वे मंटगोमरी आये तो क़ैद का एहसास भी शिद्दत पकड़ गया और उनकी शायरी में ज़ाहिर हुआ। इसीलिए उन्होंने कराची और मंटगोमरी में लिखी हुई ग़ज़लों और नज़्मों के संकलन का नाम *ज़िंदांनामा* (जेल-वृतांत) प्रस्तावित किया था।

कराची में फ़ैज़ साहब ने अपनी शाहकार नज़्म 'मुलाक़ात' लिखी। इस नज़्म का पहला बंद अक्टूबर 1953 में मंटगोमरी में आकर पूरा हुआ था, और दूसरा और तीसरा नवंबर में। इसे कराची में लिखी इस लिए बता रहा हूं कि वे इसके 'जरासीम' (कीटाणु) कराची से लाये थे। इन नज़्म में उस बिन जल मछली की तड़प है जिस पर जानलेवा महरूमी (वंचित होने) के बाद कुछ पानी छिड़क दिया गया हो और वक़्ती सुकून के बावजूद उसे इस बात का शिद्दत से एहसास हो कि थोड़ा सा पानी जो मिला है, सूखने वाला है। यह नज़्म दर्द की इंतहाई शिद्दत के साथ इंतहाई सुकून भी दर्शाती है। इसमें ईमान व यक़ीन की जगमगाहट भी है, इसमें इनसानी हौसले, इरादे और बुद्धिमत्ता का राग भी गाया गया है। ऐसा हौसला, अज़्म और हिकमत जो सिर्फ़ आज के इनसान की विशिष्टता है, जो धरती माता पर बेहद मज़बूती से क़दम जमाकर तारों पर कमंदें फेंक रहा है और चांद पर शबख़ून (धावा) मारने की फ़िक्र में है; जो पानी, हवा, दरिया, समंदर, बिजली, बारिश और ब्रह्मांड की दूसरी परियों और देवों पर विजय पा चुका है, या पाने वाला है; जिसके सैकड़ों, हज़ारों सालों के दुखों और ज़ख़्मों के ढेर आज क्रिया और ऊष्मा का स्रोत बने हुए हैं।

फ़ैज़ साहब की जेल की शायरी का चौथा रंग मंटगोमरी का है। यहां हमें लगभग हैदराबाद की सी सहूलतें मिली हुई थीं। जेल के प्रबंधक भी अच्छे दिल वाले थे जो जेल के अनुशासन बिल्कुल भी न तोड़ने के बावजूद हमारे दिल नहीं टूटने देते थे। उनमें से कई अच्छी रुचियां रखते थे जो हमारे साथ अदबी छेड़छाड़ जारी रखते थे। एक साहब को तो ऐसा ढंग आता था कि उनके आने के चंद ही पलों बाद फ़ैज़ साहब तूती की तरह चहकने लगते थे और मालूम होता था कि दुश्मनों ने उन पर कम बोलने का बस इल्ज़ाम ही लगाया है। इन साहब को चिरकीं से लेकर मिर्ज़ा ग़ालिब तक सब शायरों के कुछ न कुछ भले बुरे शेर याद थे और उन्होंने तीर्थराम फ़ीरोज़पुरी के नॉवेलों से लेकर सआदत हसन मंटो की कहानियों तक सब कुछ पढ़ रखा था। वे आते ही सलाम दुआ के बाद शुरू हो जाते और फ़ैज़ साहब का ध्यान आकृष्ट न होने की परवाह किये बग़ैर यहां से वहां, वहां से कहीं और, कुछ न कुछ कहते रहते। यहां तक कि फ़ैज़ की कोई ऐसी रग छिड़ जाती कि ग़ुस्से में या मौज में आकर उनसे कुछ कहे बिना न रहा जाता।

मंटगोमरी में फ़ैज़ साहब को अपनी बीबी, बच्चियों और दूसरे दोस्तों-रिश्तेदारों से मुलाक़ात में भी आसानियां थीं। दिल बहलाने के लिए हमने अपने अहाते के अंदर एक फुलवारी भी बना ली थी जिसका सिलसिला बढ़ते-बढ़ते सारे जेल में फैल गया था, बल्कि जेल के बाहर भी लोगों को फूलों की पनीरी मुहैया की जाती थी। फ़ैज़ को फूलों का शौक़ इतना था कि उन्होंने विलायत से अपनी ख़ुशदामन (सास) और एक दोस्त के द्वारा फूलों के बीज मंगवाये। फूल एक बढ़ने, फलने-फूलने की चीज़ है। उनसे जेल में ख़ूब जी बहलता है, और कोई न कोई नयी सूरत पैदा हो जाती है। इसके अलावा आदमी क़ैद का एक-एक दिन गिनने के बजाय मौसम गिनने लगता है, जो लंबी से लंबी क़ैद में भी उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। साथ ही नज़रें भविष्य पर रहती हैं कि आने वाले मौसम में फूल लगाने के लिए क्या-क्या बंदोबस्त करना है और पिछली ग़लतियों को दोहराने से बचने की क्या सूरत है।

लेकिन इन सब बातों के बावजूद मंटगोमरी में फ़ैज़ साहब को क़ैद का बहुत शदीद एहसास था। इसकी एक वजह तो यह थी कि हैदराबाद से तब्दीली पर यारों दोस्तों से जुदाई का क़लक़ था एक तरह से भरा घर उजड़ गया था। दूसरी वजह मैं बयान कर चुका हूं कि कराची में ज़रा अधिक आज़ादी की फ़ज़ा के बाद क़ैद का बोझ ज़्यादा कष्टप्रद हो गया था। सब से बड़ी वजह शायद यह थी कि निकट भविष्य में रिहा हो जाने की उम्मीद का जो नन्हा सा चिराग़ अब तक जलता रहा था, वह अब ख़ामोश हो चुका था, और शुरू-शुरू की क़ैदे-तन्हाई का रंग एक हद तक वापस आ गया था। दर्दो-ग़म का तूफ़ान उमड़ पड़ा था। अब वे जेल की दीवारों, दरवाज़ों, सलाखों, पहरेदारों को ग़ौर से देखने लगे थे। पहले बाहर की दुनिया के साथ कल्पना का सीधा संबंध था, अब उसे भी जेल की दीवारें फांद कर अंदर आना-जाना पड़ता था :

हम अहले-क़फ़स[23] तन्हा भी नहीं, हर रोज़ नसीमे-सुब्हे वतन[24]
यादों से मुअत्तर[25] आती है, अश्कों से मुनव्वर[26] जाती है।

23. पिंज़रे के क़ैदी
24. वतन की सुबह के ठंडी हवा
25. सुगंधित
26. रौशन, चमकदार

इस शेर में नसीमे-सुब्हे-वतन की दीवारों को फांदने की सरसराहट साफ सुनायी दे रही है और उसका हिज्रां-नसीब (जिसके भाग में बिछोह है) क़ैदी को जेल वालों की नज़रों से बच बचाकर यादों का तोहफ़ा देना और उसके आंसुओं की सौग़ात ले जाना भी नज़र आ रहा है।

जब तक सोहनी कामयाबी से चिनाब पार करके महीवाल से मिल लिया करती थी, उस वक़्त तक उसके ज़हन में चिनाब की लहरों और घड़े के पुख़्तापन की एक अदृष्ट कल्पना थी। उसका सारा ध्यान महीवाल पर केंद्रित रहता था कि वह कैसा होगा, कैसे मिलेगा और जाते वक़्त दिल पर क्या गुज़रेगी। जब वह कच्चे घड़े की बदौलत दरिया में डूबने लगी, उस वक़्त उसकी नज़रें यार की कुटिया पर थीं। लेकिन कोई वक़्त ऐसा ज़रूर आया होगा जब पूरी तीव्रता के साथ उसे दरिया की हस्ती का एहसास हुआ होगा, और कच्चे घड़े की चिकनी मिट्टी हाथों में महसूस करके पक्का घड़ा भी याद आया होगा। और जब वह महीवाल की ख़ातिर अपनी जान बचाने के लिए हाथ-पांव मार रही होगी तो एक लम्हे के लिए महीवाल का ध्यान भी ज़हन से उतर गया होगा। हैदराबाद के क़याम के दौरान फ़ैज़ की कल्पना बाहर की दुनिया के साथ बहुत मज़बूती के साथ जमी रही। जेल की ज़िंदगी ने यह रिश्ता और भी मज़बूत कर दिया था। *दस्ते-सबा* के अंत में फ़ैज़ साहब की दो सुंदर नज़्में 'ज़िंदां की एक शाम' और 'ज़िंदां की एक सुबह' इसकी गवाह है। यहां उन्होंने जेल के डरावने दैत्य की भयावहता का पूरा-पूरा नक़्शा खींच दिया है। लेकिन उनके मुख पर अपमानजनक मुस्कुराहट है और उन्होंने आनंद-विनोद के ऐसे स्रोत निकाल लिये हैं जो जेल के दैत्य की कार्यपरिधि से बाहर हैं :

दिल से पैहम[27] ख़याल कहता है
इतनी शीरीं[28] है ज़िंदगी इस पल
ज़ुल्म का ज़हर घोलने वाले
कामरां[29] हो सकेंगे आज न कल।
जल्वा-गाहे-विसाल[30] की शम्एं[31]
वो बुझा भी चुके अगर तो क्या?
चांद को गुल करें तो हम जानें।
... ...
गोया फिर ख़्वाब से बेदार हुए दुश्मने-जां
संगो-फ़ौलाद से ढाले हुए जिन्नाते-गिरां[32]
जिनके चंगुल में शबो-रोज़ हैं फ़रियाद-कुनां[33]
मेरे बेकार शबो-रोज़ की नाज़ुक परियां।

27. लगातार
28. मीठी
29. कामयाब
30. मिलन की जगह
31. दीपक/शमा
32. भारी दैत्य
33. रोते फ़रियाद करते हुए

अपने शहपूर[34] की रह देख रही हैं ये असीर[35]
जिसके तर्कश में हैं उम्मीद के जलते हुए तीर

कराची के कलाम के बाद ये तिलिस्म टूट गया और मंटगोमरी में जेलख़ाना अपनी पूरी भयावहता के साथ रूबरू आ गया। चुनांचे उनके दर्दे-दिल ने दुनिया भर के असीरों के रंजो-ग़म को अपने अंदर समो लिया था। कीनिया के बाशिंदों पर जनतंत्र और आज़ादी के दावेदारों के हाथों असीम अत्याचार और उनके अपने वतन की कठिनाइयां फ़ैज़ साहब के लिए हृदयविदारक बनी हुई थीं। वे अफ़्रीक़ी औरतों के नुमायां कारनामों से विशेषतः प्रभावित थे। कई बार ऐसा महसूस होता था कि वे पाकिस्तानी नहीं रहे, अफ़्रीक़ी बन गये हैं। उनकी नज़्म 'आ जाओ एफ़्रिक़ा' इसकी द्योतक है।

'हम जो तारीक राहों में मारे गये' रोज़ेबर्ग जोड़े की बेमिसाल क़ुर्बानी से प्रभावित होकर लिखी गयी। यहां वह मरते दम तक इंसानियत के भविष्य, इंक़लाब का मुहब्बत, या उनके साथ अपनी वफ़ादारी जतलाते रहते हैं। इस नज़्म की सार्वभौमिकता अजीबो-ग़रीब है। इसने सदियों को पाटकर हर ज़माने और हज़ारों मील की दूरी तय करके, हर मुल्क के शहीदों को एक पंक्ति में खड़ा कर दिया है। यह नज़्म कर्बला, प्लासी, श्रीरंगापट्टम, मिद्की, झांसी, जलियांवाला, क़िस्साख़ानी, स्टालिनग्राद, मलाया, कीनिया, कोरिया, तिलंगाना, मराकश, त्यूनिस, सभी से जुड़ी मालूम होती है, और तेहरान, कराची और ढाका की सड़कों पर दम तोड़ते छात्र, मराकश, त्यूनिस, कीनिया और मलाया के ख़ून में लथपथ मुजाहिद, सब एक ही उत्साहवर्धक नारा दोहराते सुनायी देते हैं :

तेरे कूचे से चुनकर हमारे अलाम[36]
और निकलेंगे उश्शाक़[37] के क़ाफ़िले
जिनकी राहे-तलब[38] से हमारे क़दम
मुख़्तसर[39] कर चले दर्द के फ़ासले।

हम मंटगोमरी में ही थे कि ईरानी देशप्रेमियों को जेल में गोली का निशाना बनाने का विस्तृत वृत्तांत अमरीकी पत्रिका *टाइम* में छपा। साथ ही उनकी क़त्लगाह में ली गयी तस्वीर भी थी। सादी और हाफ़िज़ के वतन से फ़ैज़ साहब को ख़ास मुहब्बत है। कई दिन बेचैन रहे और अंत में उनकी बेचैनी 'आख़िरी रात' के रूप में ज़ाहिर हुई। यह नज़्म उस विचार और कल्पना की तर्जुमानी करती है जो क़ैदी के ज़हन में उस रात गुज़रते हैं जिसकी सुबह को उसे शहीद होना होता है। इंसानियत की राह में हुए ख़ून के करिश्मे देखिये कि शहीद कहां-कहां और किस-किस रंग में नये रूप धर लेते हैं :

कुश्तगाने-ख़ंजरे-तसलीम रा
हर ज़बां अज़ ग़ैब-जाने-दीगर अस्त

34. पक्षी के डैने, चिड़िया के पंख
35. क़ैदी
36. झंडा, परचम
37. प्रेमी
38. चाहत का रास्ता
39. छोटा

(कुबूलियत के ख़ंजर से क़त्ल होने वालों को ग़ैब से आने वाली हर बात एक और जान मिलने की तरह है।)

फ़ैज़ साहब की उस ज़माने की मानसिक स्थिति की पूरी-पूरी तर्जुमानी अगर कोई नज़्म करती है तो वह 'दरीचा' है।

मंटगोमरी से दांतों के इलाज के सिलसिले में कोई तीन सप्ताह के लिए मार्च 1954 में हमें लाहौर आना पड़ा। लाहौर से फ़ैज़ साहब को कुर्बान हो जाने की हद तक मुहब्बत है। वे लाहौर आना बिल्कुल पसंद नहीं करते थे। कहते थे, दिल पर बोझ पड़ेगा। यहां आकर लाहौर का पानी पिया, उसकी फ़ज़ा में सांस ली, लाहौर की आवाज़ें सुनीं और लाहौर के कई गामों, माझों से, ख़त्मे-नबूबत की तहरीक के सिलसिले में जेल आये हुए थे, मुलाक़ात हुई और वह दिलदोज़ नज़्म 'ऐ रौशनियों के शहर' सामने आयी जिस पर कोई शहर जितना भी गर्व करे कम है।

फ़ैज़ साहब के दिल में लाहौर और लाहौर वालों के प्रेम का जोश एक बार पहले भी उमड़ पड़ा था। जब 1953 में लाहौर के गली-कूचे उसके बेटों के ख़ून से रंगीन हो गये थे। 'लाहौर के नाम' अभी तक अधूरी है।

मंटगोमरी में उनकी शायरी के बारे में मेरी और उनकी काफ़ी बहसें हुआ करती थीं। मैं कोई न कोई बात कहता रहता था और उनको जवाब दिये बग़ैर चारा न था। शायर और मायर वाला मामला था। फ़रारी का रास्ता एक ही था कि सरकार के आगे सिर झुकाकर मुझसे निजात पाते। इसका सवाल ही पैदा नहीं होता था। लिहाज़ा मरता क्या न करता। आजकल भी मज़ाक़ में कहा करते हैं कि *ज़िंदांनामा* के *ज़िंदांनामा* होने में तुम्हारी 'वहाबियत' को भी दख़ल है।

फ़ैज़ की जेल की शायरी में वतन की मुहब्बत के चश्मे हर तरफ़ फूट रहे हैं। वे जगह-जगह अपने देश और देशवासियों की ख़स्ताहाली, क़ौम के आत्मसम्मान के सस्ते होने, लोगों की ग़रीबी, ज़हालत, भूख और ग़म को देख-देखकर बुरी तरह तड़प रहे हैं :

निसार मैं तेरी गलियों के ऐ वतन कि जहां
चली है रस्म कि कोई न सर उठाके चले
जो कोई चाहने वाला तवाफ़ को निकले
नज़र चुराके चले, जिस्मो-जां बचाके चले

कई बार कुछ और नहीं बनता तो ख़याली पुलाव पकाने लगते हैं और जेल की काल-कोठरी में बैठकर भी धूल-धूसरित, परेशांहाल लैला-ए-वतन को बना संवरा देखना चाहते हैं :

बुझा जो रोज़ने-ज़िंदां[40] तो दिल ये समझा है
कि तेरी मांग सितारों से भर गयी होगी।
चमक उठे हैं सलासिल[41] तो हमने जाना है,
कि अब सहर तेरे रुख़ पर बिखर गयी होगी।

40. जेल का रौशनदान
41. बेड़ियां

वतन की मुहब्बत इस तरह उनके रोम-रोम में बस गयी है कि अब उसको दूसरी मुहब्बतों से अलग करके देखना नामुमकिन हो गया है :

चाहा है इसी रंग में लैला-ए-वतन को
तड़पा है इसी तौर से दिल, उसकी लगन को
ढूंढ़ी है युं ही शैक़ ने आसाइशे-मंज़िल[42]
रुख़्सार[43] के ख़म में, कभी काकुल[44] की शिकन[45] में।

जेल में न जाने क्या बात थी कि हम सबका देशप्रेम ज़ोरों पर था। सुबह-शाम पाकिस्तान का ज़िक्र होता रहता था। बेबसी ने मिज़ाजों में चिड़चिड़ापन पैदा कर दिया था। कभी बेहद गुस्सा आता और कभी रोने को जी चाहता था। हाथ-पैर तो नाकाम कर दिये गये थे लेकिन दिलो-जां पर आफ़त आयी हुई थी।

1951 में जब हिंदुस्तान के पाकिस्तान की तरफ़ आक्रमण के इरादों की ख़बरें छपीं तो हममें से उन अफ़सरों ने जो अब तक माज़ूल नहीं किये गये थे, हुकूमत को दर्ख़ास्त दी कि पाकिस्तान की हिफ़ाज़त में हमको भी जान लड़ाने की इजाज़त दी जाये, ख़ास तौर पर जबकि हर एक को कश्मीर में हिंदुस्तानी फ़ौजों से लड़ने का तजरुबा है। दर्ख़ास्त में स्पष्ट कर दिया गया था कि हमारा मक़सद मुक़दमे से जान छुड़ाने का नहीं। हम गवर्नमेंट से इसके सिवा कुछ नहीं चाहते थे कि हंगामी हालात के दौरान मुक़दमे को मुल्तवी कर दिया जाये। यह कोई स्टंट भी नहीं था, इसलिए कि हमें मालूम था कि हिंदुस्तानी फ़ौजों के कंधों से कंधा मिलाये हिंदू सभाई और अकाली दरिंदे भी होंगे, और मग़रिबी पाकिस्तान से भागने का कोई रास्ता भी नहीं था। हमारी दर्ख़ास्त रद्द कर दी गयी। बहरहाल, ज़माना खरे-खोटे की तमीज़ जल्द या देर से कर ही लेगा :

नज़ीरी काश बनुमाई कि दर साग़र च मयदारी
कि पेशे-ज़ाहिदां क़द्रे-गुनहगारां शुवह पैदा

(ऐ नज़ीरी काश यह दिखायी देता कि तेरे प्याले में कितनी शराब है। गुनाहगारों की क़द्र व अहमियत तो धर्म का पालन करने वालों के सामने ही पैदा होती है)

हिंदुस्तान और पाकिस्तान का ज़िक्र चल निकला है। जेल में फ़ैज़ साहब अक्सर अपने हिंदुस्तानी दोस्तों को याद किया करते थे। उनमें कई एक लाहौर के रहने वाले थे। कई अन्य वर्षों तक पंजाब में रह चुके थे। मौलाना हसरत मोहानी, रशीद जहां, साहिबज़ादा महमूदज़्ज़फ़र, असरारुल हक़ मजाज़, मख़्दूम मुहीउद्दीन, अली सरदार जाफ़री, पंडित हरिचंद अख़्तर, उपेंद्रनाथ अश्क और उनकी बेगम, मुल्क राज आनंद, कृष्ण चंदर, डाक्टर अशरफ़, जोश मलीहाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी और दूसरे कई लोगों का ज़िक्र मैंने इतनी बार सुना है कि महसूस करता हूं कि उनके साथ एक अर्से से जान पहचान है, हालांकि उनमें से मैं किसी एक को भी निजी तौर पर नहीं जानता। सज्जाद ज़हीर और फ़ैज़ साहब इकट्ठे हो जाते थे

42. मंज़िल पर पहुंचने से मिलने वाला आराम
43. गाल
44. ज़ुल्फ़
45. सिलवट

तो फिर बातें ही अक्सर इन लोगों के बारे में हुआ करती थीं।

1947 ई. के दंगों का ज़माना फ़ैज़ साहब ने लाहौर में गुज़ारा था। उन्हीं दिनों वे पूर्वी पंजाब भी हो आये थे। दोनों तरफ़ के बहादुरों और शूर वीरों ने जिस तरह इंसानियत को ज़लील किया था, उसका आंखों देखा हाल सुनाया करते थे। बयान करते-करते दिल भर आता और रुक जाते। मेरे ख़याल में वे इतने बड़े पैमाने पर इस हौलनाक गृह-युद्ध को देखने पर मजबूर रहे हैं कि शायरी में उसको लाने की हिम्मत ही नहीं हुई। हो सकता है कि वक़्त मिलने पर वे नॉवेल या ड्रामे के ज़रिये पंजाब की इस ट्रैजिडी को बयान करें। पंजाब की सरज़मीन यूं तो हज़ारों सालों से हमालावरों के हमलों और बर्बादी का शिकार रही है। शायद ही यहां की कोई नस्ल ऐसी गुज़री होगी जिसने विदेशी घोड़ों के सुमों की टाप न सुनी हो। लेकिन इन हमलावरों में से अक्सर बगूले की तरह आते थे और आंधी की तरह गुज़र जाते थे। तलवार के साये तले जीने का अपमान कुछ कम नहीं होता, लेकिन 1947 ई. में जिस तरह पंजाबियों ने पंजाबियों को ज़लीलो ख़्वार किया, तमाम हमलावरों ने मिल कर भी नहीं किया होगा। अमृता प्रीतम के शब्दों में : (यहां एक पंजाबी ग़ज़ल है जिसका पहला शेर है :)

अज अक्खां वारिस शाह नूं किते क़ब्रां विच्चों बोल
ते आज किताबे-इश्क़ दा अगला वर्क़ा खोल...

फ़ैज़ साहब पाकिस्तान में कई लोगों के इस विचार से बहुत दुखी होते थे कि हर वह चीज़ जिसका संबंध हिंदुस्तान से भी है, पाकिस्तान के लिए ज़हरे-हलाहल है। रेडियो पर इक़बाल के कलाम, क़व्वालियों और फ़िल्मी गानों के सिवा कुछ सुनने में नहीं आता। चुनांचे हम जेल वालों से बचबचाकर हिंदोस्तानी रेडियो स्टेशन से अपने देश के राग सुना करते थे। किसी जाहिल ने ख़ुद ही क़ौमी जोश में आकर अमीर ख़ुसरो, तानसेन, वाजिद अली शाह, अब्दुलकरीम ख़ां, फ़ैयाज़ ख़ां और दूसरे बीसियों उस्तादों और नामवरों से पाकिस्तान का रिश्ता तोड़ने को ही देश प्रेम समझ लिया था।

मुल्कों की राजनीतिक और आर्थिक सीमाएं वक़्त के तक़ाज़ों के अनुसार बदलती रहती हैं। लेकिन एक ही भूखंड की तहज़ीब, भाषा, साहित्य, कला, संगीत, स्थापत्य और दूसरे सांस्कृतिक मूल्यों का मिश्रण सैकड़ों, हज़ारों सालों की कोशिशों के बाद तैयार होता है और उसके बुनियादी तत्वों में तब्दीली आसान नहीं होती। पाकिस्तान और हिंदुस्तान में सियासी धींगामुश्ती कैसा भी रूप ले ले, दिल्ली, लखनऊ, हैदराबाद और लाहौर की गंगा-जमनी तहज़ीबें अपनी जगह क़ायम रहेंगी और मीर और ग़ालिब में सबका साझा रहेगा। हिंदुस्तानी और पाकिस्तानी तहज़ीबों के दरख़्तों की जड़ें मोहनजोदड़ो, गया, हर्षपुर, गांधार, तक्षशिला, मथुरा, बनारस, अंजता, अजमेर, क़ुतुबमीनार, ताजमहल, जामा-मस्जिद, शालीमार हर जगह फैली हुई हैं। शाख़ों में कहीं समरक़ंद व बुख़ारा और कई अरब व अजम (ईरान) से आये हुए पैबंद अपनी बहार दिखा रहे हैं और कहीं प्राचीन डालें ज़्यों की त्यों क़ायम हैं। दूसरे की ज़िद में जड़ों को नुक़सान पहुंचाना, या शाख़ों की नोच खसोट करना अपने पांव पर आप कुल्हाड़ी मारना है।

फ़ैज़ साहब उन इंसानियत नवाज़ परंपराओं से जुड़े हैं जो हज़ारों सालों से दोनों मुल्कों की सरज़मीन की विशेषता रही हैं। वे उसी सिलसिले की कड़ी हैं जिसे अमीर ख़ुसरो, भक्त कबीर, ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, बाबा नानक, बाबा फ़रीद, अबुल फ़ज़्ल, फ़ैज़ी, बुल्हे शाह, वारिस शाह, शाह अब्दुल लतीफ़ भिटाई, रहमान बाबा और दूसरे बहुत से बुर्ज़ुगों ने फ़ैज़ पहुंचाया है।

हैदराबाद में उनका पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला अजब रंगा-रंगी का था। कोई कुरान मजीद और हदीस शरीफ़ उनसे पढ़ रहा है, तो कोई सूफ़ियों की रचनाएं, फुतूहुल-ग़ैब, कुश्फुल-महजूब, अहयाऊल-उलूम वग़ैरह की बारीकियां समझ रहा है। कोई अंग्रेज़ी और यूरोपीय अदब की उलझनें पेश कर रहा है तो किसी ने मार्क्सीय भौतिक द्वंद्ववाद के फ़लसफ़े पर बहस शुरू कर रखी है। उर्दू, फ़ारसी अदब तो तक़िया कलाम था। हैदराबाद में हमने उनको शार्गिद के रोल में भी देखा है। पोशनी के साथ मिलकर सज्जाद ज़हीर से हम फ़्रांसीसी ज़बान सीखा करते थे। निहायत लापरवाह और कामचोर थे। सैयद साहब की उस्तादाना घुड़कियां और फ़ैज़ साहब की बहानेबाज़ियां बहुत मज़ा देती थीं।

मेहनतकशों से उन्हें ख़ास उल्फ़त है। हैदराबाद में एक बार हमारे अहाते में बिजली के खंभे का फ़्यूज़ जल गया। एक मिस्त्री बग़ैर सीढ़ी के वहां पहुंच गया। हम तिलमिलाने लगे कि ख़ाहमख़ा वक़्त बर्बाद करने के लिए आ गया है। उसने खंभे को ज़रा ठोंका, बजाया और यह जा वो जा। सीढ़ी के बिना ही खंभे के सिरे तक पहुंच कर आंख झपकते नया फ़्यूज लगा आया। फ़ैज़ साहब देर तक उसके क़सीदे पढ़ते रहे। मंटगोमरी में शाहजी, एक पोस्टमैन, हमारे पार्सल वग़ैरह लाया करते थे। उनको देखकर फ़ैज़ साहब की आंखों में जैसी रौशनी आ जाया करती थी वह मैंने कम ही देखी है। दोनों ट्रेड यूनियन के मेंबर रह चुके थे। कहा करते थे कि हिंदुस्तान पाकिस्तान के मसलों का हल एक ही है कि दोनों मुल्कों में मेहनतकश अपने हक़ हासिल करके अपने-अपने बाग़ीचों के माली बन जायें। इसके बाद इन मुल्कों के बीच नफ़रत का ज़हर, और उसको पैदा करने वाले वे मसले जो निदान चाहते हैं, जिनकी आड़ में सामराजी आजकल अपने फ़ौलादी पंजे, वतने-अज़ीज़ की रंगों में दोबारा पैवस्त कर रहे हैं, यूं ग़ायब हो जायेंगे जैसे देवों-परियों के क़िस्सों में हीरो के इस्म पढ़ने पर दैत्य, भूत और दूसरी बलाएं पलक झपकते ग़ायब हो जाती हैं।

फ़ैज़ की शायरी में एक दिल वाले का जोश और वलवला है। इसमें पूरी क़ौम का दिल धड़क रहा है। लेकिन पता नहीं क्या बात है कि उसके क़िवाम (मिश्रण) में पाकिस्तान के मेहनतकशों का मुबारक पसीना और ख़ून की गर्मी अभी तक पूरी मिक़्दार में शामिल नहीं है। समन व गुलाब को जिस चाहत से याद किया है, उसी चाहत और विस्तार से उस बदहाल और बदनसीब का ज़िक्र नहीं है जिसने समन और गुलाब को अपने जिग़र के ख़ून से सींचकर शादाब किया है और जिसको हक़ पहुंचता है कि वह भी इस समन व गुलाब की नज़ाकतों, रंग, रूप और सुगंध से फ़ायदा उठा सके। उनका दिल तो उधर खिंचा जा रहा है लेकिन

लग़्ज़िशे-पा[46] में हैं पाबंदी-ए-आदाब[47] अभी

उनकी शायरी को ड्राइंग रूमों, स्कूलों, कॉलेजों से निकल कर सड़कों, बाज़ारों, खेतों और कारख़ानों में अभी फैलना है।

वे कहा करते हैं कि ये चीज़ सिर्फ़ पंजाबी में हो सकती है। लेकिन मैं समझता हूं कि यह उनकी हमेशा की तरह की विनम्रता है और प्राकृतिक हिचकिचाहट। *दस्ते-सबा* की भूमिका में उन्होंने लिखा है :

46. पांव की लड़खड़ाहट
47. परंपरा की बेड़ियां

या यूं कहिए कि शायरी का काम केवल मुशाहिदा (सर्वेक्षण) ही नहीं है, मुजाहिदा (बदलाव का प्रयास) भी उस पर फ़र्ज़ है। अपने इर्दगिर्द के बेचैन क़तरों में ज़िंदगी के दजले (नदी का नाम) का मुशाहिदा उसकी बीनाई (दृष्टि) पर है। उसको दूसरों को दिखाना उसकी कलात्मकता पर, उसके बहाव में दख़लअंदाज़ होना, उसके शौक़ की मज़बूती और ख़ून की गर्मी पर और ये तीनों काम लगातर प्रयास और संघर्ष चाहते हैं।

आगे फ़रमाते हैं कि 'इनसानी ज़िंदगी के संगठित संघर्ष को समझना और इस संघर्ष में मुमकिन हद तक शामिल होना ज़िंदगी का ही तक़ाज़ा ही नहीं, कला का भी तक़ाज़ा है।' *ज़िंदांनामा* इस बात का गवाह है कि फ़ैज़ के मुशाहिदे और मुजाहिदे की तुलना करें तो मुजाहिदे का पलड़ा भारी हो रहा है और यही इस वक़्त उनकी कला का तक़ाज़ा भी मालूम होता है।

अब उनकी नज़रें लाहौर के मंज़रों से उठकर पाकिस्तान के विशाल मैदानों पर पड़ने लगी हैं जहां अनगिनत इनसाननुमा मिट्टी के ढेर सदियों से एक ही तरह की धीमी-धीमी हरकत कर रहे हैं। अब इन मिट्टी के ढेरों की कमरें कुछ सीधी हो रही हैं, उनको उस बोझ का एहसास हो रहा है जो उन्होंने युगों से उठा रखा है क्योंकि उन पर धीरे-धीरे यह भेद खुल रहा है कि कुछ दूसरे देशों में उनके भाई-बंदों ने यह बोझ उतार दिया है और अब वे लोग इनसान की महानता में बराबर के शरीक हैं। उनकी आंखों में एक तरह का नूर है क्योंकि वे दूर क्षितिज पर जीवन और शक्ति की उठती-गिरती, घटती-बढ़ती रौशनी देख रहे हैं। लेकिन ये लोग किसी विरह की मारी की तरह, जो अचानक अपने प्रियतम को पास आता देखे, अभी तक लजा रहे हैं, शरमा रहे हैं और अपनी दरिद्रता और बदहाली को छिपाना चाहते हैं। फ़ैज़ साहब की नज़रें कारख़ानों में भी घुस रही हैं जहां किसानों के साथ मज़दूर इनसान की रचना शक्ति और उसकी महानता का पाठ पढ़ रहे हैं। फ़ैज़ साहब यह सब कुछ ख़ुद ही नहीं देख रहे हैं, अपने लाहौरी भाई-बंदों, मानसिक मज़दूरी करने वाले लेखकों, क्लर्कों, छोटे दुकानदारों, वकीलों, टीचरों, छात्रों, गामों और माझों को भी दिखला रहे हैं और पुकार रहे हैं कि जीवन के मैदाने-जंग में जो रण छिड़ा है उसमें धर्म और अधर्म के लश्करों को पहचानो। 'दरिद्रता, दफ़्तर, भूख और ग़म' ने चौमुखी पथराव करके तुम्हारे साग़रे-दिल को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और तुम्हारे मान सम्मान को मिट्टी में मिला दिया है। महबूब के इश्क़ की परी रूपी शराब का अपमान किया है। लेकिन

यादों के ग़रीबानों के रफ़ू
पर दिल की गुज़र कब होती है
एक बख़िया उधेड़ा, एक सिया
यूं उम्र बसर कब होती है

इस कारगहे-हस्ती में जहां
ये साग़र शीशे ढलते है
हर शैच का बदल मिल सकता है
सब दामन पुर हो सकते हैं।

अब लूट झपट से हस्ती की
दूकानें ख़ाली होती हैं
यां परवत-परबत हीरे हैं

यां सागर-सागर मोती हैं।

कुछ लोग हैं जो इस दौलत पर
पर्दे लटकाये फिरते हैं
हर परबत को हर सागर को
नीलाम चढ़ाये फिरते हैं।

कुछ वो भी हैं जो लड़-भिड़ कर
ये पर्दे नोच गिराते हैं
हस्ती के उठाईगीरों की
हर चाल उलझाये जाते हैं।

इन दोनों में रन पड़ता है
नित बस्ती-बस्ती, नगर-नगर
हर बसते घर के सीने में
हर चलती रह के माथे पर
ये कालिख भरते फिरते हैं
वो जोत जगाते फिरते हैं
ये आग लगाते फिरते हैं
वो आग बुझाते फिरते हैं।

सब साग़र शीशे, लालो-गुहर
इस बाज़ी में बद जाते हैं
उट्ठो सब ख़ाली हाथों को
इस रन से बुलावे आते हैं।

ज़िंदांनामा में फ़ैज़ साहब ने सच और झूठ की इस भयावह जंग में बहादुरों की बहादुरी की घटनाओं का ज़िक्र शुरू कर दिया है। इसका आरंभ वे *दस्ते-सबा* में 'ईरानी तुलबा के नाम' लिख के कर चुके है। लेकिन अभी तक उनकी यह आदत पूरी तरह नहीं गयी कि वे ज्वालामुखी पहाड़ से निकलने वाले धुएं के पहले मरग़ौले को ही ले बैठते हैं, और जब यह धुएं का बादल हवा के झोकों से पलक झपकते तितर-बितर हो जाता है तो दुखी हो जाते हैं। या तूफ़ान की पहली मौज के तमाशे में ही खो जाते हैं और जब उसे साहिल के रेत में जज़्ब होता देखते हैं तो दर्द की ज़्यादती से बेहाल हो जाते हैं। या बढ़ते हुए लश्कर के सबसे अगले स्काउट जब खेत हो जाते हैं तो उनको तड़पता देखकर पूरी दुनिया की व्यवस्था को आग लगा देना चाहते हैं। ऐसे दर्द की बहुलता हरेक नेक दिल की विशषता होती है, लेकिन अगर ज्वालामुखी की ज़मीन में दबी गरज को सुना जाये, और उसके चंद क्षणों में उबलने वाले करोड़ों मन लावे की कल्पना की जाये, या पहली लहर के पीछे बिफरे हुए असीम समंदर का ख़याल किया जाये तो धुंए के पहले मरग़ौले के बिखरने, तूफ़ान की पहली लहर के जज़्ब होने और स्काउटों के मरने में दर्द व ग़म की जगह संघर्षी तड़प आ जाती है। ज़िंदगी के साये गहरे होने के बजाय उसकी रंगीनियों में इज़ाफ़ा हो जाता है। इन तीनों की मौत पर रोने-धोने के बजाय उनकी यादगार मनाने को जी चाहता है। वे इश्क़ो-मुहब्बत के पहले मरने वाले ही नहीं, जीत की नींव डालने वाले भी हैं, उनकी मौत ज़िंदगी

का रस है। फ़ैज़ साहब का केन्वस ज़रा और बड़ा हो जाये तो निःसंदेह हमारे अदब के गोर्की बन जायेंगे। उनसे ज़्यादा इस रुत्बे का और कौन हक़दार है। बदक़िस्मती से हालात कुछ ऐसे हैं कि रजज़ ख्वां (योद्धाओं का उत्साह बढ़ाने वाला शायर) अपनी एक जान के साथ क्या कुछ कर सकता है?

मंटगोमरी में मेरी एक ड्यूटी फ़ैज़ साहब के लिए श्रोता इकट्ठा करने की भी थी। इसका एक ज़रिया यह था कि मैं उनका ताज़ा कलाम सैयद सज्जाद ज़हीर को मच्छ जेल में, और अता और पोश्नी को हैदराबाद भेज दिया करता था। सैयद सज्जाद ज़हीर के एक ख़त का एक हिस्सा इस प्रसंग के आख़िर में पेश करना बहुत मुनासिब रहेगा :

सेंट्रल जेल
मच्छ, बलोचिस्तान
21 फरवरी 1954 ई.

...आइंदा मैं ज़्यादा पाबंदी से तुम्हारे ख़तों का जवाब दूंगा। इस इरादे में मेरी नैतिक ज़िम्मेदारी ही नहीं बल्कि स्वार्थ भी शामिल है। तुम्हारे ख़तों से दोस्ती और मुहब्बत की धीमी सुगंध आती है जिससे रंजूर (दुखी) दिल को बेइंतेहा, ठंडक पहुंचती है। इस तरह हम तन्हाई में बातचीत कर लेते हैं। थोड़ी बहुत फ़लसफ़ियाना और अदबी मूशिगाफ़िया (सूक्ष्म विमर्श) भी कर लेते हैं। और फ़ौलादी दीवारों में किसी क़दर दरार डालकर जैसे निकलते हुए सूरज की किरनों से ज़रा देर के लिए दिमाग़ को रौशन कर लेते हैं। फिर इसके अलावा तुम फ़ैज़ के कलाम के तोहफ़े भी भेजते हो, और अब की तो तुमने ढेर लगा दिये हैं। इनके लिए फ़ैज़ और तुम्हारा बहुत बहुत शुक्रिया। यह तो ऐसा अतिया (भेंट) है जिसके बदले मैं कभी कुछ नहीं दे सकता।

फ़ैज़ की नज़्म 'मुलाक़ात' मुझे पसंद आयी है। इसमें प्रतीकों का अलंकरण अपने चरम पर पहुंच गया है, और पहली पंक्ति से शुरू होकर (ये रात उस दर्द का शजर है) नज़्म के बहाव के साथ-साथ सुंदर उपमाओं और रूपकों के जैसे नाज़ुक फूल चारों तरफ़ खिलते चले गये हैं जिनमें से हरेक ऐसा है जो अपनी अलग सुगंध और रंग भी रखता है और दूसरों के साथ मेल भी खाता है और संतुलित भी है। फिर नज़्म का बुनियादी ख़याल पूरी कल्पना के साथ बड़ी कामयाबी के साथ मिलाया गया है जैसे एक हसीन और नाज़ुक जिस्म में दर्दमंद, अनुभूति रखने वाली और नाज़ुक रूह हो। यह नहीं मालूम होता कि दुख, ग़म का एहसास और दर्द की अधिकता, और उन सबके बावजूद बल्कि उनके द्वारा उदित होने वाली 'नयी सहर' की कल्पना को आत्मसात करके शायर ने उसे नज़्म में ढाला है। बल्कि यहां पर यह ऊंचा, उत्साहवर्धक, ख़याल और कल्पना जैसे शायराना कल्पना का फल है और पूरी नज़्म के गुलदस्ते से आकर्षक और रूह अफ़ज़ा रंगीनियों और खुशबुओं के साथ झुक पड़ा है। तीसरे बंद के शुरू की चार पंकितयां जहां से नज़्म को एक मोड़ दिया गया है, अपनी रवानी, संगीत, शब्द रचना और प्रभाव के ऐतबार से अपना जवाब नहीं रखतीं। उन्हें एक बार पढ़ लो तो दिल पर नक़्श हो जाती हैं और फिर भूलती नहीं। ऐसा मालूम होता है कि जैसे इतवार की सुबह को किसी चर्च की घंटियां लहक-लहक कर बज रही हों और उनकी मुसलसल आवाज़ सिर्फ़ कानों में नहीं बल्कि सारे जिस्म के रोम-रोम में उतर रही हो। फ़ैज़ की शायरी का 'रंग' लोग जिस बात को कहते हैं, उसमें लहजे का दर्द और फ़ज़ा की नर्मी एक चीज़ है। मुझे खुशी है कि इन पंक्तियों में वह रंग नहीं है। अच्छे और बड़े शायर अपना रंग ज़रूरत और मौक़े के अनुसार बदलते रहे हैं, हालांकि वे अपनी प्रकृति नहीं बदल सकते।

'तुमने अपने पिछले ख़त में इसकी तरफ़ इशारा किया था कि अब उन्हें हिम्मत करके एक छलांग लगानी चाहिए ताकि उनकी शायरी में खुशबुओं और फूल बिखेरने के अलावा ख़ल्के-खुदा के उस मुबारक पसीने और ख़ून की हरारत का भी मिश्रण हो जिससे अस्ल में ज़िंदगी बनती, बदलती और संवरती है।

मैं इस ख़याल से बिल्कुल सहमत हूं। लेकिन मैं उन्हें ऐसा करने के लिए धक्का देना नहीं चाहता ... इन आशाजनक प्रतिबिंबों के कारण, जो उनकी नज़्मों और ग़ज़लों में ख़ुद ही नज़र आ रहे हैं, सही जनतांत्रिक वर्तमान दिशा का पता चल रहा है।

मेरे ख़याल में वे ख़ुद इस बिंदु को समझते हैं। पंजाब की सरज़मीन सदियों पहले बाबा फ़रीद, वारिस शाह, बुल्हेशाह की ज़ातों में, दूसरे हालात और दूसरे माहौल में, ऐसी जम्हूरी शायरी पैदा कर चुकी है। हमारे यहां कबीर, तुलसी, सूर हो चुके हैं। ऐसे नग़्मे फिर क्यों नहीं छेड़े जा सकते।

इन नयी ग़ज़लों पर उनको मुबारकबाद देना, हांलाकि यह सही है कि दाद मिर्ज़ा जाफ़र अली ख़ां से ही लेना चाहिए, मैं तो अब बराएनाम लखनऊ का रह गया हूं। छः साल पंजाब में और पंजाबियों के साथ रहकर अल्लाह ही जानता है कि ज़बान कितनी 'बिगड़' गयी है। शायद चूंकि मौसम बहार का है इसलिए हमें 'गुलों में रंग भरे बादे-नौ-बहार चले' वाली ग़ज़ल सब से अच्छी लगी। इस शेर की तारीफ़ नहीं हो सकती :

बड़ा है दर्द का रिश्ता, ये दिल ग़रीब सही
तुम्हारे नाम पे आयेंगे ग़म गुसार चले

जिस ग़ज़ल को तुमने 'वासोख़्त' का शीर्षक दिया है वह भी अपने रंग में ख़ूब है। एक-एक शेर नश्तर है। किस किस की तारीफ़ करें। ख़ासतौर पर यह शेर :

गर फ़िक्रे-ज़ख़्म की तो ख़तावार हैं कि हम
क्यों महवे-मदहे-ख़ूबी-ए-तैग़े-अदा[48] न थे

इसकी दाद तो फ़ैज़ मिर्ज़ा नौशा (ग़ालिब) से भी लेते, जाफ़र अली ख़ां असर तो अलग रहे....'।

उर्दू से अनुवाद : अर्जुमंद आरा

48. अदा की तलवार की ख़ूबियों की तारीफ़ करने में मगन

शख़्सियत के जुदा-जुदा पहलू

आफ़ताब अहमद

इस संस्मरण के लेखक फ़ैज़ और एलिस से बहुत ही आत्मीय स्तर पर जुड़े रहे हैं। इसीलिए इस स्मृति-आख्यान में बहुत ही विश्वसनीय ढंग से फ़ैज़ के जीवन के विभिन्न पड़ाव और उतार-चढ़ाव का जीवंत ढंग से वर्णन किया गया है। सं.

शायर फ़ैज़ पर लिखने की बात और थी, शख़्स फ़ैज़ पर लिखने में मुझे एक बड़ी मुश्किल का सामना है। और वो ये कि उनसे मेरे 43 बरस के ताल्लुक़ात की दास्तान के इतने पहलू हैं कि जब उन पर एक नज़र डालता हूं तो सोचता हूं, 'मैं किसको तर्क करूं किसका इंतेख़ाब करूं'। तआर्रुफ़ तो शायर फ़ैज़ ही से हुआ था, क्योंकि उनके पहले संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* के प्रकाशन से पहले ही पत्रिकाओं और मुशायरों के ज़रिये उनकी नज़्मों और ग़ज़लों की शोहरत मेरी नस्ल के नौजवानों में बहुत आम हो चुकी थी।

तेरी आंखों के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है
.....
चंद रोज और मेरी जान फ़क़त चंद ही रोज़

जैसे मिसरे कि जिनमें फ़ैज़ की शायरी के रूमानी और इंक़लाबी, दोनों रंग सिमट आये थे, हमारी रोज़मर्रा की गुफ़्तगू में शामिल होने लगे थे। उन्हीं दिनों फ़ैज़ साहब एम.ए.ओ. कॉलेज अमृतसर से हेली कॉलेज आफ़ कामॅर्स में अंग्रेज़ी के लेक्चरर होकर आ गये तो मेरे दोस्तों का और मेरा उनसे मिलने का शौक़ दुगना हो गया। अब तक हम लोगों ने उन्हें दूर-दूर से लाहौर के मुशायरों ही में या एक बार लाहौर के वामपंथी छात्रों के स्टडी सर्किल में देखा था। संयोग से मेरे दोस्त सैय्यद अमज़द हुसैन एम.ए.ओ. कॉलेज में उनके शागिर्द रह चुके थे। उस ताल्लुक़ की बुनियाद पर मेरे दूसरे दोस्त सफ़दर मीर (ज़ीनू) और मैंने ये सोचा कि अमज़द के साथ फ़ैज़ साहब से मुलाक़ात की जाये। उस मुलाक़ात की तस्वीर मेरे ज़हन में इस तरह उभरती है। शायद गर्मियों के दिन थे। हम लोग कोई 5 बजे के क़रीब राबी रोड पर फ़ैज़ साहब के मकान पर पहुंचे। वो बैठने के कमरे में सफ़ेद कुर्ता पाजामा पहने कालीन पर गावतकिये से टेक लगाये नीमदराज़ (अधलेटे) थे। हम तीनों उनके आसपास कालीन पर ही बैठ गये। रस्मी तआर्रुफ़ के थोड़ी देर बाद चाय आ गयी। पहले तो उन्होंने अमज़द से उसका हालचाल पूछा और फिर सफ़दर और मुझसे हमारी दिलचस्पियों के बारे में सवाल किये। बीच में कुछ ख़ामोशी के लम्हे भी आये और मुझे एहसास हुआ कि फ़ैज़ साहब को बातों में लगाने का तरीक़ा ये है कि उनसे सवाल किये जाओ।

सो मैंने उनसे उनके संकलन के बारे में पूछा और साथ ही यह भी पूछा कि राशिद (नून मीम राशिद) ने तो 'मावरा' की भूमिका कृश्नचंदर से लिखवायी है, आप भी किसी नये अदीब से लिखवायेंगे या तासीर साहब या पितरस बुख़ारी साहब में से किसी एक से! कहने लगे, बुख़ारी साहब और तासीर साहब से तो हरगिज़ नहीं, किसी दूसरे के बारे में अभी कुछ सोचा नहीं। बाद में कृश्नचंदर की भूमिका की बात होने लगी, मगर कुछ ज़्यादा देर नहीं चली। फ़ैज़ साहब ने ये कहकर टाल दिया कि वो तो अफ़सानानिगार हैं और फिर उनके अफ़सानों के बारे में एकाध जुमला कहा। इसके बाद सफ़दर के एक सवाल पर मौलवी नज़ीर अहमद, रतननाथ सरशार और प्रेमचंद का ज़िक्र हआ और फ़ैज़ साहब ने उनकी ख़ास-ख़ास विशेषताओं की तारीफ़ की और ये भी कहा कि नये अदब में तो अफ़साने ही लिखे जा रहे हैं, नॉवेल की तरफ़ किसी ने तवज्जो नहीं की। फिर कुछ इधर-उधर की बातें हुईं और कोई घंटे-सवा घंटे बाद हम लोगों ने उनसे इजाज़त चाही। ये मुलाक़ात तो कुछ रस्मी ही सी थी, मगर फिर भी हम इस ख़याल से खुश-खुश लौटे कि आज फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ से मुलाक़ात हुई है।

एक दूसरी तस्वीर वो है कि जब अमज़द 'हल्क़ा-ए-अरबाब-ए-ज़ौक़' के ज्वाइंट सेक्रेटरी हो गये थे और फ़ैज़ साहब उनकी दावत पर हल्क़े के एक हफ़्तावार इजलास की सदारत करने आये थे। उस ज़माने में हल्क़े के जलसे ऐबट रोड पर निशात सिनेमा के सामने एक दफ़्तर के बड़े कमरे में हुआ करते थे। फ़ैज़ थ्री पीस गरम सूट पहने, बढ़िया क़िस्म की टाई लगाये हुए थे। उनकी खुली और चमकती हुई पेशानी बिजली की रौशनी में कुछ और भी चमक रही थी। मीरा जी (समानउल्ला डार) की एक नज़्म चर्चा में थी, जिसके इब्तदाई मिसरे ये थे :

चूम ही लेगा बड़ा आया कहीं का कौव्वा
उड़ते-उड़ते भला देखो तो कहां आ पहुंचा
कलमुआ काला कलूटा काजल

नज़्म की कॉपियां मीरा जी ने हमेशा की तरह कागज़ की लंबी-लंबी मगर कम चौड़ी कतरनों के रूप में उस मजलिस के लोगों में बांट रखी थीं जो नज़्म के बारे में नये-नये नुक़्ते बयान कर रहे थे। मीरा जी ख़ामोश बैठे सुन रहे थे और लुत्फ़ उठा रहे थे। फ़ैज़ साहब मुस्तक़िल सिगरेट का धुआं उड़ा रहे थे और साथ-साथ नज़्म की कॉपी को भी उलट-पुलट कर देख रहे थे। ज्यों ही नज़्म के विषय पर बहस ख़त्म हुई, फ़ैज़ साहब ने मुस्कुराते हुए मीराजी से मुख़ातिब होकर कहा, 'भई, इस पर ये महाकाव्य लिखने की क्या ज़रूरत थी?' इस पर हाज़रीन में हंसी की एक हल्की-सी लहर उठी, जिस पर फ़ैज़ साहब ने तरक़्क़ीपसंद अदब का अपना नुक़्ता-ए-नज़र बयान करते हुए ये कहा, 'नज़्म का विषय कोई इतना अहम, गंभीर और गहरा नहीं है कि उस पर इतनी लंबी नज़्म लिखी जाये,' वग़ैरह-वग़ैरह। फ़ैज़ साहब आम तौर पर इस क़िस्म की फ़िक़रेबाज़ी नहीं करते थे मगर मीराजी से उनका एक ज़ाती ताल्लुक़ भी था। और वो ये कि मीरा जी फ़ैज़ साहब के छोटे भाई इनायत अहमद के बड़े बेतकल्लुफ़ और गहरे दोस्त थे और उन्होंने 'अदबी दुनिया' में एक ख़ास मक़सद से अहमद के नाम से एकाध नज़्म भी प्रकाशित की थी। इस ज़ाती ताल्लुक़ात की बुनियाद पर फ़ैज़ साहब ने महफ़िल में मीरा जी से ये बेतकल्लुफ़ी क़ायम रखी और हमें इसका इल्म उस वक़्त हुआ जब अमज़द, सफ़दर और मैं उन्हें क़रीब ही निस्बत रोड के एक चायखाने में उनसे गप्प करने के लिए ले गये।

फिर कुछ अर्से के बाद अचानक ये पता चला कि फ़ैज़ साहब जनसंपर्क के महक़मे में कैप्टन बनकर दिल्ली चले गये हैं। उनको ले जाने वाले मजीद मल्लिक साहब थे जो उस महक़मे में एक बड़े ओहदे पर थे। 1942 से 47 के शुरू तक फ़ैज़ साहब देहली और रावलपिंडी में रहे और लेफ़्टिनेंट कर्नल के ओहदे तक पहुंचे। इत्तेफ़ाक की बात है कि मैं इस दौरान कई बार देहली गया मगर मेरी फ़ैज़ साहब से कोई मुलाक़ात नहीं हुई। हां, एक बार मैंने उन्हें इत्तेफ़ाक से लाहौर रेलवे स्टेशन पर देखा। वो वर्दी पहने फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे के सामने सिगरेट पी रहे थे। मुझे ये देखकर मज़ा आया। मैंने आगे बढ़कर सलाम किया तो फ़ैज़ साहब मेरी उम्मीद के ख़िलाफ़ कुछ तपाक से मिले। वो रावलपिंडी जा रहे थे। जब तक गाड़ी चलने की सीटी नहीं बजी, वो मुझसे खड़े बातें करते रहे। लाहौर की अदबी सरगर्मियों और बाज़ दोस्तों का हाल पूछते रहे।

फ़ैज़ साहब से मेरा बाक़ायदा ताल्लुक़ दरअसल उस वक़्त हुआ जब वो जनवरी 1947 में फ़ौज की मुलाज़मत छोड़कर *पाकिस्तान टाइम्स* के एडिटर की हैसियत से मुस्तक़िल तौर पर लाहौर आ गये। अब उनसे ज़्यादा मुलाक़ात होने लगी। आम तौर पर *पाकिस्तान टाइम्स* के दफ़्तर में, जो उस ज़माने में माल रोड पर 'सिविल मिलिट्री गज़ट' के दफ़्तर ही में था। मैं एम.ए. पास कर चुका था। इस्लामिया कॉलेज में अंग्रेज़ी की लेक्चररी करते हुए मुझे चंद महीने ही गुज़रे थे और मैं अपनी मुलाज़मत में अभी कुछ जमा नहीं था। एक अंग्रेज़ी अखबार में फ़ैज़ साहब के साथ काम करने के ख़याल ने मुझे ऐसा गरमाया कि मैंने एक दिन जुरअत करके फ़ैज़ साहब से कहा कि वो मुझे *पाकिस्तान टाइम्स* के स्टाफ़ में शामिल कर लें। उन्होंने कॉलेज की मुलाज़मत पर अख़बार की मुलाज़मत को तरजीह देने पर कुछ ताज्जुब का इज़हार किया और फिर कहा कि फ़िलहाल रुक जाओ। देखो कि देश के हालात क्या रुख़ अख़्तियार करते हैं। कॉलेज से गर्मी की छुट्टियों की तनख़्वाह तो वसूल करो। सितंबर में देखेंगे, क्या सूरते-हाल है और फिर कुछ फ़ैसला करेंगे। ये बात शायद अप्रैल 1947 में हुई थी। 3 जून को उपमहाद्वीप के बंटवारे के प्लैन का ऐलान हुआ। कुछ दिन के बाद कॉलेज में गर्मियों की छुट्टियां शुरू हो गयीं और मैं अपने घर वालों के साथ कश्मीर आ गया। हम लोग पहले तो श्रीनगर से कोई 15 मील दूर दरियाए झेलम के किनारे एक क़स्बे गांदरबल में ठहरे, फिर वहां से अगस्त के शुरू में श्रीनगर आ गये और बांध पर एक हाउस बोट में रहने लगे। दरिया के उस पार एक बड़े से बंगले 'हार्मनी' में तासीर साहब और उनके बच्चे और फ़ैज़ साहब के बीवी-बच्चे रह रहे थे। चुनांचे तासीर साहब से सुबह-शाम मुलाक़ातें होने लगीं। 14 अगस्त के दो-तीन दिन बाद फ़ैज़ साहब भी वहां पहुंच गये। वो शायद सेंट्रल ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल साहब के साथ उनकी कार में आये थे और शाम को पहुंचे थे। मैं उनसे दूसरे दिन सुबह तासीर साहब के कमरे में मिला जहां उस वक़्त बशीर हाशमी साहब और डॉक्टर नज़ीर अहमद भी मौजूद थे। फ़ैज़ साहब ने कुछ झिझक के साथ जो बुजुर्गों, ख़ास तौर से तासीर साहब और बुख़ारी साहब, की मौजूदगी में ज़्यादा हो जाती थी, ज़िक्र किया कि लाहौर में एक नज़्म शुरू हुई थी जो लाहौर से श्रीनगर आते हुए मुकम्मल हो गयी है। तासीर साहब के कहने पर उन्होंने नज़्म सुनानी शुरू की :

ये दाग़-दाग़ उजाला ये शबगज़ीदा सहर
वो इंतज़ार था जिसका ये वो सहर तो नहीं

हम सब तो ये पहला मिसरा ही सुनकर अवाक् रह गये, ख़ास तौर पर डॉ. नज़ीर अहमद, जो नज़्म ख़त्म हो चुकने के बाद भी बार-बार इसको दुहराते रहे। बीच-बीच में तासीर साहब ने भी कुछ मिसरे दोबारा-तिबारा सुनाने को कहा, जैसे :

फ़लक के दस्त में तारों की आख़िरी मंज़िल
कहीं तो होगा शबे सुस्तमौज का साहिल
कहीं तो जाके रुकेगा सफ़ीना-ए-ग़मे-दिल

कहां से आयी निगारे-सबा किधर को गयी
अभी चराग़े-सरे-रह को कुछ ख़बर ही नहीं

फ़ैज़ साहब तो दो-चार दिन बाद श्रीनगर से वापस लाहौर चले गये, मगर उनके बीवी-बच्चे वहीं ठहरे रहे। हम लोग सितंबर के दूसरे हफ़्ते में लाहौर वापस आये तो कुछ दिनों के बाद मैंने फ़ैज़ साहब से फिर से *पाकिस्तान टाइम्स* में आने की बात छेड़ी। उन्होंने ये कहकर मुझे हैरत में डाल दिया कि तुम्हारे बारे में तो फ़ैसला हो चुका है कि तुम गवर्नमेंट कॉलेज में जा रहे हो। ये बात फ़ैज़ साहब ने बुख़ारी साहब के हवाले से कही जो उस वक़्त गवर्नमेंट कॉलेज के प्रिंसिपल थे। मैं उनसे 'मजलिसे-इक़बाल' के जलसों में दो-तीन मर्तबा मिल चुका था। मेरे बारे में उन्होंने तासीर साहब, फ़ैज़ साहब और सूफ़ी ग़ुलाम मुस्तफ़ा तबस्सुम साहब से भी ज़रूर कुछ-न-कुछ सुना होगा। अलबत्ता मेरे गवर्नमेंट कॉलेज में लिये जाने की तजवीज मेरे पुराने उस्ताद प्रो. सिराजुद्दीन साहब ने की थी कि वो उस वक़्त अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष थे और उन्हीं की तरफ़ से मुझे दो-चार दिन के बाद इस सिलसिले में बाक़ायदा पैग़ाम मिला। मुख़्तसर ये कि मैं अक्टूबर 1947 को गवर्नमेंट कॉलेज के अंग्रेज़ी विभाग में बतौर लेक्चरर शामिल हो गया।

फ़ैज़ साहब ने अपनी पत्रकारीय ज़िंदगी की शुरुआत में वाक़ई बड़ी मेहनत की थी। उन्होंने *पाकिस्तान टाइम्स* में संपादकीय का एक नया ढंग निकाला और उसको एक अदबी ज़ायका भी दिया। उनके उस ज़माने के संपादकीयों में दो-तीन आज भी मेरी याद में महफ़ूज़ हैं। एक तो शायद 1951 के शुरू में जब लियाक़त अली ख़ां ने कॉमनवेल्थ के प्रधानमंत्रियों की कांन्फ्रेंस में शिरकत के लिए इस बुनियाद पर पेशोपेश की कि उसमें कश्मीर का मसला भी चर्चा में लाया जायेगा और फिर किसी निश्चित आश्वासन के वग़ैर ही शिरक़त के लिए रवाना हो गये। तो फ़ैज़ ने 'West Ward Ho' के शीर्षक से एक संपादकीय लिखा जो वॉल्टर स्कॉट के एक नॉवेल का नाम है। वहां कश्मीर पर कोई ख़ास बात नहीं हुई और लियाक़त अली ख़ां ख़ाली हाथ वापस आये तो फ़ैज़ के संपादकीय का शीर्षक था 'The Return of a Native' जो टॉमस हार्डी के एक नॉवेल का नाम है। ये संपादकीय सियासी क़िस्म के थे। एक संपादकीय जो उन्होंने वाक़ई दिल की गहराइयों में डूब कर लिखा था, वो *मख़ज़न* के संपादक, उर्दू के मशहूर लेखक और इक़बाल के दोस्त सर शेख़ अब्दुल क़ादर की मौत पर था जिनसे उनके ख़ानदानी संबंध भी थे।

फ़ैज़ साहब अख़बार के काम से फ़ुर्सत पाते तो अपने बुज़ुर्ग दोस्तों की महफ़िलों में वक़्त गुज़ारते थे जिनके कर्ताधर्ता बुख़ारी साहब थे और जो अक्सर उन्हीं के घर पर होती थीं। इसके अलावा पत्रकारों की अंजुमन और डाकख़ाने के मुलाज़िमों की ट्रेड यूनियन के कामों में भी ख़ासी सरगर्मी से हिस्सा लेते

थे। ये दौर जो 1947 की शुरुआत से 1951 के शुरू तक रहा, रचनात्मक दृष्टि से फ़ैज़ की ज़िंदगी में ठहराव का दौर था। इसमें उन्होंने शायद ही कोई क़ाबिले-ज़िक्र नज़्म या ग़ज़ल कही हो। मेरा ख़याल है कि ख़ुद उन्हें भी इसका एहसास होने लगा था। मुझे याद है कि एक शाम मैं *इमरोज़* के दफ़्तर में मौलाना चिराग़ हसन हसरत के पास बैठा हुआ था, जो अब *पाकिस्तान टाइम्स* के साथ धनीराम रोड पर अपनी एलॉटशुदा बिल्डिंग में शिफ़्ट हो गया था, कि फ़ैज़ साहब आये और कुछ देर बाद वापस जाते समय मुझे *पाकिस्तान टाइम्स* के दफ़्तर में अपने कमरे में ले गये। वहां बैठते ही वो ताज़ा अदबी रुझानों के बारे में मुझसे पूछने लगे। मैंने कहा कि आजकल नये शायरों, जैसे मुख़्तार सिद्दीक़ी और नासिर काज़मी वग़ैरह के बीच मीर की बड़ी चर्चा है। इस पर उन्होंने कहा कि 'अफ़सोस है कि लोग सौदा को नहीं पढ़ते, हालांकि उसको खुद मीर ने भी पूरा शायर माना है। सौदा के क़लाम का इंतख़ाब होना चाहिए। मैंने इस सिलसिले में कुछ काम भी किया था मगर अब तो वक़्त ही नहीं मिलता।' फिर सौदा के शेर सुनाने लगे। मैंने उनके साथ दुहराये तो मुझसे कहने लगे, 'तुम्हीं सौदा का इंतख़ाब क्यों नहीं कर देते! फिर मैं भी एक नज़र देख लूंगा।' इसके बाद कुछ अपनी गुज़री हुई अदबी सरगर्मियों का ज़िक्र करने लगे और इस दौरान ये भी कहा कि 'देखो, लोग ग़िनाइयत का आम इस्तेमाल करने लगे हैं। Lyricism के तर्जुमे के तौर पर सबसे पहले मैंने ये शब्द वज़ा किया (गढ़ा) था।' मैंने कहा, 'लोग ये बात भूल गये हैं और अगर आप इसी तरह ख़ामोश रहे तो वे आपकी बाक़ी अदबी रचनाओं को भी भुला देंगे।' इस पर ज़रा गंभीर होकर कहा, 'वाक़ई कुछ करना चाहिए। इस तरह काम नहीं चलेगा।' मुझे उस शाम पहली बार ये अंदाज़ा हुआ कि जिस क़िस्म की ज़िंदगी फ़ैज़ साहब ने अपना ली थी, उससे बज़ाहिर मुतमइन नज़र आने के बावजूद अपने अंदर के ख़ालीपन से बेख़बर नहीं थे और न वो अपने असली काम को बिल्कुल भूले हुए थे जिसकी सलाहियत उन्हें क़ुदरत से मिली थी। इसीलिए तो उन्हें ताज़ातरीन अदबी रुझानों के बारे में जानने की तलब थी।

अपने सियासी अक़ीदे से फ़ैज़ साहब की जो बावस्तगी थी, उसकी गहराई और शिद्दत का अंदाज़ा इस वाक़ये से भी होता है जो मैंने बरसों बाद मजीद मलिक साहब से सुना। उन्होंने मुझे बताया कि एक शाम कराची में उनके घर पर बुख़ारी साहब और तासीर साहब, फ़ैज़ साहब वग़ैरह जमा थे कि बुख़ारी साहब ने ई.एम. फ़ॉस्टर के मज़मून 'व्हॉट आइ बिलीव' का ज़िक्र छेड़ दिया, ख़ास तौर से फ़ॉस्टर के उस मशहूर कथन का कि 'अगर किसी मौक़े पर मुझे ये फ़ैसला करना पड़े कि मैं अपने मुल्क से बेवफ़ाई करूं कि अपने दोस्त से, तो मेरी ख़्वाहिश होगी कि मैं अपने मुल्क से बेवफ़ाई करने की हिम्मत पैदा कर सकूं।' इसको लेकर कुछ बातचीत हुई तो बुख़ारी साहब ने अपने दोस्तों से सवाल किया कि कौन-सा वो ऐसा मक़सद है जिसके लिए वो अपनी जान का नज़राना पेश करने पर तैयार होंगे। फ़ैज़ ने बग़ैर किसी अगर-मगर के, यह कहा, 'इंक़लाब' और ये जवाब उन्होंने इस यक़ीन और दो-टूक अंदाज़ में दिया कि सब ख़ामोश हो गये और बातचीत का रुख़ ही बदल गया।

ये हक़ीक़त है कि अपने मक़सद से फ़ैज़ की कमिटमेंट बड़ी मुकम्मल थी। देखने में वो बड़े आसान, धीमी और लापरवाह रफ़्तार से ज़िंदगी गुज़ारने वाले नज़र आते थे। मगर अंदर से वो बड़े पक्के इरादे के मालिक थे। इस मामले में उन्होंने न कभी समझौता किया, न उनके 'यक़ीन का सबात' (पूर्ण विश्वास) कभी भटका। न कभी उन्होंने 'गुमानों के लश्कर' को इसके क़रीब आने दिया। मुझे याद है कि जब 1956 में हंगरी में हंगामा हुआ, उसे दबाने के लिए सोवियत संघ ने ज़मीनी फ़ौज और टैंकों के दस्ते

दिये, तो बड़े-बड़े समाजवादियों और रूस के हामियों के ईमान में भी ख़लल आ गया। मैंने इंग्लिस्तान के हफ़्तावार *New Statesman* और *Nation* में फ़ैज़ के अंग्रेज़ दोस्त विक्टर कैरिनन का, जो शायद पार्टी के मेंबर भी थे, एक ख़त देखा जिसमें उन्होंने इस घटना पर सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर की थी। उसी ज़माने में फ़ैज़ यूरोप गये, वापस आये और उनसे हंगरी और कैरिनन के ख़त के बारे में बातचीत हुई, तो मैंने महसूस किया कि उन्हें इस सिलसिले में कोई दुविधा नहीं थी। कहने लगे कि भई, एक इतालवी कॉमरेड से मुलाक़ात हुई। उसने जो बातें बतायीं, उससे ये मालूम हुआ कि रूस के पास इसके सिवा कोई चारा ही न था। इस तरह फ़ैज़ ने अपने इत्मीनान के लिए रूसी कार्रवाई की एक वजह ढूंढ़ ली थी। एक तरह से चीज़ों से आंख चुराना और उन्हें टालना, ये उनका एक आम ज़हनी रवैया भी था। मगर समाजवादी निज़ाम के मामले में उनकी नज़र हमेशा लक्ष्य और उद्देश्य पर रहती थी। उनकी हिफ़ाज़त और पैरवी के दौरान होने वाली ग़लतियों को ज़्यादा अहमियत नहीं देते थे।

मार्च 1951 की शाम हुई एक मुलाक़ात मुझे अच्छी तरह याद है। लाहौर में अभी गर्मी शुरू नहीं हुई थी। मगर फ़ैज़ आये तो उन्होंने पतलून के साथ सिर्फ़ कमीज़ पहन रखी थी और पांव में बग़ैर मोज़ों के सैंडिल। मैंने उन्हें देखते ही कहा फ़ैज़ भाई, आपने तो गर्मी मना ली। उन्होंने हमारे साथ चाय पी और कुछ देर इधर-उधर की बातें करने के बाद चले गये। दूसरे दिन सुबह जब मैं दफ़्तर जाने के लिए नीचे उतरा, तो मुहम्मद तासीर की पत्नी ने मुझे बताया कि एलिस का फ़ोन आया है कि रात के पिछले पहर पुलिस फ़ैज़ को गिरफ़्तार करके ले गयी है। मैंने उस वक़्त उसका कुछ ख़ास नोटिस नहीं लिया ओर कहा कि *पाकिस्तान टाइम्स* में हुकूमत के ख़िलाफ़ कुछ छप गया होगा। आज महमूद अली कसूरी ज़मानत करा लेंगे और वो शाम तक घर आ जायेंगे। तीसरे पहर के बाद जब मैं दफ़्तर से लौटते हुए चेयररिंग क्रॉस के क़रीब बस से उतरा तो क्या देखता हूं कि अख़बारों के विशेष अंक बिक रहे हैं और हॉकर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं 'हुकूमत का तख़्ता उलटने की साज़िश। फ़ौज के कई जनरल और *पाकिस्तान टाइम्स* के संपादक फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ गिरफ़्तार प्रधानमंत्री लियाक़त अली ख़ान का बयान।' मैं हक्का-बक्का रह गया। विशेष अंक लिया और उस पर नज़र डाली। घर पहुंचा तो देखा कि कृश और मेरी बहनें नीचे बरामदे में दुखी बैठी हैं। वो भी विशेष अंक पढ़ चुकी थीं और रेडियो की ख़बरें भी सुन चुकी थीं। कृश फ़ैज़ के घर, एलिस और बच्चों से मिल आयी थीं।

शाम को मैं और मेरी बहनें भी फ़ैज़ साहब के घर पहुंचीं। कुछ पुलिस के सिपाही और खुफ़िया विभाग के लोग घर के आसपास मंडरा रहे थे। उन्होंने हमसे मामूली पूछताछ की और हम ऊपर चले गये। एलिस और बच्चों से मिले। एलिस ने उनकी गिरफ़्तारी के बारे में बताया। हम कुछ देर वहां बैठे और वापस आ गये।

एलिस से हम लोग बराबर मिलते रहे। मगर ये मालूम नहीं हो सका कि फ़ैज़ साहब हैं कहां। फिर तरह तरह की अफ़वाहें उड़ने लगीं। जैसे ये कि जेल में उनको बहुत यातनाएं दी जा रही हैं। इनसे और भी घबराहट होती थी। मगर ये सब अफ़वाहें ग़लत थीं। जब फ़ैज़ लायलपुर (अब फ़ैज़लाबाद) की जेल से, जहां वो क़ैद-ए-तन्हाई' में रखे गये थे, मुक़दमा शुरू होने पर हैदराबाद जेल लाये गये और उनसे उनके बड़े भाई तुफ़ैल अहमद की मुलाक़ात हुई, तो उन्होंने खुद इन अफ़वाहों को ग़लत बताया।

1955 में फ़ैज़ क़ैद से रिहा हो गये। मैं जब आख़िरी जनवरी 1956 में लाहौर पहुंचा, तो वो लाहौर में ही थे। अब वो *पाकिस्तान टाइम्स* के मुख्य संपादक बना दिये गये थे। फ़ैज़ का ये ओहदा कुछ यूं

ही सा था, क्योंकि उनके पास काम कम और फ़ुर्सत ज़्यादा थी। कोई दो साल बाद अक्टूबर 1958 में जनरल अयूब ख़ान ने सिविल हुकूमत का तख़्ता उलटकर मुल्क में मार्शल लॉ लगा दिया। फ़ैज़ उस वक़्त 'एफ्रो एशियन राइटर्स कांफ्रेंस' के सिलसिले में पाकिस्तानी डेलीगेशन के साथ, जिसके लीडर हफ़ीज़ जालंधरी थे, रूस गये हुए थे। जब मुल्क में पकड़-धकड़ शुरू हुई तो मजीद मलिक साहब ने, जो हुकूमते पाकिस्तान के प्रिंसिपल पब्लिकेशन ऑफ़िसर थे, फ़ैज़ को किसी निजी ज़रिये से पैग़ाम भिजवाया कि वो वापस न आयें, बल्कि मास्को से लंदन चले जायें।

फ़ैज़ ने यही किया। यहां तक कि दिसंबर का महीना आ गया। मुल्क में हालात नहीं बदले, तो मजीद साहब ने फिर किसी के ज़रिये पैग़ाम भिजवाया कि वो अभी लदंन में ही ठहरे रहें। दिसंबर के दूसरे हफ़्ते का कोई दिन था कि मज़ीद साहब के घर के अंदर कोई टैक्सी आकर रुकी और बिल्कुल उम्मीद के ख़िलाफ फ़ैज़ बरामद हुए। मजीद साहब उनके स्वागत के लिए आगे बढ़े, मगर उनसे रहा नहीं गया और फ़ौरन बोल उठे मैंने तुम्हें पैग़ाम भिजवाया था कि तुम अभी मत आना। फ़ैज़ ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया कि मगर हम तो आ गये। बहरहाल, हम सब उनसे मिलकर बहुत ख़ुश हुए। शाम ज़रा भीगी, तो महफ़िल जमी। हम लोग रात गये तक बातें करते गये। फ़ैज़ रूस में राइटर्स कांफ्रेंस के क़िस्से, पाकिस्तानी डेलीगेशन के लीडर की हैसियत से हफ़ीज़ जालंधरी साहब के लतीफ़े के क़िस्से सुनाते रहे। फिर लंदन में अपने रुकने का ज़िक्र किया और मजीद साहब से कहा कि मुझे आपका पैग़ाम मिल गया था। मगर मैं लंदन में कब तक बैठा रहता। अब देखिए, जो हो सो हो।

दो-तीन दिन कराची में रहने के बाद वो लाहौर चले गये। दूसरे दिन हमने अपनी बड़ी बेटी सलीमा की शादी की सालगिरह मनायी और उसी रात के पिछले पहर उन्हें गिरफ़्तार करके लाहौर किले की जेल में नज़रबंद कर दिया गया। मैंने वापस आया और पूरे तीन महीने के बाद मेरा तबादला कराची हो गया। जिस दिन मुझे कराची के लिए रवाना होना था, उसी दिन फ़ैज़ की नज़रबंदी ख़त्म हुई और उनको रिहा कर दिया गया। मगर मेरी उनसे मुलाक़ात न हो सकी। सिर्फ़ फ़ोन पर बात हुई। फ़ैज़ यहां होने के बाद फिर *पाकिस्तान टाइम्स* के दफ़्तर पहुंच गये। मगर अभी चंद ही दिन गुज़रे थे कि जनरल अयूब ख़ान ने प्रोग्रेसिव पेपर्स की संस्थाओं और उनके अख़बारों और पत्रिकाओं में यानी *पाकिस्तान टाइम्स, इमरोज़* और *लैलोनिहार* को हुकूमत ने कब्ज़े में ले लिया, और इसके साथ ही फ़ैज़ साहब की मुख्य संपादकी भी ख़त्म हो गयी।

पाकिस्तान टाइम्स पर हुकूमत के कब्ज़े के कुछ समय बाद, हुकूमत में फ़ैज़ के कुछ दोस्तों और चाहनेवालों ने उनको किसी न किसी काम पर लगाने की कोशिश शुरू कर दी। फ़ैज़ ने मुझे बताया कि एस. एम. शरीफ़ साहब ने, जो उस ज़माने में शिक्षा मंत्रालय के सचिव थे, उन्हें गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में अंग्रेज़ी की प्रोफ़ेसरी की पेशकश की। मगर फ़ैज़ की ईमानदारी देखिए कि उन्होंने ये कहकर माफ़ी मांग ली कि अंग्रेज़ी अदब से उनका रिश्ता उस तरह का नहीं है कि वो एम.ए की क्लासों को पढ़ा सकें। उन्हें इस विषय के सिलसिले में नये पहलुओं की जानकारी नहीं है। हां, अगर उर्दू की प्रोफ़ेसरी का इंतज़ाम हो सके, तो और बात है। क्योंकि इसमें उनके पास कुछ कहने को होगा। बहरहाल, कुछ वर्षों बाद उन्हें लाहौर की आर्ट कौंसिल का प्रशासनिक मुख्य अधिकारी बना दिया गया। कौंसिल की बुनियाद 1948 में तासीर साहब, इम्तियाज़ अली ताज, अब्दुल रहमान चुग़ताई ओर फ़ैज़ साहब ने ही डाली थी। फ़ैज़ लाहौर में ही रहते थे और अक्सर कराची आते रहते थे। जब सदर के इलाक़े में आते तो मेरे यहां भी

आ जाते। इस दौरान फ़ैज़ और मैं एक-दूसरे के और भी क़रीब आ गये। और हमारे दरमियान से वो पर्दे भी उठने लगे जो अब तक पड़े हुए थे।

मैं फ़ैज़ के दिल के ज़ाती मामलात का ज़िक्र नहीं करूंगा। मैंने उनकी ज़िंदगी में भी उनके भरोसे को कभी ठेस नहीं पहुंचायी। अब तो ख़ैर उसका सवाल ही पैदा नहीं होता। हां, फ़ैज़ के दिल के मामलात में से एक घटना का ज़िक्र ज़रूर करूंगा। एक दिन तीसरे पहर के क़रीब मेरे यहां आये और थोड़ी देर बैठकर कहने लगे तुम ज़रा मुझे क़रीब ही एक जगह पहुंचा दो। मेरे साथ कार में बैठे और मुझे ई.आई. लाइंस की तरफ़ जाने को कहा। वहां एक कोठी के पिछवाड़े की तरफ़ ले गये, जहां नौकरों के क्वार्टर्स थे, और धोबियों की अलगनी लटकी हुई थी, वहीं उतर गये और खुद ये कहकर अंदर चले गये कि मैं वापस आ जाऊंगा। कोई घंटे-डेढ़ घंटे के बाद एक कार उन्हें मेरे घर के गेट तक पहुंचा गयी। बहुत ख़ुश नज़र आ रहे थे। मुझे बताया कि आज बड़ी मुद्दत के बाद मुलाक़ात हुई है। इन ख़ातून से नौजवानी में लायलपुर में जान पहचान हुई थी, जो जल्द ही गहरे जज़्बाती लगाव में तब्दील हो गयी। मगर फिर किसी वजह से उसे भुलाना पड़ा। मगर उसका असर उन पर बहुत देर तक रहा। फ़ैज़ की नज़्म 'कोई आशिक़ किसी महबूबा से' अगरचे इस घटना से कोई सत्रह बरस बाद 1978 में लंदन में लिखी गयी, मगर मेरा अंदाज़ा है कि ये उन्हीं महिला के लिए है। यहां मैं ये भी बता दूं कि वो दूसरों के दिल के मामलात का भी बड़ा गहरा एहसास कर सकते थे। एक बार जब वो रूस से लौटे तो कहने लगे कि सोशलिस्ट सिस्टम में ग़मे-रोज़गार यानी रोटी, कपड़ा और मकान के ग़म का इलाज कम-से-कम उसूली तौर पर मौजूद है। मग़र दखिली-ग़म यानी इश्क़ के ग़म, किसी बेवफ़ाई के ग़म का क्या इलाज है?

बात ये थी कि इस सफ़र में वो किसी ऐसी महिला से मिलकर आये थे, जो अपनी ज़िंदगी के बाक़ी हालात से तो बिल्कुल संतुष्ट थी, मगर जब उसने फ़ैज़ से अपने महबूब की बेवफ़ाई का क़िस्सा बयान किया तो अंदाज़ा हुआ कि अंदर से वो कितना दुखी है।

1962 में मेरे लॉस एंजिलिस पहुंचने के फ़ौरन ही बाद मुझे फ़ैज़ के दिल की बीमारी की ख़बर मिली और चंद दिनों बाद मेरी तसल्ली के लिए एलिस का ख़त कि अब वो स्वस्थ हो रहे हैं। चंद महीने के बाद जब उनको रूस की तरफ़ से 'लेनिन पीस प्राइज़' दिये जाने का ऐलान हुआ उस समय पाकिस्तान के कुछ अख़बारों में बहुत ले-दे हुई। ये ख़बर मुझे नून मीम राशिद के एक ख़त से हुई, जो उन्होंने मुझे न्यूयार्क से लिखा था। इससे पहले भी ये अख़बार उनके नाम के साथ 'पिंडी साज़िश केस के सज़ायाफ़्ता' लगाकर उनके ख़िलाफ़ लिखते रहते थे। अमीर मुहम्मद ख़ां, गवर्नर, पंजाब ने भी उन्हें तरह तरह से तंग करना शुरू कर दिया। आख़िर वो इतने दुखी हुए कि अपनी बड़ी बेटी सलीमा को साथ लेकर जब वो अपना पुरस्कार लेने वसूल करने मास्को गये, तो वहां से वापस नहीं आये, बल्कि लंदन चले गये। एलिस और छोटी बेटी मुनीज़ा को अपने पास वहां बुला लिया। लदंन में रहने के दौरान उन्होंने वाशिंगटन मुझे एक ख़त लिखा जिसमें ताज़ा नज़्म और ग़ज़ल भी भेजी। वाशिंगटन में हमारे इतवार के दोस्तों के बीच उस नज़्म और ग़ज़ल की बहुत चर्चा हुई।

1965 के शुरू में मैं और सीमा वाशिंगटन से वापसी पर लंदन में रुके। उनकी बेटी सलीमा से पता चला कि फ़ैज़ जल्द ही लंदन पहुंच रहे हैं। मेरी तो जैसे ईद हो गयी।

इसके बाद हम क़रीबन दो महीने इंग्लिस्तान यानी लंदन में रहे और ज़्यादा वक़्त फ़ैज़ के साथ गुज़ारा।

वतन वापसी पर मेरी नियुक्ति फ़ाइनेंस सर्विसेज़ एकेडमी में हुई, जो अब सिविल सर्विसेज़ एकेडमी बन गयी है, और लाहौर के वाल्टन रेलवे स्टेशन के क़रीब है। फ़ैज़ अपने परिवार समेत लदंन की ज़िंदगी से उकताकर कोई साल भर पहले ही अपने वतन वापस आ गये थे, और अब 'अब्दुल्ला हारून कॉलेज' में प्रिंसिपल की हैसियत से कराची में रहते थे। मैं लाहैर में कोई दो साल रहा। इस दौरान फ़ैज़ कई बार लाहौर आये और मैं कई बार कराची गया और उनसे बराबर मुलाक़ातें होती रहीं। जनवरी 1968 में बतौर ज्वाइंट सेक्रेटरी सूचना और प्रसारण मंत्रालय मैं लाहौर से तबादले पर ढाका पहुंच गया। फ़ैज़ उस ज़माने में हुकूमत की एक कमिटी के मुखिया भी थे और पाकिस्तानी संस्कृति पर एक रिपोर्ट तैयार कर रहे थे। इस सिलसिले में वो दो-तीन बार ढाका भी आये। एक बार जब मैं उन्हें लेने एयरपोर्ट गया, तो उसी जगह से जी. अहमद साहब भी उतरे, जो उस ज़माने में किसी सरकारी कमीशन के मुखिया भी थे। उनसे हमारा वाशिंगटन में काफ़ी मिलना-जुलना भी था। उनसे मुलाक़ात हुई तो कहा आज शाम मैंने फ़ैज़ को अपने होटल में खाने पर बुलाया है, तुम भी आ जाना। उस शाम तो खाना इंटर कांटिनेंटल में हुआ। अगली शाम मैंने जी. अहमद साहब और मंज़ूर क़ादिर साहब को, जो फ़ैज़ के पुराने दोस्त थे और इन दिनों अगरतला साज़िश केस के सिलसिले में ढाका में थे, अपने यहां खाने पर बुलाया। जब ये तीनों बुज़ुर्ग जमा हुए, तो जी. अहमद साहब मंज़ूर, क़ादिर साहब से अगरतला साज़िश केस के सिलसिले में पूछने लगे। बात उन्होंने इस तरह से शुरू की मंज़ूर ये बताओ कि ये साज़िश केस है क्या? एक रावलपिंडी साज़िश केस था, जिसका एक बड़ा मुज़रिम तुम्हारे सामने बैठा है। ये उस समय बड़े अंग्रेज़ी अख़बार का संपादक था। उससे पहले फ़ौज के जन संपर्कीय महक़मे में कर्नल था। बाक़ी मुल्ज़िम हाज़िर सर्विस के जनरल और ब्रिगेडियर थे। एक और मुल्ज़िम पाकिस्तान कम्युनिस्ट पार्टी का सेक्रेटरी जनरल सज्जाद ज़हीर था। मुख़्तसर में ये कि सबके सब हैसियत वाले और अहम लोग थे। इल्ज़ाम ग़लत है या सही, ये अलग बात है। तुमने इस साज़िश में कैसे लोगों को पकड़ा है। एक नेवी का लेफ़्टिनेंट कमांडर है, एक कोई सी.एस.पी. का अफ़सर है। बाक़ी सब फ़ालतू क़िस्म के लोग हैं, और फिर तुमने इस केस को सियासी रंग देने के लिए मुजीब को शामिल कर लिया है। मेरी समझ में नहीं आता कि ये किस क़िस्म का साज़िश केस है। फ़ैज़ तो जी. अहमद साहब की बातें ख़ामोशी से सुनते रहे और मज़ा लेते रहे। मंज़ूर क़ादिर साहब ने उस केस का कुछ बयान किया और कुछ विस्तार में बताया भी। मगर जी. अहमद साहब क़ायल नहीं हुए। हम लोग तो साथ-साथ पीते-पिलाते भी रहे। मंज़ूर क़ादिर साहब सिर्फ़ बर्फ़ चबाते रहे, और हमेशा की तरह बहुत अच्छी उर्दू और अंग्रेज़ी में गुफ़्तगू करते रहे।

फ़ैज़ को पूर्वी पाकिस्तान से ख़ास क़िस्म का लगाव था। वहां उनके बहुत से चाहने वाले भी थे। ख़ासतौर पर बायें बाज़ू के (वामपंथी) पत्रकार और लेखक, जैसे ज़हूर हुसैन चौधरी, संपादक *संवाद*, शहीद उल्ला क़ैसर, सहसंपादक संवाद और बांग्ला के मशहूर उपन्यासकार मुनीर चौधरी (ढाका विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर) और उनके भाई कबीर चौधरी और उनके साथी। मेरी भी उन लोगों से अच्छी मुलाक़ात थी और घरों में आना जाना भी। फ़ैज़ जब उनकी महफ़िलों में बुलाये जाते थे, तो अक्सर उनके साथ होता था। उन्हीं दिनों एक शाम शहीदउल्ला क़ैसर आये और फ़ैज़ को अपने साथ ले गये। मुझे पूछा तक नहीं, और न ये बताया कि कहां ले जा रहे हैं। मुझे हैरानी तो हुई, मगर उसकी वजह दूसरे दिन उस वक़्त मालूम हुई जब फ़ैज़ भाई ने मुझे बताया कि शहीदउल्ला क़ैसर उन्हें मशहूर बंगाली कम्युनिस्ट लीडर मोनी सिंह से मिलाने ले गये थे, जो उन दिनों ढाका में छुपे हुए थे।

पूर्वी पाकिस्तान में जनरल याहिया ख़ां के आर्मी एक्शन के दौरान शहीद उल्ला क़ैसर और मुनीर चौधरी दूसरे लेखकों और बुद्धिजीवियों के साथ गिरफ़्तार हुए और मारे गये। फ़ैज़ को उन दोस्तों के बे-मौत मरने के दुख के अलावा उन सारी कार्रवाइयों से जो दिली तकलीफ़ हुई, उसका इज़हार उस ज़माने की शायरी में हुआ। बहरहाल, 1971 में पूर्वी पाकिस्तान बांग्ला देश बन गया। मैं उससे दो साल पहले ही ढाका से वापस आ चुका था। पहले तीन महीने की छुट्टी मैंने कराची में गुज़ारी, जिसमें क़रीबन हर रोज़ फ़ैज़ भाई से मुलाक़ात होती थी। फिर मेरी नियुक्ति लाहौर में हो गयी और हम गुलबर्ग में रहने लगे।

दिसंबर 1971 में जुल्फ़ेकार अली भुट्टो पाकिस्तान के नये सद्र बने। उनसे फ़ैज़ की पुरानी जान पहचान थी। फ़रवरी 1972 के शुरू में फ़ैज़ लाहौर आये, और अपनी बेटी सलीमा के यहां मॉडल टाउन में ठहरे। मैं जब फ़ैज़ से मिला, तो उन्होंने बताया कि भुट्टो साहब ने उन्हें संस्कृति संस्था क़ायम करने के सिलसिले में पिंडी बुलाया है। दो-चार दिन के बाद जब वो लौटकर फिर लाहौर आये, तो उनसे मालूम हुआ कि एक संस्था 'नेशनल कौंसिल ऑफ़ दि आर्ट्स' के नाम से क़ायम की जा रही हैं। और फ़ैज़ को उसका चेयरमैन नियुक्त किया गया है। चुनांचे कुछ दिनों के बाद वो कराची से इस्लामाबाद चले गये और उन्होंने इस नयी संस्था का चार्ज संभाल लिया। कोई चार महीने बाद मेरा तबादला भी रावलपिंडी हो गया और मैं मकान मिलने के इंतज़ार में उस ज़माने के माल रोड पर बने पूर्वी पाकिस्तान हाउस के एक कमरे में रहने लगा। फ़िर फ़ैज़ भाई से पिंडी और इस्लामाबाद में बराबर मुलाक़ातें होने लगीं।

फ़ैज़ यों तो बहुत लिये-दिये रहते थे, मगर सरकारी अफ़सरों से संबंध रखने और काम लेने का ढब उन्हें खूब आता था। और इसमें न वो किसी का रोब खाते थे न किसी की ख़ुशामद करते थे। एक फ़ायदा उनको ये ज़रूर था कि हर हुकूमत में कई एक मंत्री और बड़े सकारी अफ़सर कॉलेज के ज़माने से या किसी और वजह से उनके जानने वाले होते थे। इसके अलावा उनकी अपनी तबीयत में नरमी और कशिश पायी जाती थी। वो किसी से कोई कड़वी या सख़्त बात नहीं करते थे। इन सब बातों की वजह से वो हर जगह और हर महफ़िल में इज़्ज़त की नज़र से देखे जाते थे। मैंने उनको सरकारी मीटिंग में भी देखा है। उनकी बात हमेशा बड़े ध्यान और आदर से सुनी जाती थी। फिर उनमें सरकारी अफ़सरों के ख़िलाफ़ कोई भेदभाव नहीं था क्योंकि वो इनसान को इनसान समझ कर मिलते थे और उनकी बुराइयों और कमियों को इनसानी कमज़ोरियां समझ कर कुबूल करते थे।

फ़ैज़ कोई चार साल तक नेशनल काउंसिल आफ़ द आर्ट्स के चेयरमैन रहे मगर फिर उन्हीं लोगों ने, जिनको वो खुद इस संस्था में अहम जगहों पर लाये ये, ऐसे हालात पैदा कर दिये कि फ़ैज़ का दिल उखड़ गया। हमेशा की तरह न उन्होंने किसी की शिकायत की, न किसी तरह की कड़वाहट ज़ाहिर की, केवल प्रधान मंत्री भुट्टो से मिल कर यह कहा कि मेरी दोनों बच्चियां क्योंकि लाहौर में हैं, मेरी इच्छा है कि मैं उनके पास रहूं। सो, उन्होंने अपने पुराने दोस्त और संगीत के माहिर खुर्शीद अनवर की मदद से 'आंहग-ए-खुसरवी' और 'कराना घराने' के संगीत के लिए एक अलग सेंटर की बुनियाद डाली और उसके मुखिया बन कर लाहौर चले गये।

जुलाई 1977 में जब जनरल ज़िया-उल-हक़ ने देश में मार्शल-लॉ लगाया तो फ़ैज़ लाहौर में थे। दो तीन दिन के बाद वो पिंडी आये। एक शाम जब हमारे घर फ़ैज़ और कुछ दूसरे दोस्त जमा थे, मार्शल-लॉ लागू करने की बातों के दौरान जनरल ज़िया-उल-हक़ के नब्बे दिन में चुनाव कराने की बात आयी। मुझे अच्छी तरह याद है कि फ़ैज़ ने मुस्कुराते हुए कहा कि यह काम स्वभाव के ख़िलाफ़ होगा।

उस समय तो किसी ने इसे यक़ीन नहीं किया मगर बाद में फ़ैज़ की यह बात सचमुच सियासी भविष्य वाणी साबित हुई।

कुछ दिनों बाद हुकूमत की ख़ुफ़िया एजेंसियों ने फिर से ज़िंदगी मुश्किल कर दी। संदिग्ध लोग लाहौर में उनके घर के आस-पास घूमने लगे। वो बाहर निकलते तो एक जीप उनके पीछे लगी रहती। फ़ैज़ अब जीवन की उस मंज़िल में थे कि उनसे इस तरह की नागवार कार्रवाई बरदाश्त नहीं होती थी। उन्हें यह बहुत बुरा लगा, सो उन्होंने 'एफ्रो-एशियन राइटर्स' की पत्रिका *लोटस* का संपादक पद स्वीकार करके देश से बाहर जाने का फ़ैसला कर लिया। फ़रवरी 1978 के आरंभ में वो एक बार एलिस के साथ पिंडी में हमारे 'हॉरले स्ट्रीट' वाले घर आये। चंद मिनट से ज़्यादा नहीं बैठे। कहने लगे, हम शाम की फ़्लाईट से कराची जा रहे हैं और वहां से रात को लदंन। बस तुम्हें 'खुदा हाफ़िज़' कहने आये हैं। अब देखो कब मुलाक़ात होती है। फिर सीमा और हमारी दोनों बच्चियां को और मुझे प्यार किया और चले गये। उस दिन फ़ैज़ बहुत उदास और दुखी लग रहे थे।

अगले तीन साल में वो मुस्तक़िल तौर पर बैरूत में तो रहे, मगर वहां से लंदन और मास्को और दुनिया के बड़े-बड़े शहरों के चक्कर लगाते रहे, और अदीबों की कान्फ्रेंस में शरीक होते रहे। इस दौरान एक बार फ़ैज़ से लंदन में मुलाक़ात हुई। मुझसे पाकिस्तान और दूसरे दोस्तों का हाल-चाल पूछने लगे। और आख़िर में दो टूक अंदाज़ में मुझसे कहा कि भई, बहुत हो चुका। मैं अगले साल के शुरू में पाकिस्तान आ जाऊंगा। फिर देखा जायेगा कि क्या होता है। मार्शल लॉ का असल मक़सद तो भुट्टो को ख़त्म करना था, वो तो हो चुका। बातों में जब मैंने उन्हें बताया कि जनरल ज़िया उल-हक़ ने लेखकों की पहली कान्फ्रेंस के मौक़े पर, जो प्रधानमंत्री ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो की फांसी के हफ़्तेभर बाद 11 अप्रैल 1979 को हुई थी, अपने अध्यक्षीय भाषण में फ़ैज़ का नाम लिए बग़ैर 'अपने हमवतनों से किनाराकशी' करने वाले लेखकों पर पाकिस्तान की ज़मीन का अन्न, उसका पानी, उसकी छांव, उसकी चांदनी हराम होने की भविष्यवाणी की थी, तो फ़ैज़ खिलखिलाकर हंस पड़े। उन्हें इसकी ख़बर इससे पहले भी मिल चुकी थी। फिर मुझे उन्होंने एक दिलचस्प घटना सुनायी। पिछले या उससे पिछली गर्मी के एक बड़े सुहाने दिन वो और एलिस और उनकी दुभाषिया महिला मास्को के किसी रेस्टोरेंट में बैठे कॉफ़ी पी रहे थे। रेस्टोरेंट पूरा भरा हुआ था, सिर्फ़ उनकी मेज़ पर एक जगह ख़ाली थी। इतने में एक फ़िरंगी व्यक्ति आया और उनकी मेज़ पर बैठने की इजाज़त मांगी। फ़ैज़ ने इजाज़त दी तो उसने अपना परिचय देते हुए बताया कि वो ऑस्ट्रेलिया के किसी विश्वविद्यालय में फ़िजिक्स का प्रोफ़ेसर है। फ़ैज़ ने अपना परिचय कराया कि मैं पाकिस्तान से हूं, और एक शायर हूं। जब उसने ये सुना, तो गर्मजोशी दिखाते हुए कहा कि मैं अभी कुछ पहले ही आपके एक हमवतन नोबेल पुरस्कार प्राप्त डॉ. अब्दुस्सलाम से मिला था। उन्होंने मुझे बताया कि एक महान पाकिस्तानी शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को 'लेनिन अम्न इनाम' मिला है। संयोग देखिए कि आज आपसे यहां मुलाक़ात हो गयी। बातों के दौरान जब प्रोफ़ेसर साहब को ये पता चला कि फ़ैज़ साहब इन दिनों अपने वतन से बाहर रहते हैं, तो उसने भोलेपन से पूछा कि डॉ. अब्दुस्सलाम के बारे में तो जानता हूं कि पाकिस्तान से इसलिए बाहर रहते हैं कि धर्म में वो एक ऐसे पंथ को मानते हैं, जिसे वहां ग़लत समझा जाता है। मगर मि. फ़ैज़ आपकी परेशानी क्या है? फ़ैज़ ने फ़ौरन जवाब दिया कि मैं ग़लत किस्म की शायरी करता हूं।

जनवरी 1982 में फ़ैज़ पाकिस्तान वापस आ गये। कराची और लाहौर में कुछ दिन गुज़ारने के बाद

जब वो इस्लामाबाद पहुंचे तो मैं उनसे मिलने गया। फ़ैज़ के इस्लामाबाद पहुंचने के दो-दिन बाद ही जोश साहब का निधन हो गया। मुझे दफ़्तर में जब ये ख़बर मिली तो मैंने फ़ैज़ को फ़ोन किया और फिर उनके पास चला गया। उसी दिन उन्हें शाम के खाने पर हमारे यहां आना था। उन्होंने मुझे बताया कि इससे पहले उन्हें चाय पर जनरल ज़िया-उल-हक़ से मिलना है। मैंने पूछा कि ये कैसे हुआ, तो कहने लगे, अरबाब नियाज़ ने मुलाक़ात का समय तय कराने के बाद मुझे ख़बर दी है। कर्नल अरबाब नियाज़ फ़ैज़ के पिंडी साज़िश केस के सज़ायाफ़्ता साथी और उस ज़माने में जनरल ज़िया-उल-हक़ के मंत्रिमंडल के एक मंत्री थे। मैंने जब ये सुना तो मेरे मुंह से सहसा निकला कि फ़ैज़ भाई, आपके साथियों को इस पर ऐतराज होगा, और वो इस सिलसिले में बातें बनायेंगे। कहने लगे कि भई हम क्या करें।' अरबाब नियाज़ हमारे दोस्त हैं, और उनकी ज़िद है। मैं उनके इस जवाब पर चुप हो गया। जोश साहब के कफ़न-दफ़न से निपटकर मैं पिंडी में अपने घर के लिए रवाना हुआ, और फ़ैज़ अपने एक रिश्तेदार अज़फ़र शफ़क़त के साथ उनकी कार में जनरल ज़िया-उल-हक़ से मिलने चले गये। खाने के समय से बहुत पहले ही फ़ैज़ साहब हमारे घर पहुंच गये। मैंने पूछा तो उन्होंने बताया कि बस आध घंटे की मुलाक़ात रही। हमने चाय पी, और इजाज़त चाही। अपनी बात जारी रखते हुए कहने लगे कि मैंने शुरू में तो ये कहा कि आप उर्दू के बड़े समर्थक हैं, और उसकी बहुत चर्चा करते हैं। आज उर्दू के इतने बड़े शायर की मौत हुई, मगर उनके जनाज़े पर आपका प्रतिनिधि, आपके निजी स्टाफ़ का कोई आदमी मौजूद नहीं था। जनरल ज़िया-उल-हक़ ने जवाब दिया कि हां, ये ग़लती हो गयी। मैंने पैग़ाम तो दे दिया है। मगर आप ठीक कहते हैं कि उन्हें जाना चाहिए था। इसके बाद उन्होंने ये बात छेड़ दी कि आप बाहर क्यों रहते हैं, आप वतन वापस आ जाइए और यहां रहिए। मैंने कहा, मैं तो वतन में ही रहना चाहता हूं, मगर पिछले दिनों लंदन से टोकियो जाते हुए कराची से गुज़र रहा था कि मुझे एयरपोर्ट पर रोक लिया गया। बड़ी भाग-दौड़ के बाद और गृहमंत्री के दख़ल देने पर सफ़र जारी रखने की इजाज़त मिली। जनरल ज़िया-उल-हक़ ने कहा, मुझे तो इसकी बिल्कुल ख़बर नहीं। ये तो बड़े अफ़सोस की बात है। ऐसा हरगिज़ नहीं होना चाहिए था। पर फ़ैज़ ने उन्हें बताया कि मुझे कई देशों से दावत आते रहते हैं। मैं अपने वतन में रहना चाहता हूं, मगर मेरे सफ़र पर कोई पाबंदी नहीं होनी चाहिए। जनरल ज़िया-उल-हक़ ने इस बारे में भी उन्हें विश्वास दिला दिया। फ़ैज़ ने कहा इसके बाद न मेरे पास कुछ कहने को बाक़ी था, और न उनके पास। इतने में चाय की प्याली ख़त्म हो गयी, सो मैंने इजाज़त चाही।

ये है फ़ैज़ की जनरल ज़िया-उल-हक़ से उस मुलाक़ात की विस्तृत जानकारी, जिस पर फ़ैज़ के कुछ साथियों ने, जैसा कि मैंने उनसे कहा था, बहुत ले-दे की और तरह-तरह की बातें बनायीं। मैंने सुना कि एक महफ़िल में उनमें से एक साहब अपनी सीमा पार करने लगे और बहस पर उतर आये, तो फ़ैज़ अपनी आदत के ख़िलाफ़ चिढ़ गये और उनको हल्की-सी डांट पिला दी। कोई आठ महीने बाद फ़ैज़ इस्लामाबाद आये और हफ़्ते भर से ज़्यादा यहां ठहरे। किसे मालूम था कि इस्लामाबाद में ये उनका आख़िरी दौरा होगा।

वापसी से दो दिन पहले एक शाम मेरे साथ ड्राइव पर चलने की फ़रमाइश की। वो शाम बहुत ख़ूबसूरत थी। फिर जब शाम ढलने लगी, तो फ़ैज़ कहने लगे कि अपने घर चलो, सीमा से मिलेंगे। देर तक अपने परिवार की और ख़ासतौर पर अपने पिता और उनके इंग्लिस्तान में रहने, और अफ़ग़ानिस्तान के शासकों से उनके संबंधों की बातें करते रहे। फिर अपनी ज़मीनों का ज़िक्र किया जिनको उन्होंने अपने

ग़रीब रिश्तेदारों में बांट दिया था। वो बोलते रहे और हम सुनते रहे। एक बार सीमा ने ज़रा शरारत से कहा कि फ़ैज़ भाई, वैसे तो आप इलिटिज़्म के बहुत ख़िलाफ़ हैं, मगर आप तो ख़ुद बहुत इलीट हैं। कहने लगे, वो तो हम हैं।

अगली शाम उनकी मेज़बान के यहां एक बड़ी दावत का इंतज़ाम था। फ़ैज़ के क़रीबन सभी दोस्त जमा थे। वहां फ़िर उनसे मुलाक़ात हुई। उन्होंने फ़रमाइश पर शेर भी सुनाये और देर तक सुनाते रहे। उससे अगले दिन वो लाहौर चले गये और हफ़्ते भर बाद, कि जिसके दौरान वो सियालकोट और उसके क़रीब अपने गांव कालाकादर का चक्कर भी काट आये, 19 नवंबर 1984 को मंगल के दिन लाहौर में उनका देहांत हो गया। मैं दूसरे दिन लाहौर पहुंचा और उसी दिन यानी बुधवार 20 नवंबर, 1984 को उनका अंतिम संस्कार हुआ। हज़ारों लोग जमा थे। सिर्फ़ उनके चाहने वाले ही नहीं, बल्कि वे भी जिन्होंने जीवन भर उनका विरोध किया। शोक सभा के दिन शुक्रवार था। शाम को 'हल्क़ए अरबाबे ज़ौक़' की शोक सभा 'टी हाउस' में हुई, जिसकी अध्यक्षता के लिए मुझे आमंत्रित किया गया। वहां भी साहित्य, पत्रकारिता और राजनीति के हर विचार के प्रतिनिधि मौजूद थे। उनमें से हर एक ने फ़ैज़ को शायर ही नहीं, बल्कि एक इनसान की हैसियत से भी अपने रंग में श्रद्धांजलि पेश करते हुए उन्हें बड़ी दर्दमंदी से याद किया।

बात ये है कि फ़ैज़ शायर थे, और इस दौर के बड़े शायर थे। मगर वो सही मायने में एक बड़े इनसान भी थे। उनके विरोधी उनकी ज़ाती शराफ़त के भी कायल थे। मैंने कुछ ऐसे लोगों को, जो कई वजह से उनकी शायरी को नहीं मानते थे, ये कहते हुए सुना है कि फ़ैज़ शायर से ज़्यादा बड़े इनसान थे। असल में, फ़ैज़ के व्यक्तित्व में कोई ऐसे कोने-क़तरे या ऐंच-पैंच नहीं थे कि जिनसे लोग बिदक जायें। उनमें न तो हमारे कुछ दूसरे शायरों जैसी अदाएं थीं और न किसी तरह का नाज़ो-अंदाज़। वो कभी कोई ऐसी हरकत नहीं करते थे जो किसी को नागवार गुज़रे। वो सही मायने में बहुत सभ्य आदमी थे। उनका सहज स्वभाव उनके आम मिलनेवाले के दिल को मोह लेता था। इसकी वजह शायद वो धार्मिक माहौल भी हो, जिसमें उनकी बचपन की परवरिश हुई, और जिसका उन्होंने अपने कुछ लेखों में ज़िक्र भी किया है। एक इंटरव्यू में उन्होंने साफ़ कहा कि वो अपने-आप को मामूली तरीक़े से तसब्बुफ़ (इस्लामी भक्ति) का मानने वाला समझते हैं, और जेल से एलिस के नाम एक ख़त में भी अपने-आप को कुछ Inhibited सूफ़ी की तरह की किसी चीज़ का नाम दिया था।

शायद ये भी धार्मिक माहौल में परवरिश पाने का ही असर था कि फ़ैज़ की शायरी में पुराने संस्कारों और नयेपन का एक बहुत अच्छा संयोजन पाया जाता था। बचपन और लड़कपन में वो मौलवी इब्राहिम साहब सियालकोटी और सैय्यद मीर हसन साहब जैसे ज्ञानियों के ओरियेंटल कॉलेज में एम.ए. अरबी के ज़माने में मोहम्मद सफ़ी साहब के शागिर्द रहे थे। इन बुज़ुर्गों का ज़िक्र वो बड़ी श्रद्धा और इज़्ज़त से करते थे। बुख़ारी साहब गवर्नमेंट कॉलेज में उनके अंग्रेज़ी के उस्ताद थे। इसके अलावा दूसरे दोस्त अब्दुल मजीद सालिक, तासीर साहब, मजीद मलिक साहब, अब्दुर्रहमान चुग़ताई साहब, सूफ़ी ग़ुलाम मुस्तफ़ा तबस्सुम साहब और इम्तियाज़ अली ताज साहब को भी अपना बुज़ुर्ग समझते थे, और उनका बड़ा आदर करते थे। और उनसे बातचीत में भी रख-रखाव का ध्यान रखते थे। उनका ये अंदाज़ देखकर मैंने एक बार उनसे कहा कि 'फ़ैज़ भाई, हम भी आपको अपना बुज़ुर्ग समझते हैं। आदर और सम्मान में तो नहीं, मगर कुछ रख-रखाव में कमी रह जाती है। आपसे कभी-कभी असहमति भी कर लेते हैं, और

बहस भी।' हंसकर कहने लगे, 'ठीक हैं, हम इसे जेनरेशन गैप समझते हैं, जो हमें क़बूल है।'

गुज़रे समय के ये और दूसरे कई संस्कार, जो फ़ैज़ की ज़िंदगी के आम रवैयों में नज़र आते थे, उनमें एक दोस्ती भी थी और उसमें ये जरूरी नहीं था कि दोस्त हमेशा हमख़याल और हमक़बील ही हो। उनके बुज़ुर्ग दोस्तों में, जिनके दरमियान उनके दिन-रात गुज़रते थे, तासीर साहब के अलावा कोई भी उनका हमख़याल नहीं था। बुख़ारी साहब तो उनके सामने ही तरक़्क़ीपसंद अदब का मज़ाक उड़ाया करते थे। हसरत साहब ने 'तरक़्क़ीपसंद' की फ़ब्ती कस रखी थी। कॉलेज के दोस्तों में आग़ा अब्बुल मजीद, नून मीम राशिद, रशीद अहमद वग़ैरह भी दूसरी तरह के लोग थे। मगर फ़ैज़ से उनके संबंधों में कभी इस बुनियाद पर ख़लल नहीं आया।

इनके अलावा, उनके मिलने वालों में नवाब मुश्ताक़ अहमद गोरमाती और नवाब मुजफ़्फ़र अली कजलबाश जैसे जागीरदार और रईस भी शामिल थे। ये ढकी-छुपी बात नहीं है कि इसी दोस्ती की बुनियाद पर गोरमानी साहब ने फ़ैज़ से रिपब्लिकन पार्टी का मैनिफ़ेस्टो लिखवाया और एस.एम. शरीफ़ साहब ने, जो जनरल अयूब ख़ां के मार्शल लॉ के ज़माने में शिक्षा मंत्रालय के सचिव थे, अपने शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट पर उनसे एक नज़र डालने के लिए कहा था। संक्षेप में ये कि फ़ैज़ अपने राजनीतिक विचारों के बावजूद दूसरे लोगों से नफ़रत नहीं करते थे, बल्कि कई बार तो यूं लगता था कि वो उनसे संबंध क़ायम रखना ज़रूरी और फ़ायदेमंद समझते थे। यूं तो वर्ग-संघर्ष के मार्क्सी नज़रिये के क़ायल थे, मगर उन्हें किसी भी वर्ग के लोगों से मेल-मुलाक़ात रखने में कोई बुराई दिखायी नहीं देती थी।

फ़ैज़ से उनके कुछ दोस्तों को ये शिकायत भी थी कि हर ऐरे-ग़ैरे का दावत स्वीकार कर लेते हैं और इस मामले में कोई एहतियात नहीं बरतते। इस सिलसिले में फ़ैज़ का जवाब अक्सर होता था कि भई, जो शख़्स हमें मुहब्बत से बुलाता है, हम उसकी नीयत पर शक क्यों करें। जहां तक छोटी-बड़ी हैसियत के लोगों में फ़र्क़ करने का सवाल है, तो उन्हें ये किसी तरह गवारा नहीं था। वो शेर सिर्फ़ फरमाइश पर सुनाते थे और वही कुछ सुनाते थे जो उनकी याद में महफ़ूज़ होता था। वो घर से शायरी की नोटबुक साथ लेकर नहीं निकलते थे। मगर उन्हें महफ़िल की तलाश ज़रूर रहती थी। मुझे अक्सर ये ख़याल होता था कि वो तन्हाई से डरते हैं।

हो सकता है, ये जेल की ज़िंदगी का असर हो। तन्हाई से डर की वजह से ही उन्होंने जमकर लिखने-लिखाने का कोई काम नहीं किया। वो अपने-आप को इस क़िस्म के अनुशासन का पाबंद नहीं बना सकते थे। अगरचे, अपने हर दायित्व को उन्होंने हमेशा बड़ी ज़िम्मेदारी से निभाया। उनको किताबों से ज़्यादा इनसानों से मुहब्बत थी। मैंने उन्हें कभी किसी पर गुस्सा करते नहीं देखा। नफ़रत नाम की चीज़ तो वो जानते ही न थे। उनको लोग अच्छे लगते थे। हंसते-खेलते लोगों में बैठकर वो वाक़ई बड़े ख़ुश रहते थे। वो बहुत कम उदास या दुखी रहते थे। इस मामले में भी वो बहुत प्राइवेट आदमी थे। ज़ाती दुख को वो ख़ुद ही झेलते थे। बर्दाश्त, सब्र और सुकून उनके व्यक्तित्व की ख़ूबी थी। वो अपने दुख से महफ़िल को दुखी नहीं करते थे। मुझे याद है कि कराची के पुराने और क़रीबी दोस्त की तरफ़ से उन्हें बहुत ज़ाती क़िस्म की तकलीफ़ पहुंची तो मेरे सिवा, कि मुझे इस मामले में दोनों तरफ़ से भरोसे में लिया गया था, उन्होंने कभी किसी से इसका ज़िक नहीं किया, और मुझसे भी शिकायत करने के लिए नहीं, सिर्फ़ दिल हलका करने के लिए किया। मैंने कहा था कि फ़ैज़ की शायरी की तरह उनके व्यक्तित्व में भी नये और पुराने का एक खूबसूरत संयोजन था। यही संयोजन उनकी तबीयत में नर्मी और मजबूरी

का भी था। और 'इस-इश्क' और 'उस-इश्क' में भी वो अनीस-ए-हल्क़ए रिंदा (पीने-पिलाने वालों के दोस्त) और रफ़ीक़े अहले जुनूंशी (दीवानों के साथी) थे।

इस तरह देखा जाये तो उन्होंने बड़ी रंगारंग और भरपूर ज़िंदगी गुज़ारी। एक व्यक्ति की हैसियत से उनकी सबसे बड़ी खूबी उनका रचा और गुंथा हुआ व्यक्तित्व था, जिसने ज़माने के उतार-चढ़ाव को बड़े सलीक़े के साथ अपने अंदर समो रखा था। मेरा उनसे जो संबंध रहा है, वो शुरू में तो रस्मी नौईयत का था मगर समय के साथ-साथ मुहब्बत और फुर्क़त के एक ऐसे रिश्ते में बदल गया था, जिसे मैं अपनी ज़िंदगी की सबसे क़ीमती चीज़ समझता हूं।

उर्दू से अनुवाद : नजमा रहमानी, संजीव कुमार और प्रदीप कुमार

मो. : 09968281762/09818577833/09818725066

फ़ैज़ से मेरी मुलाक़ात

सूफ़ी गुलाम मुस्तफ़ा 'तबस्सुम'

'शामे शहरे यारां' नामक फ़ैज़ के संग्रह की भूमिका में उनके कालेज के छात्र जीवन की कुछ यादें उनके शिक्षक तबस्सुम साहब ने दर्ज़ की हैं, ख़ासकर, परीक्षा के सभागार में सिगरेट पीने पर पाबंदी के कारण बेचैनी और फिर इजाज़त मिल जाने पर कलम की चाल और सिगरेट की कश में मुक़ाबले की दिलचस्प दास्तान। सं.

सन् 1931 था और अक्टूबर का महीना। मुझे सेंट्रल ट्रेनिंग कॉलेज से गर्वमेंट कॉलेज में आये हुए कोई तीन हफ़्ते गुज़रे थे। पिछले स्कूल में पढ़ने-पढ़ाने की ख़ुश्क फ़ज़ा और अनुशासन की सख़्ती से तबीयत घुटी-घुटी सी थी। नये कॉलेज में आते ही तबीयत में ख़ुशी की एक लहर दौड़ गयी। शेरो-शायरी का शौक़ फिर से उभरा। चुनांचे 'बज़्मे-सुख़न' की ओर से एक बड़े मुशायरे की सदारत (अध्यक्षता) प्रो. पतरस बुख़ारी के सुपुर्द हुई। शाम होते ही कॉलेज का हाल छात्रों से भर गया। स्टेज की एक तरफ़ 'नियाजमंदाने-लाहौर' अपनी पूरी शान से विराजमान थे। दूसरी ओर सामने लाहौर की तमाम साहित्यिक संस्थाओं के नुमाइंदे क़तार में सजे बैठे थे। दोनों तरफ़ से सहृदयता और स्पर्धा के माहौल के बावजूद सारी सभा एक-दूसरे का ख़ैर मक़दम (स्वागत) कर रही थी।

रिबायती दस्तूर के मुताबिक अध्यक्ष ने अपने कॉलेज के छात्रों से शेर पढ़ने का एलान किया। दो-एक छात्र आये और बड़े अदब और विनम्रता से कलाम पढ़कर चले गये। अचानक एक दुबला-पतला सा लड़का स्टेज पर प्रकट हुआ। सियाह रंग, सादा लिबास, अंदाज़ में गंभीरता बल्कि रूखापन, चेहरे पर अजनबी होने का गहरा एहसास। इधर-उधर कुछ फुसफुसाहट होने लगी। इतने में उसने कहा : अर्ज़ किया है। कलाम में शुरुआती रियाज़ के बावजूद पुख़्तगी और शैली में सहजता थी। सब ने दाद दी। ये हफ़ीज़ होशियारपुरी थे।

फिर एक नौजवान आये, गोरे चिट्टे, चौड़ा माथा, चाल में शालीनता, आंखें और होंठ जैसे एक ही समय में हल्की मुस्कान में डूबे हुए। शेर बड़े ढंग और सलीक़े से पढ़े। इशारे हुए, पतरस ने कुछ मानीख़ेज नज़रों में लाहौर के 'नियाज़मंदों' से बातें कीं और उनकी हलकी ख़ामोशी को रज़ा (सहमति) समझकर दोनों नौजवानों को दोबारा स्टेज पर बुलाया गया। नयी शायरी सुनी। फ़ैज़ साहब ने ग़ज़ल के अलावा एक नज़्म भी सुनायी। ग़ज़ल और नज़्म दोनों में सोच का अंदाज़ और बयान का अछूता ढंग था।

मुशायरा ख़त्म हुआ। तय पाया कि सभी दोस्त इन दोनों को साथ लेकर ग़रीबख़ाने पर जमा हों। रात काफ़ी गुज़र चुकी थी, उन्हें बोर्डिंग में पहुंचना था। बुख़ारी साहब ने उनकी ग़ैरहाज़िरी का ज़िम्मा लिया और फिर घंटे भर के लिए शेरो-शायरी पर बातचीत होती रही। ये उनकी शायरी का इम्तिहान नहीं,

उस्तादों की हौसला अफ़ज़ाई का इम्तिहान था। दोनों कामयाब रहे।

अभी पूरा महीना भी नहीं गुज़रा था कि कॉलेज के इम्तिहान शुरू हुए। जिस दिन की मैं बात कर रहा हूं उस दिन पतरस साहब कॉलेज हॉल में इम्तिहानात के कर्ताधर्ता थे और हम जैसे नये तजर्बेकारों को छोटे कमरे सुपुर्द किये गये थे। मुझे कॉलेज की दूसरी मंज़िल में तैनात किया गया। यहां एम.ए. इंग्लिश के छात्र थे और उनमें फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी थे।

इम्तिहान का कमरा पाबंदी वाली जगह होती है। उम्मीदवारों के दिमाग़ी इम्तिहान के साथ-साथ धैर्य और अनुशासन का भी इम्तिहान होता है। सिगरेट पीना मना था। मैंने अपनी आदत को दबाने के लिए पान का इंतज़ाम कर लिया था। मगर फ़ैज़ साहब कभी सवालात के पर्चे पर नज़र डालते और कभी मेरी तरफ़ हल्की मुस्कराती नज़रों से देखते और फिर क़लम को उठाकर सर को खुजाते और कभी ख़ामोशी से अपने पड़ोसियों का हालचाल लेते, कभी-कभी उनका बायां हाथ ऐसे हरकत करता जैसे किसी नामालूम राय को टटोल रहे हैं। मैं सोच रहा था। इतने में वो उठे और हमसे पूछा हमें यहां सिगरेट पीने की इजाज़त है? मैंने कहा, मैं अभी बताता हूं।

इतने में पतरस दूसरे कमरों का मुआयना करते-करते मेरे कमरे के बाहर आकर खड़े हो गये। मैं जब सम्मान में प्लेटफ़ार्म से उतरकर दरवाज़े पर पहुंचा तो उन्होंने, पूछा : सब कुछ ठीक है? मैंने कहा, जी!

मैंने अर्ज़ किया : प्रोफ़ेसर साहब (मैं उन्हें प्रोफेसर साहब कहा करता था) कुछ छात्र सिगरेट पीना चाहते हैं। इजाज़त है?

पतरस ने मेरे कान में दबी आवाज़ में कहा : 'जब तक प्रोफ़ेसर जोधसिंह इस कॉलेज के प्रिंसीपल नहीं बनते, उस वक़्त तक पी सकते हैं।' और फिर मुस्करा कर चले गये।

मैंने अंदर आते ही फ़ैज़ साहब की तरफ़ देखा और इशारों से सिगरेट पीने का एलान किया। फ़ैज़ साहब के हाथ में फ़ौरन एक सिगरेट प्रकट हुआ। जैसे क़लम ही से उभर आया हो।

फिर क़लम की चाल और सिगरेट के कश में मुक़ाबिला शुरू हुआ और इस कशमकश में सुगंधित धुएं के ग़ुब्बारे पूरे कमरे में फैल गये। मैं उस्ताद (शिक्षक) था, अनुशासन की ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ बैठा रहा और क़िवामदार पान को छोड़कर इस ख़ुशबू से अपने सिगरेट पीने के शौक़ के सुकून में डूब गया।

क्या मालूम था कि धुएं के ये ग़ुब्बारे कॉलेज की चारदीवारी से दूर-दूर तक फ़ज़ा में फैल जायेंगे और उनमें सिगरेट पीने वाले की सुगंधित सांसों की ख़ुशबूएं भी लहरायेंगी और शेरो-शायरी और अदब की दुनिया को अपने आग़ोश (गोद) में ले लेंगी।

उर्दू से अनुवाद : गोबिंद प्रसाद

मंटगोमरी से मास्को तक

लुदमिला वेसिलेवा

यह आलेख लेखिका की रूसी पुस्तक के एक अध्याय का हिंदी अनुवाद है। यह रूसी पुस्तक वस्तुतः लुदमिला द्वारा लिखित फ़ैज़ की जीवनी है। चूंकि लेखिका एक लंबे अरसे से तक सोवियत संघ में उनकी दुभाषिया के रूप में उनके क़रीब रही हैं, अतः जीवनी में दिये गये तथ्य विश्वसनीय और प्रामाणिक हैं। सं.

दयार-ए-यार, तेरी जोशिशे-जूनूं पे सलाम
मेरे वतन, तेरे दामान-ए-तार तार पे ख़ैर

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की क़ैद के दौरान, एक के बाद एक कई सरकारें बदलीं, लेकिन चेहरे बदलने के बावजूद न तो कोई ख़ास बदलाव आया था न ही बेहतरी की कोई सूरत नज़र आ रही थी। पाकिस्तान फ़ौजी ब्लाक में शामिल हो गया था और सबको समुद्र पार की सुपर पावर यानी अमरीका से आ रहे फ़रमानों का एहसास हो रहा था। तेज़ी से फ़ौज का ख़र्चा बढ़ने की वजह से सरकारी बजट कमज़ोर हो गया।

1955 में मंटगोमरी जेल से रिहाई के बाद जब फ़ैज़ लाहौर लौट आये तो शहर के माहौल में एक कशीदगीरी महसूस हो रही थी। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। पाकिस्तान के कई इलाक़ों में अकाल पड़ा हुआ था। सनत के मैदान में जमूद का आलम था और इस वजह से अवाम की ग़रीबी और बढ़ गयी थी। बाज़ लोग मायूसी का शिकार हुए, बाज़ लापरवाही का। हमवतनों की मदद किस तरह की जाये? उनके दिलों में नयी उम्मीदें कैसे जगायी जायें? और उनमें आज़ादी की दी हुई क़ीमत की याद को किस तरह ताज़ा किया जाये? आज़ादी की तारीख़ के आमद के मौक़े पर फ़ैज़ की नज़्म 'अगस्त 1955' के उन्वान से शाया हुई। यह कड़वाहट भरी सही लेकिन एक उम्मीद अफ़्ज़ा ग़ज़लनुमा नज़्म है :

शहर में चाक गरेबां हुए नापैद अब के
कोई करता ही नहीं ज़ब्त की ताकीद अबके
लुत्फ़ कर ऐ निगहे-यार, कि ग़मवालों ने
आरज़ू की भी उठायी नहीं तमहीद अब के
चांद देखा तेरी आंखों में न होंठों पे शफ़क़
मिलती जुलती है शब-ए-ग़म से तेरी दीद अब के
दिल दुखा है न वो पहले सा, न जान तड़पी है
हम ही ग़ाफ़िल थे कि आयी ही नहीं ईद अब के

फिर से बुझ जायेंगी शम्एं जो हवा तेज़ चली
लाके रखो सर-ए-महफ़िल कोई ख़ुरशीद अबके

फ़ैज़ फिर से *पाकिस्तान टाइम्स* में काम करने लगे। वे पहले की तरह अख़बार के लेखों में दो टूक अंदाज़ में सरकारी सियासत के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा रहे थे। और हुकूमत की दाख़िली पालिसी को अवाम दुश्मन और खारज़ा पालिसी को अमरीका-नवाज़ कहने से घबराते नहीं थे। साथ ही साथ उनका अख़बार साम्यवादी मुमालिक से ताल्लुक़ात की बेहतरी की तरफ़ हुकूमत के हर क़दम का ख़ैरमक़दम करता था। उस तरफ़ क़दम छोटे ही सही मगर उठाये जाते थे। आम तौर पर यह शक़ाफ़ती और साईंसी जानकारी का तबादला होता था।

अपनी ज़िंदगी के इस मरहले पर फ़ैज़ ने बहुत कम शायरी की थी। लेकिन उस दौरान ख़ालिस अदबी हदों से निकल कर उन्होंने आलोचना के मैदान को ज़्यादा बढ़ाने की कामयाब कोशिश की। उन्होंने एक फ़िल्म की कहानी लिखी और फ़िल्म बनाने में भी शिरकत की थी। फ़िल्म का नाम एक लोक गीत की पहली पंक्ति पर रखा गया। *जागो हुआ सवेरा*। यह पुरआब दरिया के किनारे पुरवाक़मा माहीगीरों के एक छोटे गांव की ज़िंदगी की झलक और गांव वालों की कहानी थी। लंदन के अंतर्राष्ट्रीय समारोह में फ़ैज़ की फ़िल्म को पहला इनाम मिला।

जेल से फ़ैज़ की रिहाई के बाद उनके पुराने साथी, तरक़्क़ीपसंद मुसन्नफ़ीन की अंजुमन के मेंबर, उनको फिर से अंजुमन की सरगर्मियों में शामिल करने की कोशिशों में लग गये। वे अंजुमन की सफ़ों को मज़बूत करने की स़ख़्त ज़रूरत महसूस कर रहे थे। फ़ैज़ हमक़लम दोस्तों के बेहद शुक्रगुज़ार थे। ये वही थे जो क़ैद के दिनों में ख़ुद शायर को और एलिस को रूहानी सहारा देते रहे थे और जिन्होंने इस ज़माने में *दस्ते-सबा* के बेमिसाल प्रकाशन का इंतज़ाम किया था। इसलिए फ़ैज़ ने उनसे तआवुन करने से इंकार तो नहीं किया लेकिन अख़बार के काम में निहायत मसरूफ़ियत का हवाला देकर माफ़ी चाही। उन्होंने अपने पुराने सामयिक मसलों से ताल्लुक़ बरक़रार रखा। मसलन वे दोस्तों की गुफ़्तगू और बहस-मुबाहिसों में हिस्सा होते और तरक़्क़ीपसंदों को दूसरे देशों के लेखकों से ताल्लुक़ क़ायम करने के बारे में अपने ख़यालात में शरीक करते थे। लेकिन ख़ुद अंजुमन की रहनुमाई और उसकी वसीअ सरगर्मियों में शामिल होने से कतराते थे।

1956 में हिंदुस्तान के तरक़्क़ीपसंद मुसन्नफ़ीन ने दिल्ली में एशियाई अदीबों की कांफ्रेंस का ऐलान किया। पहला दावतनामा फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के नाम भेजा गया। यह आज़ाद हिंदुस्तान का उनका पहला दौरा था। फ़ैज़ बेहद ख़ुश थे क्योंकि आख़िरकार बरसों बाद उनको अपनी जवानी के दोस्तों से मिलने का मौक़ा मिला। अब फ़ैज़ दिल्ली में सज्जाद ज़हीर, मुल्कराज आनंद, कृश्न चंदर और दूसरे सब यार फिर से इकट्ठा हुए। वे 1936 की लखनऊ की कांफ्रेंस की यादों में खो गये, जिसमें हिंदुस्तानी तरक़्क़ी पसंद मुसन्नफ़ीन की अंजुमन क़ायम हुई थी। अब कितना दूर था वह ज़माना ! दिल्ली कांफ्रेंस में शरीक सभी अदीब इस राय पर सहमत हुए कि तीसरी दुनिया की नौज़ायदा रियासतों को क़ौमी अदब और शक़ाफ़त की तरक़्क़ी के मैदान में मशाबा मुश्किलात दरपेश हैं जो सबसे पहले एशिया और अफ़्रीक़ा के मुमालिक के अवाम की रूहानी आज़ादी के मसले से वाबस्ता हैं और इस मसले का तसफ़िया सिर्फ़ संघबद्ध कोशिशों से किया जा सकता है। इस तरह से अफ़्रीकी और एशियाई अदीबों के संगठन का ख़याल पैदा हुआ था।

1958 में फ़ैज़ और हफ़ीज़ जालंधरी पाकिस्तानी नुमाइंदों की हैसियत से एफ़्रो-एशियाई लेखकों की दूसरी कांफ्रेंस में शिरकत के लिए ताशक़ंद तशरीफ़ लाये। इस तरह सोवियत यूनियन आने की फ़ैज़ की दिली इच्छा पूरी हुई। उस वक़्त भी सोवियत यूनियन के बारे में मुख़्तलिफ़ ख़यालात सुनने में आते थे इसलिए फ़ैज़ अपनी आंखों से यह मुल्क देखना चाहते थे। उसी दिन से फ़ैज़ के सोवियत देश से बिछोह और मिलन का प्रेम शुरू हुआ जो उनकी ज़िंदगी के आख़िर तक जारी रहा।

ताशक़ंद कांफ्रेंस में 'एफ़्रो-एशियाई लेखक संघ' क़ायम हुआ जिसका मक़सद, उसके एक इक़रारकर्ता के शब्दों में, 'नये आज़ाद हुए देशों और आज़ादी के संघर्ष में जुटी आबादी को दक़ियानूसियत के दबाव से निकालने में मदद करने के उद्देश्य से बुद्धिजीवियों को एक बड़े स्तर पर एकजुट करना था।'

ताशक़ंद क़रारनामा के मुसन्नफ़ीन में फ़ैज़ का नाम सर-ए-फेहरिस्त था।

अफ़्रो-एशियाई मुसन्नफ़ीन की तहरीक में फ़ैज़ की सरगर्म शिरकत उनके आख़िरी दिनों तक जारी रही। दरअसल यह हिंदुस्तानी और आज़ादी के बाद पाकिस्तानी तरक़्क़ीपसंद मुसन्नफ़ीन की तहरीक से शायर के जुड़ाव की एक नयी मंज़िल थी। हां इस तहरीक का पैमाना बेशक कहीं ज़्यादा फैला हुआ था और सतह भी ज़्यादा बुलंद थी।

अक्टूबर 1958 में जब ताशक़ंद कांफ्रेंस जारी थी पाकिस्तान में फ़ौजी 'तख़्तापलट' हुआ जिसके नतीजे में फ़ौजी अलग़ानी क़ायम हुई। सारा इक़दितार मुल्क के नये सरबराह जनरल अयूब ख़ां के हाथों में मरकूज़ हो गया। पाकिस्तान में मार्शल लॉ लागू हुआ और हर जीवन के पहलू में सख़्ती बढ़ने लगी। अब मुल्क के सारे शहरों में सोशल सेक्योरिटी एक्ट के सहारे से आम पैमाने पर गिरफ़्तारियां हो रही थीं और तरक़्क़ीपसंद घरों के अमलों की 'सफ़ाई' आम बात हो गयी थी। बायें बाज़ू की तंज़ीमों की सरगर्मियों पर पाबंदी लगायी जा रही थी। फ़ैज़ के ज़्यादातर दोस्त इस सरकार के पहले दिनों में गिरफ़्तार हो गये। मेजर इस्हाक़ पहले थे जो जेलख़ाने में बंद हुए थे, लेकिन अब की बार उनको 'अपने शायर' का साथ नसीब नहीं हुआ।

ताशक़ंद कांफ्रेंस ख़त्म हुई तो फ़ैज़ अपनी फ़िल्म *जागो हुआ सवेरा* के सिलसिले में इनाम लेने लंदन चले गये और दिसंबर में पाकिस्तान लौटे। फ़ैज़ के दोस्तों ने जो कराची एयरपोर्ट उनको लेने पहुंचे बताया कि उनकी गिरफ़्तारी का वारंट तैयार हो चुका है। सब दोस्तों का मशविरा था कि फ़ैज़ लाहौर जाने का नाम ही न लें और फिलहाल कराची में ठहर जायें। लेकिन फ़ैज़ यह सब सुनने को तैयार नहीं थे। सलीमा की सालगिरह होने वाली थी जिसके लिए उन्हें हर सूरत घर जाना था।

लाहौर में एलिस और सब अज़ीज़ दिल थाम कर फ़ैज़ का इंतज़ार कर रहे थे कि क्या उनको घर तक पहुंचने का मौक़ा मिलेगा या उनको रास्ते में ही गिरफ़्तार कर लिया जायेगा? लेकिन फ़ैज़ सही सलामत घर पहुंचे और अपनी 'तीन प्यारियों' एलिस, और दोनों बेटियों से बड़े प्यार से मिले। वे बहुत ख़ुश थे और बड़े शौक़ से अपने सफ़र के क़िस्से बताते रहे।

फिर भी चार दिन बाद फ़ैज़ की गिरफ़्तारी हो ही गयी। शायर फिर से लाहौर जेल में क़ैद हुए जिसे वे मज़ाक़ में 'खानदानी जेल' कहते थे। अबकी बार गिरफ़्तारी से फ़ैज़ के दिल को पहली सी चोट नहीं लगी। अब्वल तो यह गिरफ़्तारी कोई ग़ैर मुतव्वको बात न थी और दूसरे जेल का माहौल भी बिलकुल जाना-पहचाना लगा। उनकी पिछली क़ैद के दिनों से यहां कुछ नहीं बदला था। जेलर तक पुराने थे और फ़ैज़ से मिलते वक़्त बड़े ख़ुलूस से सलाम करते थे। क़ैदियों के दरमियान फ़ैज़ के कई दोस्त थे। जेल

में शायर के आने से खलबली मच गयी। पुरशोर तरीक़े से ख़ुशी का इज़हार किया जा रहा था कि अब मुशायरे होंगे! और वाक़ई ऐसा ही हुआ। शुरू की नज़्मों में एक, जो फ़ैज़ ने जेल के एक मुशायरे में सुनायी 'शोरिशे ज़ंजीर बिस्मिल्लाह' थी। मुल्लाओं ने फ़ैज़ पर सख़्त तनक़ीद की और ऐलान किया कि शायर ने इस्लाम की तौहीन की है। अशआर की रदीफ़ है 'बिस्मिल्लाह' जिसे शायर ने बज़ाहिर 'शुरू करने' के मुहावरेदार मानी में इस्तेमाल किया है। लेकिन साथ ही इसमें मज़हबी कट्टरपंथियों की तरफ़ साफ़ तंज़ और इशारा किया है। फ़ैज़ के दोस्तों और हमख़यालों ने इस नज़्म को बहुत सराहा :

हुई फिर इम्तिहान-ए-इश्क़ की तदबीर बिस्मिल्लाह
हर इक जानिब मचा कोहराम-ए-दार-ओ-गीर बिस्मिल्लाह
गली कूचों में बिखरी शोरशा-ए-ज़ंजीर बिस्मिल्लाह

फ़ैज़ का ख़ानदान लाहौर के जिस मकान में उस वक़्त रहता था। वह लाहौर के क़िले से दूर न था। एलिस दोनों बच्चों को लेकर फ़ैज़ से मिलने अक्सर आती थीं। लेकिन फिर भी शायर का दिल उदास रहता था। इस बार की गिरफ़्तारी से उनको वही दिन याद आये थे जब वे कराची जेल के हस्पताल की हरियाली में डूबी कोठरी से मंटगोमरी जेल की मायूसकुन चारदीवारी में लौहार गये थे। माहौल के एकदम बदल जाने का फ़ैज़ पर हमेशा बहुत बुरा असर होता था। लेकिन इस बार भी शायरी की देवी क़ैद के दिन काटने में मदद कराने आया करती थी। ग़ालिबन वह ख़ुश होती होगी कि अपने शायर को फिर से तन्हा पाया और वे कहीं जाने की जल्दी भी नहीं कर रहे थे। फ़ैज़ के दिल में एक जाना-पहचाना दर्द करवटें लेता रहा :

दूर आफ़ाक़ पर लहराई कोई नूर की लहर
ख़्वाब ही ख़्वाब में बेदार हुआ दर्द का शहर
ख़्वाब ही ख़्वाब में बेताब नज़र होने लगी
अदम आबाद जुदाई में सहर होने लगी
क़ासाए दिल में भरी अपनी सुबूही मैंने
घोलकर तल्ख़ी-ए-देरोज़ में इमरोज़ का ज़हर
हसरते रोज़-ए-मुलाक़ात रक़म की मैंने
देस परदेस के यारान-ए-क़दह ख़्वार के नाम
हुस्न-ए-आफ़ाक जमालए-लब-ओ-रुख़्सार के नाम

फ़ैज़ की कोठरी का दरीचा क़िले के दामन में हरी चादर जैसे मैदान की तरफ़ खुलता था। अपनी लड़कियों को लेकर एलिस उन दिनों यहां भी आती थी जो क़ैदियों से मुलाक़ात के दिन न होते थे। बच्चियां क़िले की ऊंची दीवार में छोटे-छोटे दरीचों को इस उम्मीद में तक रही थी कि उनके अज़ीज़ अब्बाजान उनको देख रहे होंगे। कई सारे लोग दरीचों की सलाखों से बाहर हाथ हिला हिला कर उनका ख़ैर मक़दम कर रहे थे। उनमें से कोई हाथ अब्बाजान का भी होगा।

मुलाक़ातों के वक़्त एलिस फ़ैज़ की हौसला अफ़जाई करने की कोशिश करते हुए उनको शहर की ख़बरें और वह अफ़वाहें भी सुनाती थीं जो फ़ैज़ की गिरफ़्तारी के सिलसिले में शहर में फैली हुई थीं। एक बार एलिस अपने शौहर की रिहाई के मुतालिक़ दौड़धूप करने के दौरान सी.आई.डी. के एक आला

ओहदेदार जनाब मियां अनवर अली से मिलीं तो इस सज्जन ने उनको बताया कि फ़ैज़ पर सोवियत जासूसी इदारों से ताल्लुक़ का शक है और यक़ीन दिलाने लगे कि इस ताल्लुक़ के 'पक्के सुबूत भी मौजूद हैं।'

पहले तो एलिस को हुकूमत की 'जासूसी की बीमारी' पर हंसी आयी थी। लेकिन बाद में पता चला कि अफ़सर का इशारा फ़ैज़ की एक तस्वीर की तरफ़ था जो उनके सोवियत दूतावास से निकलते वक़्त उतारी गयी थी। यह सच्ची बात थी कि ताशक़ंद जाने से पहले फ़ैज़ और हफ़ीज़ जालंधरी दोनों वीज़ा बनवाने सोवियत दूतावास गये थे। फ़ैज़ अपनी ग़ायब दिमाग़ी की वजह से वहां अपना बैग छोड़ आये थे और उसे लेने के लिए लौट कर चंद एक मिनट तक दूतावास के अंदर अकेले रह गये थे। मुमकिन है फ़ैज़ उन दिनों शासकों की ज़ेरे नज़र रहे होंगे या सोवियत दूतावास के पास ड्यूटी करने वाले पहरेदार ने चौकसी के जोश में आकर अपनी रिपोर्ट में कुछ लिखा होगा। बहरहाल फ़ैज़ के सोवियत दूतावास लौटने की वजह से ही उन पर शक किया गया था। इस तरह यह गिरफ़्तारी हर सूरत में सोवियत दौरे से जुड़ी थी! उसका एक और सुबूत यह था कि एलिस को गवर्नर के यहां एक सरकारी गुफ़्तुगू के लिए बुलाया गया और उन से देर तक 'रूस के पैसों पर ख़रीदी हुई गाड़ी के बारे में पूछताछ की जाती रही। बात दरअसल यह थी कि उसी साल के शुरू में एलिस दोनों लड़कियों के साथ लंदन गयी थीं और वहां उन्होंने एक गाड़ी ख़रीद ली थी। गाड़ी के पैसे उनको मरहूम वालिद की विरासत से मिले थे। यहां उसी गाड़ी की बात हो रही थी। एलिस को संबंधित काग़ज़ात लंदन भेज-भेज कर दस्तावेज़ात की बिना पर 'रुपये आने से लेकर गाड़ी ख़रीदने तक' के एक एक क़दम का सुबूत देना पड़ा था। लेकिन फिर भी हुकूमत के ओहदेदारों का यह शक दूर नहीं हुआ कि गाड़ी के पैसे फ़ैज़ को मास्को से किसी 'ख़ास ख़िदमत' के मुआवज़े के तौर पर मिले थे।

फ़ैज़ की रिहाई आधे साल बाद हुई। *पाकिस्तान टाइम्स* में वे नहीं लौटे क्योंकि इस एक साल में लोकतांत्रिक ताक़तों का समर्थक यह अख़बार, अब फ़ौजी हुकूमत की कई महीनों की 'सफ़ाई' के नतीजे में अपने मजाहिदाना जोश से पूरी तरह 'पाक' हो चुका था। एलिस अभी तक अख़बार में अपने कालम चलाती थीं लेकिन उनको भी अब काम से कोई इत्मीनान नहीं मिलता था।

रिहाई के बाद फ़ैज़ की सेहत बहुत ख़राब होने लगी। लगातार सिगरेट पीने और किसी भी क़िस्म की वर्जिश से कतराने से उनकी हालत बेहतर नहीं हो सकती थी। उनकी सेहत एक नयी परेशानी की वजह बनी। उन दिनों के हालात का ज़िक्र फ़ैज़ ने इन अल्फ़ाज़ में किया : '*ज़िंदांनामा* के बाद का ज़माना कुछ ज़हनी अफ़रातफ़री का ज़माना है जिसमें अपना अख़बारी पेशा छूट गया। एक बार फिर जेल गये, मार्शल लॉ का दौर आया और ज़हनी और गर्द-ओ-पेश की फ़िज़ा में फिर से कुछ इजदादे राह और कुछ नयी राहों की इच्छा का एहसास पैदा हुआ।'

1965 में फ़ैज़ का एक और मज़मुआ *दस्ते-तहे-संग* निकला। उसमें *ज़िंदांनामा* के बाद की लिखी हुई कुल मिलाकर चालीस नज़में, क़तआत और ग़ज़लें शामिल हुईं। यह सब मुख़्तलिफ़ कैफ़ियतों का सृजन थीं। उनमें दुनिया में नेकी और इंसाफ़ की फ़तह की आरज़ू उम्मीद, और यक़ीन के मुख़्तलिफ़ रंग, हुस्न-ए-क़ुदरत के नज़ारों की ख़ुशी और मरहूम दोस्तों के सोग जैसी कैफ़ियतें पायी जाती हैं। *दस्ते-तहे-संग* में कई ऐसी नज़्में भी हैं जो फ़ैज़ ने विदेशों के ने दौरों से प्रभावित होकर लिखीं। इस संग्रह की भी कई चीज़ों का शुमार फ़ैज़ की बेहतरीन तख़्लीक़ात में होता है। एक ऐसी ही मिसाल और क़ुदरती

मंज़र की नफ़ीस तस्वीरकशी नज़्म 'शाम' है जो लाहौर जेल में वजूद में आयी। इस नज़्म के सिलसिले में फिर से फ़ैज़ के ख़तों की याद आती है जिनमें वे अपने दरीचे में से नज़र आने वाले मंज़र को तकने के अपने शौक़ का ज़िक्र करते थे और आसमान के पसंन्ज़र में उड़ने वाले बादलों की बदलती हुई फरज़ी ज़रूरतों की तस्वीकरकशी करते हैं :

इस तरह है कि हर एक पेड़ कोई मंदिर है
कोई उजड़ा हुआ, बेनूर पुराना मंदिर
ढूंढ़ता है जो ख़राबी के बहाने कब से
चाक हर बाम, हर इक दर का दम-ए-आख़िर है
आसमां कोई पुरोहित है जो हर बाम तले
जिस्म पर राख मले, माथे पे सिंदूर मले
सरनिगूं बैठा है चुपचाप ना जाने कब से
इस तरह है कि पस-ए-परदा कोई साहिर है
जिसने आफ़ाक़ पे फैलाया है यूं सहर का दाम
दामन-ए-वक़्त से पैवस्त हैं यूं दामन-ए-शाम
अब कभी शाम बुझेगी ना अंधेरा होगा
अब कभी रात ढलेगी ना सवेरा होगा
आसमां आस लिये है कि यह जादू टूटे
चुप की ज़ंजीर कटे वक़्त का दामन छूटे
दे कोई शंख दुहाई कोई पायल बोले
कोई बुत जागे, कोई सांवली घूंघट खोले

आने वाले सालों में भी फ़ैज़ ने मंज़रनिगारी पर क़ाफ़ी तवज्जो दी। उन नज़्मों में उड़े-उड़े से रंगों, मुबहम से कनाईयों और धुआं-धुआं से पैकरों की बदौलत, अधूरेपन का और राज़ भरा माहौल पैदा होता है और शेरों का सौतिआती हुस्न तासीर में मज़ीद इज़ाफ़ा कर देता है। कभी एक मुख़्तसर रूमानी नज़्म में पूरी दास्तान-ए-उल्फ़त समोई हुई मालूम होती है। एक ऐसी नज़्म 'जब तेरी समंदर आंखों में' है! नज़्म का नाम उसका एक मिसरा है :

यह धूप किनारा शाम ढले
मिलते हैं दोनों वक़्त जहां
जो रात न दिन, जो आज ना कल
पल भर को अमर, पल भर में धुआं
इस धूप किनारे पल दो पल
होंठों की लपक
बांहों की छनक
यह मेल हमारा, झूठ ना सच
क्यों राड़ करो, क्यों दोष धरो
किस कारण झूठी बात करो
जब तेरी समंदर आंखों में
इस शाम का सूरज डूबेगा

सुख सोयेंगे घर दर वाले
और राही अपनी राह लेगा

इस मुख़्तसर नज़्म में फ़नकार ने गोया चंद लम्हों को क़ैद कर लिया है। कई मिसरों में तास्सुराती (impressionistic) अंदाज़ में चंद घड़ियों के मिलन और ग़ालिबन लंबी तलाश की तस्वीरकशी की गयी है। यहां क़ुदरत के दो पात्रों (मैं-तुम आशिक़-माशूक़) को केंद्र में रखा गया है यानी नज़्म के सभी अनासिर की पोशीदा वहदत को निहायत ख़ूबसूरत तरीक़े से नुमायां किया गया है।

लेकिन *दस्ते-तहे-संग* में दिलफ़रेब रूमानी नौईयत के अशआर की तादाद के मुक़ाबले में कहीं ज़्यादा ऐसी नज़्में शामिल हैं जो परागंदा हालात के सिलसिले में शायर की फ़िक्र का अक्स हैं।

जब फ़ैज़ जेल से निकले तो बायें बाज़ू के सभी संगठन जिनसे फ़ैज़ का गहरा ताल्लुक़ था बंद हो चुके थे : पाकिस्तान अमन काउंसिल, मुल्क की सबसे बड़ी रेलवे मज़दूरों की ट्रेड यूनियन और तरक़्क़ी पसंद मुसन्नफ़ीन की अंजुमन इन सब की सरगरमियों पर पाबंदी लगायी जा चुकी थी। फ़ैज़ को इन नागवार हालात का शदीद एहसास हुआ। 1959 में प्रोफ़ेसर पितरस बुख़ारी का इंतक़ाल हुआ, जिनसे फ़ैज़ का गहरा रिश्ता और बड़े प्यार और मोहब्बत का था और जिनको वे अपना एक उस्ताद भी मानते थे। इस महरूमी के दर्द से ग़म-ए-दौरां का बोझ और ज़्यादा बढ़ा। फ़ैज़ का जी इस क़दर घबराया हुआ था कि उन्होंने माहौल में कुछ तब्दीली लाने के मक़सद से कराची जाने का और वहीं रोज़गार तलाश करने का फ़ैसला किया। कुछ दिनों बाद एलिस भी फ़ैज़ के पास कराची पहुंचीं। दोनों बेटियां लाहौर में रह गयीं। अब सलीमा और मुनीज़ा काफ़ी बड़ी हो गयी थीं। उनको अपना स्कूल बहुत पसंद था जिसे वे बदलना नहीं चाहती थीं। और फिर वे अकेली तो नहीं रह रही थीं। लाहौर में दादी और दूसरे रिश्तेदार भी रहते थे।

कराची में फ़ैज़ फ़ौरन काम में जुट गये। उन्होंने कराची के एक कॉलेज को, ग़रीब ख़ानदानों के छात्रों के ख़ास कॉलेज में तब्दील कराने की कोशिश की और कामयाब रहे। उन्होंने ख़ुद इसी कॉलेज में पढ़ाना शुरू किया। लेकिन कराची में उनका दिल नहीं लगा। उन्हें लाहौर की, अपनी बेटियों की, अज़ीज़ों, दोस्तों की और काला क़ादर की भी यानी अपने उस पुश्तैनी गांव की यादें सताने लगीं जहां वे बचपन के दिनों में जाया करते थे।

यूं तो पहली क़ैद के ज़माने में भी उनको गांव की याद आती थी। मंटगोमरी से रिहाई के बाद एक दिन फ़ैज़, एलिस और बेटियों को, पहली बार अपने गांव ले गये थे। लेकिन अगले ही रोज़ से वे लाहौर के रास्ते की तरफ़ नज़रें डालने और गाड़ी के पहिये चेक करने लगे थे। अब कराची में उन्होंने फिर से गांव को याद किया और गांव वाले रिश्तेदारों के पास जाने के मंसूबे बनाने लगे। एलिस ख़ामोशी से मुस्कुराते हुए शौहर की बातें सुनती रहीं।

जल्द ही पता चला कि कराची की आब-ओ-हवा फ़ैज़ को क़तई मुआफ़िक़ नहीं आ रही। एक अरसे से वे दमे के मरीज़ थे और अब उन पर खांसी के सख़्त दौरे पड़ जाते थे। दिल में भी काफ़ी तक़लीफ़ होने लगी। एलिस के इसरार पर दोनों वापस चले आये।

लाहौर लौटते ही फ़ैज़ बीमार हुए। डॉक्टरों ने कहा कि उनको दिल का हल्का दौरा पड़ा है और उन्हें मुस्तक़िल आराम करने की और हर तरह की परेशानी और बेक़रारी से बचे रहने की ज़रूरत है। पहली हिदायत की पाबंदी की जा सकती थी मगर दूसरी की बक़ौल ग़ालिब के 'यह कहां बचें कि दिल है!'

कुछ वक़्त गुज़रा। इस दौरान फ़ैज़ की सेहत आहिस्ता-आहिस्ता ठीक होती रही। अभी उनको बाहर निकलने की इजाज़त नहीं मिली थी। एक दिन जब वे एलिस के साथ बरामदे में बैठे थे अचानक *पाकिस्तान टाइम्स* से फ़ोन आया। फ़ैज़ ने फ़ोन उठाया, बात सुन ली और कुर्सी की पीठ से टेक लगाये कुछ देर तक ख़ामोश रहे। फिर एलिस की सवालिया नज़रों का जवाब देते हुए बताया, 'मुझे लेनिन अमन इनाम से नवाज़ा गया है'। ऐसे मौक़े पर कौन शांत रह सकता?

सोवियत यूनियन का आला इनाम दिये जाने की शानदार रस्म मास्को में होने वाली थी। लेकिन चूंकि पाकिस्तान में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का नाम हुक्काम के ज़ेरे नज़र अफ़राद की फ़ेहरिस्त में शामिल था, उनको अपनी मर्ज़ी से मुल्क से बाहर निकलना मना था। सिर्फ़ सदर-ए-पाकिस्तान की इजाज़त से वे मास्को जा सकते थे।

उम्मीद के ख़िलाफ़ यह इजाज़त उन्हें फ़ौरन मिल गयी। यह 1962 की बात थी जब अयूब ख़ां की हुकूमत ने अमरीका के मुकम्मल ख़ुशामदी टट्टू के रवैये से हट कर अंतर्राष्ट्रीय ताल्लुक़ात के मैदान में वह राजनीति अपनायी जो आज़ाद ख़ुद मुख़्तार, पाकिस्तान के क़ौमी फ़ायदों से ज़्यादा ताल्लुक़ रखती थी। उस वक़्त सोवियत यूनियन से ताल्लुक़ात में भी बेहतरी आयी हुई थी। इस तरफ़ हुकूमत की तरफ़ से फ़ैज़ के लिए मास्को जाने की राह में कोई रुकावट न थी।

यह फ़ैज़ का डॉक्टर ही था जिसने बहुत शोर मचाया और इस दौरे की सख़्त मुख़ालफ़त की। डॉक्टर का यह दावा था कि बीमारी के नतीजे में फ़ैज़ साहब का दिल काफ़ी कमज़ोर हुआ है, इसलिए फिलहाल हवाई जहाज़ में सफ़र करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। तब फ़ैसला किया गया कि डॉक्टर की बात को मद्देनज़र रख कर फ़ैज़ हवाई जहाज़ से नहीं बल्कि समुद्री जहाज़ से इटली के शहर मिलान तक जायेंगे और वहां से रेल गाड़ी में बैठकर आगे मास्को तक पहुंचेंगे।

एलिस भी साथ जाने की तैयारी करने लगीं। उनके दोस्त उनको मना रहे थे कि वे उस वक़्त अख़बारी काम को न छोड़ें। लेकिन *पाकिस्तान टाइम्स* छोड़ने का उनका फ़ैसला बहुत पहले पुख़्ता हो चुका था। और अब उनको अच्छा बहाना भी मिला कि फ़ैज़ की सेहत के पेश-ए-नज़र हर वक़्त उनके साथ किसी अपने का होना ज़रूरी था।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को लेनिन अमन इनाम अता करने की रस्म, मास्को क्रेमलिन के मशहूर हाल के शानदार माहौल में अदा की गयी। लेनिन इनामयाफ़्ता, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने रिवाज के मुताबिक़ एक तक़रीर की जिसका गर्मजोश तालियों से ख़ैरमक़दम किया गया था। यह तक़रीर *दस्ते-तहे-संग* में शायर के पेशलब्ज़ की हैसियत से शामिल हुई।

फ़ैज़ ने यह भी कहा कि मुझे यक़ीन है कि इंसानियत जिसने अपने दुश्मनों से आज तक कभी हार नहीं खायी अब भी विजयी होकर रहेगी।

आज इंसानियत की भावनाओं में डूबे इन शब्दों पर शायद कड़वी हंसी ही हो सकती है। लेकिन 1962 में इन ख़ूबसूरत अलफ़ाज़ ने दुनिया भर के उन बेशुमार वासियों की दिली इच्छा को आवाज़ दी थी, जिनके लिए वसीह पैमाने पर उन्नति तरक़्क़ीपसंद इंसानियत रायज थी। फ़ैज़ भी उन लोगों में से एक थे। उनको सियासी और समाजी बदी पर नेकी की जीत का यक़ीन था। वे यह भी मानते थे कि उस जीत की ख़ातिर जद्दोजहद करनी चाहिए लेकिन जद्दोजहद एक तजरीदी बात है जबकि हालात के मुताबिक़ जद्दोजहद के अपने नपे-तुले तौर-तरीक़े होते हैं। फ़ैज़ को इस बात पर कतई यक़ीन था इसलिए

वह नेकी की ख़ातिर जद्दोजहद के ख़ुद अपने तरीक़ों की जुस्तुजू में रहते थे।

अब पाकिस्तान में काफ़ी तब्दीलियां आयीं। फ़ौजी निज़ाम के साढ़े तीन बरस के बाद, हुक्मरान हलक़ों ने मुल्क में आईन और सियासी पार्टियों और तंज़ीमों पर से पाबंदी उठा ली। उसकी बदौलत सियासी और समाजी ज़िंदगी के मैदान में फ़ौरन सरगरमियां बढ़ीं।

फ़ैज़ ने अपने दोस्त सिब्ते हसन से मिलकर *लैल-ओ-निहार* निकालना शुरू किया। लेकिन उनके जैसे नज़रियात रखने वाले मुट्ठी भर लोगों के लिए मारशल लॉ की गिरफ़्त ढीली करने के बाद भी यह काम उनके बस से बढ़कर साबित हुआ। दो चार परचे निकलने के बाद इसे बंद करना पड़ा क्योंकि हुक्काम को वह 'बहुत ज़्यादा बायें बाज़ू का' नज़र आया था।

फिर फ़ैज़ अपनी पुरानी दिलचस्पी के मौज़ू, शक़ाफ़त की तरफ़ मुतवज्जो हुए। उन्होंने क़ौमी थियेटर, क़ायम करने के मंसूबे बनाये। एलिस के साथ मिलकर उन्होंने उस वक़्त के अदाकारों के ग्रुपों को ड्रामे स्टेज करने में बहुत मदद दी। रेडियो प्रोग्रामों में नयी जान डालने के लिए फ़ैज़ ने कई रेडियो ड्रामे लिखे। (याद रहे कि लाखों पाकिस्तानी ख़ानदानों के लिए रेडियो प्रोग्राम एक वाहिद क़िस्म का मनोरंजन होता था।) उन दिनों पश्चिमी मुमालिक के साथ पाकिस्तान के तालुक्क़ात ज़्यादा फैलने लगे। ख़ुद पाकिस्तानियों के लिए अपनी सांस्कृतिक जड़ों का मामला पूरी तरह साफ़ नहीं था। मुल्क के नामी वैज्ञानिक, अदीब और फ़नकार पश्चिम के मासमीडिया की परायी सभ्यता के सिलसिले में फ़िक्र-ओ-परेशानी ज़ाहिर करने लगे। क़ौमी वैज्ञानिक के मसायल और उसकी जड़ों की जुस्तुजू समाजी हलक़ों की तवज्जो का केंद्र बने। पाकिस्तान एक इस्लामी रियासत की हैसियत से वजूद में आया जिसका मतलब यह है कि इस्लाम न सिर्फ़ उसका रियासती मज़हब है बल्कि मुल्क की आबादी की नज़रयाती और सांस्कृतिक बुनियाद भी। मज़हबी कार्यकर्ताओं और सरकारी ओहदादारों के हिसाब से इस्लामी संस्कृति और इस्लामी नज़रिया ही सबसे महत्वपूर्ण है। इसका अहमतरीन नुक़्ता था : सिर्फ़ इस्लामी संस्कृति ही मुख़्तलिफ़ ज़बानें बोलने वाले और जुदा-जुदा क्षेत्रीय रीति रिवाज की पैरवी करने वाले लाखों लोगों को एक वाहिद पाकिस्तानी क़ौम में जोड़ सकती है।

बुनियादी दावा यह था कि पाकिस्तानी अवाम की तहज़ीब-ओ-सभ्यता की सब जड़ें इस्लाम से ही निकलती हैं। लेकिन इस नज़रिये के मुताबिक़ इस्लाम से पहले के सांस्कृतिक विरसे को तर्क़ करना चाहिए। (फ़ैज़ के जेल के ज़माने में रेडियो प्रोग्रोमों में हिंदुस्तानी क्लासिकी मोसीक़ी पर पाबंदी याद करें।) ग़ैर मुल्कों से पायी गयी उन सारी कलात्मक और साहित्यिक दौलतों से भी इंकार करना चाहिए जो सदियों के दौरान अपनायी जाती रहीं। इस तरह का इस्लामी नज़रिया संरक्षकों की तरक़्क़ी में एक रुकावट था। वह समझदारी और तर्क के भी उलट था क्योंकि इस्लाम के उन गिने-चुने संरक्षकों का नज़रिया अपनाने की सूरत में यह सवाल उठता था कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की प्राचीन तहज़ीबों की मशहूर यादगारों, ब्राह्मणवादी और बौद्ध तहज़ीब से पहले की, ईरानी तहज़ीब के क़दीम, यूनानी तहज़ीब के और मग़रिबी तहज़ीबों के उन सारे नक़ूश से मुतालिक़ क्या रवैया अख़्तियार करना चाहिए जो पाकिस्तान की सरज़मीन पर मौजूद हैं? सरहदी हिंदुस्तान में सदियों के दौरान बनने वाली तहज़ीब में से ख़ालिस इस्लामी धाराओं को किस बिना पर और किस तरह निकाल कर अलग कर दिया जाये? और आख़िरकार पाकिस्तानी समाज के उस पूरे हलक़े का क्या किया जाये जो अंग्रेज़ी ढंग से पाले पोसे गये हैं?

क़ौमी सभ्यता और इस्लाम, क़ौमी सभ्यता के मसायल, ऐतिहासिक विरसे और वर्तमान के दरमियान

क़ौमी असर का तालमेल, यह और कई दूसरे विषयों पर फ़ैज़ अक्सर अपने साथियों से गुफ़्तुगू और बहस करते थे। कल्चर के सवाल अख़बारों और पत्रिकाओं में उठाते थे और उन सब विषय पर अक्सर रेडियो और टेलीविज़न पर आलमी और दूसरे इदारों में तक़रीरें करते थे। 1978 में 'हमारी क़ौमी सभ्यताएं' के नाम से फ़ैज़ की किताब शाया हुई। उसमें मिर्ज़ा ज़फर-उल-हसन की कोशिशों और मेहनतों से कल्चर के मसायल पर फ़ैज़ अहदम फ़ैज़ के बिखरे हुए मज़ामीन, तक़रीरें और अन्य गद्य जमा किये गये थे। इस किताब में क़ौमी शक़ाफ़त में इस्लामी असर के मक़ाम, सभ्यता में बढ़त और दूसरे अहम सवाल पर विस्तार से रौशनी डाली गयी। मसलन पाकिस्तानी तहज़ीब के सवालों को साफ़-साफ़ रखते हुए फ़ैज़ ने लिखा :

> इस वक़्त जो हमारे इलाक़े का तहज़ीबी ढांचा है उसमें आपकी पुरानी दरबारी तहज़ीब भी शामिल है। उसमें मुख़्तलिफ़ अवामी तहज़ीबें भी शामिल हैं और एक सफ़ेदपोश तबक़े की आधी पश्चिमी आधी पूर्बी तहज़ीब भी शामिल है। अब यह सूरत-ए-हाल है और ये मसायल हैं। अब सवाल यह है कि उनसे कैसे निबटना चाहिए?

इसी किताब में पाकिस्तानी सभ्यता के भविष्य के हवाले से गुफ़्तुगू करते हुए फ़ैज़ ने एक ऐसा निज़ाम क़ायम करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जो हालात के मुताबिक़ हो, अवाम के लिए फ़ायदेमंद हो और मौजूदा तक़ाज़ों को पूरा करता हो। उन्होंने उन कार्यों पर भी रौशनी डाली जो उनके ख़याल में वर्तमान मुश्किलों से निबटने के लिए करना ज़रूरी था।

1976 में मास्को में एक मशहूर सोवियत रिसाले 'ग़ैरमुल्की अदब' के नामानिगार से मुलाक़ात में फ़ैज़ ने पाकिस्तान की शक़ाफ़त के ही मौज़ू पर गुफ़्तुगू करने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की। यह भी इसका एक सुबूत है कि उन दिनों शक़ाफ़ती मसला फ़ैज़ की नज़र में किस क़दर अहम था। इस रिसाले में छपी गुफ़्तुगू में बेशुमार सोवियत लेखकों ने बड़ी दिलचस्पी ली थी। इस विषय पर फ़ैज़ की वह नज़्म है जो शायद एक ख़ास मक़सद से अंग्रेज़ी ज़बान में लिखी गयी यानी पाकिस्तान के सब दानिशिवरों की अपनी दूसरी (और बाज़ लोगों की तो शायद पहली) ज़बान है। नज़्म का उन्वान है 'दि यूनिकार्न एंड दि डासिंग गर्ल'।

यूनिकार्न एक फ़र्जी असातीरी जानवर है, एक सींग वाले बैल की शक्ल में इस जानवर की सबसे पुरानी तस्वीर उन मोहरों पर मौजूद है जो सिंधु घाटी के क़दीम तरीन शहरों की खुदाई के वक़्त मिली। एक ऐसी मशहूर मोहर मोहनजोदड़ो से ताल्लुक़ रखती है। उस पर एक नर्तकी के साथ उसी यूनिकार्न का ख़ुदा हुआ नक़्श है। हज़ारों बरस पहले यूनिकार्न का पैकर एक सबसे अहम और पवित्र अलामत होता था। इसका जिक्र अथर्ववेद और महाभारत में मिलता है। मसलन आलमी सैलाब के बारे में असातीर में ऋषि मनु ने अपनी किश्ती को यूनिकार्न के सींग से ही बांधा था। बाद में यूनिकार्न की पताका पश्चिम के और यूरोप के शुरुआती असातीरी सिलसिलों में भी नमूदार हुई। दूसरी और तीसरी सदी के यूनानी राज्यों में यूनिकार्न ने पवित्रता और सतीत्व की अलामत की हैसियत अपनायी। इसी कड़ी से आधुनिक ईसाई परंपरा की जड़ें जुड़ती हैं और जिसकी रौ से यूनिर्कान का ताल्लुक़ हज़रत मरियम और हज़रत ईसा से किया जाता है। रेनासां की यूरोपीय चित्रकला में भी यूनिकार्न एक अहम अलामत की हैसियत से मशहूर था। यहां इसकी शक्ल बदल गयी : ज़माने-ए-बुस्त की मग़रिबी तस्वीरों में वह कभी घोड़े और कभी भेड़ की सूरत में नज़र आता है। लेकिन उसकी पहचान वही है एक बड़ा सा सींग। इन सब

असातीरी और सृजनात्मक परंपरा से फ़ैज़ अच्छी तरह वाक़िफ़ थे। यह कोई इत्तिफ़ाक़िया बात नहीं थी कि यूनिकार्न के निशान की तरफ़ उनका ध्यान गया। इस पैकर के ज़रिये शायर ने इंसानियत की हज़ारों साल पुरानी तारीख़ से पाकिस्तान के गहरे ताल्लुक़ पर ज़ोर देने का और विश्लेषण के तौर पर पाकिस्तान को यूरोप की तहज़ीबी परंपरा की तुलना में क़दीम वतन क़रार देने का मक़सद रखा। अफ़सोस कि इस तारीख़ी हक़ीकत से उन परंपराओं के बहुत ही कम वारिस आगाह हैं! नज़्म की शुरुआत इस तरह होती है :

यह कविता अंग्रेज़ी में लिखी गयी थी और हम इसका हिंदी अनुवाद दे रहे हैं :

पाकिस्तान में और एशिया के दूसरे इलाक़ों में
और अफ़्रीक़ा जहां गुज़रा वक़्त है आज का वक़्त
और वो माज़ी वो अतीत
जिसे आदमी ने न इतिहास ने याद रखा
जब न था कोई वक़्त
या बस लावक़्त
उस मौत की नगरी का
और अनाम संतों की मज़ारों का
जिनके तार-तार पैकरों के तले
न जुटता कोई किसी संघर्ष के लिए

अपनी सरज़मीन की तारीख़ को शायर ने यूनिकार्न और नर्तकी इन दो अलामती किरदारों में समो दिया है। शुरू में एक शहर का ज़िक्र हुआ है। उसे मौत का और बेवक़्ती का शहर बताया गया जिसका सदर यूनिकार्न था :

उस यूनिकार्न का लावक़्त
बरतन भांडों पर शासन करता
हथियारों और अहंकारों पर
उस मौत की नगरी का

लेकिन फिर एक नर्तकी नमूदार हुई जो वक़्त की और गति की अलामत की हैसियत रखती है। उसके नृत्य से वक़्त की पैदाइश हुई और ज़माना हरकत में आया :

थिरकते अंग इस नर्तकी के
ललकारते स्तब्ध यूनिकार्न को
और उनके उत्सवों का चंचल जल
लपकता समुद्र को
और जन्म लेता समय

शायर की कलम की जुम्बिश के जादू से काम करने वालों की आंखों में क़दीम क़ौमों की ज़िंदगी की जानदार तस्वीरें झलक उठती हैं। सदियां गुज़र जाती हैं :

और नगर उपजे मैदानों पर
जो मरकज़ बने अनंत कारवां के
इनसानी क़दमों ने चाप धरी
लावक़्त पर्वत पर दस्तक दी
पाथियन, बैक्ट्रियन, हून और सीथियन
अरब, तातार, तुर्क और गोरे
जब खुला वक़्त का पहला धागा
यूनिकार्न जो है अतीत
अंधे खुरों से जकड़ उसे
लपेट लिया और क़ैद किया अपने भीतर

किसी भेदभरी दास्तान के अंदाज़ में यूनिकार्न के दायरे में रहने वाले इनसानों की तारीख़ का क़िस्सा जारी रखते हुए फ़ैज़ ने बताया कि यूनिकार्न ने अपने देश में वक़्त को चक्र में बंद करके, तरक़्क़ी को रोक दिया था। नृत्य करने वाली लड़की अपने नृत्य के चक्करों में बंध कर रह गयी। इनसान चक्कर काटते हुए एक जगह पर रहते रहे। उसकी वजह इस तरह बतायी गयी :

वह काल का चक्र
और रीति रिवाज
अनजानी शक्तियों का चक्र
निर्धारित है जिसपर सुंदरता
की मृत्यु, जीवन का अंत
और महानगरों का ख़ाक में मिलना

इसी चक्कर को तोड़ने की इनसानों की कोशिश पहले नाकाम रही और उन्होंने हथियार डाल दिये थे :

चुपचाप बोझ स्वीकारे
जीवन का, अंधे बैलों से
गिने दिनों को जीते
चक्र को ढोते
चक्र जो था काल
बोझ जो था कर्म
डर और इच्छा और दर्द
मुरझाती उम्र का
जिससे आती मौत रहमत की तरह
और ज़ालिम, दिल जिसका
सदा रहम से ख़ाली

इसी तरह सदियां गुज़र गयीं लेकिन आख़िरकार नया ज़माना आया :

फिर कोशिश और जतन से
ग़म, ख़्वाब, जरस और तड़प से

अनगिनत बंदों की
अनकही सदियों में
ज़ंजीर झटक के
तोड़ के चक्र
ताल की मस्त दीवानगी छूटी

और जब यह जादू का चक्र टूटा तो ज़माने की तरक़्क़ी होने लगी। ज़िंदगी की ख़ुशी और नृत्य की फ़तह हुई और यूनिकार्न एक नक़्श बनकर रह गया जो अब पाकिस्तान में अक्सर कपड़े पर या दीवारों पर एक तस्वीर की सूरत में नज़र आता है।

मोहनजोदड़ो का यूनिकार्न पाकिस्तान का एक क़ौमी सांस्कृतिक निशान और पाकिस्तान की तारीख़ की एक अलामत बन गया है। उस तारीख़ की जो दुनिया की तहज़ीब जैसी पुरानी है। इस नज़्म में यूनिकार्न की अलामत मग़रिबी मुमालिक से पाकिस्तान की बराबरी की तरफ़ ही नहीं बल्कि उन पर यूनिकार्न के वतन की बरतरी की तरफ़ भी साफ़ इशारा किया गया है :

जन्मा वक़्त तब लावक़्त से
हर जन्म सा बेहतर
हसरत, आशा, सुख, ख़ौफ लिये
जन्म जिसका पाकिस्तान में
या एशिया के नये आज़ाद देशों में
या अफ़्रीक़ा में
है नन्ही सी पताका विद्रोह की
डर, भूख, पीड़ा
और चाहत
और इनसानी दिलों की
मौत के ख़िलाफ़

यह नज़्म उर्दू में तर्जुमा करके उसे अपने नये मज़मुए में शामिल करने का फ़ैज़ का नेक इरादा तो था लेकिन हमेशा की तरह दूसरे फ़ौरन करने वाले काम शायर को अपनी तरफ़ खींचते रहे। आज रूस समेत कई मुमालिक के क़ारीन अपनी-अपनी ज़बानों में इस नज़्म का तर्जुमा पढ़ सकते हैं लेकिन उर्दू में इसका तर्जुमा अभी तक नहीं हुआ।

और अब फ़ैज़ की हयात की कहानी पर लौट आयें। उनको बाहर से एक बार फिर दावतनामा मिला और शेरगोई में फिर से रुकावट पड़ी। पहले की तरह अब भी समाजी सरगर्मियों ने शायरी का वक़्त ले लिया। 'इश्क़' के बरख़िलाफ़, जिसमें शेरगोई भी शामिल थी, समाजी और सियासी सरगर्मियों ने शायरी का वक़्त ले लिया। फ़ैज़ सियासी और समाजी गतिविधियों को कर्म या काम कहते थे। काम या इश्क़ (यानी शायरी) पर तरजीह के मुश्किल फैसले में फंसा होना फ़ैज़ के लिए एक मामूली हालत होती थी। 1984 में लिखी हुई मज़ाहिया नज़्म 'कुछ इश्क़ किया कुछ काम किया' उनकी इस तरह की कैफ़ियत की आईनादार है :

वह लोग बहुत ख़ुशकिस्मत थे
जो इश्क़ को काम समझते थे
या काम से आशिक़ी करते थे
हम जीते जी मसरूफ़ रहे
कुछ इश्क़ किया कुछ काम किया
काम इश्क़ के आड़े आता रहा
और इश्क़ से काम उलझता रहा
फिर आख़िर तंग आकर हमने
दोनों को अधूरा छोड़ दिया!!

लेकिन लेनिन शांति पुरस्कार के बाद अंतर्राष्ट्रीय मैदान में फ़ैज़ की इज़्ज़त ज़्यादा बढ़ी। अब उनको अदीबों की अंजुमनों, अमन काउंसिल और मुख़्तलिफ़ जम्हूरी तंज़ीमों की तरफ़ से दावतनामे आते रहे। उन दौरों के लिए तक़रीरों और तहरीरों की तैयारी पर भी फ़ैज़ को बहुत वक़्त लगाना पड़ता था। सोशलिस्ट मुल्कों में पाकिस्तानी शायर की ख़ास क़द्र की जाती थी। उन तक़रीबन सारे मुल्कों की ज़बानों में उनके कलाम का अनुवाद हुआ और इसकी बदौलत उनकी शोहरत को चार चांद लग गये। दुनिया के भ्रमण के फ़ैज़ के रास्ते चीन और क्यूबा, अमरीका और मंगोलिया से गुज़रते थे। अल्जीरिया, मिस्र, तियूनिख़, शाम, ईराक़ में इंक़लाब नवाज़ दास्तानों के नुमाइंदे अदीब और शायर फ़ैज़ के क़रीबी दोस्तों में शामिल हुए। लेबनान तो उनकी ज़िंदगी का ख़ास हिस्सा बना। कई बरस फ़ैज़ बैरूत में ज़िलावतन होकर रहे और लेबनान की बरबादी के चश्मदीद गवाह बन गये।

फ़ैज़ की यात्राओं में यूरोप के शहरों में से लंदन बेशक पहले नंबर पर था। यहां एलिस के रिश्तेदारों के अलावा फ़ैज़ के वे हमवतन भी रहते थे जिनका ताल्लुक़ अदबी हलक़ों से था। यहां हमेशा उनके आने का इंतज़ार रहता था। लेकिन फिर भी ग़ालिबन यह सोवियत यूनियन ही था जहां फ़ैज़ का सबसे जुरखुलूस, सबसे गर्मजोश और मोहब्बत से स्वागत किया जाता था।

अनुवाद : नूर ज़हीर
मो : 09811772361

उनका दूसरा घर : मास्को में हिंदुस्तान का दूतावास*

इंद्रकुमार गुजराल

यह संस्मरण अपने आप में ऐतिहासिक महत्व रखता है, चूंकि फ़ैज़ की ज़िंदगी, उनकी सृजनात्मक यात्रा और उनके जीवन-संघर्ष के विभिन्न पड़ावों की एक विश्वसनीय तस्वीर इसमें मौजूद है। वैसे गुजराल साहब लाहौर के कालेज के दिनों में उनके शिष्य थे, पर बाद में यह रिश्ता पक्की दोस्ती में तब्दील हो गया था। फ़ैज़ की निजी ज़िंदगी में गुजराल साहब की अच्छी पैठ थी और इसके साथ ही उनकी शायरी से उनका गहरा लगाव भी। सं.

फ़ैज़ ने एक बार लिखा था :

अब कोई पूछे भी हम से तो क्या शरह[1] हालात लिखें
दिल ठहरे तो दर्द सुनायें और दर्द थमे तो बात करें

दिसंबर 1983 ई. में इस्लामाबाद में एक अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेस के लिए मुझे भी निमंत्रण-पत्र मिला। पुराने दोस्तों से मिलने की इच्छा और अपना पुराना देश देखने का उत्साहपूर्ण आकर्षण तीन सप्ताह के लिए वहां ले गया, लेकिन जाने से प्यास बढ़ी, कम नहीं हुई।

लाहौर से मेरा विशेष संबंध बहुत गहरा था। इसी शहर की गलियों और सड़कों पर जवानी का बड़ा हिस्सा कटा था। वही यूनिवर्सिटी की पुरानी बिल्डिंग, वही मेरे कॉलिज और हॉस्टल, वही रोड पर बनी मेरी ससुराल की कोठी जहां हमारी शादी हुई थी। उस शाम की यादें उमड़ कर कौंध आयीं जब बारात में फ़ैज़ और मज़हर अली बाराती थे। यह बात तो फ़ैज़ भी नहीं भूले थे। मेरी पत्नी से मिलते ही पूछा 'अपना घर देख आयी हो ना?'

लाहौर में वह ऐतिहासिक ब्रेडला हॉल भी और लाजपत राय भवन भी थे जहां बक़ौल मजाज़

फ़ितरत ने सिखायी थी हमको उफ़ताद[2] यहां परवाज़[3] यहां
गाये थे वफ़ा के गीत यहां छेड़ा था जुनूं का साज़ यहां

और इसी जुनून ने फ़ैज़ से भेंट भी करवायी थी। इस्लामाबाद में कांफ्रेंस समाप्त हुई तो पेशावर से होते हुए लाहौर पहुंचे। फ़ोन पर बात तो पहले ही हो चुकी थी। सूचना मिलते ही फ़ैज़ और एलिस हमारे

1. हालात का खुला बयान।
2. परेशानी, तंगी।
3. उड़ान।

होटल आ गये। यूं तो निमंत्रण था कि हम दोनों उनके यहां ठहरें। लेकिन उनका घर शहर से बाहर मॉडल टाऊन में था और हम बहुत सारे मित्रों से मिलने के इच्छुक थे। और इससे अधिक इच्छा थी उन गलियों और सड़कों पर घूमने की जो जानी-पहचानी थीं। वैसे भी फ़ैज़ आदतानुसार बाहरी दिखावे से घृणा करते थे। हमारी विवशता के कारण उन्हें उचित लगे।

उन दिनों हिंदुस्तान की क्रिकेट टीम भी लाहौर में मैच खेलने गयी थी। हमारे राजदूत हुमायूं कबीर ने उनके सम्मान में हमारे ही होटल में एक दावत दे रखी थी। ज्यों ही उनको मालूम हुआ कि फ़ैज़ और एलिस मेरे कमरे में हैं तो अपने अमले के साथ आ गये। फ़ैज़ से उनकी भेंट तो न थी लेकिन इस बहाने से उनका परिचय हो गया और हम सभी पार्टी में जा पहुंचे। पार्टी तो परहेज़गारों की थी। हर प्रकार के कबाब तो उपलब्ध थे लेकिन पाकिस्तानी क़ानून शराबबंदी पर अड़े थे। काफ़ी देर तक फ़ैज़ कोकाकोला किस्म के ड्रिंक्स पर सब्र करते रहे।

मास्को के बाद फ़ैज़ से मेरी भेंट लगभग दो वर्ष बाद हो रही थी। चेहरा कुछ ढला हुआ था, और चाल भी पहले से धीमी (थी)। मैंने एलिस से कारण पूछा। कहने लगीं डॉक्टरों ने दिल के विषय में शंका प्रकट की थी लेकिन अब उनको तसल्ली हो गयी है; और फ़ैज़ आदतानुसार सिगरेट की झड़ी लगा रहे थे। लेकिन यह कोई पहली बार तो था नहीं कि डॉक्टरों ने उनको कुछ संयम[4] की सलाह दी थी। मास्को में भी एक बार डॉक्टरों ने उनको अस्पताल में बंद कर दिया था। यूं तो उनके लिए वहां ठहरना अच्छा था। डॉक्टर ज़ेड. ए. अहमद, हाज़रा बेग़म , पी.सी. जोशी उन दिनों वहीं थे और अस्पताल में उनकी आपस में ख़ूब छनती थी। एक दिन मुझसे फ़ोन पर कहने लगे 'भाई जब मिलने आओगे तो हमारी प्यास का ध्यान करते आना'। मैंने कहा 'ग़ज़ब कर रहे हैं आप, डॉक्टरों ने आपको कड़ाई से मना कर रखा है।' 'अरे भाई, तुम भी ख़ूब हो, डॉक्टरों ने मुझे मना किया है, आपको नहीं और यूं भी डॉक्टर अहमद बुरा मान रहे हैं'। लेकिन ग़ज़ब तो यह हुआ कि उन्हें मृत्यु उस समय आयी जब लगभग एक वर्ष से वे परहेज़गार हो गये थे और जो लोग हाल ही में उनसे लंदन में मिलकर आये थे वे इस बात की गवाही दे रहे थे कि वे अब पहले से अधिक स्वस्थ लग रहे हैं।

अगले दिन शाम को हम दोनों खाने के लिए उनके घर पहुंचे। एलिस ने केवल अपनी दोनों बेटियों और दामादों को बुलाया था सलीमा और मुनीज़ा बहुत पहले भी हमारे पास आ चुकी थीं जब वे बहुत छोटी थीं। अब तो उनके बच्चे बहुत प्यारे लग रहे थे। फ़ैज़ को तो पता था कि मैं हमेशा से ही बोतल से दूर रहता हूं लेकिन फिर भी हिंदुस्तानी ह्विस्की मौजूद थी। 'अरे।' मैंने पूछा ये कैसे?' 'हम तो सुनते हैं कि क़ानून अब घरों के अंदर भी हिसाब-किताब करने वाले भिजवा देता है। और फिर यह हिंदुस्तानी ह्विस्की यहां कैसे पहुंची।' 'अरे सब चलता है मियां। हम और कौन से आदेश मान रहे हैं जो इस पर पाबंद रहें।' कराची में किसी ने चुटकुला सुनाया था कि अकेले पीना ज़्यादा ख़तरनाक है क्योंकि ज़िया साहब के राज में अब दीवारों की भी आंखें होती हैं। लेकिन बड़ी पार्टी में आसान है। शर्त केवल यह है कि पार्टी के साइज़ की संख्या के अनुसार किसी ख़ास पद के फ़ौजी अफ़सर को भी दावत दे दीजिए। उस दिन बात अधिकतर राजनीतिक विषयों पर ही रही। बदलती हुई परिस्थितियों में हिंद-पाकिस्तान के संबंधों, अफ़ग़ानिस्तान में रूस के प्रवेश का प्रभाव भिन्न-भिन्न लोगों पर अलग-अलग था। वामपंथ

4. शराब छोड़ना।

उसमें ख़तरा महसूस नहीं करता था। बल्कि उनके दृष्टिकोण में यह सब न होता यदि पाकिस्तानी सरकार अमेरिका की खिलौना न बनती और सोशलिस्ट निज़ाम को तुड़वाने के प्रयास में भागीदार न होती। एक और सोच (समझ) अधिक थी कि इस मौक़े पर पाकिस्तानी प्रोग्रेसिव संगठनों को भारत से संबंध सुधारने के प्रयास करने चाहिए। उन्हीं दिनों फ़ैज़ बैरूत से लौटे थे। वहां के लोगों की बदहाली ने उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा था। उस दौर की नज़्में उस पीड़ा को व्यक्त करती हैं। उस शाम हमने उनसे फ़िलिस्तीनी बच्चे के नाम 'लोरी' सुनी।

अभी कुछ महीनों पहले दिल्ली में हम लोगों ने मिलकर फ़ैज़ के सतरवें जन्मदिन का उत्सव मनाया था। फ़ैज़ के दामाद हाशमी साहब कहने लगे कि उसका प्रभाव पाकिस्तान के लोगों पर बहुत गहरा था। 'महीनों लोग हिंदुस्तान के लोकतांत्रिक और लिबरल समाज की बातें करते रहे। बहुत से लोगों ने तो उस हिंदुस्तानी टीवी के प्रोग्राम की कैसिट्स भी बना ली थीं। लेकिन हमारे यहां की भी सुनिए, फ़ैज़ तो यहां थे नहीं। यहां भी एक जन्मदिन कमेटी बनायी गयी। समाचार निकलते ही उसके सब सदस्य मेरे साथ गिरफ़्तार कर लिये गये और हमने जन्मदिन पुरानी अनारकली के थाने के गंदे सेल में गुज़ारा।'

और फिर वे बताने लगे कि 'इसी थाने में एक रोचक घटना हुई। हमारे साथ न जाने क्यों पुलिस वाले एक नौजवान मौलवी को भी पकड़ लाये थे। वह बेचारा परेशानी में बहुत रो रहा था और बार-बार कहता था कि मैं तो जनरल साहब का समर्थक हूं, मुझे पकड़ने में कोई ग़लती हुई है। इसमें से किसी ने कहा कि अरे साहब हम सब भी तो ज़िया साहब के कृपापात्र और समर्थक थे। लेकिन कल रात कुछ फ़ौजी अफ़सरों ने ज़िया साहब को बाहर कर दिया है। इसलिए उनके सभी समर्थक पकड़े जा रहे हैं।' बाहर खड़ा संतरी सुन रहा था। वह दौड़ा थानेदार को बताने। थानेदार ने तुरंत किसी को फ़ोन किया। जवाब में डांट पड़ी तो हमारे पास आकर कहने लगा 'आपका यह मज़ाक हमको तो चौपट ही करने वाला था। खुदा का शुक्र है कि अफ़सर मेहरबान था।' यह हमारी अंतिम भेंट थी। अगले दिन हम वापस दिल्ली आ रहे थे। पिछले वर्ष मैंने उनको अंबाला के मुशायरे में भागीदारी करने के लिए लिखा लेकिन उन्हें दिल का दौरा पड़ा गया इसलिए यहां आने के बजाय अस्पताल में भर्ती हो गये। मज़हर ने उनकी बीमारी की सूचना भेजी और साथ ही वह नज़्म जो उन्होंने मेव अस्पताल में लिखी थी। हमेशा की तरह उसमें दुख भी था और संकल्प भी :

इस वक़्त तो यूं लगता है अब कुछ भी नहीं है
महताब, न सूरज, न अंधेरा, न सवेरा
आंखों के दरीचों[5] में किसी हुस्न की झलकन
और दिल की पनाहों में किसी दर्द का डेरा
मुमकिन है कोई वहम हो, मुमकिन है सुना हो
गलियों में किसी चाप का इक आख़िरी फेरा
शाखों में ख़यालों के घने पेड़ की शायद
अब आके करेगा न कोई ख़्वाब बसेरा
इक बैर न एक महर, न इक रबत,[6] न रिश्ता

5. झरोखों
6. ताल्लुक़, मेल-जोल।

तेरा कोई अपना न पराया न कोई मेरा
माना कि ये सुनसान घड़ी सख़्त कड़ी है
लेकिन मेरे दिल ये तो फ़क़त एक घड़ी है
हिम्मत करो जीने की अभी उम्र पड़ी है

फ़ैज़ की शायरी में जहां दुख की गहराई है, उसके साथ ही हिम्मत और संकल्प हमेशा (हमें) आशा की ओर ले जाते हैं।

लंबी क़ैद और यह डर कि फांसी की सज़ा न हो जाये, इस सोच को कम न कर पाये, बल्कि उनकी शायरी को चार चांद लगाते रहे 'लंबी है ग़म की शाम मगर शाम ही तो है।' यूं तो रावलपिंडी केस से पहले भी सबकी तरह कई बार उन पर भी निराशा का दौर दिखायी देता है। मगर बहुत कम।

ये बज़्म चरागां देती है, इक ताक़ अगर वीरां है तो क्या

और या

शीशों का मसीहा कोई नहीं क्यों आस लगाये बैठे हो

लेकिन उनकी शायरी की ख़ूबसूरती यह थी कि इस दुख और निराशा के पीछे परिवेश के दुख-दर्द की कहानी है जिसे वे ख़ूबसूरती से अपने में आत्मसात कर और भी परिष्कृत कर पेश कर देते हैं। फ़ैज़ की ज़बान, उनकी रूमानियत और क्रांति ने ही हमारी पीढ़ी को उनकी ओर आकर्षित किया था। अब तो बात बहुत पुरानी लगती है। बड़ी लड़ाई (द्वितीय विश्वयुद्ध) पूरे उफान पर थी। कहना कठिन था कि अंत में हिटलर जीतेगा या हारेगा। लेकिन हिंदुस्तान के स्वाधीनता संघर्ष को पूरा विश्वास था कि उसके पूरे होने की घड़ी आ पहुंची है। मैं उस दौर में कॉलेज के आख़िरी दिनों में था। लेकिन पढ़ाई से अधिक उलझाव था। वामपंथ की राजनीति के साथ था और इस कारण हमें जेलबंदी हुई थी। हम जैसे लोगों के राजनीतिक स्वप्न स्वतंत्रता के भी अगले पड़ाव के बारे में ही सोचते थे। इसीलिए युगीन सामाजिक-साहित्यिक संबंध और क्रांति के पारस्परिक प्रभावों पर अक्सर बहस रहती थी। उसी दौर में प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन भी उभर कर सामने आ रहा था। नये लिखने वालों में फ़ैज़ की (विशिष्ट) शैली के चर्चे चल निकले थे।

अचानक ही हमारे कॉलेज में सूचना आयी कि फ़ैज़ अमृतसर छोड़कर लाहौर हमारे ही कॉलेज में अंग्रेज़ी साहित्य के लेक्चरर होकर आ रहे हैं। आश्चर्य हुआ क्योंकि सिर्फ़ हमारा कॉलेज सरकारी ही नहीं था, बल्कि हमारे प्रिंसिपल अंग्रेज़ थे, लेकिन थे बड़े खुले दिमाग़ के आदमी। स्वाधीनता आंदोलन के प्रति उनकी सहानुभूति थी, शायद इसलिए (ही) फ़ैज़ के चुनाव में उनको कोई परेशानी न थी। किसी सीमा तक अदृश्य परिचय तो था ही, थोड़े ही दिनों में हमारा संबंध शिष्य-गुरु की सीमा पार कर गया और एक लंबी मित्रता की आधारशिला पड़ी।

उठती जवानी में कई आकर्षण एक साथ प्रकट होते हैं और हम लोगों के लिए क्रांति के कई अर्थ थे। उसमें देस से दोस्ती भी थी, सामाजिक संबंधों को बदल देने का संकल्प भी था। नये प्रकार की शायरी से रुचि थी और उस पीढ़ी में हमारे मित्र साहिर और सरदार जाफ़री जैसे शायर अपनी प्रतिभा दिखा रहे थे। लेकिन उन सब चेहरों और रुझानों में रूमानियत का अंश हावी रहता था। इसीलिए फ़ैज़ की उस समय भी शायरी हमारी उन सभी भावुक बहसों की प्रतिनिधि थी और दिल में उतर जाती थी। हमारा

कोई भी सहयोगी या मित्र ऐसा न होगा जिसको *नक़्शे-फ़रियादी* याद न हो या दैनिक जीवन में 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' की बात न करता हो।

फ़ैज़ की प्रसिद्धि का एक कारण उनकी सादा और आम बोलचाल की भाषा ही थी। उस दौर में कॉडवेल की पुस्तक 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका आज भी याद आती है जिसमें उसने कहा था कि शायरी एक रूमान भी है क्योंकि उसका संबंध भाषा और समाज से है, इसलिए उसको अलग नहीं किया जा सकता। यही बात फ़ैज़ ने अपने ढंग से प्रस्तुत कर दी है। उस दौर में जॉन फ्रिमेन की आत्मकथा *New Testament* की भी चर्चा चली और उसने वामपंथ के समर्थकों में एक नकारात्मक क़िस्म की हलचल पैदा कर दी। फ्रीमेन किसी दौर में कम्युनिट थे मगर अब कम्युनिज़्म छोड़ चुके थे। शायर भी थे इसलिए उनके बारे में राय भी अलग-अलग थी। लेकिन उनके जीवन की एक घटना बड़ी ख़ूबसूरती से कही गयी है। अपने यूनिवर्सिटी के दिनों में उनकी भेंट एक ख़ूबसूरत लड़की से हुई जिसने उनसे एक दिन पूछा कि कॉलेज छूटने के बाद आप क्या करेंगे?' 'शायरी और क्रांति'। लड़की को यह विचार बड़ा ख़ूबसरूत दिखायी दिया लेकिन उसने उचित यही समझा कि उभरते प्रेम को छोड़कर किसी ख़ुशहाल नौजवान (युवक) से शादी कर ली जाये। फ़ैज़ भी तो शायरी और क्रांति (इंक़लाब) को अपना चुके थे लेकिन उनका भाग्य फ्रीमेन से बेहतर था। यह सूचना कि फ़ैज़ एक अंग्रेज़ औरत से शादी कर रहे हैं और वह भी इंग्लिस्तान गये बिना, बड़ी आश्चर्यजनक लगी। लेकिन उसमें भी फ़ैज़ की अपनी विशिष्टता थी। एलिस अपनी बहन मिसेज तासीर से मिलने अमृतसर आयी हुई थी कि फ़ैज़ से भेंट हो गयी। हमख़याली ने प्रेम-संबंध को मज़बूत व अटूट कर दिया। जिस दौर में फ़ैज़ लाहौर आये उस समय तासीर श्रीनगर में प्रिंसिपल होकर चले गये, इसलिए शादी वहां रचायी गयी और निकाह स्वर्गीय शेख अबदुल्लाह ने पढ़ाया। बाद के वर्षों में शेख़ साहब उसकी अक्सर चर्चा किया करते थे। शादी में कश्मीर नेशनल फ्रंट के सारे बड़े नेता शामिल हुए थे। सादिक़ साहब और बख़्शी ग़ुलाम मुहम्मद के साथ फ़ैज़ की मित्रता उसी समय आरंभ हुई। फ़ैज़ को क़ुदरत ने बहुत-सी नेमतों से नवाज़ा था। लेकिन एलिस जैसी पत्नी बहुत कम लोगों के भाग्य में होती है। जिस ढंग और बांकपन से फ़ैज़ की पत्नी ने मुश्किलों के दिन काटे हैं, वह उनकी सराहनीय हिम्मत का सबूत है। ब्रिटिश सेना में शामिल होकर जंग में भाग लेने के कारण वामपंथी कलाकारों और सोचने वाले कुछ और दोस्त यह महसूस करने लग गये थे कि पहली बात नाज़ी बर्बरता को हराने की है और हिटलर की जीत के परिदृश्य में कोई क्रांतिकारी और प्रगतिशील शक्ति उस यथार्थ को अनदेखा नहीं कर सकती। यह सोच फ़ैज़ और मज़हर अली जैसे भावुक लोगों को फ़ौज में ले गयी और फ़ैज़ कॉलेज की नौकरी छोड़कर दिल्ली आये। मैं कॉलेज ख़त्म करके कराची चला गया था। कुछ दिनों के लिए दिल्ली आया। उस दौर में नयी दिल्ली भी कुछ और ही थी। रात को 'ब्लैक आऊट' होता था। और इंडिया गेट के उस ओर तो था ही जंगल। फ़ैज़ साहब को घर मिला था लोधी एस्टेट में। रात में उनके साथ खाना तो मैंने मान लिया लेकिन तांगे पर वहां पहुंचते-पहुंचते पसीना निकल गया। अब फ़ैज़ साहब के सामने दो ही रास्ते थे कि या तो मुझे अपनी पुरानी ऑस्टिन गाड़ी में वापस पहुंचायें या रात को ठहरने का प्रबंध करें।

फिर तो पाकिस्तान बन गया। हम लोग 'देश बाहर' होकर दिल्ली आ गये। फ़ैज़ वापस लाहौर चले गये। कुछ वर्षों तक संबंध स्थगित हो गये। अब फ़ैज़ के जीवन में एक नया दौर आरंभ हुआ। मियां इफ्तखारूद्दीन ने *पाकिस्तान टाइम्स* और *इमरोज़* का उद्घाटन किया। फ़ैज़ और मज़हर अली उसके

एडिटर और ज्वाइंट एडिटर नियुक्त हुए। यहां हम लोग यह समाचार सुनकर उनके भाग्य पर नाज करने लगे। यहां तो दिन-रात मकानों की अलॉटमेंट और राशनकार्डों के चक्कर में कटते थे। और वे नये देश में नये मूल्यों के रुझान बना रहे थे। लेकिन न ही उनकी वह स्थिति बहुत दिनों तक रही और न अपनी। अयूब खान का राज आया तो *पाकिस्तान टाइम्स* और *इमरोज़* को सरकार ने दबोच लिया और अब भी वह सरकारी ट्रस्ट की संपत्ति है। कुछ ही दिनों बाद रावलपिंड़ी साज़िश केस का ड्रामा रचाया गया। फ़ैज़ और सज्जाद ज़हीर लंबे समय के लिए जेल में बंद हो गये। थोड़े ही दिनों बाद मियां इफ्तखारूद्दीन की मृत्यु हो गयी।

वे अपने समय में बड़े ठाठ के इनसान थे। ऑक्सफोर्ड में पढ़ते-पढ़ते क्रांतिकारी बन गये। वापस आने के बाद पंजाब कांग्रेस के अध्यक्ष जवाहर लाल जी के साथ उनका बिलकुल निकट का संबंध था। मेरे पिता और वे जेल में दो बार इक्ट्ठा हुए थे। उनका संबंध फ़ैज़, महमूद अली, मज़हर अली और हम जैसे वामपंथी लोगों के साथ बहुत गहरा था। फ़ैज़ को उनकी मृत्यु पर बहुत शोक हुआ। और जेल से उन्होंने एक दर्दनाक मर्सिया लिखा :

करो कज जबीं[7] पे सरए कफ़न/ मेरे क़ातिलों को गुमां न हो
कि ग़रूरे इश्क़ का बांकपन/परो मर्ग[8] हमने भुला दिया

जब हम लोगों ने यहां उस शेर को सुना तो हिंदुस्तान की राजनीति एक नया मोड़ ले रही थी। कांग्रेस दो हिस्सों में बंट रही थी। जिस दिन इंदिरा जी को कांग्रेस से निकाल दिया गया तो मैंने उनको यही शेर लिखकर भेज दिया। उनको बहुत भाया। वैसे तो वे शेर याद करने में सिद्धहस्त न थीं। फिर भी कई बार कह देती थीं 'क्या था वो फ़ैज़ का शेर।'

फ़ैज़ का संबंध पंडित जी और इंदिरा जी से बहुत निकट का था। 1955 ई. में जब फ़ैज़ दिल्ली आये तो पंडित जी ने पूरी शाम उनके साथ बितायी। 1971 ई. के बाद पाकिस्तान में स्थिति ने पलटा खाया। भुट्टो के दौर मैं फ़ैज़ नेशनल आर्ट्स कौंसिल के डायरेक्टर बने तो दिल्ली आये। मैं उन दिनों इंफ़ार्मेशन एंड ब्रॉडकास्टिंग मिनिस्टर था। कहने लगे 'दो काम करो एक तो शीला भाटिया का प्रसिद्ध आपेरा 'हीर रांझा' और दूसरे अपने भाई सतीश गुजराल की तस्वीरों की प्रदर्शनी पाकिस्तान भिजवाओ। मैंने कहा कि सिद्धांततः तो आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन हमारी भी एक शर्त है कि आप दिल्ली टी. वी. पर अपना पूरा प्रोग्राम प्रस्तुत कर दें। फ़ैज़ साहब ने तो अपनी बात पूरी कर दी लेकिन न ही शीला भाटिया का ऑपेरा और न ही सतीश गुजराल पाकिस्तान जा पाये। अभी संबंध ही कुछ ऐसे थे और उन दिनों भुट्टो के तौर-तरीक़े बदल रहे थे। फ़ैज़ इससे निराश हो रहे थे लेकिन कोशिश में थे कि भुट्टो और उनके साथी सामने आने वाले दिनों को देखें। फ़ैज़ उन लोगों में थे जो महसूस करते थे कि भुट्टो अपनी ग़लतियों से सिर्फ़ फ़ौजी राज ही का पथ निर्मित कर रहे हैं। लेकिन ये होकर ही रहा। हमारे यहां भी इतिहास एक पन्ना उलट कर इमरजेंसी ले आया। फ़ैज़ ने सोचा कि शायद इमरजेंसी केवल वामपंथ को तोड़ने के लिए लायी गयी है लेकिन वे शीघ्र ही इसके तेवर समझने लगे। जब हम मिले, फ़ैज़ ने कहा यह तुमने ख़ूब किया। पाकिस्तान को लोकतांत्रिक रास्ते पर लाने के बजाय तुम लोग ही ढलक गये।

7. माथा या ललाट।
8. मौत के बाद।

जनरल ज़िया का दौर आया तो फिर से दिल में घुटन और बुद्धिजीवियों की पकड़-धकड़ शुरू हो गयी। फ़ैज़ तो किसी तरह निकलकर मास्को आ गये लेकिन एलिस और बच्चों को बहुत देर तक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तब तक इमरजेंसी के दौर ने मुझे भी मास्को धकेल दिया था। फ़ैज़ जब मिले तो उन्होंने कहा : 'सितम सिखलायेगा राहे वफ़ा ऐसा नहीं होता' और उनकी नज़्म 'मेरे दिल मेरे मुसाफिर' तो बस दिल में ही उतर गयी। हमको तो उनके देशनिकाले का बहुत लाभ हुआ। हिंदुस्तान का दूतावास उनका दूसरा घर था और शाम को हमारे यहां आ जाया करते थे। एक दिन पुरानी बातें होने लगीं। 'बिस्मिल' की नज़्म 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' जिसने 'स्वाधीनता संघर्ष में क्रांतिकारियों की क़तार को गर्मा दिया था। तब फ़ैज़ ने बताया कि इस भूमि पर उन्होंने भी एक नज़्म कही है :

सरफ़रोशी के अंदाज़ बदले गये/दावत-ए-क़त्ल पर 'मक़तल[9]-ए-शहर में
डाल कर कोई गर्दन में तौक़[10] आ गया/लाद कर कोई कांधे पर दार[11] आ गया।
फ़ैज़ क्या बात ये किस आस पर/ मुंतजिर हैं कि लायेगा कोई ख़बर
मयकशों पे हुआ मुहतसिब[12] महूबां/दिल फिग़ारा[13] पे क़ातिल को प्यार आ गया

अब तो कई बार शाम को जब शेरो-शायरी की मज़लिस जमती तो पाकिस्तान और बंग्लादेश के राजदूत भी उन मज़लिसों में आते। भारत में मौजूद पाकिस्तान के डॉक्टर हुमायूं ख़ान से भी इसी दौर में भेंट हुई। फ़ैज़ की उर्दू भाषा को एक देन यह भी है कि उन्होंने उसको अंतर्राष्ट्रीय भाषा बना दिया। रूस में उनके बहुत से प्रसंशक थे जिनको फ़ैज़ की शायरी ने जीवन का एक और ही पक्ष दिखाया है। एक किस्सा और। हमारी हिंदी भाषा के चोटी के कवि बच्चन जी मास्को आये। शाम को मुशायरा हुआ। बड़ी रात तक बच्चन जी नयी और पुरानी कविताएं सुनाते रहे। फ़ैज़ अपनी बारी भी ख़ूबसूरती (से) निभाते रहे। उस दिन का एक शेर आज भी दिमाग़ में घूमता है :

सहल यूं राहे ज़िंदगी की है / हर क़दम हमने आशिक़ी की है
हमने दिल में सजा लिए गुलशन / जब बहारों ने बेरुख़ी की है
दैर से धो लिये हैं होंठ अपने / लुत्फ़े साक़ी ने जब कमी की है

फ़ैज़ के मास्को के प्रवास के दौरान में ही उनको आलमगीर मैगज़ीन *लोटस* (Lotus) की एडिटरी सौंपी गयी, इसलिए उनको अधिक अरसे बैरूत में ही रहना पड़ता था। इसी बीच एलिस भी आ गयीं। बैरूत की बर्बादी का फ़ैज़ की शायरी पर गहरा प्रभाव पड़ा :

चांद फिर आज भी नहीं निकला/ कितनी हसरत थी उसके आने की।

यह जानना कठिन है कि फ़ैज़ चुपके से मर गये होंगे। निश्चय ही उन्होंने फ़रिश्ते अजल (मृत्यु के दूत) से भी पूछा होगा :

9. वह स्थान जहां क़त्ल किया जाये।
10. ग़ुलामी का चिह्न
11. फांसी का तख़्ता
12. जो हिसाब किताब रखता है।
13. जख़्मी दिल

लाओ तो क़त्लनामा मेरा मैं भी देख लूं
किस-किस की मोहर है सरे महज़र[14] लगी हुई

लेकिन बात समाप्त करने से पूर्व एक घटना का उल्लेख अवश्य करना चाहता हूं। फ़ैज़ की शायरी को और सोच को नया मोड़ देने में महमूद जफ़र और रशीद जहां का बहुत हाथ था। दूसरे दौर ने उनको कूए यार[15] से निकालकर सूए दार[16] का रास्ता समझाया था। मैं अभी मास्को गया ही था कि फ़ैज़ का संदेश मिला 'रशीद जहां की क़ब्र पर मेरी तरफ़ से भी फूल चढ़ा देना।' दिसंबर की बर्फ़ीली सर्दी में हम दोनों पति-पत्नी ने उनकी क़ब्र ढूंढ़ निकाली और वहां पहुंचकर फ़ैज़ साहब और रशीद जहां यादगारी (स्मृति) कमेटी की ओर से हमने श्रद्धांजलि के फूल चढ़ाये।

फ़ैज़ शायर तो थे ही, लेकिन एक प्यारे मित्र और ख़ूबसूरत इनसान भी थे। यह रिक्तता कभी पूरी न होगी।

उर्दू से अनुवाद : शहाबुद्दीन
मो. : 9810929631

15. क़ाग़ज़ पर।
16. महबूब की ग़ली।
17. फांसी का तख्ता।

वो बात जिसका फ़साने में कोई ज़िक्र न था*

कांतिमोहन

रावलपिंडी साज़िश के नाम से मेजर जनरल अकबर ख़ां और अन्य पर जो मुक़द्दमा 1951 में शुरू हुआ वह फ़ैज़ की ज़ाती और शेरी ज़िंदगी में अहम मुक़ाम रखता है। अकबर ख़ान के साथ जो अन्य अभियुक्त इस केस में शामिल थे उनमें पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव सज्जाद ज़हीर और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी शामिल थे और इन दोनों को चार साल क़ैद की सज़ा सुनायी गयी थी।

मुक़द्दमा कितना अहम था और जुर्म कितना संगीन, इसका अंदाज़ा पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाक़त अली द्वारा 9 मार्च को रेडियो पाकिस्तान से की गयी घोषणा से लगाया जा सकता है। ग़ौरतलब है कि यह काम किसी और वज़ीर वग़ैरह पर न छोड़कर वो ख़ुद रेडियो पर आये और उन्होंने मुल्क के अवाम को बताया कि सरकार का तख़्ता पलटने की एक साज़िश का पता चला है और ऐसा इरादा रखनेवाले इन चार लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया हैः चीफ़ ऑफ़ जनरल स्टाफ़ मेजर जनरल अकबर ख़ां और उनकी बीवी नसीम अकबर ख़ां, बावनवीं ब्रिगेड के कमांडर और क्वेटा के स्टेशन कमांडर ब्रिगेडियर मोहम्मद अब्दुल लतीफ़ ख़ां और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़। उन्होंने गिरफ़्तार लोगों की योजना के बारे में सार्वजनिक तौर पर कुछ कहने से इनकार किया और इस गोपनीयता को राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में ज़रूरी बताया। उन्होंने इस बात पर ज़रूर ज़ोर दिया कि साज़िश करनेवाले पाकिस्तान की स्थिरता को हिंसात्मक उपायों से भंग करना चाहते थे। उन्होंने ऐलान किया कि यह साज़िश पाकिस्तान की जम्हूरियत के ख़िलाफ़ थी। इसका मक़सद अराजकता पैदा करना, फ़ौजी यकजहती को तोड़ना और समाजवादी फ़ौजी तानाशाही क़ायम करना था। प्रधान मंत्री ने देश की जनता से इस साज़िश को नाकाम बनाने में पाकिस्तानी हुकूमत से तआवुन करने की अपील की।

उस वक़्त फ़ैज़ अंग्रेज़ी अख़बार *पाकिस्तान टाइम्स* के प्रधान संपादक और उर्दू दैनिक *इमरोज़* के प्रबंध संपादक थे और लियाक़त सरकार की नीतियों के मुखर आलोचक। जम्हूरियत के नाम पर पाकिस्तान में अजीब सा ही निज़ाम वजूद में आ गया था। 1948 में पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी और वह वैध ढंग से अपने जनसंगठनों की मदद से देश की राजनीति की मुख्य धारा में शामिल होना चाहती थी, लेकिन सरकार हर मुमकिन तरीक़े से इसमें अड़चन डाल रही थी। उसने पार्टी के लिए खुले आम काम करना नामुमकिन बना दिया था, पार्टी और जनसंगठनों के अनेक

* रावलपिंडी षड्यंत्र केस का पूरा क़िस्सा

कार्यकर्ताओं को जेल में डाल दिया था और उन पर झूठे मुक़द्दमे क़ायम कर दिये थे। पार्टी के जनरल सेक्रेटरी सज्जाद ज़हीर सहित केंद्रीय कमेटी के सभी सदस्य अंडरग्राउंड हो गये थे और ग़ैरक़ानूनी तौर पर अपना काम अंजाम देने पर मजबूर कर दिये गये थे। वामपंथी *पाकिस्तान टाइम्स* उस ज़माने का बहुत महत्वपूर्ण अख़बार था और जमहूरियत के पक्ष में जनमत तैयार करने में प्रमुख भूमिका निभा रहा था। फ़ैज़ कम्युनिस्ट पार्टी के खुले पक्षधर थे और कामरेड सज्जाद ज़हीर के पक्के दोस्त।

फ़ैज़ को 9 मार्च 1951 के दिन अलस्सुबह गिरफ़्तार किया गया था और अगले ही दिन पंजाब में विधान सभा का चुनाव होनेवाला था। जब लियाक़त मियां की हथियारबंद पुलिस उन्हें गिरफ़्तार करने पहुंची तो फ़ैज़ और उनके सहयोगी मज़हर अली को यही लगा था कि चुनाव से दूर रखने के लिए ही उन्हें जेल ले जाया जा रहा है और चुनाव के फ़ौरन बाद छोड़ दिया जायगा। बाद में पता चला कि उन्हें पब्लिक सेफ़्टी एक्ट के तहत गिरफ़्तार किया गया है। फ़ैज़ के ख़िलाफ़ 1818 के बदनाम बंगाल रेगुलेशंस के तहत वारंट जारी किया गया था और उन्हें बिना मुक़द्दमा चलाये अनिश्चित काल के लिए हिरासत में ले लिया गया था।

मेजर जनरल अकबर ख़ां रावलपिंडी कोंसपिरेसी केस की धुरी थे। 1948 में कश्मीर को लेकर हुए भारत-पाक संघर्ष के दौरान वे पाकिस्तानी फ़ौज का नेतृत्व कर रहे थे। उन दिनों वे ब्रिगेडियर के ओहदे पर काम कर रहे थे और पाकिस्तानी फ़ौज में उन्हें 'जनरल तारिक़' के नाम से पुकारा जाता था। कश्मीर में पाकिस्तान की रणनीति यह थी कि सबसे पहले तो कुछ पठान कबाइलियों से वहां घुसपैठ करायी जाये, फिर सेना के एक हिस्से को कबाइली भेस में वहां उतारा जाये और उनके पीछे नियमित पाक सेना की मदद से कश्मीर पर कब्ज़ा कर लिया जाये। उसे उम्मीद थी कि हिंदू राजा की भारत में विलय की कोशिश के बावजूद वहां की भारी मुस्लिम जनसंख्या, मुस्लिम देश पाकिस्तान की फ़ौज का स्वागत करेगी और कश्मीर पर अधिकार करने में कोई भारी बाधा नहीं आयेगी। बाद की बातें तो इतिहास की हैं, हमारे मतलब की बात यह है कि अकबर ख़ां कश्मीर से पिटकर लौटे और अपनी इस अप्रत्याशित पराजय को वे जीवन भर नहीं भूले।

उन्हें लगा कि उन्हें लाम पर भेजने के बाद पाकिस्तानी हुकूमत को पीछे से उनकी जैसी मदद करनी चाहिए थी, वैसी नहीं की गयी और उनकी पराजय इसी कारण हुई। वे कश्मीर में युद्ध विराम के विरुद्ध थे और अपनी ब्रिगेड के बल पर श्रीनगर को जीतने का सपना देखते थे। जंग के ख़ात्मे के लिए जो नेहरू-लियाक़त समझौता हुआ, उसे भी अकबर ख़ां ने एक बेशर्म आत्मसमर्पण ही माना, हालांकि सचाई यह है कि युद्ध में परास्त होने के बाद पाकिस्तान की हालत इतनी पतली हो गयी थी कि उसके पास समझौते का कोई विकल्प था ही नहीं।

इस प्रसंग को तूल देना बेकार है, लेकिन रावलपिंडी कोंसपिरेसी केस के सिलसिले में इसकी अहमियत को लेकर यह दुहराना ज़रूरी है कि अगर कश्मीर में पाकिस्तान की ऐसी शर्मनाक हार न हुई होती और उस वक़्त पाकिस्तानी सेना का नेतृत्व अकबर ख़ां के हाथ में न रहा होता तो शायद यह केस भी वजूद में न आया होता।

इसमें संदेह नहीं कि अकबर ख़ां एक दिलेर सिपाही थे। वे जंग में हारने के आदी न थे और अपनी पहली हार के अपमान को आसानी से नहीं भूल सकते थे। वे जीवन भर भारत को अपना जानी दुश्मन समझते रहे। उन्हें लगा कि पाकिस्तान में लियाक़त अली की हुकूमत तो गले गेहूं की बोरी है, जिसे

पलट देना कोई मुश्किल काम नहीं। मुल्क का अवाम कश्मीर में शर्मनाक हार के लिए भी उसी को ज़िम्मेदार मानता है और अगर ऐसी निकम्मी और नालायक़ सरकार का तख़्ता पलटने की कोई कोशिश की जाये तो उसकी मुख़ालिफ़त शायद ही करे। अब ज़रूरत थी तो कुछ ऐसे साथियों की जो सरकार से नाराज़ और परेशान हों और जिनका साथ तख़्ता पलटनेवालों को नैतिक समर्थन दिला सके।

यह सच है कि पाकिस्तानी फ़ौज में अकबर ख़ां के हमख़याल और लोग भी थे। सैनिक अधिकारियों का अच्छा-ख़ासा हिस्सा कश्मीर में मिली शिकस्त से नाराज़ और नाख़ुश था और हुकूमत के ख़िलाफ़ अकबर ख़ां के साथ खड़ा होने के लिए तैयार था। उसका क़सूर भी क्या था? पाकिस्तान के हुक्मरान ने पाकिस्तानी फ़ौज के अजेय होने का इतना ढिंढोरा पीटा था कि वे इस हार का सामना करने के लिए बिलकुल ही तैयार न थे और शर्मनाक हार से बुरी तरह बौखला उठा थे। रावलपिंडी केस में जिन लोगों पर मुक़द्दमा चलाया गया उनमें मेजर जनरल अकबर ख़ां के अलावा ब्रिगेडियर से लेकर कैप्टेन तक के पदों पर काम कर रहे कम से कम सात सैनिक और वायुसैनिक अधिकारी शामिल थे। भारत में कम लोग जानते हैं कि इस मामले में सेना के एक बड़े और सम्मानित जनरल नज़ीर अहमद को भी हिरासत में लेकर पूछताछ की गयी थी। उन दिनों वे मेजर जनरल के पद पर काम कर रहे थे। उन पर आरोप था कि साज़िश की भनक होते हुए भी उन्होंने यह बात अपने तक ही महदूद रखी, अपने से उच्च अधिकारियों तक नहीं पहुंचायी। उन्हें दोषी पाया गया और एक दिन की सज़ा सुनायी गयी। सज़ा सुनाने के फ़ौरन बाद अदालत उठ गयी।

सैनिक अधिकारियों के अलावा अकबर ख़ां की नज़र पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी पर भी गयी जो पाकिस्तान के नामनिहाद जम्हूरी निज़ाम की ज़्यादतियों का सबसे बड़ा शिकार थी और जिसे नयी हुकूमत में कुछ रियायतें देने के वादे पर अपने साथ लिया जा सकता था। अकबर ख़ां अपनी बीवी को बहुत मानते थे और अपने हर राज़ में उसे शरीक करते थे। उनकी बीवी बेगम नसीम, सर मोहम्मद शफ़ी की बेटी और मुस्लिम लीग की एक बहुत बड़ी नेता बेगम जहानारा शाहनवाज़ की पुत्री थीं और मुल्क के बड़े-बड़े सियासतदानों, बुद्धिजीवियों और आला अफ़सरों से उनके ताल्लुक़ात थे, जिनमें फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी शामिल थे। फ़ैज़ का साथ अकबर ख़ां के लिए बेहद फ़ैज़याब साबित हो सकता था। एक तो उनकी कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी सज्जाद ज़हीर से बेतकल्लुफ़ी और दोस्ती थी और दूसरे वे एक बड़े और सम्मानित अख़बार *पाकिस्तान टाइम्स* के प्रमुख संपादक थे और यह अख़बार तख़्ता पलट के बाद वजूद में आनेवाले फ़ौजी निज़ाम के पक्ष में जनमत तैयार करने में एक बड़ी भूमिका निभा सकता था।

लिहाज़ा 23 फ़रवरी 1951 को मेजर जनरल अकबर ख़ां की कोठी पर हमख़याल लोगों की एक मीटिंग बुलायी गयी और उसमें अकबर ख़ां ने तख़्ता पलट की अपनी योजना पेश की। बताया जाता है कि मीटिंग में इन लोगों ने हिस्सा लियाः अकबर ख़ां, नसीम अकबर ख़ां, ब्रिगेडियर मोहम्मद अब्दुल लतीफ़ ख़ां, एयर कमोडोर मोहम्मद ख़ान जनजुआ, ले. कर्नल सिद्दीक़ राजा, मेजर एम यूसुफ़ सेठी, मेजर मोहम्मद इसहाक़, कैप्टेन ज़फ़रुल्ला पोशनी, सैयद सज्जाद ज़हीर, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मोहम्मद हुसैन अता। कुछ हवालों से पता चलता है कि इनके अलावा सैयद सिब्ते हसन, रेल मज़दूरों के महबूब रहनुमा मिर्ज़ा मोहम्मद इब्राहीम, दादा फ़ीरोज़ुद्दीन मंसूर, एरिक साइप्रियन और हसन आबिदी भी मीटिंग में शामिल थे, जबकि अन्य हवाले इसकी पुष्टि नहीं करते। हां, यह तय है कि रावलपिंडी साज़िश के मामले में

इनमें से लगभग सभी को घसीटा गया और उन पर मुक़द्दमे चलाये गये। लियाक़त अली की सरकार इतना असुरक्षित महसूस करती थी कि उसने अहमद नदीम क़ासमी जैसे सम्मानित लेखक को भी सिर्फ़ इसलिए छः महीनों के लिए नज़रबंद कर दिया कि वे अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन के जनरल सेक्रेटरी थे। ये सभी अगली क़तार के कम्युनिस्ट थे और अपने-अपने जन संगठनों की अवामी कारगुज़ारियों में सरगर्म थे, हालांकि इनमें से बेश्तर लोगों का रावलपिंडी साज़िश से क़तई कोई ताल्लुक़ न था।

रावलपिंडी में चीफ़ आफ़ आर्मी स्टाफ़ की कोठी पर बुलायी गयी इस बैठक में अकबर ख़ां ने अपनी योजना रखी। जिन्ना की मौत के बाद गवर्नर जनरल बने नज़ीमुद्दीन और प्रधान मंत्री लियाक़त अली ख़ां अगले हफ़्ते रावलपिंडी आनेवाले थे। तजवीज़ थी कि यहां उन दोनों को गिरफ़्तार कर लिया जाय और गवर्नर जनरल को मजबूर किया जाये कि वे लियाक़त सरकार को बर्ख़ास्त कर दें। उसकी बर्ख़ास्तगी के बाद अकबर ख़ां नयी सरकार का गठन कर लेंगे और देश में फ़ौज की निगरानी में आम चुनाव करा देंगे, हालांकि इसकी कोई तारीख़ नहीं बतायी गयी थी। नयी सरकार कम्युनिस्ट पार्टी को राजनीतिक प्रक्रियाओं में खुलकर शिरकत करने का मौक़ा फ़राहम करेगी और बदले में कम्युनिस्ट पार्टी नयी सरकार की हिमायत करेगी। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के संपादकत्व में *पाकिस्तान टाइम्स* और उर्दू दैनिक *इमरोज़* अपनी संपादकीय नीति द्वारा नयी सरकार का समर्थन करेंगे।

यह एक गुप्त बैठक थी और इसकी कार्रवाइयों को दस्तावेज़ों की मदद से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बैठक के भागीदारों की कही-सुनी बातों के आधार पर, और कम्युनिस्ट पार्टी की रीति-नीति और फ़ैज़ के विचारों के परिचय की मदद से यह अनुमान ही लगाया जा सकता है कि बैठक में दरअसल क्या बातचीत हुई होगी। बैठक आठ घंटे चली और फिर बिना किसी नतीजे पर पहुंचे बर्ख़ास्त हुई, इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इस योजना पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ होगा। अकबर ख़ां की छवि एक जांबाज़ और साफ़गो लेकिन मग़रूर जनरल की थी और कम्युनिस्ट पार्टी के पास यह जानने का कोई तरीक़ा न था कि थल सेना, जल सेना और वायु सेना से वो वाक़ई कितना समर्थन जुटा पायेंगे। यह सवाल भी क़ाबिले-ग़ौर था कि जब एक बार पाक फ़ौज की एकता टूट जायेगी और वह गुटों में बंट जायेगी तो कौन सा गुट नयी सरकार के साथ आयेगा और कौन सा उसके ख़िलाफ़ काम करेगा? पार्टी की रीति-नीति से वाक़िफ़ लोग बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि किसी संयुक्त बैठक में पार्टी के शीर्षस्थ नेताओं की मौजूदगी भी इस बात को सुनिश्चित नहीं कर सकती कि वे पार्टी के जीवन-मरण से संबद्ध किसी सवाल पर तुरत-फुरत कोई निर्णय ले लें। ऐसे किसी भी सवाल पर सभी नीतिनिर्धारक निकायों को विश्वास में लेकर संबद्ध योजना पर उनकी राय लेना कम्युनिस्टों की कार्यशैली की बाध्यता है। अकबर ख़ां की योजना में पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्ला देश) का कोई ज़िक्र न था। अकबर ख़ां की तरह, कम्युनिस्टों के लिए यह मान लेना आसान नहीं रहा होगा कि अकेले पश्चिमी पाकिस्तान में तख़्ता पलट काफ़ी है, पूर्वी पाकिस्तान की जनता के पास उसके अनुगमन के अलावा कोई विकल्प नहीं रह जायेगा। पार्टी इस सचाई को कैसे नज़रअंदाज़ कर सकती थी कि पाकिस्तान के अवाम का बहुमत पश्चिम में नहीं बल्कि पूर्वी पाकिस्तान में रहता है और पश्चिम के मुक़ाबिले वहां जम्हूरियत की जड़ें निस्बतन गहरी हैं? उन्होंने शायद कहा न हो, लेकिन सोचा ज़रूर होगा कि एक मंझोले दर्जे के सैनिक अधिकारी के मौखिक आश्वासन के बल पर यह मान लेना कि सैनिक तख़्ता पलट की मदद से सत्ता प्राप्त करने के बाद वह ईमानदारी से आम चुनाव करा देगा और कम्युनिस्ट पार्टी को राजनीतिक प्रक्रियाओं

में खुली शिरकत का मौक़ा देगा, कहां तक ठीक है, ख़ासकर तब जबकि यह समर्थन शुरू से आख़िर तक जोख़िम से भरा हो। इसके अलावा यह भी जानी-मानी बात थी कि अकबर ख़ां अपनी बेगम को ज़रूरत से कुछ ज़्यादा ही मानते हैं जबकि उनकी छवि एक बेहद महत्वाकांक्षी और बड़बोला महिला की थी, संयत और विचारशील महिला की नहीं। वे अपनी इस महत्वाकांक्षा को छुपाने में यक़ीन नहीं रखती थीं कि उन्हें किसी भी तरह एक दिन देश की प्रथम महिला बनकर दिखाना है। ऐसे में, सैनिक साज़िश को कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन की बात कैसे और कब तक गुप्त रह सकती थी?

दरअसल, बेगम नसीम अकबर खां राष्ट्र की प्रथम महिला बनने की कुछ ज़्यादा ही जल्दी में थीं और इस बात पर मुतमइन हो चुकी थीं कि अब उन्हें अपना इरादा पूरा करने से कोई नहीं रोक सकता। वे टेलीफ़ोन पर अपनी सहेलियों को यह बताने में मसरूफ़ हो गयीं कि प्रस्तावित तख़्ता पलट के बाद उनकी क्या योजनाएं हैं। इसके अलावा, अस्कर अली शाह नामक एक पुलिस अफ़सर ने भी इस राज़ को फ़ाश करने में एक बड़ी भूमिका निभायी। वह अकबर खां का विश्वस्त अनुचर था और अगर्चे वह 23 फ़रवरी की बैठक में मौजूद न था, लेकिन ख़ुद जनरल खां की मेहरबानी से सब अहवाल जानता था। उसने तब तक जनरल के साथ कभी दग़ा नहीं की थी, लेकिन इस बार योजना इतनी बड़ी थी कि वह इसे अपने पेट में न रख सका और उसने सारी बात अपने इंसपेक्टर जनरल ऑफ़ पुलिस को बता दी और वो सीधा उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश के गवर्नर के पास पहुंचा और अकबर खां की सारी योजना उसे बता दी। गवर्नर ने पलक झपकाये बिना यह बात प्रधान मंत्री तक पहुंचा दी। और, इस तरह पाकिस्तान के फ़ौजी तख़्ता पलटों के इतिहास में यह पहला 'प्रयास' नाकाम कर दिया गया।

पहले दिन, यानी 9 मार्च 1951 को चार प्रमुख अभियुक्तों को पकड़ा गया जिनमें फ़ैज़ शामिल थे। उसी दिन प्रधान मंत्री ने ख़ुद रेडियो के ज़रिये इस साज़िश से मुल्क के अवाम को ख़बरदार किया। धीरे-धीरे सभी अभियुक्त पकड़े गये। सिर्फ़ कॉमरेड मोहम्मद हुसैन अता अंडरग्राउंड हो गये और एक महीने तक पुलिस को छकाते रहे। अंत में उन्हें पूर्वी पाकिस्तान से पकड़ा गया। पार्टी के जनरल सेक्रेटरी सज्जाद ज़हीर पहले से ही रूपोश थे और कई महीने बाद ही उन्हें गिरफ़्तार करना मुमकिन हुआ। ज़्यादातर अभियुक्तों को लाहौर की मुख़्तलिफ़ जेलों में रखा गया और अंत में उन सबको सिंध प्रांत की हैदराबाद जेल ले जाया गया। वहां जेल के भीतर एक ख़ास अहाते को नये सिरे से दुरुस्त कराकर उसे एक अदालत की शक्ल दी गयी और अभियुक्तों पर मुक़द्दमा चलाने के लिए एक स्पेशल ट्राइब्यूनल गठित किया गया। यह तीन सदस्यीय ट्राइब्यूनल फ़ेडरल कोर्ट के जस्टिस सर अब्दुर्रहमान की अध्यक्षता में बनाया गया और इसमें पंजाब हाई कोर्ट के जस्टिस मोहम्मद शरीफ़ और ढाका हाई कोर्ट के जस्टिस अमीरुद्दीन को शामिल किया गया था।

फ़ैज़ को शुरू के महीनों में सरगोधा और लायलपूर जेलों में क़ैदे-तनहाई या काल कोठरी में रखा गया। उन्हें पढ़ने-लिखने की सहूलतों से महरूम किया गया और उनका कोई रिश्तेदार या दोस्त उनसे नहीं मिल सकता था। इस सख़्ती का सबब ग़ालिबन यह था कि अभी तक कम्युनिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी सज्जाद ज़हीर हाथ नहीं आये थे और उनकी ग़ैर मौजूदगी में फ़ैज़ ही पार्टी के सबसे अहम रहनुमा माने गये और सज्जाद ज़हीर पर दबाव बनाने के लिए उन्हें तकलीफ़देह क़ैदे-तनहाई में रखा गया। सज्जाद ज़हीर की गिरफ़्तारी के बाद ही सब अभियुक्तों को हैदराबाद जेल ले जाया गया और उन पर मुक़द्दमा चलाने की तैयारियां मुकम्मल की गयीं। इससे साफ़ हो जाता है कि पाकिस्तानी हुकूमत अकबर

खां और उनके साथियों पर मुक़द्दमा चलाकर संतुष्ट होना नहीं चाहती थी, उसकी तसल्ली के लिए पाकिस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी पर ग़द्दारी के इलज़ाम में मुक़द्दमा चलाना और सज़ा दिलाना ज़रूरी था।

इससे पहले पाक असेंबली ने 16 अप्रैल 1951 को रावलपिंडी कांसपिरेसी को ध्यान में रखते हुए एक क़ानून पास कर दिया था जिसका संक्षिप्त नाम 'द रावलपिंडी (स्पेशल ट्राइब्यूनल) एक्ट 1951' था। उपर्युक्त ट्राइब्यूनल इसी एक्ट के तहत क़ायम किया गया था। ट्राइब्यूनल के तीनों सदस्यों के लिए ज़रूरी था कि वे फेडरल कोर्ट या हाई कोर्ट के कार्यशील जज हों। उसे हाई कोर्ट की सारी शक्तियां और अधिकार दिये गये थे, बल्कि इस माने में वह हाई कोर्ट से भी ऊपर था कि मुल्क की किसी भी अदालत में उसके फ़ैसले के ख़िलाफ़ सुनवाई नहीं हो सकती थी। ट्राइब्यूनल की कार्रवाई गोपनीय थी और सुनवाई के दौरान पब्लिक अदालत में नहीं आ सकती थी। इस सबसे ज़ाहिर होता है कि मुल्ज़िमों और उनके वकीलों और समर्थकों की यह बात पूरी तरह सही थी कि इस मामले में प्राकृतिक न्याय के न्यूनतम मानदंड भी लागू नहीं किये जा रहे हैं।

मुक़द्दमे की सुनवाई 15 जून 1951 को सुबह आठ बजे शुरू हुई। अभियोग पक्ष की नुमाइंदगी मशहूर वकील ए के ब्रोही कर रहे थे। आगे चलकर यह हज़रत पाक तानाशाहों से अपनी नज़दीक़ियों के चलते ख़ासे बदनाम हुए, लेकिन उनकी क़ानूनी दक्षता से इनकार नहीं किया जा सकता। ब्रिगेडियर लतीफ़ की ओर से प्रख्यात वकील और राजनीतिज्ञ हुसैन शहीद सुहरावर्दी खड़े हुए और जनरल अकबर की पैरवी मशहूर वकील ज़ेड एच लारी ने की। जिन अन्य प्रमुख वकीलों ने मुक़द्दमे में मुल्ज़िमों के बचाव में हिस्सा लिया उनमें मलिक फ़ैज़ मोहम्मद, ख़्वाजा अब्दुर्रहीम, साहिबज़ादा नवाज़िश अली और क़ाज़ी असलम के नाम अहम हैं। सभी मुल्ज़िमों के ख़िलाफ़ बुनियादी इल्ज़ाम यही था कि उन्होंने सम्राट् (किंग) के ख़िलाफ़ जंग छेड़ने का जुर्म किया है। मोटे तौर पर यह जुर्म वतन से ग़द्दारी करने जैसा था और साबित होने पर मुज़रिमों को सज़ाए-मौत तक दी जा सकती थी। इससे ज़ाहिर है कि जितने दिन यह मुक़द्दमा चला, मुल्ज़िमों और उनके घरवालों के सर पर सज़ाए-मौत की तलवार लटकी रही। इससे फ़ैज़ की बीवी एलिस फ़ैज़ के हालात का अंदाज़ा लगाया जा सकता है जो *पाकिस्तान टाइम्स* में नौकरी करके किसी तरह अपना और अपनी दो नन्हीं बेटियों का पेट पाल रही थी, मुक़द्दमे का ख़र्च उठा रही थी और तमाम दौड़-धूप कर रही थी। जैसे जैसे मुक़द्दमा लंबा खिंचता गया, मुल्ज़िमों का हाथ तंग होता गया और मेहनताना न मिल पाने की सूरत में वकील लोग उन्हें अलविदा कहने लगे। जनरल अकबर और ब्रिगेडियर लतीफ़ को नौकरी से पहले ही बर्ख़ास्त कर दिया गया था, कम्युनिस्ट तो अपने कड़केपन के लिए विश्वविख्यात हैं ही। लेकिन वकीलों की चलाचली की इस बेला में भी हुसैन शहीद सुहरावर्दी हिमालय की तरह अडिग रहे और बिना मेहनताना लिये पूरी मुस्तैदी के साथ अपने मुवक्किल की पैरवी करते रहे।

अभियोग पक्ष की ओर से कहा गया कि मुल्ज़िमान ने 'पाकिस्तान में क़ानून के ज़रिये क़ायम की गयी हुकूमत को मुज़रिमाना तरीक़ों से उलटने की 'साज़िश' रची। मुलज़िमों ने 'साज़िश' की बात से इनकार किया। अब सारी बात इस नुक़्ते पर आकर टिक गयी कि अभियोग पक्ष की ओर से जो सबूत पेश किये गये हैं वे साज़िश साबित करने के लिए काफ़ी हैं या नहीं? गोया, अदालत को देखना होगा कि क्या सरकार का तख़्ता पलट करने की साज़िश वाक़ई की गयी है? और अगर साज़िश की गयी तो फिर उसमें कौन-कौन शामिल था? अभियोग पक्ष की ओर से जो सबूत पेश किये गये उनमें सबसे महत्वपूर्ण दो इक़बाली गवाह थेः ले. कर्नल सिद्दीक़ राजा और मेजर एम यूसुफ़ सेठी। ये दोनों 23 फ़रवरी

को अकबर खां के घर पर हुई मीटिंग में मौजूद थे और अब सज़ा से बचने के लिए इक़बालिया गवाह बन गये थे। इनके अलावा अन्य गवाह भी थे, लेकिन वे घटनास्थल पर मौजूद नहीं थे और उनकी गवाही सिर्फ़ यह बता सकती थी कि हालात ऐसे थे कि मुल्ज़िम साज़िश रच सकते थे। इक़बालिया गवाहों ने ज़ोर देकर गवाही दी कि 23 फ़रवरी की बैठक सरकार का तख़्ता पलटने का फ़ैसला लेने के बाद ही बर्ख़ास्त हुई थी। अभियुक्तों ने बैठक या बैठक में हाज़िर होने से इनकार नहीं किया; उनका ज़ोर इस बात पर था कि बहस-मुबाहिसे के बाद बैठक बिना किसी फ़ैसले पर पहुंचे ही बर्ख़ास्त कर दी गयी थी। यह मुद्दा इसलिए केंद्रीय महत्व का था क्योंकि *ताज़ीराते-पाकिस्तान* (पाकिस्तानी दंड संहिता) के अनुसार साज़िश साबित करने के लिए यह लाज़िमी था कि दो या दो से अधिक लोगों के बीच जुर्म करने या जायज़ काम को नाजायज़ तरीक़ों से करने पर सहमति बनी हो। ऐसी स्पष्ट सहमति के अभाव में किसी को क़ानून के ज़रिए क़ायम की गयी सरकार का तख़्ता पलटने की साज़िश रचने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता था।

सच मुलज़िमों के साथ था। सचाई यही थी कि बैठक हुई थी और एक कार्यसूची को लेकर बुलायी गयी थी। मेजर जनरल अकबर खां ने साज़िश का प्रस्ताव बाक़ायदा पेश किया, आठ घंटे तक उसके अलग-अलग पहलुओं पर गर्मागर्म बहस- मुबाहिसा भी हुआ, लेकिन आख़िरकार कोई फ़ैसला नहीं हो सका और बैठक बिना कोई फ़ैसला लिए बर्ख़ास्त हो गयी। फ़ैज़ की दोस्त और जीवनीकार लुद्मिला बेसिलेवा का दावा है कि कम्युनिस्ट प्रतिनिधियों ने जनरल अकबर खां की योजना को बचकाना कहकर रद्द कर दिया था। उनका ख़याल था कि पाकिस्तान की जनता ऐसे किसी क़दम के लिए तैयार नहीं है और न पाकिस्तान की पार्टी ही इस हालत में है कि किसी वजह से कामयाबी की सूरत में देश की रहनुमाई की ज़िम्मेदारी निभा सके। कई हवालों से यह बात पुष्ट होती है कि कम्युनिस्टों ने मेजर जनरल की योजना को ख़याली पुलाव बताकर उसे खारिज कर दिया। बचाव पक्ष का कहना था कि अभियुक्तों के बीच जब कोई सहमति बनी ही नहीं, कोई फ़ैसला हुआ ही नहीं, किसी निश्चित कार्य-योजना को लागू करने का तहैया करके बैठक बर्ख़ास्त ही नहीं हुई तो साज़िश रचने का सवाल ही कहां पैदा होता है? मुल्ज़िमों में से कुछ पर दबाव डालकर, डरा-धमकाकर या लालच देकर उनमें से दो-एक को इक़बालिया गवाह बना लेना और मनचाहा बयान दिला लेना कौन सा मुश्किल काम है। यह तो हमारे उपमहाद्वीप की अदालतों में रोज़ होता है। बेशक जितने दिन मुक़द्दमा चलता है, मुल्ज़िम और उसके घरवालों की जान सांसत में फंसी रहती है, लेकिन जुर्म साबित करने के लिए तो ठोस सबूत चाहिए, ऐसे सबूत जो जुर्म साबित करते हों, जुर्म में मुल्ज़िम की शिरकत साबित करते हों और इस बारे में किसी क़िस्म का संदेह न छोड़ते हों।

असलियत तो यह है कि यह एक सरासर जाली केस था और पाकिस्तानी हुक्मरान ने अपने हितों की रक्षा के लिए यह कहानी गढ़ ली थी। इसमें शक नहीं कि पचास के दशक में ज़ोर-शोर से शुरू हुई शीत युद्ध की राजनीति के तक़ाज़े इसके पीछे काम कर रहे थे। अमरीकी साम्राज्यवादियों के लिए नौ आज़ाद पाकिस्तान में कम्युनिस्ट पार्टी एक ऐसा ख़तरा था जिसे वे पैदा होने से पहले ही ख़त्म कर देना चाहते थे और इसमें क्या शुब्हा है कि लियाक़त मियां की सरकार पूरी तरह अमरीका के ज़ेरे-असर थी और उनके इशारों पर नाचने के लिए ख़ुशी-ख़ुशी तैयार थी। बेशक, पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी वहां के अवाम को इस क़दर मक़बूल नहीं हो गयी थी कि वह उसके इशारे पर सर पर कफ़न बांधकर घर

से निकल पड़े; लेकिन यह ज़रूर है कि ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन, स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन और अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन आदि जन संगठनों का गठन हो चुका था और अवाम उनकी इब्तदाई सरगर्मियों को दिलचस्पी की नज़र से देख रहा था। बेबुनियाद और ढुलमुलयक़ीन पाक हुक्मरानों और उनके सामराजी आक़ाओं के लिए इतना काफ़ी था और उन्होंने नवगठित कम्युनिस्ट पार्टी को जड़ से मिटाने पर कमर कस ली। क्या इसे महज़ इत्तिफ़ाक कहकर टाला जा सकता है कि जिस पब्लिक सेफ़्टी एक्ट को रद्द करने के लिए अंजुमने तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन ने अपने अधिवेशन में प्रस्ताव पास किया था, उसके सबसे बड़े नेता फ़ैज़ को उसी इनसानदुश्मन क़ानून के तहत गिरफ़्तार किया गया? पाक सरकार की ओर से जनता के सामने इस मामले को इस तरह पेश किया गया गोया बुनियादी तौर पर यह साज़िश कम्युनिस्ट सोवियत संघ और उसके पिलग्गू पाक कम्युनिस्टों की हो और उन्होंने इसे कामयाब बनाने के लिए पाकिस्तानी फ़ौज के कुछ गुमराह अफ़सरान को भी इसमें शामिल कर लिया हो। पाक संसद में यह मामला इस तरह पेश किया गया कि उसने प्रस्ताव पास करके अदालत से मुल्ज़िमों को सज़ाए-मौत सुनाने की दरख़ास्त की। न सिर्फ़ पाकिस्तान के बल्कि हिंदोस्तान के भी कई अख़बारों ने मांग की कि ग़द्दार फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ को मौत की सज़ा दी जाये।

इस सिलसिले को एक और नुक़्तए-नज़र से देखना भी ज़रूरी है। पाकिस्तान की फ़ौज में न जाने कितने झगड़े चल रहे थे। चीफ़ ऑफ़ स्टाफ़, मेजर जनरल अकबर खां अपने अक्खड़ स्वभाव और अपनी घमंडी और बड़बोला बीवी के चलते सर्वोच्च सैनिक अधिकारियों की आंख की किरकिरी बना हुआ था। कश्मीरी संघर्ष के वक़्त पाकिस्तानी सेना के कमांडर इन चीफ़ का पद अंग्रेज़ सैनिक अधिकारी जनरल डगलस डेविड ग्रेसी के पास था और कश्मीरी संघर्ष में पाक सेना की रहनुमाई करनेवाले अकबर खां से रणनीतिक सवालों पर उसका मतभेद था और अक्खड़ अकबर खां इस पर पर्दा डालने में यक़ीन नहीं करता था। वह कश्मीर पर धावा बोलकर सीधे श्रीनगर तक पहुंचना और पूरे कश्मीर पर कब्ज़ा करने का हामी था, लेकिन ग्रेसी संघर्ष को इस हद तक ले जाने के ख़िलाफ़ था। इसकी एक वजह यह भी थी कि ऐन उस वक़्त पर भारतीय सेना की सर्वोच्च कमान भी ब्रिटिश अफ़सरों के हाथ में ही थी और भारत-पाक युद्ध का अर्थ होता सीमा-पार अंग्रेज़ अफ़सरों के बीच युद्ध जिसे वे मंजूर नहीं कर सकते थे। युद्ध की समाप्ति के बाद और मेजर जनरल बनकर चीफ़ ऑफ़ स्टाफ़ के ओहदे पर रावलपिंडी आने के बाद अकबर खां और भी मग़रूर हो गया। उसने अपनी गतिविधि के मामले में आवश्यक सतर्कता भी बरतना छोड़ दिया। अब वह यह परवाह भी नहीं करता था कि वह किसके सामने क्या कह रहा है। बेशक, वह एक बारसूक अफ़सर था और उसे यक़ीन था कि आला फ़ौजी अफ़सरों के लिए भी उसे हाथ लगाना आसान नहीं होगा। आसान था भी नहीं। लेकिन, अकबर खां को यह मालूम नहीं था कि उस पर एक अर्से से नज़र रखी जा रही थी। अपनी पुस्तक *ए फ़्रेंड्स नॉट मास्टर्स* में जनरल अयूब ख़ान ने बताया है कि उसने अकबर खां को जनरल हेड क्वार्टर्स में चीफ़ ऑफ़ द स्टाफ़ बनाकर बुलाया ही इसलिए था कि वह नहीं चाहता था कि एक मेजर जनरल की हैसियत से एक या एक से ज़्यादा डिवीज़न के सैनिकों की सीधी कमान उसके हाथ में रहे और वह सेना की मदद से किसी बड़ी साज़िश को अंजाम दे सके। इसके अलावा रावलपिंडी बुलाकर जनरल अयूब उससे अपनी निगरानी में काम ले सकता था। अन्य हवालों से पता चलता है कि रावलपिंडी में उस पर न सिर्फ़ जनरल अयूब की नज़र थी बल्कि तत्कालीन रक्षा सचिव इस्कंदर मिर्ज़ा भी उसकी गतिविधि से बाख़बर रहते थे। लेकिन, पाक सेना के

बीच अपनी बहादुरी के चलते वह इतना लोकप्रिय था कि सामान्य परिस्थितियों में उसके ख़िलाफ़ कुछ करना आसान न था। उसकी मक़बूलियत और अहमियत का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब जम्हूरियत बहाल हुई और ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो पाकिस्तान के प्रधान मंत्री बने तो उन्होंने नेशनल सीक्योरिटी ऑर्गनाइज़ेशन क़ायम किया और रावलपिंडी साज़िश केस के सज़ायाफ़्ता जनरल अकबर खां को उसका अध्यक्ष बनाया।

बहरहाल, जब अकबर खां ने तख़्ता पलट की संभावना तलाश करते हुए पाक सेना में अपने विरोधियों को वार करने का मौक़ा दे दिया तो उन्होंने इस मौक़े को पूरी तरह भुनाने की कोशिश की और दो निचले सैनिक अधिकारियों को अपनी तरफ़ मिलाकर उनसे मनचाहा बयान उगलवा लिया। यह बयान ज़रूरी था क्योंकि अगर ये दोनों इक़बालिया गवाह बैठक में सहमतिमूलक निर्णय की बात न करते तो साज़िश का इल्ज़ाम साबित नहीं हो सकता था। और अगर साज़िश का इल्ज़ाम साबित हो जाता तो हुक्मरान अकबर खां और कम्युनिस्टों को मुंहमांगी सज़ा, यहां तक कि सज़ाए-मौत भी, दिला सकते थे।

दरअसल, पाकिस्तानी हुक्मरान और फ़ौज के आलातरीन अफ़सरान इस एक तीर से दो शिकार करना चाहते थे। इससे एक तो अकबर खां को लंबे अर्से के लिए जेल भेजकर निश्चिंत हुआ जा सकता था, दूसरे कम्युनिस्ट पार्टी को भी एक ताक़तवर और मक़बूल अवामी पार्टी बनने से पहले ही नष्ट किया जा सकता था, क्योंकि उनकी तमाम कोशिशों के बावजूद वह अपने जन संगठनों की मदद से अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगी हुई थी और उसे कुछ न कुछ सफलता भी मिल रही थी। ध्यान देने की बात है कि रावलपिंडी केस का फ़ैसला आते ही, 1954 में ही, पाकिस्तान में कम्युनिस्ट पार्टी को बाज़ाब्ता ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया और उसके तमाम जन संगठनों को, यहां तक कि अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्नफ़ीन को भी, ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया गया। अब पार्टी को बाक़ायदा अंडरग्राउंड जाने पर मजबूर होना पड़ा।

ट्राइब्यूनल ने फ़ैसला दिया कि पेश किये गये सबूतों से सम्राट् के ख़िलाफ़ साज़िश साबित नहीं होती। यह साबित नहीं होता कि 23 फ़रवरी 1951 की बैठक किसी कार्य-योजना को क्रियान्वित करने का फ़ैसला लेकर बर्ख़ास्त हुई थी। उसने सभी सैनिक और असैनिक अभियुक्तों को चार-चार साल की क़ैद की सज़ा सुनायी। अकबर खां को चौदह साल की सज़ा सुनायी गयी। सज़ा में से मुक़द्दमे के दौरान अभियुक्तों द्वारा जेल में बिताया गया समय कम कर दिया गया।

फ़ैज़ बेहद संवेदनशील और संजीदा क़िस्म के इनसान थे। उन्होंने अब तक के अपने जीवन में संपन्नता तो नहीं देखी थी, लेकिन ज़िंदगी से उन्हें कोई शिकायत भी न थी। 1941 में एलिस से शादी के बाद उनकी ज़िंदगी ख़ुशियों से भर गयी थी; दो बच्चियों ने आकर उनका सुख दोबाला कर दिया था। *पाकिस्तान टाइम्स* की नौकरी उन्हें रास आ रही थी और अख़बार के मालिक मियां इफ़्तख़ारुद्दीन और अपने अज़ीज़ दोस्त मज़हर खां की सोहबत में वे बहुत ख़ुश थे। 1943 में उनका पहला शेरी मजमूआ, *नक़्शे-फ़रियादी*, शाया हो चुका था और पाठकों ने उसे हाथोंहाथ लिया था, ख़ासकर छात्रों और नौजवानों के बीच एक शायर की हैसियत से उनकी लोकप्रियता तेज़ी से बढ़ रही थी और रेडियो, कॉलजों और शहरों में होनेवाले मुशायरों से उन्हें अपना कलाम पेश करने के बुलावे अक्सर आने लगे थे। उनकी ज़रूरतें बहुत न थीं और जो थीं वे मज़े से पूरी हो रही थीं। ज़िंदगी अपनी रफ़्तार से लुढ़कती जा रही थी जिसे इस मुक़द्दमे और जेल ने झटके से बाधित कर दिया और फ़ैज़ को गंभीर सवालों पर नये सिरे से सोचने

पर मजबूर कर दिया। पत्रकारिता की भागमभाग और तनावभरी ज़िंदगी में शायरी उनसे छूट-सी गयी थी। अब जेल की तनहाई और फ़ुरसत में उसने नये सिरे से उन्हें गले लगा लिया और न सिर्फ़ बेपनाह शोहरत अता की बल्कि इंसानियत के रौशन मुस्तक़बिल में उनका यक़ीन दुबारा से पुख़्ता किया।

फ़ैज़ की जगह कोई और होता तो शायद टूट जाता, क्योंकि उनके हालात में यकायक जो तब्दीली आयी थी वह बेहद दुखदायी थी। हमे-यारां दोज़ख़ हमे-यारां बहिश्त फ़ैज़ को अपनी बीवी और बच्चियों से दूर क़ैदे तनहाई में डाल दिया गया था और एक कच्चे धागे में बांधकर सज़ाए-मौत की तलवार उनके सर पर लटका दी गयी थी। वह तो कहिए कि उनके ठंडे, सूफ़ियाना और मस्त स्वभाव, एलिस की बेपनाह वफ़ादारी और सज्जाद ज़हीर, सिब्ते हसन और मेजर मोहम्मद इसहाक़ जैसे लोगों की दोस्ती ने उन्हें बचा लिया। कारावास के लंबे वक़्फ़े का फ़ायदा उठाकर उन्होंने अपना मन काव्य-रचना में लगाया और जो कुछ उन्हें कहना था, शायरी में कहा और भयंकर उत्तेजना और तनाव के बीच भी, अपने स्वभाव के अनुरूप, शांति और आराम से फ़लसफ़ाना अंदाज़ में कहा। 23 फ़रवरी की मीटिंग में साज़िश करने का फ़ैसला क़तई नहीं हुआ था। फ़ैज़ के वकील ने पुरज़ोर तरीक़े से ट्राइब्यूनल के सामने यह बात रखी थी, लेकिन फ़ैज़ ने अपने एक छोटे से शेर में इस झूठ का जो पर्दाफ़ाश किया वह तमाम दलीलों के मुक़ाबिले कहीं ज़्यादा पुरअसर हैः

वो बात सारे फ़साने में जिसका ज़िक्र न था
वो बात उनको बहुत नागवार गुज़री है।

ज़िंदांनामा की एक ग़ज़ल में उन्होंने इस हक़ीक़त की तरफ़ ध्यान खींचा है कि उस वक़्त के पाकिस्तान में आदमी पर ज़ुल्म करने के लिए इस बात का इंतज़ार नहीं किया जाता था कि वह कोई गुनाह करे। गुनाह करने से पहले ही उसे सज़ा सुना दी जाती थी, जैसाकि रावलपिंडी साज़िश के मामले में वाक़ई उनके साथ हुआ। वे कहते हैं कि ऐसा तो दुनिया में कहीं भी नहीं होता, हर जगह पहले जुर्म होता है फिर उसकी सज़ा सुनायी जाती हैः

सितम की रस्में बहुत थीं लेकिन न थीं तेरी अंजुमन से पहले
सज़ा ख़ताए-नज़र से पहले इताब जुर्मे-सुख़न से पहले।

अभी तो यह हालत है कि सज़ा पानेवाला यह भी पूछ न सके कि उसे किस गुनाह की सज़ा दी जा रही है। क़ातिल मक़तूल को अपनी तेग़ का हुस्न भी नहीं देखने देता कि वह किस अदा से गरदन को धड़ से अलहदा करती है, बल्कि ख़ुद मक़तूल को हुक्म सुना देता है कि वह अपने हाथ से अपनी जान लेकर उसके हवाले कर दे :

करे कोई तेग़ का नज़ारा अब उनको ये भी नहीं गवारा
बज़िद है क़ातिल कि जाने-बिस्मिल फ़िगार हो जिस्मो-तन से पहले।

अपने एक और शेर में वे यह हक़ीक़त बयान करते हैं कि पाकिस्तान के किसी भी हुक्मरान ने वहां के अवाम की समस्याओं को हल करने में कोई दिलचस्पी ली ही नहीं; देखा जाये तो यह बात एक मुल्क नहीं बल्कि पूरे उप महाद्वीप के बारे में लागू होती है, वर्ना जनता की समस्याएं ऐसी न थीं जिनका समाधान नामुमकिन होः

हर चारागर को चारागरी से गुरेज़ था
वर्ना हमें जो दुख थे बहुत लादवा न थे।

यों तो उनके पहले मजमूए, *नक़्शे-फ़रियादी,* में भी कहीं-कहीं व्यंग्य मिलता है, ठंडा और शालीन व्यंग्य, लेकिन कारावास के दौरान यह व्यंग्य बेधक और बेहद पुरअसर हो गया है। अब तो यह पैना व्यंग्य उनकी शायरी की एक ख़ासियत बन गया, उनकी लोकप्रियता का मुख्य आधार। यहां तक कि उन्होंने क्लासिकल फ़ार्म वासोख़्त पर भी हाथ आज़माया, जिसमें दिलजला आशिक़ रवायती ख़ुशामद-दरामद छोड़कर माशूक़ को जली-कटी सुनाने पर आमादा हो जाता है; और उसमें ऐसे-ऐसे शेर कहे जिनका सानी उर्दू शायरी में आसानी से नहीं मिलता। वासोख़्त का एक ऐसा शेर मुलाहिज़ा हो, जिसमें पाकिस्तानी माहौल की कैफ़ियत और उनकी अवामपरवर विचारधारा बोल रही हैः

गर फ़िक्रे-ज़ख़्म की तो ख़तावार हैं कि हम
क्यूं महवे-मद्हे-ख़ूबिए-तेग़े-अदा न थे।

गोया जनता के दुखों और उस पर होनेवाले ज़ुल्मों की बात करना शायर के लिए गुनाह है। हां जी! उसका काम तो यह है कि वह अवाम पर हुक्मरान के अत्याचारों की मगन-मन प्रशंसा करे और अवाम की तकलीफ़ों की तरफ़ आंख उठाकर भी न देखे। बेशक, हमें तो आपकी तलवार की तारीफ़ में तल्लीन हो जाना चाहिए था कि वह किस अदा से वार करके हमारी गरदन को धड़ से अलग कर रही है। अगर हमने ऐसा करने के बजाय अपने जिस्म और रूह पर लगे जख़्मों की परवाह की तो यह हमारा गुनाह है जिसके लिए हमें मज़ीद सज़ा मिलनी ही चाहिए।

आनेवाली मुसीबतों पर हंसने का तो उन्होंने जैसे अभ्यास ही कर लिया था और उसे अपनी फ़ितरत का हिस्सा बना लिया था। उनके अध्येताओं में इस बात पर पूर्ण सहमति है कि अगर रावलपिंडी केस न हुआ होता तो शायद फ़ैज़ इतने बड़े और अपनी तरह के अकेले शायर न हो पाते। जेल में उन्होंने खूब लिखा, परिमाण की दृष्टि से खूब और गुण की दृष्टि से बहुत खूब। जेल में उन्हें लिखने की आज़ादी थी और पंद्रह दिन में एक बार वे जेल के अपने साथियों को अपना कलाम सुना भी सकते थे। सुनाते ही थे और हर पखवाड़े में एक बार जेल में छोटा-मोटा जलसा हो जाता था जिसमें फ़ैज़ अपना ताज़ातरीन कलाम अपने साथियों को सुनाते थे। शायरी की मिठास और उजाले में जेल की तलख़ी और तारीकी घुल जाती थी और निराशा के बादल छंट जाते थे; सुबह की सुनहरी धूप जेल का अंधेरा चीरकर अपनी मधुर मुस्कान बिखेरने लगती थी। फ़ैज़ का कलाम जेल से बाहर भी जा सकता था; नियमित रूप से जाता था। महीने में एक बार एलिस जेल में उनसे मिलने आतीं और महीने भर के भीतर जो कुछ उन्होंने लिखा होता वह एलिस की नज़्र कर दिया जाता था। वे बाक़ायदा सेंसर से ठप्पा लगवाकर उसे अपने साथ ले जाती थीं। फ़ैज़ के अध्येताओं को इस बात पर हैरानी हुई है कि जेल प्रशासन ने फ़ैज़ को यह सुविधा क्यों और कैसे दे रखी थी? कुछ ने क़यास लगाया है कि शायद इसकी वजह यह रही हो कि ऊपर से देखने में यह शायरी रूमानी लगती है और यह रूमानी लबादा इतना भारी है कि इसके नीचे छिपी हुई क्रांति-चेतना जेल के अधिकारियों की समझ में शायद ही आती रही हो। उनमें से एकाध यह अनुमान लगाने से भी बाज़ नहीं आया है कि हो सकता है जेल का एकाध जेलर आम तौर पर शायरी का या ख़ास तौर पर फ़ैज़ का मद्दाह रहा हो और दाद देने का उसका तरीक़ा यह रहा हो कि उनकी शायरी को

जेल से बाहर जाने दिया जाये, आख़िर एक ऐसी हुकूमत से उनकी क्या हमदर्दी हो सकती थी जो जंग में पिट चुकी हो और जो भ्रष्टाचार के लिए तेज़ी से बदनाम हो रही हो।

बहरहाल, 1951 में फ़ैज़ रावलपिंडी साज़िश केस में गिरफ़्तार हुए और एक ही साल बाद, यानी 1952 में उनका दूसरा शेरी मजमूआ, *दस्ते-सबा,* शाया हो गया। इसके बाज़ार में आते ही एक बाग़ी शायर की हैसियत से फ़ैज़ की धूम मच गयी। सज्जाद ज़हीर ने जेल से ऐलान किया, 'आगे चलकर लोग रावलपिंडी कोंसपिरेसी केस को भूल जायेंगे लेकिन पाक इतिहासकार 1952 की महत्वपूर्ण घटनाओं में शायरी के इस छोटे से मजमूए का ज़िक्र करना नहीं भूलेगा और इसे एक विशेष महत्वपूर्ण घटना के रूप में याद करेगा।'

दस्ते-सबा और उसके बाद 1956 में प्रकाशित तीसरे शेरी मजमूए, *ज़िंदांनामा* , में फ़ैज़ की काव्य-कला का पूरा निखार नज़र आता है। फ़ैज़ ने उर्दू शायरी में सैकड़ों सालों से प्रयोग किये जानेवाले प्रतीकों और मिथकों का खुलकर इस्तेमाल किया है और उन्हें नये अर्थ से गर्भित कर दिया है। मिसाल के तौर पर नासेह का ज़िक्र किया जा सकता है। यह बात ग़ौरतलब है कि उनके पहले शेरी मजमूए, *नक़्शे-फ़रियादी* , की ग़ज़लों में ये हज़रत एक बार भी तशरीफ़ नहीं लाये हैं, अगर्चे उनका शुमार उर्दू की क्लासिकी महफ़िल में लाज़िमी तौर पर होता है और पहले मजमूए की बेशतर ग़ज़लें क्लासिकी हैं, शिल्प और कथ्य दोनों की ही नज़र से। नासेह का सीधा सादा मतलब है नसीहत देनेवाला। वह ऐसा शुभचिंतक है जो बंदे को दुनियावी आकर्षण से हटाकर ख़ुदा की राह पर लाने की कोशिश करता है ताकि उसकी आक़बत संवर सके। लेकिन *दस्ते-सबा* में पहली बार नमूदार होनेवाला नासेह शराब और दुनियादारी छोड़कर ख़ुदा की राह पर चलने की नसीहत देनेवाला शख़्स नहीं है; वह एक ऐसा दुनियादार शख़्स है जो आदमी को मस्लहत के फ़ायदे और रास्ते बताकर और क्रांति के रास्ते के जोख़िम गिनाकर, उसे इंक़लाब के रास्ते से भटकाना चाहता है और शायद इसीलिए शायर के तंज़ो-मिजा का निशाना बन जाता है। फ़ैज़ के लिए इंक़लाब उनका यार है, माशूक़ है जिसकी राह से वह कभी हट नहीं सकते, बला से नासेह कुछ भी कहता रहे :

हुई है हज़रते-नासेह से गुफ़्तगू जिस शब
वो शब ज़रूर शबे-कू-ए-यार गुज़री है।

ऐसे नादां भी न थे जां से गुज़रनेवाले
नासेहो पंदागरो राहे-गुज़र तो देखो।

जगह-जगह पे थे नासेह तो कू-ब-कू दिलबर
इन्हें पसंद उन्हें नापसंद क्या करते।

है ख़बर गर्म कि फिरता है गुरेज़ां नासेह
गुफ़्तगू आज सरे-कू-ए-बुतां ठहरी है।

इंक़लाब के लिए उन्होंने 'महबूब', 'जुनूं', 'यार', 'इश्क़' आदि का प्रयोग किया हैः

वो तो वो है तुम्हें हो जायगी उल्फ़त मुझसे
एक नज़र तुम मेरा महबूबे-नज़र तो देखो।

क़फ़स उदास है यारो सबा से कुछ तो कहो
कहीं तो बह्रे ख़ुदा आज ज़िक्रे-यार चले।

मुक़ाम फ़ैज़ कोई राह में जंचा ही नहीं
जो कू-ए-यार से निकले तो सू-ए-दार चले।

गर बाज़ी इश्क़ की बाज़ी है जो कुछ भी लगा दो डर कैसा
गर जीत गये तो क्या कहना हारे भी तो बाज़ी मात नहीं।

उनका यह शेर देखिए जिसका मतलब उनकी प्रतीक-योजना और इंक़लाबी विचारधारा को समझे बिना खुलता ही नहीं, या फिर वह एक मामूली सा शेर होकर रह जाता है :

अब कूच-ए-दिलबर का रहरौ रहज़न भी बने तो बात बने
पहरे से अदू टलते ही नहीं और रात बराबर जाती है।

इस शेर में फ़ैज़ पाकिस्तान की सियासी-समाजी हक़ीक़त बयान करते हैं और इशारा करते हैं कि अगर हमारे महबूब मुल्क के हालात बदलने हैं तो शायद शांतिपूर्ण तरीक़ों से ऐसा करना मुमकिन न हो। दिलबर के कूचे का मुसाफ़िर तो वहां पहुंचकर अपने माशूक़ का दीदार करना चाहता है, लेकिन उसके दरवाज़े पर दुश्मन पहरा दे रहे हैं जो उसे घुसने नहीं देंगे और अगर वह वाक़ई वहां पहुंचना ही चाहता है तो शायद उसे रहज़न बनकर वहां ज़बर्दस्ती दाख़िल होना पड़ेगा। 'रात बराबर जाती है' से शायर शायद यह कहना चाहता है कि देश में क्रांतिकारी स्थितियां तो बनती हैं लेकिन अगर उनका फ़ायदा उठाकर इंक़लाबी कार्रवाई न की जाये तो वे गुज़र जाती हैं और दरे-यार पर दुश्मनों का क़ब्ज़ा बरक़रार रहता है। इसी ग़ज़ल के एक और शेर में फ़ैज़ पाकिस्तान के हालात पर एक और टिप्पणी करते हैं:

बेदादगरों की बस्ती है यां दाद कहां ख़ैरात कहां
सर फोड़ती फिरती है नादां फ़रियाद जो दर-दर जाती है।

ज़ालिमों की इस बस्ती में मांगने से क्या मिलनेवाला है? ज़ुल्म करनेवाले ख़ैरात देना क्या जानें? ज़ालिमों से फ़रियाद करनेवाले तो नादान हैं, पहले दर-दर जाकर अपना दामन फैलाते हैं और जब किसी दर से कुछ नहीं मिलता तो अपना सर फोड़ते हैं। इस शेर को पहलेवाले शेर से मिलाकर पढ़ें तो यह बात पुख़्ता हो जाती है कि जेल में मंथन करते-करते फ़ैज़ इस बात पर मुतमइन हो चले थे कि उनके मुल्क में शांतिपूर्ण तरीक़ों से कुछ कर पाने की संभावना कम से कमतर होती जा रही है और यहां कुछ हो सकता है तो शायद जारिहाना तरीक़ों से ही हो सकता है।

लेकिन जारिहाना तरीक़ों से काम करने के अपने ख़तरे हैं। ऐसा करनेवालों की जान जा सकती है। तब तक तो यह भी तय नहीं हुआ था कि अदालत फ़ैज़ को सज़ाए-मौत तो नहीं दे देगी? इसी ग़ज़ल का एक और शेर देखें तो जेल में फ़ैज़ के चिंतन की पूरी नुमाइंदगी हो जाती है:

हां जां के ज़ियां की हमको भी तशवीश है लेकिन क्या कीजे
हर रह जो उधर को जाती है मक़्तल से गुज़रकर जाती है।

जान किसे प्यारी नहीं है। कोई भी विवेकवान प्राणी बेमक़सद जान देना नहीं चाहता। वह तो मक़्तल या वधस्थल से दूर ही रहना चाहता है क्योंकि वहां तो उसे मौत और ख़ूरेज़ी के मंज़र ही देखने को मिलेंगे।

लेकिन, इस मजबूरी का क्या किया जाये कि हमारी मंज़िल को जानेवाली हर राह मक़्तल से गुज़रकर ही जाती है, ऐसी कोई राह दिखायी ही नहीं देती जिस पर चलकर रक्तपात से बचा जा सके। इंक़लाब के तलबगारों को बड़ी से बड़ी क़ुरबानी देने के लिए तैयार रहना पड़ता है, सर हथेली पर लेकर मैदान में उतरना पड़ता है, वो अपनी जान की चिंता नहीं कर सकते, करेंगे तो कुछ कर ही नहीं पायेंगे। हुक्काम ने ऐसे हालात पैदा कर दिये हैं कि हिंसा के बिना यहां कुछ हो ही नहीं सकता। मार देने या मर जाने के अलावा उन्होंने कोई रास्ता छोड़ा ही नहीं है।

उर्दू अदब के सतर्क अध्येता ग़ौर कर रहे थे कि जेल में फ़ैज़ एक नयी शायरी की दाग़-बेल डाल रहे हैं जिसमें ग़ज़ल का क्लासिकी रूप क़ायम रखते हुए नयी से नयी, प्रगतिशील से प्रगतिशील और इंक़लाबी से इनक़लाबी बात कही जा सकती है। मार्क्सवादी तनक़ीद इस बात पर भी ग़ौर कर रही थी कि इससे एंगेल्स का वो इसरार भी पूरा होता है जो अदीब को हिदायत देता है कि आप अपनी आइडियोलॉजी को कला के पर्दे में जितनी बारीकी से छुपाकर पेश करेंगे आपकी शायरी उतनी ही ज़्यादा कारगर और कामयाब हो सकेगी। ग़ज़ल की सिन्फ़ के चाहनेवाले इस घटना-विकास से ख़ुश थे क्योंकि इन ग़ज़लों से उन ग़ज़ल-विरोधियों को दंदांशिकन जवाब मिल रहा था जो यह कहते न थकते थे कि ग़ज़ल का ज़माना लद चुका है और उसमें अच्छी शायरी के जितने इमक़ानात थे, सब चुक गये हैं; लिहाज़ा अब जो लोग अपने फ़िक्र का दायरा वसीअ करना चाहते हैं और अपने सुख़न में दुखों से भरी दुनिया के मरहलों से मुख़ातिब होना चाहते हैं या नये ज़माने के वास्ते से शेर में कोई नयी बात पैदा करना चाहते हैं उन्हें ग़ज़ल में तबा-आज़माई नहीं करनी चाहिए।

रावलपिंडी की यह फ़ौजी बग़ावत या साज़िश नाकाम रही, लेकिन कुछ ही अर्सा बाद वहां फ़ौज ने हुकूमत का तख़्ता उलट दिया और जब एक बार उसके मुंह कामयाबी का ख़ून लग गया तो उसने ऐसा बार-बार किया। मुस्तक़िल जमहूरियत पाकिस्तान में कभी आने ही नहीं दी गयी, आयी भी तो उसे रहने नहीं दिया गया। अवाम के जमहूरी हक़ूक़ हमेशा पैरों तले रौंदे गये और इसका सबसे बुरा असर उन दानिशवरों और अदीबों पर पड़ा जो इज़हार की आज़ादी के बिना उसी तरह तड़पते हैं, जैसे पानी के बिना मछली। ऐसे ख़ूख़्वार वक़्फ़ों में फ़ैज़ की जेल में की गयी ईजाद बड़े काम आयी और उन्होंने बड़े से बड़ा ख़तरा उठाकर भी इज़हारे-ख़याल के नये-नये तरीक़े निकाले, जिन्होंने उर्दू शायरी को मालामाल कर दिया।

फ़ैज़ की राह पर चलकर या उनकी शायरी से प्रेरणा पाकर पाकिस्तान के उर्दू शायर, अहमद फ़राज़, इब्ने इंशा, सैफ़, फ़ारिग़ बुख़ारी, इफ़्तिख़ार आरिफ़, ज़ेहरा निगाह और सरहद के इधर-उधर दोनों मुल्कों के सैकड़ों नौजवान शायर नयी क़िस्म की ग़ज़ल कह रहे थे जिसका सारतत्व जनवादी और क्रांतिकारी था लेकिन ग़ज़ल का क्लासिकी ढांचा बरक़रार था। अब भारतीय उपमहाद्वीप में एक नयी क़िस्म की ग़ज़ल का आग़ाज़ हो रहा था और जेल में बैठे फ़ैज़ इस कारनामे से ख़ुद भी बाख़बर थेः

हमने जो अर्ज़े-फ़ुग़ां की है क़फ़स में ईजाद
फ़ैज़ गुलशन में वही तर्ज़े-बयां ठहरी है।

जेल में फ़ैज़ ने ग़ज़लों के अलावा नज़्में भी कहीं जिनमें से कई तो ऐसी हैं जो उर्दू साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगी। यहां उन पर विचार नहीं किया जा सकता, लेकिन एक मिसाल लेकर यह समझने की कोशिश ज़रूर की जा सकती है कि एक बड़ा शायर जेल की दिलशिकन ज़िंदगी को किस तरह शेर में

ढालकर ख़ूबसूरत बना सकता है।

बात तब की है जब फ़ैज़ क़ैदे-तनहाई काट रहे थे। उन्हें एक तंग अंधेरी कोठरी में बंद कर दिया गया था और वहां अकेले रहते हुए उन्हें वक़्त का अंदाज़ा भी न हो पाता था। कोठरी में एक सूराख़-सा था जिससे छनकर सूरज की कोई भटकी हुई किरन उन्हें इत्तला दे जाती थी कि अभी दिन बाक़ी है। जब इस सूराख़ से रौशनी आना बंद हो जाता था तो क़ैदी समझ लेता था कि अब मेरे वतन में रात हो गयी होगी। सुबह होते ही उस सूराख़ से सूरज की एक नन्हीं सी किरन उनकी कोठरी को रौशन कर देती थी और उस गुनगुनी धूप में उनके हाथों में लगी लोहे की हथकड़ी चांदी की तरह दमक उठती थी। यह क़ैदी के लिए सुबह होने की सूचना थी। अब देखा जाय कि फ़ैज़ क़ैदे-तनहाई की इस कैफ़ियत को अपनी बेहद मशहूर और मक़बूल नज़्म 'निसार मैं तेरी गलियों पे ऐ वतन' में किस तरह बांधते हैंः

बुझा जो रौज़ने-ज़िंदां तो दिल ये समझा है
कि तेरी मांग सितारों से भर गयी होगी
चमक उठे जो सलासिल तो हमने जाना है
कि अब सहर तेरे रुख़ पर निखर गयी होगी
ग़रज़ तसव्वुरे-शामो-सहर में जीते हैं
गिरफ़्ते-सायए-दीवारो-दर में जीते हैं।

गोया, सुबह से शाम तक शायर को एक ही काम है, मादरे-वतन के बारे में सोचना और जेल की तंग होती जा रही दीवारों के बीच वतन और हमवतनों से अपना रिश्ता बनाये रखना, उसे और पुख़्ता करते रहना और जीना। हालात कितने ही नागवार क्यों न हों, शायर का यह फ़ैसला और हौसला क़ाबिले-ग़ौर है कि उसे जीना है, जेल की तंग दीवारों में क़ैद होकर भी उसे कल के लिए जीना है, एक शानदार कल के लिए जिससे वो और उसकी शायरी प्रतिबद्ध है। कोई ताज्जुब नहीं कि जेल में लिखे गये इस कलाम की बदौलत फ़ैज़ की छवि एक बाग़ी, इनक़लाबी, वतनपरस्त और ऐसे इनसानदोस्त शायर की बनी, जो ग़ज़ल और नज़्म के क्लासिकल पैमानों पर भी पूरा उतरता है। आख़िरी दम तक फ़ैज़ की यही छवि बनी रही, यह तो हम सब जानते हैं लेकिन इसके पीछे उनका कितना संघर्ष, अटल निश्चय और अदम्य आत्मविश्वास छुपा है, इस पर ध्यान जाता तो है लेकिन हमेशा टिक नहीं पाता।

रावलपिंडी कॉसपिरेसी केस फ़ैज़ को तो नहीं तोड़ पाया लेकिन उसने पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी की रीढ़ ज़रूर तोड़ दी। 1954 में इस केस का फ़ैसला आते ही पाकिस्तानी हुकूमत ने न सिर्फ़ कम्युनिस्ट पार्टी को, बल्कि उसके तमाम जन संगठनों को भी ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया। ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन, स्टूडेंट्स फेडरेशन, मेडिकल एसोसिएशन, पाकिस्तान पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन, पाकिस्तान की अंजुमने-तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन जैसे तमाम जन संगठनों को ग़ैरक़ानूनी क़रार कर दिया गया और वामपंथी कार्रवाइयां एक झटके के साथ रोक दी गयीं। सबसे घातक हमला पाकिस्तानी पीपुल्स हाउस पर किया गया जिसकी स्थापना क़ायदे-आज़म के चहेते और मुल्क के वामपंथी लीडर मियां इफ़्तिख़ारुद्दीन ने की थी और जो *पाकिस्तान टाइम्स, इमरोज़, लैलो-निहार* जैसी पत्र-पत्रिकाओं और वामपंथी साहित्य का बड़ा प्रकाशक होने के नाते पचासों कम्युनिस्टों को रोज़ी-रोटी मुहैया कराता था। पीछे हटकर संघर्ष के नये तरीक़े और नयी सूरतें निकालने में बहुत वक़्त लग गया और बाद में जब ये कार्रवाइयां शुरू हुईं भी तो इनमें पहले जैसा दम-ख़म नहीं पैदा किया जा सका और फिर मुल्क में लगातार फ़ौजी बग़ावतें

भी होती रहीं, जिनका पहला शिकार वामपंथी ताक़तों को ही बनाया जाता था।

एलिस फ़ैज़ पर लौटे बिना इस प्रसंग को ख़त्म नहीं किया जा सकता। इस हादसे ने उन्हें न जाने कितनी ताक़त और आत्मविश्वास से भर दिया था। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी और बेपनाह ख़र्चा हाथ फैलाये सामने खड़ा था। उन्होंने कमर कसकर *पाकिस्तान टाइम्स* में नौकरी की और दो नन्हीं बच्चियों के मां-बाप दोनों की ज़िम्मेदारी अकेले संभाली। अपनी बच्चियों को महंगे और आधुनिक स्कूल से हटाकर उन्होंने मामूली स्कूल में दाख़िल करा दिया। कार खड़ी कर दी और रिक्शा में आना-जाना शुरू कर दिया। उन्होंने अपनी बच्चियों को मुल्क के तमाम बच्चों से वाबस्ता कर दिया और अख़बार में अपने कॉलम के ज़रिये न सिर्फ़ उनका मनोरंजन किया बल्कि एक प्यारी मां या बड़ी बहन की हैसियत से उन्हें साइंटिफ़िक और सिक्यूलर तालीम देकर उनका ज़हनी दायरा भी वसीअ किया। महीने में एक बार वो लाहौर से तीसरे दर्जे का टिकट लेकर लंबा और तकलीफ़देह फ़ासला तय करके सिंध के तपते रेगिस्तान से गुज़रकर हैदराबाद की जेल में अपने शौहर और शरीके-हयात से मिलने पहुंचती थीं और बाहरी दुनिया से उसे रू-ब-रू कराती थीं। जेल से वो फ़ैज़ का कलाम लेकर आती थीं और फिर उनके दोस्तों की मदद से उसे शाया कराने के काम में जुट जाती थीं। यह सही है कि फ़ैज़ के दोस्तों ने उनका साथ निभाया, तो भी घर चलाने की पूरी ज़िम्मेदारी एलिस के कंधों पर आ पड़ी थी और फिर अकेलेपन में अपना विश्वास जगाये रखना और ख़ाविंद की सज़ाए-मौत के ख़तरे के नीचे हंसते-हंसते जीना और जेल में बंद क़ैदी का हौसला बनाये रखना आसान काम न था, लेकिन एलिस फ़ैज़ ने इसे इस ख़ूबी से अंजाम दिया कि उनकी तारीफ़ में अल्फ़ाज़ छोटे पड़ जाते हैं। फ़ैज़ एलिस को सिर्फ़ बीवी नहीं मानते, उन्हें अपने दोस्त का दर्जा देते हैं। दोस्त की पहचान यही बतायी गयी है कि वो वक़्त ज़रूरत पर काम आता है, मुसीबत में साथ निभाता है और निराशा के क्षणों में हौसला बंधाता है। एलिस इन सारे पैमानों पर पूरी उतरीं और इसमें शक नहीं कि उनकी वजह से जेल में फ़ैज़ की ज़िंदगी इत्मीनान और पुरसुकून ढंग से गुज़री। उसी दौर का यह शेर देखिए जो एलिस की माहाना आमद के बारे में ही लगता है:

हम अहले-क़फ़स तनहा भी नहीं हर रोज़ नसीमे-सुब्हे-वतन
यादों से मुअत्तर आती है अश्कों से मुनव्वर जाती है।

मो. : 09818367626

मैंने फ़ैज़ को देखा था

केदारनाथ सिंह

फ़ैज़ की चर्चा हिंदी में इतनी अधिक हुई है कि उनकी शायरी पर कोई बात करना किसी कही हुई बात को बार-बार दोहराने की तरह लगता है। मैंने उस बुलंद शख्सियत को, जिसे फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ कहा जाता है, देखा था और थोड़ा क़रीब से देखा था, इसलिए उसी की चर्चा करूंगा। वैसे भी व्यक्ति फ़ैज़ और शायर फ़ैज़ दोनों से मिलकर उस जीवंत काव्य मिथक का निर्माण हुआ है जिसे हम फ़ैज़ के सृजन के रूप में जानते हैं। पहली बार मैंने फ़ैज़ का नाम तब सुना था जब मैं इंटरमीडिएट का विद्यार्थी था। यह वह दौर था जब प्रगतिशील कवियों का ज़िक्र छिड़ने पर कुछ नाम बार-बार सामने आते थे, हिंदी और उर्दू दोनों के। उनमें फ़ैज़ का भी नाम अक्सर सुनने में आता था। आज याद करता हूं कि फ़ैज़ के किस पहले शेर से पहली बार मेरा साक्षात्कार हुआ था तो मुझे याद आता है उनका एक पुराना रूमानी सा शेर जो इस तरह था :

आस उस दर से टूटती ही नहीं
जा के देखा न जा के देख लिया

इस आख़िरी टुकड़े पर मैं रुक गया था और कहीं उसी तरह वह आज भी मेरी स्मृति में अटका हुआ है। पर यह असली फ़ैज़ न थे। जिस क्रांतिकारी फ़ैज़ को हम जानते हैं, रूमानियत उसकी पूरी बनावट का एक हिस्सा ज़रूर थी, पर ख़ालिस फ़ैज़ की पहचान उन दूसरी बहुत सी ग़ज़लों के आधार पर बाद में क्रमशः बनती गयी और मेरे जैसे उस समय के असंख्य युवा पाठकों के दिलो-दिमाग़ में बनती गयी, जिस फ़ैज़ को आज हम जानते हैं। इसी क्रम में यह तथ्य भी जोड़ दूं कि अचानक एक दिन (संभवतः यह मेरे बी.ए. का अंतिम वर्ष था या फिर एम.ए. का आरंभ) जब मुझे श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की ओर से एक छपा हुआ कार्ड मिला जिसमें किसी एशियाई लेखक सम्मेलन का ज़िक्र था। यह दिल्ली में होनेवाला था जिसमें एशिया महाद्वीप के अनेक बड़े साहित्यकार शामिल होनेवाले थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि बनारस के कुछ अन्य लेखकों के साथ मैं उस महत्त्वपूर्ण साहित्यिक समागम को देखने गया था। मैं जान बूझकर 'देखने' शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूं क्योंकि एक युवा लेखक के लिए सिर्फ़ यही संभव था। जिन व्यक्तित्वों को देखा, उनमें निःसंदेह फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी थे। मुझे मंच का दृश्य अब तक याद है। वहां जिन बड़े व्यक्तित्वों की पंक्ति बैठी थी, उसमें कुछ नाम मुझे याद आ रहे हैं : राहुल सांकृत्यायन, लक्ष्मी प्रसाद देवकोटा और फ़ैज़। याद यह भी आ रहा है कि जब स्वागताध्यक्ष

ने फ़ैज़ के नाम का उल्लेख किया तो देर तक हाल में करतल ध्वनि होती रही। यह फ़ैज़ को पहली बार देखना था। विज्ञान भवन के हाल में यह आयोजन हो रहा था, जिसकी अंतिम पंक्ति से मेरी युवा आंखें फ़ैज़ को जितना देख सकी थीं, उसमें सबसे आकृष्ट करनेवाली चीज़ उनकी ख़ामोशी थी, लगभग उस सुपरिचित शेर जैसी ख़ामोशी :

इस तरह अपनी ख़ामुशी गूंजी
जैसे हर सिम्त से जवाब आये

उनके व्यक्तित्व से मेरी यह छोटी सी दूरस्थ जान-पहचान कुल जमा यहीं तक थी, पर यह धुंधली सी याद एक खोयी हुई पूंजी की तरह मेरे काम आयी 1978 में, जब मैं जेएनयू आ चुका था और कुछ मित्रों के साथ उस समय के एक चर्चित नाटक 'बेगम का तकिया' देखने मेघदूत थिएटर गया था। वहां सबसे अंत में बैठे-बैठे एकदम अगली पंक्ति में एक चेहरा दिखायी पड़ा जो उस चेहरे से हल्का सा मिलता-जुलता था, जिसे मैंने युवा नेत्रों से कभी विज्ञान भवन में देखा था। नाटक की समाप्ति पर हम कुछ लोग उधर लपके, जिधर वह फ़ैज़ जैसा शख़्स तेज़ी से बढ़ा जा रहा था। निकट पहुंचकर मैं अपनी उत्सुकता को दबा न सका और एकदम पूछ बैठा, 'माफ़ करें! क्या आप फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ हैं?' वे चकित हुए और दबी ज़बान में 'हां' जैसा कुछ कहा। यह तो मैंने बाद में जाना कि वे पाकिस्तान से छिपकर भारत आये थे और नहीं चाहते थे कि उनके होने की ख़बर सार्वजनिक हो। हां, चलते-चलते मैंने और मेरे कुछ अन्य मित्रों ने भी उनसे यह अनुरोध ज़रूर किया कि आप एक दिन जेएनयू आयें। उन्होंने स्वीकृति में सिर हिलाया।

उसके कई दिनों बाद फ़ैज़ का जेएनयू में आना हुआ। मैं 23-24 वर्षों तक जेएनयू में रहा हूं पर न तो उसके पहले वैसा कुछ हुआ था न उसके बाद। फ़ैज़ का आना एक बहुत बड़े जश्न की तरह था, एक छोटे-मोटे आंदोलन की तरह, जिसमें सारी दिल्ली उमड़ पड़ी थी। भीड़ का आलम यह था कि उस बड़े से पंडाल में सबसे अंतिम और सबसे लंबा जो व्यक्ति खड़ा था उसका नाम है मक़बूल फ़िदा हुसैन। वे अपने नियम के अनुसार नंगे पांव खड़े थे। यह शायर फ़ैज़ के व्यक्तित्व का दुर्दम आकर्षण था जो इतने सारे लोगों को खींच लाया था। फ़ैज़ ने उस अवसर पर क्या कहा, यह ठीक-ठीक याद नहीं। वैसे भी फ़ैज़ वक्ता न थे। इतना याद है कि उन्होंने कुछ ग़ज़लें पढ़ीं और इस तरह पढ़ीं जैसे पढ़ना कोई सज़ा हो। बार-बार आग्रह किये जाने के बाद भी उन्होंने वही चार-पांच ग़ज़लें सुनायी थीं जिन्हें वे सुनाना चाहते थे और चुप हो गये थे। फ़ैज़ का इस तरह आना और सार्वजनिक मंच पर लंबे अरसे बाद आना दिल्ली के सांस्कृतिक इतिहास की एक बड़ी घटना थी, जिसकी समाचार पत्रों में व्यापक चर्चा हुई थी।

इसके बाद की दो छोटी-छोटी घटनाओं का जिक्र करूंगा। इसी बीच एक दिन फ़ैज़ से मिलने उनके होटल जाना हुआ। वह कौन सा होटल था, यह ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा है, मेरे साथ नामवरजी थे और संभवतः एक कोई और। हमने देखा कि फ़ैज़ एक बड़े से कमरे में अकेले बैठे थे, लगभग दीवार के पास और दीवार की ओर मुंह किये। बग़ल में एक छोटी सी तिपाई पर एक भरा गिलास और बर्फ़ के कुछ टुकड़े रखे हुए थे। दीवार की ओर मुंह करके बैठना और अपने प्रिय भरे गिलास के साथ बैठना, मुझे कुछ अजीब सा लगा। मुझ से रहा न गया और मैं औचक पूछ बैठा :

'फ़ैज़ साहब! दीवार की ओर मुंह करके क्यों पी रहे हैं?'

वे हंसे और बोले, 'अच्छा सवाल पूछा, अकेले कभी नहीं पीना चाहिए।'

यह एक बड़े शायर के अकेलेपन और उसकी अंतर्निहित पीड़ा पर एक स्मिति-भरी टिप्पणी थी - एक गहरी और वेधक टिप्पणी।

फ़ैज़ से अंतिम बार मिलना एक फर्शी नशिस्त में हुआ था, श्रीमती शीला संधू के आवास पर। उसमें अनेक लोग उपस्थित थे, जैसे डॉ. कर्ण सिंह और पाकिस्तान के तत्कालीन उच्चायुक्त जनाब अब्दुल सत्तार। हिंदी के तो कई लोग थे ही। दो चीज़ें मुझे ख़ास तौर पर याद हैं, बल्कि तीन।

डॉ. कर्ण सिंह ने फ़ैज़ की कई चीज़ें उस मौक़े पर सुनायी थीं, सीधे अपनी स्मृति से और अंत में कुछ डोगरी लोकगीत भी सुनाये थे। उनका कंठ इतना अच्छा है, इसका पता पहले न था। फ़ैज़ ने उस मौक़े पर ज़्यादातर नज़्में पढ़ी थीं और बेशक कुछ ग़ज़लें भी। एक ग़ज़ल पढ़ते-पढ़ते अचानक वे किसी जगह अटक गये थे, जैसे कुछ भूल रहे हों कि अचानक पीछे से किसी ने मानो 'प्रॉम्ट' किया हो और इस तरह उन्हें भूला हुआ मिसरा याद आ गया। लोगों ने देखा, जिस व्यक्ति ने 'प्रॉम्ट' किया था वे पाकिस्तान के हाई कमिश्नर थे। फ़ैज़ ने उनकी ओर देखा और पढ़ना जारी रखा। इससे अधिक कोई तवज्जो न दी। हां, जब फ़ैज़ का पाठ समाप्त हो गया तो उच्चायुक्त महोदय एकदम से भागे हुए आये और फ़ैज़ के सामने अभिवादन कर के खड़े हो गये। बैठने का इशारा करने पर भी बैठे नहीं, अंत तक खड़े ही रहे। फ़ैज़ से कुछ ि शष्टाचार जैसी बातें होती रहीं और फिर वे कहीं पीछे जाकर फ़र्श पर ही बैठ गये। पर इस पूरे प्रसंग का अंतिम हिस्सा उस नज़्म से जुड़ा है जो मेरी फ़ैज़ की असंख्य पसंदीदा कविताओं में से एक है। कविता का शीर्षक है, 'रक़ीब से' जिस पर फ़िराक़ गोरखपुरी का मशहूर लेख भी मैंने पढ़ा था। ज़ाहिर है 'रक़ीब' शब्द का पूरी उर्दू परंपरा में एक रूढ़ अर्थ है और इस नज़्म की सबसे बड़ी ब्यूटी यही है कि वह इस रूढ़ प्रतीक में एक नयी मानवीय अर्थवत्ता भर देती है। और इस अर्थ में यह कविता प्रेम कविताओं की दुनिया में एक ऐतिहासिक महत्व रखनेवाली कविता बन जाती है। जब फ़ैज़ अपनी कई ग़ज़लें और नज़्में पढ़ चुके तो मैंने अनुरोध किया कि कृपया 'रक़ीब से' पढ़ें। बोले, 'ये तो नहीं पढ़ूंगा, कुछ चीज़ें अपनी ही ज़बान से निकलती हैं और हवा में मंडरा कर जैसे अपने ही सर पर गिर पड़ती हैं, यह नज़्म वैसी ही है।' फिर कई लोगों के इसरार करने पर उन्होंने यह नज़्म पढ़ी और सिर्फ़ वहीं तक पढ़ी जहां यह टुकड़ा आता है :

हमने इस इश्क़ में क्या खोया है, क्या सीखा है
जुज़ तेरे और को समझाऊं तो समझा न सकूं।

बहुत कहने के बाद भी इसके बाद का हिस्सा उन्होंने नहीं पढ़ा और धीरे से कहा, 'नज़्म यहीं ख़त्म होती है।' उसके बाद नज़्म में और 14 लाइनें हैं जो थोड़ी लाउड हैं और उस समय का जो एक तरक़्क़ीपसंद चलन था उसके अनुसार थीं। फ़ैज़ को वह बाद का हिस्सा अनावश्यक लगा और इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया। यह एक बड़े शायर का आत्मालोचन था और कला की उसकी अपनी समझ का आईना भी। फ़ैज़ में यह नैतिक साहस था और भरी सभा में उसे व्यक्त करने का अपना ख़ास तरीक़ा भी।

मो. : 011-26531444

हमारे वजूद का एक हिस्सा

असग़र वजाहत

मेरी उर्दू भाषा और साहित्य की पढ़ाई किसी तमीज़ और सलीक़े से नहीं हुई। पैदा तो आज़ादी मिलने से पहले हो गया था लेकिन स्कूल जाना शुरू किया आज़ादी के बाद। यह वह ज़माना था जब उर्दू को देश निकाला दिया जा रहा था और स्कूलों में, ख़ास तौर पर सरकारी स्कूलों में उर्दू की पढ़ाई बंद हो गयी थी। शायद यह मान लिया गया था कि सभी मुसलमान पाकिस्तान चले गये हैं और वहां उर्दू पढ़ रहे होंगे। लेकिन ऐसा नहीं था। हमारा परिवार तो एक छोटे शहर की परिधि पर पिछले सौ साल से जहां बसा हुआ था, वहां से टस का मस न हुआ था। लेकिन उर्दू खिसक कर पाकिस्तान जा चुकी थी। हां, घर का माहौल उर्दू-फ़ारसी वाला माहौल था। हमारे दादा अपने समय की सामान्य सांस्कृतिक आवश्यकता के अनुसार शायर थे और 'जोश' तख़ल्लुस करते थे। कोई पाठक 'जोश' से मतलब जोश मलीहाबादी न निकाले। उस ज़माने में और अब भी कई शायरों का एक तख़ल्लुस हो सकता है। हमारी अम्मां उर्दू के क्लासिकल साहित्य *फ़साने-ए-आज़ाद, तिलिस्मे होशरूबा* आदि की रसिया थीं। शेरो-शायरी में भी उन्हें वाजबी वाजबी दिलचस्पी थी। घर में फूफियां (बुआएं) उर्दू की पत्रिका *ख़ातूने मशरिक़* और *बीसवीं सदी, शमा* और बाद में *जासूसी दुनिया* और *रूमानी दुनिया* मंगाती थीं। मुझे बचपन में *जासूसी दुनिया* सुनने का शौक था। उर्दू नहीं आती थी लेकिन 'अलिफ़', 'बे' वग़ैरह पहचान लेता था क्योंकि *क़ुरान शरीफ़* पढ़वाने के सिलसिले में यह पढ़ाया गया था। बहरहाल होता यह था कि अगर कभी किसी के पास मुझे *जासूसी दुनिया* सुनाने का समय नहीं होता था तो मैं खुद टटोल-टटोल कर पढ़ने की कोशिश करता था और इसमें थोड़ी-थोड़ी कामयाबी भी मिल जाती थी। यह पूरी दास्तान इसलिए सुना रहा हूं कि इसी पृष्ठभूमि में मैंने पहली बार फ़ैज़ को पढ़ा था।

पता नहीं क्या चक्कर था कि हमारे शहर के सरकारी स्कूल में जहां से मैं और मेरा भाई हाई स्कूल कर रहे थे, वहां नवें दरजे तक उर्दू नहीं पढ़ायी जाती थी। लेकिन बोर्ड की परीक्षा यानी दसवीं क्लास में उर्दू पढ़ाई जाती थी। हम लोग यानी मैं, मेरा भाई और क्लास के एक दो और मुसलमान लड़के जब दसवीं में आये तो हमसे मिलने उर्दू के बुजुर्ग टीचर आये। अब उनका नाम तो याद नहीं पर बड़ा नूरानी चेहरा था। रंग अच्छा ख़ासा गहरा था। चेहरे पर सफ़ेद घनेरी दाढ़ी थी। नाक नक़्शा खड़ा था। दोहरे बदन के आदमी थे। बुजुर्ग उर्दू टीचर ने कहा कि तुम लोगों (यानी मुसलमान लड़कों) ने हाई स्कूल में उर्दू न ली तो मेरी नौकरी चली जायेगी। हमने मौलाना को अपनी मजबूरी बतायी कि हमने तो उर्दू पढ़ी ही नहीं है, तो वे बोले मैं तुम लोगों को 'अलिफ़', 'बे' से पढ़ा दूंगा। कोई फ़ेल नहीं होगा। अच्छे नंबर

आयेंगे। और हुआ भी यही। बहरहाल उर्दू आ गयी।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में साइंस के विषय लेकर दाख़िला दिलाया गया तो उर्दू फिर ग़ायब हो गयी। पर अलीगढ़ में उन दिनों शेरो-अदब का माहौल था। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का नाम सुना और कुछ मीर तक़ी 'मीर' जैसा ध्वनित हुआ। लगा यार ये फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मीर तक़ी 'मीर' के ज़माने के शायर मालूम होते हैं। कई महीनों तक मैं यही समझता रहा। किसी से पूछा भी नहीं क्योंकि डरता था कि शायद लोग हंसेंगे। बहरहाल इसी दौरान मुझे फ़ैज़ का संग्रह *दस्ते-सबा* की एक कापी मिल गयी। उस ज़माने में, रात के उन घंटों को छोड़ जब सोता था, बाक़ी वक़्त मित्र मुज़फ़्फ़र अली (जो अब विख्यात फ़िल्मकार हैं) के साथ गुज़रता था। हम दोनों ने *दस्ते-सबा* साथ-साथ पढ़ना शुरू की और हमारे ऊपर उसका जादू जैसा असर हुआ। हास्टल के कमरे में, क्लास रूप में, चांदनी रातों को पार्कों में टहलते हुए हम फ़ैज़ के शेर पढ़ा करते थे। उनके क़त्अे, उनकी नज़्में गुनगुनाया करते थे। फ़ैज़ हमारे वजूद का एक हिस्सा बन गये थे और हमें लगता था, हमारा नया जन्म हो रहा है। फ़ैज़ की शायरी के मूल्य और स्थापनाएं हमें बहुत अच्छी और अपनी लगती थीं और हम उन्हें स्वीकार कर चुके थे। उसी ज़माने में उर्दू के लोगों से फ़ैज़ के व्यक्तित्व के बारे में पता चला। यह भी बड़ा रोमांचक और हीरोइक प्रतीत हुआ। फ़ैज़ सेना में कैप्टन थे, फ़ैज़ लाहौर षड्यंत्र केस में फांसी पर चढ़ाये जाने वाले थे। फ़ैज़ की पत्नी अंग्रेज़ हैं। फ़ैज़ अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर रह चुके हैं। फ़ैज़ को पाकिस्तान से ज़िलावतन कर दिया गया है। फ़ैज़ लंदन/मास्को/बैरूत वग़ैरह में रहते हैं।

फ़ैज़ के ज़रिये मैं प्रगतिशील आंदोलन के पास आया और मुज़फ़्फ़र अली ने तो फ़ैज़ पर बहुत काम किया। फ़ैज़ से उनकी मित्रता भी हो गयी थी। फ़ैज़ ने उन्हें अपनी शायरी फ़िल्मों में इस्तेमाल करने के अधिकार भी दिये थे। लेकिन मेरा फ़ैज़ से कोई निजी और व्यक्तिगत रिश्ता नहीं बन पाया या मैंने बनाना नहीं चाहा। इसके भी वह कई कारण थे।

दिल्ली में आकर जामिया की नौकरी कर ली। इस दौरान *दिनमान* के लिए लगातार लिखता था और रघुवीर सहाय से बराबर मुलाक़ात रहती थी। उन्हीं दिनों फ़ैज़ के नये संग्रह *दस्ते-तहे-संग* को दिल्ली के किसी प्रकाशक ने वेसे ही छाप दिया था। यह 'कॉपी राइट पायरेसी' का मामला था। मैंने सहाय जी को बताया तो उन्होंने कहा इस बहाने फ़ैज़ पर कुछ लिख दीजिए। मैंने 'पायरेसी' से 'राइट अप' शुरू किया और फ़ैज़ की कविता के सरोकार तथा उपलब्धियों की चर्चा की। इस 'राइटअप' का शीषक फ़ैज़ की एक कविता की पंक्ति से लिया था : 'मेरा सरमाया यही हाथ तो है।' यह *दिनमान* में छपा था। इसकी प्रति मेरे पास नहीं है।

प्रगतिशील आंदोलन के प्रवर्तक सज्जाद ज़हीर की सन् 1973 में हार्ट फ़ेल होने से मृत्यु हो गयी थी। वे उन दिनों किसी मीटिंग में अल्माआता गये हुए थे, जहां फ़ैज़ भी थे। ख़बर यह मिली कि सज्जाद ज़हीर की 'डेड बॉडी' के साथ फ़ैज़ दिल्ली आ रहे हैं। भारत सरकार ने विशेष रूप से फ़ैज़ को भारत आने का वीज़ा दे दिया है। सज्जाद ज़हीर को जामिया के क़ब्रिस्तान में दफ़न किया गया। यहां मैंने फ़ैज़ को पहली बार देखा। उन्हें देखना एक रोमांचक अनुभव था। जिस शायर के साथ आपने इतना वक़्त गुज़ारा हो उसे साक्षात देखना एक बड़ी कल्पना और आकांक्षा के पूरा होने जैसा है। फ़ैज़ के चेहरे पर जो भाव थे, उनका जो अंदाज़ था, उनकी जो सादगी थी, मैं सब देखता रहा लेकिन उनसे मिला नहीं। अगर मैं अजमल अजमली या अमीर आरफ़ी या प्रो. मुहम्मद हसन से कहता तो वे मुझे फ़ैज़ से मिलवा

सकते थे। पर मैंने किसी से नहीं कहा। क्यों! पहली बात तो यह कि जीवन भर मैं मशहूर, बड़े, विख्यात, नामी लोगों से मिलने में हिचकिचाता रहा हूं बल्कि नहीं मिलना चाहता। क्यों? कह नहीं सकता! शायद डर...भय...लेकिन क्यों? किसका डर? या नये आदमी, वह भी विख्यात आदमी का दबाव और फिर मिल पाने के बाद की निरर्थकता। मतलब ज़ाहिर है अगर फ़ैज़ से कोई मुझे मिलवाता तो क्या होता? फ़ैज़ हाथ मिला लेते। मुस्कुरा देते। हद से हद यह कि मुझे गले लगा लेते। तब? क्या उससे कुछ होता? वैसे बड़े लोगों से संबंध बनाना और उन्हें किसी पक्ष में मोड़ देना मेरे लिए अब भी बहुत मुश्किल है। फ़ैज़ को दस मिनट देखता रहा था। फ़ैज़ की पूरी शायरी उनके चेहरे पर खुदी हुई दिखायी पड़ी। मैं इससे बहुत खुश था कि फ़ैज़ को देख लिया है।

फ़ैज़ ऐसे कम शायरों में हैं जिनका 'ग्राफ़' ऊपर ही जाता है। *दस्ते-सबा* से लेकर *सरे-वादिए-सीना* तक फ़ैज़ में ज़बरदस्त जज़्बा है। यह फ़ैज़ की ईमानदारी और बड़ी ईमानदारी है कि उन्होंने समाजवादी सत्ता के बिखरते, टूटते दुःख को भी अपनी कविता का विषय बनाया है।

मूलतः पंजाबीभाषी फ़ैज़ अरबी और फ़ारसी भाषा के अच्छे जानकार थे। वे अपनी उर्दू कविता को ऊंची काव्यात्मकता देने के लिए फ़ारसी और अरबी से शक्ति ग्रहण करते थे। बहरहाल चाहे जो हो, फ़ैज़ पूर्वी देशों के महान कवियों की उस परंपरा में आते हैं जो शताब्दियों तक इनसान के दिलों और दिमाग़ों को गरमाते रहते हैं।

मो. : 09818149015

हिंदुस्तान में जश्ने फ़ैज़ की एक रपट

शरद दत्त

आंखों देखे हाल के रूप में यह रपट 1980 के अप्रैल महीने के पूरे माहौल के खुलासे के लिहाज़ से बहुत ही महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है। दूरदर्शन पर क़मर रईस, भीष्म साहनी और इंद्र कुमार गुजराल फ़ैज़ के साथ मौजूद थे। इस संस्मरणात्मक रपट को हमने सारांश प्रकाशन की पुस्तक 'शरद की व्याप्ति' से संकलित किया है। सं.

फ़ैज़ साहब से मिलने का चूंकि पहले कभी इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ था, इसलिए अप्रैल 1980 की एक शाम को जब हमें टीवी स्टूडियो के बाहर उनका इंतज़ार करना पड़ा, तो मैं अपने मन में उनकी तरह-तरह की तस्वीरें बनाता रहा ऐसी तस्वीरें जो उनकी शायरी के पीछे से उभरती थीं। लेकिन कुछ देर के इंतज़ार के बाद फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के रूप में जो शख़्स हमारे सामने आकर खड़ी हुई कार से उतरा, वह उन तस्वीरों से कहीं भी मेल नहीं खाता था। शानदार सफ़ारी सूट पहने और हाथ में विदेशी सिगरेट का पैकेट लिए वह शख़्स मुझे शायर कम और किसी बड़ी कंपनी का मैनेज़िंग डायरेक्टर ज़्यादा लग रहा था। फिर मुझे यह देखकर भी अजीब-सा लगा कि हमारे साथ बैठकर उन्होंने दुनिया के हर आमो-ख़ास मसले पर बातें कीं, लेकिन शायरी के बारे में एक लफ़्ज़ भी नहीं कहा। कहने का मतलब यह कि उस पहली मुलाक़ात में मुझे फ़ैज़ साहब की शख़्सियत का पूरा अंदाज़ एंटी-शायर लगा था। बाद में मैंने समझा कि उनका यह अंदाज़ उनकी लीक छोड़कर चलने की फ़ितरत का ही एक हिस्सा था।

उस साल फ़ैज़ साहब की सत्तरवीं सालगिरह पर दिल्ली में जश्न-ए-फ़ैज़ का आयोजन हुआ था, और उसमें शरीक होने के लिए ही वे दिल्ली तशरीफ़ लाए थे। अप्रैल का वह तीसरा हफ़्ता था, और मौसम की रवायत के मुताबिक़ दिल्ली काफ़ी गर्म हो चुकी थी। लेकिन बावजूद उस गर्मी के फ़िक्की सभागार में फ़ैज़ साहब के इस्तक़बाल के लिए जुटी-उमड़ी भीड़ का आलम देखते बनता था। पहली बार मैंने जाना कि किसी शायर को देखने-सुनने के लिए भी ऐसी गरमी में इतना जन-समूह उमड़ सकता है और तभी मैं फ़ैज़ साहब के कविता-संग्रह *शामे-शहरे-यारां* की भूमिका में उनके इस कथन की सच्चाई से भी रू-ब-रू हुआ कि 'हमारे शायरों को हमेशा यह शिकायत रही है कि ज़माने ने उनकी क़द्र नहीं की। हमें इससे उलट शिकायत यह है कि हम पे लुत्फ़ो-इनायात की इस क़दर बारिश रही है अपने दोस्तों की तरफ़ से, अपने मिलनेवालों की तरफ़ से और उनकी जानिब से भी जिन्हें हम जानते भी नहीं कि अक्सर दिल में हिचक महसूस होती है कि इतनी तारीफ़ और वाहवाही पाने का हक़दार होने के लिए जो थोड़ा-बहुत काम हमने किया, उससे ज़्यादा हमें करना चाहिए।' बेशक ज़्यादा-से-ज़्यादा काम किया जाना चाहिए, लेकिन जितना कुछ फ़ैज़ साहब ने कर दिया है वह 'थोड़ा-बहुत' होते हुए भी 'बहुत कुछ' है। उसकी

हैसियत क्लासिक की है। उसे 'थोड़ा-बहुत' कहना फ़ैज़ साहब की विनम्रता ही है।

13 फरवरी, 1911 को सियालकोट में जनमे फ़ैज़ को अदबी रुझान विरासत में मिला था। उनके वालिद चौधरी सुलतान मोहम्मद खान की साहित्य में गहरी दिलचस्पी थी और उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान के अमीर अब्दुल रहमान की जीवनी लिखकर प्रकाशित भी करायी थी। उर्दू के ख़्यातनामा शायर अल्लामा इक़बाल और अदीब सर अब्दुल क़ादिर के साथ उनके नज़दीकी संबंध थे। परिवार के इस अदबी माहौल का फ़ैज़ पर असर पड़ना लाज़िमी था। उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही लिखना शुरू कर दिया था। पहली ग़ज़ल उन्होंने सिर्फ़ 17 साल की उम्र में कही थी।

फ़ैज़ ने 1933 में अंग्रेज़ी में और 1934 में अरबी में एम.ए. पास करने के बाद एम.ओ.यू. कॉलिज, अमृतसर में लैक्चररशिप से अपने कैरियर की शुरुआत की। 1936 में लखनऊ में होनेवाली प्रगतिशील लेखक संघ की पहली मीटिंग में उन्होने इस संस्था के संस्थापक-सदस्य के रूप में हिस्सा लिया। तीसरे दशक के अंत में विश्व युद्ध शुरू हो गया और फ़ैज़ ने लैक्चररशिप छोड़कर 1942 में फ़ौज की नौकरी कर ली। फिर देश के बटवारे के बाद *पाकिस्तान टाइम्स* तथा *इमरोज़* का संपादन हाथ में लिया। लेकिन फ़ैज़ जिन संपादकीय नीतियों और विचारधारा को लेकर काम कर रहे थे, वे हुकूमत के लिए क़ाबिले-बर्दाश्त नहीं थीं। लिहाज़ा 1951 में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया, और 1955 में जेल से रिहाई के बाद उनका ज़्यादातर वक़्त विदेशों में व्यतीत हुआ। फ़ैज़ के पिता चौधरी सुलतान मोहम्मद ख़ां भी अफ़ग़ानिस्तान में एक महत्वपूर्ण पद पर काम कर रहे थे कि एक छोटी-सी बात पर वहां के शासक से मतभेद हो गया और आवेश में नौकरी को लात मारकर वे इंग्लैंड चले गये, जहां उन्होंने कैंब्रिज तथा लिंकन इन में रहकर उच्चतर शिक्षा प्राप्त की। फ़ैज़ में अपने पिता का यही विद्रोही तेवर काम कर रहा था।

फ़ैज़ एक बार पाकिस्तान से वतन-बदर हुए तो फिर सारी दुनिया के हो रहे। सारी दुनिया का हर मुल्क उनका अपना वतन बन गया। भारत की तो ख़ैर बात ही दूसरी थी पाकिस्तान और भारत उनके लिए एक ही जिस्म के दो हिस्से थे। भारत की जनता ने भी उन्हें जो बेपनाह प्यार दिया, उसकी ज़िंदा मिसाल के रूप में 'जश्न-ए-फ़ैज़' मेरे सामने था। इस जश्न में सिर्फ़ आम आदमी की ही बड़े पैमाने पर शिरकत नहीं थी बल्कि बुद्धिजीवियों और कलाकारों का एक बड़ा वर्ग भी इसमें हिस्सा ले रहा था। प्रो. क़मर रईस की ज़बानी, 'हिंदुस्तान के हर शहर और गली-कूचे में इनका (फ़ैज़ साहब का) जन्मदिन जिस तरह से मनाया जा रहा है, मैंने आज तक अपनी तमाम ज़िंदगी में किसी लिखनेवाले, किसी आर्टिस्ट या किसी शायर का जन्मदिन मनाते ऐसे नहीं देखा।' प्रोफ़ेसर रईस ने ये शब्द उस बातचीत को समेटते हुए कहे थे जो 'जश्न-ए-फ़ैज़' के दौरान दिल्ली दूरदर्शन के लिए रिकार्ड की गयी थी और जिसमें फ़ैज़ साहब तथा प्रो. क़मर रईस के अलावा हिंदी के मशहूर कथाकार भीष्म साहनी तथा जाने-माने बुद्धिजीवी और फ़ैज़ साहब के दोस्त इंद्रकुमार गुजराल भी शामिल थे।

मैंने सुना हुआ था कि फ़ैज़ आदतन बहुत कम बोलते हैं और जो बोलते हैं वह भी बहुत नीचे सुर में। 'जश्न-ए-फ़ैज़' के सिलसिले में मुझे लगातार पांच दिन तक उनके साथ रहने और छोटी-बड़ी महफ़िलों में उन्हें सुनने का मौक़ा मिला, और मैंने पाया कि सचमुच वे अपने बजाय दूसरों को बोलने देने में ज़्यादा यक़ीन रखते हैं। एक महफ़िल में कर्तार सिंह दुग्गल ने फ़ैज़ साहब के बारे में अपने संस्मरण सुनाते हुए, उनके कम बोलने का एक दिलचस्प वाक़या बयान किया था : '1966 की बात है। मैं मास्को में था, और चंद दिनों के लिए वहां से बाहर घूम रहा था। जिस रोज़ मैं वापस मास्को पहुंचा, हमारी एक

कॉमन फ्रेंड हैं मरियम सल्गानिक, उनका टेलीफ़ोन आया कि फ़ैज़ तुम्हारी एब्सेंस में आये थे और उनको आज जाना था। लेकिन जब उनको पता लगा कि तुम आज ही मास्को लौट रहे हो तो उन्होंने अपनी फ़्लाइट कैंसिल कर दी और वो कल जायेंगे और आज शाम को उन्होंने कहा है कि हम मिलें। मैं शाम को उनसे मिलने गया। जहां हमें मिलना था वहां खाने की कोई दावत थी और वो बहुत प्यार से मिले क्योंकि 1965 की लड़ाई के बाद हम मिल रहे थे। उनकी आंखों में आंसू थे और सारा वक़्त वे उस महफ़िल में मेरे साथ बैठे रहे, मेरा हाथ पकड़े हुए। और कोई बात नहीं की हमने। मैं सोच रहा था कि जब महफ़िल ख़त्म होगी तो बात करेंगे। महफ़िल रात के दो बजे ख़त्म हुई। तो ऐसे हुआ कि हम एक ही मोटर में बैठे। मेरा होटल रास्ते में पड़ता था, फ़ैज़ को आगे जाना था। मोटर में बैठकर मैंने सोचा कि फ़ैज़ कोई बात करेंगे, लेकिन फिर भी कोई बात नहीं हुई। जब मैं अपने होटल तक पहुंचा तो मैं उतर गया। फ़ैज़ ने मुझसे हाथ मिलाया, मुझे गले लगाया और चले गये।' यह था फ़ैज़ की चुप्पी का आलम कि जिस आदमी से मिलने के लिए उन्होंने अपनी फ़्लाइट कैंसिल कर दी थी उसके साथ इतनी देर रहकर भी कोई बात नहीं की।

फ़ैज़ साहब के नीचे सुर में बोलने का तो यह आलम था कि किसी महफ़िल में वे अपना कलाम सुनाते, तो शुरू के कुछ मिसरे यों निकल जाते जैसे वे कुछ सुना नहीं रहे बल्कि पास बैठे किसी व्यक्ति से बतिया रहे हैं। थोड़ी देर बाद ही हम श्रोताओं को पता चलता था कि फ़ैज़ साहब कुछ सुना रहे हैं। उनके इस तरीक़े की कई लोग ख़राब अदायगी कहकर आलोचना करते हैं, लेकिन मुझे लगता है कि यह फ़ैज़ की अदायगी के बुरी या अच्छी होने का सवाल नहीं है। इस बात का तअल्लुक़ अदब और शायरी के साथ उनके रिश्ते व रुझान से है। शायरी उनके ख़ून में थी, लेकिन शायरी उनका आख़िरी मक़सद नहीं थी। इसीलिए वे बाहर से उस अंदाज़ के क़ायल नहीं थे जो शायरी की निस्बत लोगों के ज़ेहन में बैठा हुआ है। लेकिन भीतर से फ़ैज़ पूरी तरह शायर थे उतने ही लापरवाह, उतने ही भावुक और वैसा ही इनसानियत का दर्द अपने दिल में छुपाये हुए। यह उनके जैसा शायर ही कह सकता था कि 'मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग!' यह नज़्म उनके सबसे पहले कविता-संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* में संकलित है, जिसका प्रकाशन 1942 में हुआ था। जब फ़ैज़ कहते हैं

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा
अनगिनत सदियों के तारीक़ बहीमाना तिलस्म
रेशमो-अतलसो-कमख़्वाब में बुनवाये हुए
जा-ब-जा-बिकते हुए कूच-ओ-बाज़ार में जिस्म
ख़ाक में लिथड़े हुए, ख़ून में नहलाये हुए
जिस्म निकले हुए अमराज़ के तन्नूरों से
पीप बहती हुई गलते हुए नासूरों से

लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजे
अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजे
और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा
मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग

तो गोया वे अपनी शायरी की आंतरिक प्रेरणा को ही हमारे सामने प्रकट करते हैं। शायरी के इस मक़सद को लेकर चलनेवाले शायर के लिए मंच पर अशआर की रौबीली अदायगी की बात ख़ुद-ब-ख़ुद बेमानी हो जाती है।

फ़ैज़ साहब का अपने पढ़ने-सुननेवालों के साथ जो रिश्ता था उसकी एक बहुत ही दिलचस्प दास्तान ख़ुद फ़ैज़ साहब ने सुनायी थी। दिल्ली आये हुए थे वे। उन्हीं के लफ़्ज़ों में, 'तो एक साहब आये। हमसे अप्वाइंटमेंट-सप्वाइंटमेंट करने की किसी को ज़रूरत है ही नहीं। जैसे अक्सर लोग आते ही रहते हैं। तो उन्होंने आकर कहा कि देखिए, आपने जो लोरी सुनायी थी फ़िलिस्तीनी बच्चे की, उसका मुझ पर बहुत असर हुआ। लेकिन मैं उसकी सिर्फ़ एक लाइन लिख सका हूं। बाक़ी आप लिखवा दीजिए। मैंने कहा कि अच्छा चलो लिख लो। तो मैंने लिखवा दिया। फिर मैंने पूछा क्या करते हो, तो बोला कि दिल्ली क्लाथ मिल में मज़दूरी करता हूं। मुझको भी बहुत ख़ुशी हुई कि वाक़ई यह बात इस हद तक पहुंच गयी है तो इसका मतलब यह है कि शेर कामयाब है। बात यह है कि मेरा आपके और अपने लोगों के साथ रिश्ता हो तो वह रिश्ता ख़ुद ही समझा देता है कि किस क़िस्म से बात करनी है और किस ज़बान में करनी है। अगर वह रिश्ता नहीं है तो आप कैसी भी बात क्यों न करें, लोगों के दिलों तक नहीं पहुंचेगी। एक पुराने शायर के लफ़्ज़ों में :

दिल को लगाने का ढंग जानते हैं
वो तरक़ीब-वरक़ीब सब जानते हैं।

तो फ़ैज़ साहब के दिल में अवाम के लिए मुहब्बत का जज़्बा भी है और उस जज़्बे को अवाम तक पहुंचाने का ढंग और उसकी तरक़ीब-वरक़ीब सब वे जानते हैं। और शायद इस काम को अंजाम देने में उनकी सबसे बड़ी तरक़ीब उनकी ज़बान है जो पढ़ने-सुननेवालों के दिलों में उतरती चली जाती है। यहां फ़ैज़ साहब से ही ज़बान का क़िस्सा सुनें : 'ज़बान तो समाज की ज़रूरत होती है, समाज का तकाज़ा होती है, उसके मुताबिक़ पैदा होती है। हमारे मुल्कों में, समाजों में, जो ज़बान का क़िस्सा पैदा हुआ है वो इस वजह से हुआ है इन सारे मुल्कों में एशिया और अफ़्रीका की बात कर रहा हूं कि यहां पर जिस दौर या जिस वक़्त में योरप की ताक़तों ने आकर क़ब्जा कर लिया, उसी वक़्त से हमारी ज़बानों की, हमारे समाज की, हमारे एक्नामिक्स की, हर चीज़ की तरक़्क़ी रुक गयी। नतीजा इसका यह हुआ कि उनकी (यानी विदेशी शासकों की) ज़बान जो थी यानी अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली या जो भी ज़बान थी वो बन गयी सरकारी ज़बान, वो बन गयी तालीमी ज़बान। हालांकि पहले भी यह था कि ऊंचा तबक़ा जो था उसकी एक ज़बान है और नीचेवालों की एक बोली है, लेकिन फिर भी वो ज़बान उसी जगह की थी। लेकिन वहां तो योरप की ज़बानों ने आकर इन मुल्कों की अपनी ज़बान की जगह ले ली और लोग समझने लगे कि यही ज़बान पढ़ें तो हम पढ़े-लिखे समझे जायेंगे।'

फ़ैज़ चूंकि ज़बानों के इस फ़र्क़ को समझते थे इसलिए वे यह भी समझते थे कि अवाम से अवाम की ज़बान में ही 'कम्युनिकेट' किया जा सकता है।

देश के चुनिंदा बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों ने 'जश्न-ए-फ़ैज़' में शिरकत की थी। इनमें उल्लेखनीय थे जस्टिस जी. डी. खोसला, प्रोफ़ेसर मूनिस रज़ा, इंद्रकुमार गुजराल, प्रोफेसर क़मर रईस, ग़ुलाम रब्बानी ताबां, ख़ुशवंत सिंह, कर्तार सिंह दुग्गल, अमृता प्रीतम, डॉ. मोहम्मद हसन, कमलेश्वर,

भीष्म साहनी इत्यादि। इनके अलावा कुछ दूसरे फ़नकारों ने भी 'जश्न-ए-फ़ैज़' में अपना योगदान किया था। जगजीत सिंह और मदनबाला सिंधू सरीखे ग़ज़ल-गायकों ने फ़ैज़ साहब की ग़ज़लें अपनी सुरीली आवाज़ में पेश करके श्रोताओं को रस-विभोर किया, तो उमा शर्मा जैसी विशिष्ट नृत्यांगना ने उनके अशआर पर तरतीब दिया हुआ कथक नृत्य प्रस्तुत करके दर्शकों को मंत्रमुग्ध किया। ख़ुद फ़ैज़ ने पहले सज्जाद ज़हीर मैमोरियल लैक्चर के रूप में अपना ऐतिहासिक पर्चा इसी 'जश्न-ए-फ़ैज़' के दौरान पढ़ा था जिसका विषय था 'मश्रिक़ और मग्रिब'। यह पर्चा अंग्रेज़ी में था, जिसका सारांश हम यहां इसलिए दे रहे हैं कि इससे फ़ैज़ साहब की विचारधारा को समझने में सहायता मिलेगी :

'रुडयार्ड किपलिंग का यह कहना कि मश्रिक-मश्रिक है और मग्रिब-मग्रिब, उस साम्राज्यवादी घमंड का इज़हार है जो अपने उस वक़्त के सियासी और समाजी हालात को जिनमें मग्रिब का पलड़ा भारी है, हमेशा उसी तरह बने रहनेवाले मानकर चलना चाहता है। यही नहीं, वह उस ऊंच-नीच के नज़रिये को यूं बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है मानो पहले भी मश्रिक़-मग्रिब का रिश्ता उसी तरह रहा हो और आनेवाले वक़्तों में भी ऐसा ही होगा।

'यह दीगर बात है कि इनसानी तहज़ीब की तारीख़ साम्राज्यवाद की उस ख़्वाहिश का क़तई समर्थन नहीं करती। लंबे अरसे तक मश्रिक़ की कल्चर और तहज़ीब आम तौर पर मग्रिब पर हावी रही। कल्चर के इस लेन-देन में मग्रिब की हिस्सेदारी थी भी तो बहुत मामूली।

'हिंदुस्तान के मामले में यह बात और ज़्यादा अहम हो जाती है। यहां मग्रिबी कल्चर के झंडाबरदार बर्तानिया को ख़ास तौर पर तीन दौरों से होकर गुज़रना पड़ा। मुग़ल बादशाह के उरूज के वक़्त के बर्तानवी और दूसरे मग्रिबी सफ़ीरों ने हिंदुस्तान की कल्चर और तहज़ीब के बेहिसाब गुण गाये हैं। उनका पहला रिएक्शन हैरत का था कि इतनी ऊंची तहज़ीब का भी वजूद इस धरती पर है।

'बर्तानवी, फ़्रांसीसी और डच कंपनियों ने हिंदुस्तान के इलाक़ों पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया तो उन्होंने जीते हुए इलाक़ों की तहज़ीबी-तमद्दुन को, उनकी आर्ट को भी अपना लिया। दरअसल एक तरीक़े से उन्होंने एक बेहतरीन कल्चर को अपने अंदर जज़्ब किया था।

'आख़िरी दौर विजयी साम्राज्यवाद की अपनी ज़रूरतों से जुड़ा हुआ है। हिंदुस्तान को पूरी तरह जीत लेने के बाद गोरे हुक्मरान को एक ऐसे निज़ाम की ज़रूरत थी जो उनके फ़ायदों के लिए काम करे। अपने इस मक़सद को पूरा करने में उन्होंने हिंदुस्तानियों की मदद ली। अपनी मग्रिबी तालीम के ज़रिये उन्होंने हिंदुस्तानियों को उनकी सांस्कृतिक जड़ों से काट दिया था। ये उस दौर की शुरुआत थी जिसमें मग्रिबी रहन-सहन, पहनावे, ज़बान और तमद्दुन की नक़ल करना फ़ैशन था, और हिंदुस्तान से तअल्लुक़ रखनेवाली सब बातों को हिमाक़त की नज़र से देखा जाता था। लब्बोलुवाब यह कि देशी साहबों ने मान लिया था कि मग्रिब की कल्चर एक बेहतरीन कल्चर है जो हमेशा से ऐसी थी और आगे भी ऐसी ही रहेगी। किपलिंग का घमंड से भरा हुआ फ़िक़रा उसी दौर की देन है। हालांकि उसी दौर में आज़ादी की लड़ाई भी लड़ी जा रही थी, जहां स्वदेशी वस्तुओं और विचारों को पूर्ण सम्मान दिया जा रहा था।

'इस सदी के चौथे दशक तक जहां एक तरफ़ मग्रिब में ऐसे लोग पैदा हो रहे थे जो उपनिवेशों में चलनेवाली आज़ादी की लड़ाइयों के हामी थे, वहीं विश्व की चेतना नयी-नयी संस्कृतियों की जानकारी से प्रभावित भी हो रही थी। नतीजतन मश्रिक और मग्रिब की यह काल्पनिक रेखा उत्तरोत्तर क्षीण होती गयी है।'

जिन दिनों दिल्ली में 'जश्न-ए-फ़ैज़' मनाया जा रहा था, उस दिनों इस महानगर के हर गली-कूचे में फ़ैज़ की चर्चा थी लोग फ़ैज़ को देखने के लिए उतावले थे, उन्हें सुनने के लिए बेक़रार थे। छोटी या बड़ी जिस किसी महफ़िल में फ़ैज़ जाते, वहीं उनसे कुछ सुनाने की फ़रमाइश की जाती। और फ़ैज़ साहब हर जगह कहते कि मुझसे क्या सुनना है, अगर कुछ सुनना ही है तो मेहदी हसन या नूरजहां की आवाज़ में सुनो। लेकिन फिर सुनाने के लिए तैयार भी हो जाते। अक्सर फ़रमाइश 'ए शाम मेह्रबां हो' सुनाने के लिए होती थी और शायद फ़ैज़ को भी अपनी यह नज़्म प्यारी लगती थी। वे सुनाने लगते

ए शाम, मेह्रबां हो!
ए शामे-शह्रे-यारां,
हम पे मेह्रबां हो!

हमारी भाषाओं में एक ऐसा दौर भी गुज़रा है जबकि यह बहस काफ़ी लंबी चली, और काफ़ी तवील तरीक़े से चलती रही, कि आख़िर हम क्यों लिखें अपने लिए लिखें या दूसरों के लिए लिखें। फ़ैज़ साहब की शायरी इस बहस का दो टूक जवाब है। उनकी सारी शायरी इनसान के बेहतर भविष्य के लिए, ज़ुल्मो-सितम से टक्कर लेने के लिए है। इसीलिए वे कहते हैं :

बोल, कि लब आज़ाद हैं तेरे
बोल, ज़बां अब तक तेरी है
तेरा सुतवां जिस्म है तेरा
बोल, कि जां अब तक तेरी है।

फ़ैज़ की शायरी हमें इस बात के लिए मजबूर करती रही है कि जो कुछ उन्होंने कहा है, उस पर हम बहुत गहराई से सोचें और उसे समझें। इनसानियत के भविष्य में उनकी पूरी आस्था थी। उन्हें इस बात का पूरा यक़ीन है कि हमारी जो भी मुश्किलात हैं, जो भी बुराइयां हैं, वो सब ख़त्म होंगी और सब लोग सुख-चैन से, आराम से रहने लगेंगे। वो वक़्त ज़रूर आयेगा।

मो. : 09811205442

खंड दो
ख़तोकिताबत और बातचीत

फ़ैज़ अपने ख़तों के आईने में

ज़हूर सिद्दीक़ी

जो हम पे गुज़री सो गुज़री मगर शबे-हिजरां
हमारे अश्क तेरी आक़बत संवार चले।

इसलिए *सलीबें मेरे दरीचे में* को तख़्त-ए-मश्क बना बैठे हैं। यह संग्रह है उन पत्रों का जिन को फ़ैज़ ने पाकिस्तान के भिन्न-भिन्न जेलख़ानों से अपनी पत्नी एलिस के नाम लिखा। फ़ैज़ और मिर्ज़ा ज़फ़रुल हसन ने मिलकर इसका अनुवाद अंग्रेज़ी से उर्दू में किया। यह पूरा अनुवाद था और ऊंचे दर्जे का। हम मिनी अनुवाद करने या यह कहें कि उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखने जा रहे हैं। उसमें जो वाक्य हैं वे फ़ैज़ के हैं मगर जहां मौक़ा मिल गया है, मैंने अपनी राय भी रखने की कोशिश की है।

फ़ैज़ ने एक लंबी उम्र (1911-1984) पायी लेकिन उनकी तहरीरें और तक़रीरें दोनों ही कम रहीं। वह न लिखते ज़्यादा थे और न बोलते अधिक थे। ख़ास तौर पर अपने बारे में बातें करने से या लिखने से वह हमेशा कतराते रहे। उनके ही शब्दों में : 'अपने बारे में बातें करने से मुझे सख़्त वहशत होती है। इसलिए कि सब बोर लोगों का मरग़ूब शुग़ल (प्रिय व्यसन) यही है।' और फ़ैज़ पर सब छोड़ दिया जाता तो सिर्फ़ उनके शेर ही दिखायी पड़ते और शायद उनकी भी तादाद इतनी नहीं होती। भला हो उनके पीछे पड़ने वालों का जिनकी बदौलत उनके होंठों की जुम्बिश जाती रही, चाहे मंद गति से सही। ख़ास तौर पर इस दिशा में मिर्ज़ा ज़फ़रुल हसन की भूमिका अहम थी। फ़ैज़ के पत्रों को *सलीबें मेरे दरीचे में* का रूप देना मिर्ज़ा मरहूम का ही कारनामा था, जो बक़ौल फ़ैज़ उनके 'सिर पर सवार हो गये।' अनमोल पत्रों का यह संग्रह जून 1971 में छपा। उनके पहले ख़त (4 जून 1951) से किताब छपकर तैयार होने के बीच बीस साल का फ़ासला है। दो दशकों तक ये पत्र एलिस ने सुरक्षित रखे जो फ़ैज़ से उनके प्यार की और साहित्य के प्रति उनकी ज़िम्मेदारी की एक बेहतरीन मिसाल है।

फ़ैज़ की शख़्सियत के अनेक पहलू तो *सलीबें मेरे दरीचे में* में उजागर होते ही हैं, लेकिन इस पुस्तक में जमा किये गये पत्र उनके माहौल और शायरी को समझने में भी अत्यंत मददगार हैं। जहां तक फ़ैज़ के सवाल हैं तो उन्होंने कभी भी ख़ुद को बढ़ा-चढ़ाकर पेश नहीं किया। अपनी कमियों को अक्सर बेशतर गिनाते रहे। वह अपनी शायरी का कभी ढिंढोरा पीटते नज़र नहीं आते, और यही शाने-बेनियाजी उनके पत्रों के इस संग्रह में भी स्पष्ट है। वह लिखते हैं : 'ज़ाहिर है कि यह कोई अदबी तसनीफ़ (रचना) नहीं है, निजी ख़तूत हैं, जो क़लम उठाकर लिखे गये हों। किसी मरबूत (प्रसंगयुक्त) और संजीदा बहस की तलाश बेकार है।'

यह सरासर ग़लत राय है लेकिन इस तरह की बातें उन्होंने बार-बार की हैं। अगर ये पत्र साहित्यक रचना नहीं हैं तो दुनिया का कोई साहित्य, साहित्य नहीं है। इनमें क्या नहीं है? सही बात तो यह है कि इनमें बहुत से ऐसे वाक्य आते हैं जो उनके अनेक शेरों पर भारी हैं। इन वाक्यों में ज़िंदगी एक मुकम्मल रूप धारण किये हुए है जिसमें दर्द की कसक भी है, संघर्ष की लय भी है और आने वाली सुबह का पैग़ाम भी। एक संजीदा शैली है जो दिलों में उतरती जाती है लेकिन बीच-बीच में ज़िंदादिली भी है और मज़ाह भी। कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

18 अगस्त, 1952 का ख़त

हैदराबाद (सिंध) जेल में फ़ैज़ यूं चहकते हैं :

'यहां रंज देने वाली बात सिर्फ़ एक है और वह यह है कि रेत और मिट्टी की वजह से सब लोग गंजे होते जा रहे हैं। मुझे डर है कि यहां से बाहर होने तक हमारी सब 'सेक्स अपील' ख़त्म हो चुकी होगी; यह बहुत ही दर्दनाक वाक़या होगा। इसके बाद हम पर तोहमतें तराशने वाले बेचारे क्या करेंगे? आख़िर एक बूढ़े गंजे बुज़ुर्ग के बारे में कोई क्या स्कैंडल ईजाद कर सकता है!'

22 जनवरी, 1952 का ख़त

'अब मैं यहां के अव्वल दरजे के खिलाड़ियों में हूं और इस बात से कुछ इत्मीनान होता है कि चालीस बरस के बावजूद बदन ज़्यादा चीख़ने या कड़कड़ाने के बग़ैर अब भी तेज़ी से भाग-दौड़ सकता है, अगरचे वह पहली सी बात न सही। यह उमर का एहसास बयान करना ज़रा मुश्किल है। हम सब पर उमर का ग़लबा (हमला) ऐसे सहज-सहज (धीरे-धीरे) होता है कि कभी मुश्किल ही से ज़ेहन में आता है कि हम बीस बरस पहले से बहुत ज़्यादा मुख़्तलिफ़ हो गये हैं। अपना नक़्शा जो अपने ज़ेहन में होता है वक़्त के साथ इतना कम बदलता है कि हम फ़र्ज कर लेते हैं कि बाक़ी दुनिया के लिए भी यह नक़्शा वैसा ही बरक़रार है; यह याद ही नहीं रहता कि उमर ने बदन के हर नक़्शे पर ख़राबी और ज़वाल (पतन) की कितनी लकीरें खींच दी हैं। इसी ख़ुदफ़रोमोशी (आत्म-विस्मृति) की वजह से जब बड़े-बूढ़े नौजवानों की सी चुहलें करते हैं तो बिल्कुल उल्लू नज़र आते हैं। इन्हें अपने आप में वह तग़य्युर (परिवर्तन) बिल्कुल दिखायी नहीं देता जो बाक़ी सबकी नज़रों पर अयां (प्रकट) होता है। कल जब मैं अचकन पहनकर नाश्ते पे पहुंचा (जेलख़ाने की नाजायज़ कमाई से फ़ज़ूलख़र्ची करके मैंने इस ख़याल से एक उम्दा गर्म अचकन बनवा ली है कि न जाने जेलख़ाने से बाहर इसके लिए दाम मयस्सर आयें या न आयें) तो किसी ने कहा आप जवानी में वाक़ई ख़ूबसूरत होंगे। अगर एक बरस पहले यही बात कोई कहता तो हम जवाब देते क्या बकते हो, हम अब भी जवान हैं। लेकिन कल यह बात सुनी तो हम सिर्फ़ मुस्कुरा दिये और इसी बात से दिल ख़ुश हो गया कि किसी ने हमारी जवानी की तारीफ़ तो की जो अगरचे रुख़सत हो चुकी है लेकिन है तो अपनी ही।'

7 जुलाई, 1953 का ख़त

कान के दर्द, जिसके इलाज के लिए पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें हैदराबाद की जेल से कराची जेल भेजा, को जिस अंदाज़ से उन्होंने बयान किया है वह अपना जवाब नहीं रखता। शायद ही कोई उर्दू का

अदीब हो जिसने दिल के दर्द और जिगर के दर्द का रोना न रोया हो लेकिन कान के दर्द को जिस बुलंदी पर फ़ैज़ ले गये हैं वह उनके क़लम का जादू है। लिखते हैं :

'मुझे यहां आये हुए एक हफ़्ता हो चुका है और इस दौरान हम बक़ौल बुख़ारी (पितरस बुख़ारी) साहब सीज़ेरियन के सिवा बाक़ी सब कुछ झेल चुके हैं। खून का दबाव अब मामूल पर है और कान और दांतों के सिवा और कोई शिकायत नहीं, लेकिन ख़ुदा गवाह कि आदमी की ख़ाना-वीरानी को यही क्या कम है। मर्ज़ तो ख़ैर अपनी जगह है, मैं इलाज की बात कर रहा हूं जो मर्ज़ से कहीं ज़्यादा तकलीफ़देह है। नाज़ियों ने इज़ारसानी (यंत्रणा) और अज़ाब देने के जो तरीक़े अख़्तियार किये थे उनके बारे में बहुत कुछ पढ़ा है लेकिन इसमें 'अज़ाबे-गोश' (कान की सज़ा) का कहीं ज़िक्र नहीं जिससे ज़ाहिर होता है कि वह अपने महबूब मशग़ले में पूरी तरह माहिर नहीं थे वरना अज़ाब व इज़ा की जो सूरत यह अजू (अंग) पहुंचाता है बिल्कुल लासानी (बेमिसाल) है। 'अज़ाबे-दंदा' (दांतों की सज़ा) तो ख़ैर मुसल्लमा (जिसे चुनौती न दी जा सके) और जानी-पहचानी चीज़ है लेकिन इसके मुक़ाबले में हेच। जैसे तुम जानती हो उफ़ किये बग़ैर दर्द बरदाश्त करने में हम किसी साधु-संत से पीछे नहीं, लेकिन अबके मैंने महसूस किया है कि सुबह कान पर कोई मश्क़े-नाज़ करे और सह-पहर (तीसरे पहर) को दांतों पर तो यह कुछ ज़्यादती ही है।'

इससे पहले कि हम दर्दअंगेज़ बातों तक पहुंचें, लगे हाथों फ़ैज़ की ज़बानी एक तलीफ़ा भी हो जाये जिसको उन्होंने 26 मई, 1952 के पत्र में लिखा है :

'तुम्हें शायद यह क़िस्सा मैंने सुनाया था कि गुज़िश्ता बार जब मेरा सियालकोट जाना हुआ तो एक पुराने स्कूल के हमजमात से मुलाक़ात हुई। मैंने उससे कहा चलो ज़रा अपने मोहल्ले का एक चक्कर कर आयें।' वो कहने लगे : 'तो फिर बहुत से खिलौने साथ ले चलो'। पूछा : 'वो किस लिए?' कहने लगे : 'अब वो सब नानियां, दादियां हो गयी हैं।'

18 मार्च, 1953 का ख़त

जेल की ज़िंदगी रूह को कितनी घुलाने वाली होती है, इसकी अक्कासी फ़ैज़ ने इस तरह की है :

'जब ग़लीज, ज़र्द दीवारों, धूल और मिट्टी, ज़ंजीरों, चेहरों, वरदियों और सब लानती चीज़ों पर नज़र पड़ती है जिसे जेलख़ाना कहते हैं, तो यकायक कलेजा मुंह को आने लगता है। मौज-दर-मौज, काहत (जुगुप्सा) और बेज़ारी का सैलाब अंदर से उठता है जिसमें अपनी ज़ात और बाक़ी हर चीज़ ग़र्क़ हो जाती है।'

फ़ैज़ ने कहीं-कहीं जेल की चुभती हुई ज़िंदगी को दर्दअंगेज़ शब्दों में ज़रूर पेश किया है लेकिन निराशा उनके क़लम पर हावी नहीं हो पायी। नाउम्मीदी उनकी विषेषता कभी भी नहीं बन पायी। दर्द को दर्द तो ज़रूर कहेंगे लेकिन उनके बोझ से बैठ नहीं जायेंगे। घनघोर अंधेरे में भी वह बुझे हुए चिराग़ों से रौशनी पैदा करते रहे। उसका कलेजा मुंह को आने तो लगता है मगर फ़ौरन ही संभल भी जाते हैं। उम्मीद का परचम उठाकर इसी ख़त में कहते हैं :

'फिर ऐसे लमहे भी आते हैं कि कोई नन्हा सा बीज सियाह बोझल मिट्टी को बहुत सलीक़े से हटाकर एक नन्हीं सी कोंपल ज़मीन से बरामद करता है और उसे देखकर दिल बेपनाह और नाक़ाबिल बयान मुसर्रत से लबरेज हो जाता है। और तमाम वक़्त दिल जानता है कि इसी सब्ज़ कोंपल के नन्हे

हाथों में हक़ीक़त भी है और अबदियत (शाश्वतता) भी। जेल की दीवारें और पहरेदार और वरदियां सब झूठ हैं, सब ग़ैर-हक़ीक़ी हैं।'

जेल के पड़ाव के दौरान फ़ैज़ के कोमल व संवेदनशील दिल को कई करारी चोटों का सामना करना पड़ा। कई उनके प्यारे उनसे हमेशा के लिए जुदा हो गये। इनमें उनके बड़े भाई तुफ़ैल थे, एलिस के बाप थे, रशीद जहां थीं, मंटो थे। रोज़नबर्ग जोड़े पर जो बीती, लगता है कि वह फ़ैज़ पर ही बीत रही थी और जब इनसानी बिरादरी के लिए उनका प्यार उमड़कर आता है तो कोरिया तथा ईरान के शहीदों की याद उनके दिल पर आरी चला जाती है।

17 जुलाई, 1952 का ख़त

अपने बड़े भाई तुफ़ैल अहमद ख़ां की अचानक मौत की ख़बर सुनने के लिए फ़ैज़ बिल्कुल तैयार नहीं थे। उनके दिल पर जो गुज़री वह इस ख़त में साफ़ नज़र आता है :

'आज सुबह मेरे भाई की जगह मौत मेरी मुलाक़ात को आयी। सब लोग बहुत मेहरबानी से पेश आये। ये लोग मेरी ज़िंदगी की अज़ीज़-तरीन पूंजी मुझे दिखाने ले गये, वह पूंजी जो अब ख़ाक हो चुकी है, और फिर वो उसे अपने साथ ले गये।

मैंने अपने ग़म के ग़रूर में सिर ऊंचा रखा और किसी के सामने नज़र नहीं झुकायी। यह कितना मुश्किल, कितना अज़ीयतनाक (तकलीफ़देह) था, सिर्फ़ मेरा दिल जानता है।

अब मैं अपनी कोठरी में अपने ग़म के साथ हूं। अब मुझे सिर ऊंचा रखने की ज़रूरत नहीं। यहां इस ग़म के बेपनाह जुल्म से हार मान लेने में कोई तज़लील (अपमान) नहीं।'

तुफ़ैल अहमद ख़ां फ़ैज़ के बड़े भाई थे जो हैदराबाद (सिंध) की जेल में उनसे मिलने के इरादे से आये थे लेकिन मुलाक़ात से पहले 16 जुलाई, 1952 की सुबह दिल का दौरा पड़ने से उनकी मौत हो गयी।

9 अगस्त, 1952 का ख़त

डॉक्टर रशीद जहां के मरने की ख़बर जब उन्हें अख़बार से मिलती है तो इस गहरे दुख को वह इस तरह बयान करते हैं :

'रशीदा के मास्को में मरने की ख़बर कल पढ़ी। अगर मैं जेल से बाहर होता तो शायद ज़ारो-क़तार रोता। लेकिन अब तो रोने को आंसू ही बाक़ी नहीं रहे। इस हादसे को सुनकर रोने-धोने के बजाय दिल पर अजीब मुरदनी-सी छायी रही। शायद इसकी एक वजह यह भी थी कि अबके मौत रात के रहजन की तरह अचानक, बेइत्तला नहीं आयी थी या शायद अपने लाशऊर (अवचेतन) में यह ख़याल भी हो कि मरने वाली की बहादुर रूह बेकार और बुज़दिलाना ग़म-अंदोह (दुख) को पसंद नहीं करेगी। जब से उसकी मुहलिक (घातक) बीमारी का सुना था, दिल में बहुत शिद्दत से तमन्ना थी कि काश वह हमारे बाहर आने तक ज़िंदा रहे और हम सब साथ उससे मिलने के लिए जा सकें। उसे बच्चों से बहुत प्यार था। मैं अक्सर सोचता था कि हमारे बच्चों को देखेगी तो कितना ख़ुश होगी। अफ़सोस कि मौत के ख़िलाफ़ उसकी तवील (लंबी) जंग इतनी जल्दी ख़त्म हो गयी। उसके जाने से हमारे बर्रे-सग़ीर (उपमहाद्वीप) से नेकी और इनसान-दोस्ती की बहुत बड़ी दौलत छिन गयी और उसके दोस्तों की महरूमी

का क्या कहिए जिनकी ज़िंदगियां उसके असयार (क़ुरबानी) व मुरव्वत से इस क़दर आसूदा (समृद्ध) और मज़्ज़यन (सज्जित) हुईं।'

6 जनवरी 1955 का ख़त

मंटो की मृत्यु भी फ़ैज़ के लिए कुछ कम जानलेवा नहीं थी। उनके शब्दों में :

'मंटो की वफ़ात (मौत) का सुनकर बहुत दुख हुआ। सब कमज़ोरियों के बावजूद वे मुझे निहायत अज़ीज़ थे और इस बात पर मुझे कुछ फ़ख़्र भी है कि वे अमृतसर में मेरे शागिर्द थे। अगरचे यह शागिर्दी कुछ बराय-नाम ही थी इसलिए कि वह क्लास में तो शायद ही कभी आते हों। अलबत्ता मेरे घर पर अक्सर सोहबत रहती थी और चेख़व, फ़्रायड और मोपासां और न जाने किस-किस मौज़ू (विषय) पर गर्म मुबाहिसे होते थे। बीस बरस गुज़र चुके लेकिन यूं लगता है जैसे कल की बात है। हमारे शुरफ़ा (भद्र लोग) जिन्हें दौरे-हाज़िर के फ़नकार की शिकस्ते-दिल का न एहसास है न इससे कोई हमदर्दी, ग़ालिबन यही कहेंगे कि मंटो मर गया तो उसका अपना क़ुसूर था। बहुत पीता था। बहुत बेक़ायदा ज़िंदगी बसर करता था। सेहत का सत्यानाश कर लिया था, वग़ैरह, वग़ैरह। लेकिन यह कोई नहीं सोचेगा कि उसने ऐसा क्यों किया था? ऐसे ही कीट्स ने भी अपने को मार रखा था। बर्न्स ने भी, मोज़ार्ट ने भी। और भी कई नाम गिनवाये जा सकते हैं। बात यह है कि जब मआशरती (सामाजिक) हालात की वजह से फ़न और ज़िंदगी एक-दूसरे से बर-सरे-पैकार (संघर्षरत) हों तो दोनों में से एक की क़ुरबानी देनी ही पड़ती है। दूसरी सूरत समझौताबाज़ी की है जिसमें दोनों का कुछ हिस्सा क़ुरबान करना पड़ता है और तीसरी सूरत इन दोनों को यकजा करके जद्दोजहद का मज़मून पैदा करने की है जो सिर्फ़ अज़ीम फ़नकारों का हिस्सा है। मंटो अज़ीम नहीं था लेकिन बहुत दयानतदार, बहुत हुनरमंद और क़तई रास्तगो (स्पष्टवादी) था।'

22 मई, 1954 का ख़त

रोज़नबर्ग जोड़े की दर्दनाक विपदा, जो अंत में उनको छीनकर ले गयी, फ़ैज़ के लिए एक ऐसा ख़ंजर थी जो मानो उनके कलेजे में उतार दिया गया हो। वह लिखते हैं :

'मैंने रोज़नबर्ग जोड़े के ख़ुतूत एक ही नशिस्त (बैठक) में पढ़ डाले। अगरचे बार-बार, दिल ज़्यादा भर आया तो किताब हाथ से रखनी पड़ी। मैं समझता हूं कि उनके अल्फ़ाज का सोज़ और उनकी अज़्मत उसी अदीब को नसीब हो सकती है जिसकी मर्ग (मौत) व हयात (ज़िंदगी) ऐसी ही अज़ीम और दर्दअंगेज़ हो। उनका और उनके बच्चों का ख़याल आता है तो अपनी मुसीबत की बात करना (अगरचे यह मुसीबत भी कुछ कम नहीं) बेहूदापन मालूम होता है।'

8 अक्तूबर, 1952 का ख़त

बड़े भाई का ग़म फ़ैज़ को काफ़ी दिनों तक सताता रहा जो एक फ़ितरी बात थी लेकिन उन्होंने इस दर्द को कोरिया के जियालों से जोड़ दिया। उनके ही शब्दों में :

'शायद ऐसी ही किसी सुबह में इसी चांद ने इसी जगह से थोड़े फ़ासले पर एक तनहा मुसाफ़िर को पुकारा था और उसे किसी नामालूम दुनिया में ले गया था, और वह मुसाफ़िर मेरा भाई था। शायद इस वक़्त यही चांद ऐसे बहुत से चेहरों पर चमक रहा है जो मर कर दर्द से आज़ाद हो चुके हैं। कोरिया के कैंपों में मक़तूल (क़त्ल किये गये) क़ैदियों के चेहरे और ये सब मक़तूल नौजवान भी मेरे भाई थे।

जब वे ज़िंदा थे तो ऐसी दूर-दराज़ सरज़मीनों पर ज़िंदा थे जो मैंने नहीं देखीं लेकिन वे मेरे तन में भी ज़िंदा थे और मेरे लहू में उनका लहू भी शामिल था। जिन क़ातिलों ने उन्हें क़त्ल किया है, उन्होंने मेरे तन का भी कोई हिस्सा क़त्ल किया है और मेरा भी कुछ लहू बहाया है।'

जेल की सलाख़ें ही फ़ैज़ के ज़ख़्मों को छीलने के लिए काफ़ी थीं, पर मौतों के इस लावे ने उनके दिल को ग़मों की भट्ठी बना दिया था। हर वह प्यारी हस्ती जो उनके दिल में जगह बनाये हुए थी उनसे दूर-से-दूर होती जा रही थी। कोरिया में बर्बरता और ईरान के छात्रों पर दमन आग में घी का काम कर रहा था। फ़ैज़ इन हादसात के बीच अत्यंत बेचैन भी हुए, तड़पे भी, सिसके भी और जब जज़्बात क़ाबू से बाहर होते नज़र आये तो उनकी आंखें भी भर आयीं। और यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। ग़म की एक चिंगारी में भस्म करने की ताक़त होती है, कितने लोग जलती हुई चिता बन जाते हैं, पर फ़ैज़ ने ग़मों की भट्ठी से इस लावे को निकालकर और अपने शब्दों को इसी से ढालकर ऐसी रचनाएं पेश कीं जिनको हज़ारों क़यामतें भी तहस-नहस नहीं कर पायेंगी। सच्चाई जो चोट खाये हुए दिल की गहराई से निकलती है, वह अमर होती है। एक मुल्क की बात नहीं जहां भी 'सुब्हे-बग़ावत का गुलशन' फूटेगा, जहां, भी 'उश्शाक़ के क़ाफ़िले' निकलेंगे और जहां भी 'लहू की ताल' गूंजेगी, 'ईरानी तुलबा के नाम', 'हम जो तारीक राहों में मारे गये' और 'आ जाओ एफ़्रीका' जियालों के होंठों पर निखरते रहेंगे।

फ़ैज़ के ख़तूत की जान हैं ज़िंदगी की स्वस्थ मान्यताओं के नग़्मे। अपने पहले के ख़त (18 जून, 1951) में वह इनसानों की सोहबत को दुनिया की सबसे अज़ीज चीज़ बताते हैं। पत्र में लिखते हैं :

'अपने चाहने वालों को किसी चीज़ की ख़ातिर दुख और अज़ीयत पहुंचाना, जो ख़ुद को बहुत अज़ीज़ हो लेकिन उनके लिए कुछ मानी न रखती हो, ग़लत और नाजायज़ बात है। इस नज़र से देखो तो विचारधारा इज़्म या उसूलपरस्ती भी ख़ुदग़रज़ी की एक सूरत बन जाती है। इसलिए कि अपने किसी उसूल की धुन में आप यह भूल जाते हैं कि दूसरों को क्या चीज़ अज़ीज है और इस तरह अपनी ख़ुशनूदी की ख़ातिर दूसरों का दिल दुखाते हैं।'

इसी पत्र में आगे चलकर लिखते हैं :

'मैंने यह भी अच्छी तरह महसूस कर लिया है कि आदमी के लिए मुनासिब यही है कि जो कुछ वह है उस पर क़नाअत (संतोष) करे और जो कुछ वह नहीं है, वैसा कुछ बनने की कोशिश में वक़्त और मेहनत ज़ाया न करे। इस तरह की कोशिश से हिमाक़त और ख़ुदफ़रेबी के अलावा कुछ हासिल नहीं होता।'

उनका यह पहला ख़त इन शब्दों के साथ ख़त्म होता है :

'और यह यक़ीन पहले से भी ज़्यादा मोहकम (ठोस) हो चला है कि ज़िंदगी ख़्वाह (चाहे) कुछ भी दिखाये, वह बिल-आख़िर बहुत ख़ूबसूरत शै (वस्तु) भी है और बहुत हसीन भी।'

30 अक्तूबर, 1951 का ख़त

फ़ैज़ अपनी शादी की दसवीं सालगिरह पर लिखते हैं :

'जो लमहा हक़ व सदाक़त की परवरिश में गुज़रे वह बजाये-ख़ुद (अपने-आप में) ख़ुशी का ऐसा ख़ज़ाना, (कोष) बन जाता है जिसे कोई रहज़न लूट नहीं सकता, न कोई जाबिर (अत्याचारी) ज़ब्त कर सकता है।'

फ़ैज़ इसी ख़त में आगे लिखते हैं :

'ख़्वाबों को हक़ीक़त की ज़ंजीरों से आज़ाद नहीं किया जा सकता। लेकिन इतना ज़रूर है कि थोड़ी देर के लिए आदमी तख़य्युल (कल्पना) के बल पर गिर्दो-पेश की दलदल से पांव छुड़ा सकता है। फ़रारियत (पलायन) बुरी बात है लेकिन जब हाथ-पांव जकड़े हुए हों तो आज़ादी की वाहिद (अकेली) सूरत यही रह जाती है। इसी नुस्ख़े के साथ मुझे जेल की सलाखें बहुत ही हक़ीर (तुच्छ) और बेहक़ीक़त दिखायी देने लगी हैं और बेशतर-औक़ात (ज़्यादातर समय) उनकी तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता।'

15 जनवरी, 1953 का ख़त

'बिल-आख़िर अपनी तसकीन का सरचश्मा, अपनी ही नेकी और अच्छाई होती है जिसका वजूद उस ज़माने तक बरहक़ (सत्य) है जब तक दुनिया में नेकी और अच्छाई का वजूद बाक़ी है और दुनिया में यह ज़रूर बाक़ी है। इसी के तहत सबब सारे ज़माने की दुश्मनी के बावजूद बहुत-से लोग दोस्ती करने के लिए भी मिल जाते हैं और हर मारके (जंग) में आख़िरकार जीत नेकी और दोस्ती की ही होती है।'

22 जनवरी, 1952 ख़त

'तंज़िया तहरीर (व्यंग्य भरा लेखन) में एक बात की एहतियास लाज़िम है और वह यह कि तलख़ी या हिक़ारत ज़राफ़त (मज़ाक़) या मज़ाह (हास्य) पे ग़ालिब (हावी) न हा जाये वरना तहरीर में बदमिज़ाजी का रंग पैदा हो जाता है।'

इसी ख़त में आगे :

'सच्चाई और इंसाफ़ की जीत तो आख़िरकार मुक़द्दर है और इसी पर तकिया (भरोसा) करना चाहिए। उम्मीद अफ़जा (आशावर्धक) अफ़वाहों पर भरोसा फ़ज़ूल है लेकिन इनसे यह तो पता चलता है कि हवा का रुख़ किधर है और लोग क्या सोचते हैं। अपने ज़मीर के अलावा नेकी और बुराई की कोई अदालते-आलिया (उच्चतम न्यायालय) है तो वह यही राये-आम्मा (जनमत) होती है।'

इसी ख़त के अंत में कहते हैं :

'और ये चंद रोज़ कितने ही तवील क्यों न हों, आख़िर चंद ही रोज हैं।'

25 मार्च, 1952 का ख़त

'अगर लड़ाई में अपना पल्ला बहुत कमज़ोर हो तो फिर आदमी बददिली और कमहिम्मती एफोर्ड (afford) नहीं कर सकता ... ज़िंदगी की जद्दोजहद में सिर्फ़ जद्दोजेहद की काफ़ी नहीं। यह भी ज़रूरी है कि इनसान यह लड़ाई बशाशत (हंसी-ख़ुशी) और ख़ुश-तबई (प्रसन्नचित्त) से लड़े और अपने पर दर्दमंदी और तरहम (रहम) के जज़्बात न तारी होने दे। वरना ग़नीम (दुश्मन) का पल्ला और भी गिरा (भारी) बन जाता है।'

22 अप्रैल 1952 का ख़त

'इनफ़रादी (व्यक्तिगत) रंज व मलाल के ऐसे असबाब भी बहुत हैं जो थोड़ी-सी मुहब्बत, शफ़क़त (हमदर्दी) और समझ-बूझ से अगर दूर नहीं किये जा सकते तो कमज़ोर किये जा सकते हैं। लेकिन मुहब्बत और शफ़क़त की तलब में पुकारने वाले इतने ज़्यादा हैं और देने वाले इतने कम कि दर्दे-जिगर

और शिकस्ते-दिल का मदावा (इलाज) दूर-दूर तक नज़र नहीं आता। बहरहाल उसकी तलाश में तगो-दौ (भौग-दौड़) फिर भी लाज़िम है और जैसा कि तुमने लिखा है, अपनी भलाई इसी में है कि आदमी दूसरों से नेकी करता रहे। अलबत्ता, इसके एवज़ में किसी सिले (इनाम) या एहसानमंदी की तवक़्क़ो (आशा) न रखनी चाहिए वरना यक़ीनन मायूसी का सामना होगा। अगर आदमी नेकी के एवज़ में नेकी की तवक़्क़ो रखे तो इसके यह मानी हुए कि दुनिया का निज़ाम बजाये-ख़ुद नेक है। ज़ाहिर है कि यह सोच ग़लत है, इसलिए कि एक नेकोकार निज़ाम (नेकी करने वाली व्यवस्था) में सभी को नेक होना चाहिए और किसी को ख़ास तौर से नेकी करने के लिए ज़हमत उठाने की ज़रूरत न होनी चाहिए।'

6 नवंबर, 1952 का ख़त

'अगर अपना दिल बड़ा हो तो उसे इस वज़ह से छोटा नहीं करना चाहिए कि किसी दूसरे का दिल छोटा है। दोस्तों के बारे में अपने मुग़ालते (भ्रम) या ख़ुशफ़हमी दूर कर लेना अच्छी बात है लेकिन उनके छूट जाने पर अपना दिल जलाना या उन पर यह इलज़ाम धरना कि वह तुम्हारी ख़ुशफ़हमियों के मुताबिक़ साबित नहीं हुए, सही बात नहीं है। किसी के बारे में ख़ुशफ़हमी या मुग़ालता तो अपनी ही ख़ता होती है न कि दूसरे की। जो कोई जैसा भी है उसे वैसा ही क़बूल कर लेना चाहिए, इससे क़ता-नज़र कि तुम्हारे ख़याल में उसे कैसा होना चाहिए था, और किसी से भी ज़्यादा तवक़्क़ो वाबस्ता नहीं करनी चाहिए।'

10 नवंबर, 1952 का ख़त

'दुनिया में दुख इतना ज़्यादा है और अपना अख़्तियार इतना कम कि इस दुख से निपटने के लिए अपनी पूरी हिम्मत दरकार है। इसी सबब उम्मीद की शमा जलाये रखना और भी ज़्यादा ज़रूरी है।'

इसी पत्र में :

'हम दूसरों को रंज और नाख़ुशी बरदाश्त करने में जभी इमदाद (मदद का बहुवचन) दे सकते हैं जब हम अपनी नाख़ुशी को क़ाबू में रखें। किसी दूसरे को ख़ुश करने का तरीक़ा यही है कि आदमी ख़ुद ख़ुश नज़र आये। यह बाज़-औक़ात (कभी-कभी) मुश्किल तो होता है लेकिन करना ही चाहिए।'

इस तरह, फ़ैज़ का यह पत्र-संग्रह *सलीबें मेरे दरीचे में* ज़िंदगी का पैग़ाम देता है। ज़िंदगी फ़ैज़ को बहुत अज़ीज़ थी। बुरे से बुरे हालात में वे उसी के गीत गाते रहे और आज मिट्टी में दबे होने के बावजूद उनका रिश्ता इससे नहीं टूट सकता। वह कल भी ज़िंदा थे और आज भी ज़िंदा हैं। चांद को कौन गुल कर सकता है!?

मो. : 09971155799

एलिस के ख़त फ़ैज़ के नाम

नूर ज़हीर

1941 में फ़ैज़ ओर एलिस की शादी हुई। 1938 में एलिस अपनी बड़ी बहन क्रिस्टाबेल से मिलने हिंदुस्तान आयी थी जो अमृतसर के एम.ए.ओ. कॉलेज के प्रिंसिपल डा. एम.डी. तासीर की पत्नी थी। फ़ैज़ इसी कॉलेज में अध्यापक थे।

शादी के बाद दोनों लाहौर में रहने लगे और फ़ैज़ 1948 से *पाकिस्तान टाइम्स* में काम करने लगे। पाकिस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी के फ़ैज़ पहले से सदस्य थे और 1948 में जब हिंदुस्तान से सज्जाद ज़हीर जनरल सेक्रेटरी बनाकर भेजे गये, तब फ़ैज़ कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन से और भी आत्मीयता के साथ जुड़ गये।

9 मार्च 1951 को फ़ैज़ गिरफ़्तार किये गये। तीन माह तक किसी को कोई ख़बर नहीं थी कि वे क्यों गिरफ़्तार हुए हैं, कहां क़ैद है, ज़िंदा भी हैं या नहीं। तीन महीने बाद एलिस को फ़ैज़ से मिलने की इजाज़त भी मिली और उन पर लगे इल्ज़ामों की फ़ेहरिस्त भी दी गयी। जब फ़ैज़ पर और उनके साथ गिरफ़्तार दूसरे लोगों पर मुक़दमा चला और उन्हें हैदराबाद-सिंध की जेल में रखा गया, तब एलिस को इजाज़त मिली कि वे फ़ैज़ के साथ ख़त-ओ-किताबत कर सकती हैं। अप्रैल 1955 में फ़ैज़ रिहा हुए। इन चार सालों में लिखे अपने ख़तों को एलिस ने ख़ुद संपादित करके छपवाया। ये ख़त अंग्रेज़ी में हैं।

इन चार सालों में एलिस फ़ैज़ ने अपनी ज़िंदगी का सबसे मुश्किल इम्तिहान दिया। वह इम्तिहान कि उन्हें यक़ीन है उस आदमी पर जिससे उन्होंने अपने वतन से हज़ारों मील दूर, सभ्यता और संस्कृति के फ़ासले पार करके मोहब्बत की थी, एक मां की ज़िम्मेदारी के साथ-साथ एक पिता के फ़र्ज़ भी अदा करने की और सबसे बढ़कर यह साबित करने कि वे एक मुख़ालिफ़ माहौल में इज़्ज़त और आत्मसम्मान के साथ जी सकती हैं। ये ख़त सुबूत हैं उनके इस इम्तिहान में खरे उतरने के, इस जद्दोजहद में बराबरी की हिस्सेदारी के।

ये ख़त इसलिए लिखे गये कि फ़ैज़ को इत्मीनान रहे कि उनका परिवार हिम्मत के साथ, जुदाई और अन्याय के वार सह रहा है, और उसी तरह डटा हुआ है जैसा कि फ़ैज़ ख़ुद चाहते थे। यह ख़त, एक कोशिश हैं कुछ लम्हों के लिए फ़ैज़ को जेल की कोठरी से निकालकार अपनों की संगत में ले आने की, और उनमें आने वाले कल के रौशन और ख़ूबसूरत होने की उम्मीद को पुख़्ता करने की।

एलिस के ये ख़त, उनकी निजी पीड़ा को पूरी तरह रेखांकित तो नहीं करते, लेकिन अपने हालात की गुलाबी तस्वीर भी नहीं खींचते। एलिस जानती थी कि फ़ैज़ को भुलावे में नहीं रखा जा सकता।

इसीलिए यह ख़त सीधे, सच्चे और ईमानदार हैं। ये ख़त पाठक की मुलाक़ात उस औरत से करवाते हैं जिसका दिल मोम का सही मगर इरादे इस्पात के हैं।

जब एलिस ने इन ख़तों को छपवाने के ख़याल से संपादित किया तो जानबूझ कर संबोधन हटा दिया। ख़तों के अंत से अपना नाम भी हटा दिया। ये किसी इंक़लाबी को लिखे हुए ख़त हो सकते हैं क्योंकि जब समाजिक न्याय की लड़ाई जारी है कहीं न कहीं, कोई न कोई ज़रूर शासकों का अत्याचार सहकर सलाखों में बंद यातनाएं झेल रहा होगा और बाहर से उससे मोहब्बत करने वाले इसी तरह के ख़तों के ज़रिए उसे ज़िंदा रहने में सहायता कर रहे होंगे।

इन ख़तों को पढ़कर अंधेरे में उजाला सा फैलता महसूस होता है। जब संघर्ष की शिद्दत या नाकामी घाव बनकर सालती है तब ये ख़त मरहम का काम करते हैं जो केवल तकलीफ़ से निजात नहीं दिलाते, आगे बढ़ते रहने की ताक़त को भी ज़िंदा रखते हैं।

(नूर ज़हीर)

21.9.51

जुमे को तो सुर्ख़ अक्षरों में लिख देना चाहिए। हर जुमे को तुम्हारा ख़त पाती हूं। आज तीसरी बार ऐसा हुआ। हर लफ्ज़ को पढ़कर उसे टटोलती हूं, छूती हूं, तुम्हें उसको लिखते हुए कल्पना करती हूं।. ... तुम्हारी जेल कोठरी, वह बिल्ली का बच्चा, तुम्हारी कॉफ़ीदानी.... सब कुछ हमें भी कितना परिचित लगता है। मैं और बच्चियां, तुम्हारे हिस्से वाली दुनिया मे होने वाली हर घटना पर बात करते हैं। और बग़ैर भावुक हुए उसे अपनी दुनिया से जोड़ने की कोशिश करते हैं। इतने.... इतने मील दूर।

कल मेरा जन्म दिन है और मेरे चारों ओर खुसुर-फुसुर चल रही है। बाली (फ़ैज़ की रिश्ते की बहन) तुम्हारी ग़ैरमौजूदगी की कमी को, मुझे लाड़ प्यार से बिगाड़कर पूरा कर रही है। मैंने उसे बताया नहीं कि तुम तो एक माह पहले ही मुझे जन्मदिन की बधाई दे चुके हो। मीजू (छोटी बेटी मुनीज़ा) की सालगिरह के धोखे में जो मुझसे ठीक एक महीने पहले पड़ती है।

हमारा आना अक्टूबर के दूसरे हफ़्ते में होगा, बजाय पहले के। इससे बच्चियों को स्कूल से कम दिन ग़ैरहाज़िर होना पड़ेगा। उनकी प्रिंसिपल एक मादा राक्षस है जो उनके आने जाने पर कड़ी नज़र रखती है। तुम्हारे लिए क्या लायें? कोई ऐश या मज़ा करने की चीज़ बताओ। कुछ नहीं मांगोगे तो बच्चियों की ख़ुशी अधूरी रह जायेगी। बस सिगरेट के डिब्बे ना मांगना। कुछ खाने की चीज़े लायें। मिठाई? बिस्कुट? जैम?... बताओ ना क्या?

जेल वाले पैसों की बाबत...मेरे ख़याल से उस वक़्त के हिंदुस्तान में, 1818 में, जेलर और आई. जी. जेल आज के जैसे रहे होंगे। जब उन्होंने इतना कुछ हड़प लिया है तो चंद रुपयों को कोई क्या कहे? उन्होंने हमसे तुम्हें छीन लिया है, तुमसे हम लोगों को छीन लिया है। बाक़ी सब बस रहने ही दो! शायद मुझे यह लिख भेजना चाहिए कि उन पैसों को तुम्हारे खाते में जमा कर दिया जाये ताकि आगे कभी तुम्हारे काम आयें।

क्या लड़कियां तुम्हारी बिल्ली का बच्चा ला सकती हैं? वे बहुत मिन्नत कर रही हैं। हमारे पहुंचने से पहले पूछ लेना कि क्या हम उसे यहां ला सकते हैं। हां, इतना ख़याल रखना कि मुक़द्दमे का खुफ़िया ऐक्ट, इससे ख़तरे में न पड़ जाये।

कुछ दिलचस्प कहानियां हैं...पर जब मिलेंगे तो सुनाऊंगी। सेंसर कमबख़्त का मनोरंजन क्यों करूं। पता नहीं छह महीने की जुदाई के बाद तुम हमें कैसा पाओगे। ...मुझे शायद काफ़ी पतला पाओ, क्योंकि साइकल पर दफ़्तर आती जाती हूं और भूख भी घट गयी है। तुम्हारी ताकीद याद रखने की कोशिश करती हूं... 'खाना एक शारीरिक ज़रूरत है।'

हाल ही में जहांगीर खान ने कहीं कहा कि तुम्हारे बच्चे हमेशा के लिए कलंकित हो गये, कि वे एक देशद्रोही के बच्चे हैं। ताहिरा (कामरेड ताहिरा अली, तारीक़ अली की मां) के शब्दों में कहूं तो मेरा तो हंसते-हंसते पेट फट गया। मेरे ख़याल से तो हमारे बच्चे बिल्कुल बेदाग़ होंगे। उन्होंने कभी हमें बेईमानी, जालसाज़ी करते, रिश्वत लेते, अन्याय करते, यहां तक कि झूठ बोलते भी नहीं देखा जो वे दूसरों को अक्सर देखते हैं!

हर क़िस्म के लोग तुम्हें प्यार भेज रहे हैं।... देर हो गयी है और तुम्हारी तरह कल मेरा भी दफ़्तर है। (फ़ैज़ सुबह से शाम, मुक़द्दमे में मौजूद रहने को मज़ाक़ में दफ़्तर जाना कहते थे।)...

28.8.51

तुम्हारे 24 के ख़त को देखकर हंसी आयी। तुमने लिफ़ाफ़े पर अर्जेन्ट लिखा है.... तुम अब हमारी दुनिया के नहीं रहे... कामरेड भूल गये क्या कि पोस्टल डिपार्टमेंट किस रफ़्तार से काम करता है?

सबसे पहले तो यह सफ़ाई दूं कि अक्टूबर के दूसरे हफ़्ते में क्यों नहीं आ सकती... चीसी (बड़ी बेटी सलीमा) के स्कूल में दाख़िले का खर्च है और उससे भी अहम बात यह है कि दफ़्तर का काम नहीं निबट पाया है। दो हफ़्ते की 'कापी' तैयार छोड़नी पड़ेगी और यह मुमकिन ही नहीं हो पाया। बस एक हफ़्ते की बात और है। जहां इतना इंतज़ार किया है वहां कुछ दिन तो कर ही जायेंगे।

तुम्हारे ख़त से हिम्मत बढ़ी। जानते हो इस सारे ग़म ने कहीं न कहीं ज़िंदगी सहल बना दी है। यह समझ में आ गया है कि सच और अपने ऐतमाद के अलावा और कुछ माने नहीं रखता है। सारा छुटभइयापन और झगड़े-झमेले ख़त्म हो गये हैं। और जो सही है जो न्यायपूर्ण है उसके लिए ज़िंदा हूं। मैं चाहती हूं कि बच्चियां इस सबकी कुरूपता को, हमारे चारों तरफ़ की सड़ांध को न महसूस करें। जो ज़रा सी भी सच्चाई या साफ़गोई दिखायी दे उसका शुक्र मनाना चाहिए।

हाल ही में हंसने का जी चाहा सो स्टीफ़न लीकाक उलटा पलटा। एक और ख़याल जो ढाढ़स बंधाता है वह है क्रिस* ... कितनी ज़्यादा बहादुर है वह। कभी कभी तो उसे जद्दोजहद में बहादुरी से जुटे देखकर होने वाली तकलीफ़ को सहना मुश्किल हो जाता है। शायद तुम सही कहते हो कि दुख हममें से सबसे नाचीज़ के भीतर भी किरदार की वह गहराई पैदा करता है कि देखने वाले हैरान रह जाते हैं।

अमीना** ने अपने यहां कराची रहने को बुलाया है। हमारी ज़िंदगी में उसका अनोखा ही रोल रहा है, है ना? उम्मीद है मैं उसके सामने रो न पड़ूं और ख़ुद को शरमिंदा न करूं... शिमला... वह बातें याद हैं जो हमारे आने वाली शादी के बारे में उससे की थीं और इतने कम पैसों में क्या कुछ हो पायेगा या नहीं हो पायेगा। और दिल्ली में अपना हनीमून... वह एक रात अमीना के यहां.... वह लोधी रोड का

---

* क्रिस : एलिस की बड़ी बहन, कामरेड डा.एम.डी. तासीर की पत्नी

** अमीना : बेगम अमीना मजीद मलिक, दोस्त और हमदर्द, कर्नल मजीद मलिक की पत्नी

रूमानी महल... और अमीना हमारे इतनी पास! और बीच का बाक़ी सब.... राउज़ एवेन्यू और मीर दर्द लेन... अमीना जो बज़ाते ख़ुद एक इदारा है। पता चला है कि वह हमारे लिए फ़िक्रमंद रहती है। उसे याद दिलाना है कि हम ऐंग्लो-सैक्सन किस मिट्टी के बने हैं।

पाकिस्तान टाइम्स के कुछ मुलाज़िम मुझसे बात करने में गड़बड़ा जाते हैं और मुझे 'सर' कह बैठते हैं। बेचारे बुज़ुर्ग बख़्त साहब तो हर जुमले में एहतिहातन 'सर' और 'मैडम' दोनों लगा देते हैं।

बच्चियां तुम्हारे लिए कुछ ख़ास ले जाने के ख़याल से बेहद ख़ुश हैं हालांकि मीजू तब से ख़फ़ा है जब से मैंने बताया कि तुम्हें दूसरे क़ैदियों के साथ बांट कर खाना होगा। मैंने उसे समझाने की कोशिश की है कि ऐसा करना क्यों ज़रूरी है। लेकिन वह बड़बड़ाये जा रही है। अपनी अंग्रेज़ी की टीचर के उच्चारण की नक़ल करती है और अपने आपको बड़ी तोप चीज़ समझती है। बताती है क्लास के सारे लड़के उसके दोस्त हैं! न जाने किस पर पड़ी है।

हैदराबाद से ख़बरों पर मुकम्मल पाबंदी है। पूरा ब्लैक आउट... लोग बेहद ग़ुस्से में हैं... अफ़वाहों का बाज़ार गर्म है...

22.10.51

मुझे यक़ीन है कि तुम इस ख़बर के इंतज़ार में हो कि हम लोग ख़ैरियत से पहुंच गये। पहुंच तो गये...एक लंबे...लंबे सफ़र के बाद जिसके बारे में कोई नहीं कह सकता कि वह ज़रा सा भी ख़ुशगवार था। अब कभी पंजाब को बुरा भला नहीं कहूंगी। सिंध के लंबे, चटियल, रेगिस्तान के मुक़ाबले तो यह जन्नत है। हमारी मुलाक़ात ख़्वाब सी लगती है। पल भर में ख़त्म! और अब दिल को घेरता अकेलेपन का अंधेरा... लेकिन हमें बहादुर होना होगा... तुम्हारी तरह... तुम्हें देख भर लेने से हमें कैसा सुकून मिला है... हालांकि यह कोई नहीं जानता कि तुम्हारे मुस्कुराते हुए बाहर के भीतर क्या चल रहा है! आने वाले साल.... यक़ीनन वे हमारे इंतज़ार में खड़े हैं। तुम्हारी कूवत-ए-बर्दाश्त और हमारा इंतज़ार याद आयेगा. ..मैं इस इंतज़ार में धैर्य नहीं रख पाती... अपने दुख पर तो झुंझला पड़ती ही हूं, दूसरों का दुख भी देख नहीं पाती। घर पहुंचे तो तुम्हारा ख़त इंतज़ार करता हुआ मिला.... घर लौटना कम दुखदायक रहा।

बच्चियों को देख तुम्हें कैसा लगा? बहुत कुछ और कह सकती थी, लेकिन एक तो इतनी बड़ी मेज़ थी बीच में और उबासी लेते हुए वार्डन घेरे हुए थे। अभी भी आंखों के सामने तुम्हारी गोद में लेटी, तुम्हारे बाल सहलाती मीजू दिखायी देती है। शायद वह तुम्हारा चेहरा भूल गयी थी और हर नक़्श फिर से टटोलकर याद रख रही थी। वे चंद दिन और उनकी यादें हमें आने वाले महीनों में ज़िंदा रखेंगी।

नवाज़िश (एलिस के वकील) स्टेशन पर मिले और राना (एक अज़ीज़ दोस्त) मुलतान में। दोनों रास्ते के लिए शानदार दावत बांधकर लाये थे।

हां मैं तुम्हें चेखव के ड्रामे भेज दूंगी। 'ऐवरी मैन सीरीज़' ने छापा है... मुझे याद है 1938 में हिंदुस्तान आने से कुछ दिन पहले मैंने 'थ्री सिस्टर्स' का शो देखा था। शानदार प्रोडक्शन था और उसमें उस वक़्त के बेहतरीन कलाकारों ने काम किया था।

चीमी को उसका ख़त बहुत अच्छा लगा। मीजू अचानक चिल्ला पड़ी यह याद करके कि तुमने उसे जेल की आईस्क्रीम तो खिलायी ही नहीं। तुम ज़रा वक़्त निकालकर बाली को एक ख़त लिख देना। वह इतनी ख़ुशी और गर्व महसूस करती है तुम्हारा ख़त पाकर।

शामें इतनी अंधेरी हो चली हैं कि घर बैठने के अलावा कुछ करना मुमकिन नहीं है... जैसे शरीफ़ पाकिस्तानी अमीरज़ादियां...

3.11.51

गर्मियां हैं कि गुज़र जाने का नाम ही नहीं लेती। तुम तो अपने अज़ीज़ लाहौर को पहचानोगे ही नहीं। नवंबर की सुबहें तो ठंडी और रौशन होनी चाहिए, जो गर्मियों से थके-मांदे जिस्मों और दिलों को राहत पहुंचा सके। लेकिन ऐसा है नहीं। बस कहने भर को ठंड होती है। ... तो तुम लोग आजकल इत्र लगे तकियों पर सो रहे हो? तभी तो तुम बदमाशों को घर लौटने की जल्दी नहीं है... ना जाने तुम लोग अपनी पुरानी, घिसी हुई बीवियों के बारे में क्या सोचोगे जो तुम्हें जेल के इत्रों के बग़ैर मिलेंगी?

तुम्हारे पब्लिशर ने तुम्हारी दो नयी नज़्में, बग़ैर इजाज़त के, 'अदब-ए-लतीफ' में छाप दी हैं। कहता फिरता है कि वह हैदराबाद गया था और वहां तुमने ख़ुद उसे दी थी। क्या वकील से बात करूं? तुम्हारी फ़्रांसीसी में तरक़्क़ी के बारे में जानकर अच्छा लगा। लेकिन बहुत तेज़ ना दौड़ना। किसी हलक़े में तो मैं तुमसे आगे रहूं.... वह फ़्रांसीसी भाषा ही क्यों न हो (और बच्चे पैदा कर पाने का क़ुदरती हक़)।

क्या तुमने मोपासां की बात की? क्या बात है! जनाब को यह ख़याल क्योंकर आया! देखती हूं अगर कोई आसान फ़्रांसीसी वाला एडीशन मिल जाये....

प्रस्तुति एवं अनुवाद : नूर ज़हीर
मो. : 9811772361

रज़िया सज्जाद ज़हीर के नाम फ़ैज़ का एक ख़त

फ़ैज़ की दिल की बीमारी सुनकर सज्जाद ज़हीर की बेगम रज़िया ज़हीर ने उनका हाल-चाल पूछा था। फ़ैज़ इसमें इशारों से अपनी बीमारी की बाबत बताते हैं, लेकिन शब्दावली ऐसी है कि सामान्य पाठक समझ नहीं सकता। ग़ौरतलब है कि फ़ैज़ दिल की बीमारी जैसे शदीद अज़ाब का भी किस क़दर मज़ाक उड़ा सकते हैं। यह ख़त उनकी हास्य-व्यंग्य की शक्ति का अद्‌भुत उदाहरण है। सं.

सेंट्रल जेल
हैदराबाद, सिंध
22 मई

प्यारी रज़िया भाभी - सलाम और प्यार

बहुत दिनों में आपका ख़त देखने में आया। दिल बहुत ख़ुश हुआ। कुछ ख़ुशी कि आप अपने को ख़तों के बारे में मेरा मक़रूज़[1] समझती हैं अगरचे मुझे पूरा यक़ीन है कि आपका एक आध ख़त मेरे ज़िम्मे है। 'हिसाबे-दोस्तां पर दिल' रखने में सबसे बड़ा फ़ायदा यही है कि हिसाब किसी को याद नहीं रहता और मुझ जैसे नादेहंद[2] लोग अक्सर नफ़े में रहते हैं, फिर यह भी है कि अगर कोई ज़्यादा हिसाबदानी जतलाये तो हम कह सकते हैं कि यह दोस्ती नहीं बनियापन है। आपकी मिज़ाजपुरसी का शुक्रिया लेकिन आपकी मालूमात सब ग़लत हैं, पहली बात तो यह है कि मैं साहबे-फ़राश[3] बिल्कुल भी नहीं हूं दूसरी बात यह कि मेरा मेदा बिल्कुल वर्किंग आर्डर में है। आपकी इस बात से भी इंकार नहीं कि यह इत्तेला आपको उनसे पहुंची है, मैंने ऐतराज़ किया था कि आप इतनी ज़रा सी बात भी ठीक से रिपोर्ट नहीं कर सकते, उन्होंने जवाब में कहा बस साबित हुआ कि हमारी वो हमारे ख़त को बिल्कुल एहतियात से नहीं पढ़तीं क्योंकि हमारी रिर्पोताज बिल्कुल मुख़्तलिफ़ थी तो क़िस्सा दुश्मनों की नासाज़िए-तबा[4] का यह है कि दो-तीन माह पहले एक दिन सुबह हम अच्छे ख़ासे अपने पलंग से उठे, मेज़ से पानी उठाने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि कुछ 'इस्तेग़राक़'[5] की कैफ़ियत तारी हो गयी। जब यह कश्फ़ का आलम ख़त्म हुआ तो देखते क्या हैं कि तने-नज़र फ़र्शे खाकी से हमकिनार है और बाली पर अहबाब मुज़तरिब

1. क़र्ज़मंद
2. न देनेवाला
3. पतंगे की तरह जल मरने वालों का नायक
4. तबीयत की ख़राबी
5. तल्लीनता

व बेताब खड़े हैं। ये लोग मुझे कुछ इस अंदाज़ से तक रहे थे कि मुझे देखते ही हंसी आ गयी, जब से अब तक डॉक्टरों की तहवील[6] में हूं। पहले Low blood pressure और anaemia तशख़ीस हुआ, फिर पता चला कि दिल कुछ ज़रूरत से ज़्यादा कुशादा[7] हो गया है, फिर एक कान में बहुत ज़ोरों की सोज़िश[8] हो गयी वग़ैरह। अभी दो- चार दिन की बात है कि एक दाढ़ के ऊपर infection हो जाने से दिन में तारे दिखायी दे रहे थे। शाम को आपके मियां मेरे पास बैठे थे। मैंने कहा, हज़रत ग़ौर फ़रमाइए उस शख़्स की कैफ़ियत पर कि एक शाम वीनस (Venus) उसके हुजरे में उतर आये और कहे कि आज रात मैं तुम्हारी हूं, लेकिन उसी शाम उस शख़्स के कान या दांत में ज़ोरों का दर्द हो वह अपने मख़सूस अंदाज़ में बोले कि इन हालात में कोशिश तो बहरहाल यही होनी चाहिए कि किसी और दिन के लिए Appointment करनी चाहिए लेकिन मुझे यक़ीन है कि अगर दर्द काफ़ी तेज़ है तो आदमी दूसरी Appointment की बहस और तक़रार में नहीं पड़ेगा यानी आप ज़रा ग़ौर कीजिए कि ज़रा सा कान का दर्द एक तरफ़ और हेलेन का अथाह हुस्नो-जमाल दूसरी तरफ़, और यह हक़ीर दर्द उस पर भारी है, फिर भी लोग कहते हैं कि तुम materialist क्यों हो? हां तो मैं साहबे-फ़राश नहीं हूं, सिर्फ़ इतना है कि कोई न कोई छोटा मोटा पुर्ज़ा आजकल बिगड़ा रहता है जिससे मुझे सख़्त इख़्तेलाफ़ है। बात यह कि बीमारी के बारे में मेरा मिज़ाज बिल्कुल ग़ैर शायराना है और ख़ालिस 'पंजाबियाना' है और मैं डाक्टर और दवाई को क़रीब भी फटकने नहीं देता। गुज़श्ता दो तीन माह पहले जब हमारे नौजवान दोस्तों में से कोई सर पकड़े, कोई पेट पकड़े दिखायी देता था तो हम उसकी जवानी पर अक्सर लान तान[9] किया करते थे, आज कल ये सब लोग खूब बग़लें बजा रहे हैं।

लाहौल विला कूवत क्या फ़ुज़ूल मज़मून शुरू हो गया। मुझे अफ़सोस है कि आपके यहां *दस्ते-सबा* अच्छी नहीं छपी। आप हिंदुस्तानी लोग हमेशा अपनी नफ़ासत और सलीक़े का नक़्क़ारा पीटते रहे लेकिन कुछ समझ में नहीं आता कि आप ढब से किताब क्यों नहीं छाप सकते। तो कुलसूम[10] के कहने पर वहां भी क़यास आराइयां हुई हैं, यहां भी हो रही हैं, इसीलिए तो लिखा था आप कहीं पास हों तो कान में कह दूं कि कौन है, ख़त में लिखना ठीक नहीं, गप के लिए एक अच्छा ख़ासा मज़मून क्यों ख़्वाहमख़्वाह ख़त्म किया जाये। वैसे बात यह है कि जब शायर मोहब्बत की बात करते हैं तो रूए-सुख़न[11] किसी एक तरफ़ नहीं होता। इसमें सभी मोहब्बतें शामिल होती हैं, मैं तो यहां तक कहने को तैयार हूं कि आशिक़ाना शेर अपनी सब हसीन मुलाक़ातों के अलावा माज़ी, हाल और मुस्तक़बिल[12] की सब हसीन औरतों के नाम लिखा जाता है ख़्वाह वह कहीं भी हों।

आपने पूछा है कि लखनऊ मैंने देखा है या नहीं, देखा तो ज़रूर है लेकिन ज़्यादा देखने की हवस है। लखनऊ मैं कई दफ़ा गया (दो तीन दिन के लिए आपके घर में भी रह चुका हूं) लेकिन कभी भी

---

6. हवाले
7. व्यापक, फैल गया है
8. सूजन
9. हंसी और व्यंग्य
10. फ़ैज़ की पत्नी एलिस का नाम
11. अतीत, वर्तमान और भविष्य
12. कविता का मुंह

एक आध दिन से ज़्यादा रुक नहीं सका, हर बार तस्कीन के बजाय प्यास का एहसास लेकर लौटा हूं लेकिन उसके बावजूद लखनऊ की ऐसी यादें दिल में हैं जिनसे आज भी तस्कीन होती है, मिसाल के तौर पर एक पतली सी गली में एक बिल्कुल बेसरो-सामां और बेचिराग़ कमरे की याद है जहां मैंने मजाज़, अली सरदार, जज़्बी, मख़्दूम, जांनिसार अख़्तर वग़ैरह के साथ एक रात गुज़ारी थी लेकिन वह तो शायद लखनऊ की रात न थी हारूं रशीद के बग़दाद या आजकल के समरक़ंद की रात थी। वह रात तो क़दीम बैज़ा की भी हो सकती थी और आजकल के पीकिंग की भी यानी हर उस ख़ित्ते की रात जहां मोहब्बत और दोस्ती और हुस्नो-फ़न का राज हो।

अच्छा साहब बहुत सी बातें हो गयीं आप कहिए कि आप यहां आयेंगी या नहीं, हर महीने दो महीने के बाद गुलगुला होता है कि उंगलियां सर्व[13] उठाते हैं कि वो आते हैं 'फिर सन्नाटा छा जाता है। यानी लोग उस शेर आया शेर आया से बिल्कुल आज़िज आ गये हैं। आपने आशिक़ाना अशआर की फ़रमाइश की है लेकिन आजकल आशिक़ी का बिल्कुल मूड नहीं है। यूं तुकबंदी तो हर वक़्त की जा सकती है मसलन

तमाम शब दिले-वहशी तलाश करता है।
हर एक सदा में तेरे हर्फ़े-लुत्फ़ का आहंग।

हर एक सुब्ह मिलाती है बार-बार नज़र
तेरे दहन से हर इक लाला-ओ-गुलाब का रंग

या

तुम्हारे हुस्न से रहती है हमकिनार नज़र
तुम्हारी याद से दिल हमकलाम रहता है

लेकिन यह भला कोई बात है अब ख़ुदा हाफ़िज़। सब दोस्तों को सलाम व प्यार।

फ़क़त
फ़ैज़

उर्दू से हिंदी : अली अहमद फ़ातमी

13. सरो नामक लंबा पेड़

(2)

(1)

(4)

(3)

ज़बान सरकारों से नहीं, लोगों से चलती है

इब्बार रब्बी से बातचीत

1978 में फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' भारत आये। चर्चा थी कि वह भुट्टो के बहुत क़रीब हैं, इसलिए पाकिस्तान में सैनिक शासन उन्हें बरदाश्त नहीं करेगा। यह भी चर्चा थी कि वह पाकिस्तान से भागकर भूमिगत हो गये हैं। यह भी सुनने में आया कि दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उन्हें कोई पद प्रदान किया जा रहा है।

मैंने तभी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उन्हें पहली बार देखा। उनके बारे में तरह-तरह की बातें प्रचारित थीं। वह पाकिस्तान जाने से पहले भारत में लोकप्रियता की चोटी पर थे। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उस दिन भारी भीड़ थी। हिंदी-उर्दू के हर आयु के साहित्यकार वहां मौजूद थे। फ़ैज़ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। पर मुझे उन्हें देखकर बहुत निराशा हुई क्योंकि वह सफ़ारी सूट पहने थे। किसी भी तरह वह शायर नहीं लगते थे। किसी बड़ी फ़र्म के मैनेजिंग डाइरेक्टर भले लगते हों पर तरक़्क़ीपसंद शायर उन्हें देखकर नहीं कहा जा सकता था। पर इस निराशा ने मुझे नयी आशा दी कि सच्चा कवि, कवि दिखायी देने की कोशिश क्यों करे, जैसा भी है वैसा ही रहे... ख़ैर जब उन्होंने अपनी नज़्में और ग़ज़लें भी बिना तरन्नुम के पढ़ी नहीं, कह दीं तो और भी मायूसी छा गयी मुझ पर, यानी इन्हें ज़रा भी अपने को पेश करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती! इतनी भारी भीड़, इतने सारे लोग, इन्हें देखना-सुनना चाहते हैं पर फ़ैज़ साहब में शायरों वाली कोई अदा ही नहीं, कुछ नहीं।

लोगों ने 'तरन्नुम से पढ़िए' शोर भी किया, पर वे जैसे मन ही मन कुछ कह रहे हों। सारी पुरानी नज़्में सुना गये। उनकी ग़ज़लों के मैंने रिकार्ड सुने थे, वे सब कानों में गूंजने लगे, पर फ़ैज़ साहब थे कि बाज़ार भाव की तरह ऐसे ही कुछ कहे जा रहे थे। वे धीरे-धीरे बोल रहे थे। लोग सुन रहे हैं या नहीं इसकी परवाह नहीं कर रहे थे। कोई लाइन पूरी पढ़ी, कोई अधूरी, कोई मुंह में ही चबा गये। उनकी आवाज़ बहुत भारी थी। वे ख़ुद पर मज़ाक भी कर रहे थे, पर सारी बात साफ़-साफ़ सुनायी दे ऐसी कोई कोशिश उनकी नहीं थी। बाद में उन्होंने अपनी नवीनतम रचनाएं सुनायीं जो पंजाबी में थीं। फ़ैज़ को देखना और सुनना एक अनुभव था।

फिर वे कई बार भारत आये। जगह-जगह उनका स्वागत हुआ और दिल्ली में कई जगह मैंने उन्हें देखा और सुना। 'अपने पुराने दोस्तों से मिलने आया हूं', हर जगह वे यही कहते थे। उन्हीं दिनों भाई भीष्म साहनी का फ़ोन आया कि फ़ैज़ साहब आये हुए हैं, आप उनसे इंटरव्यू कर लो। उन्होंने समय ले लिया था। 1 मई 1980 को मैं इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में शाम के वक़्त फ़ैज़ साहब से मिला। वे

बाहर रिसेप्शन के पास बैठे थे। उनसे मिलने कुछ लोग आये थे, वे भी वहीं थे। वहीं जल्दी-जल्दी में बाहर उनसे बातचीत हुई। वे लगातार किंग साइज़ सिगरेट पी रहे थे।

मैं कठिन अरबी-फ़ारसी नहीं समझ सकता था और मैंने सोचा कि शायद हिंदी वे ठीक से नहीं बोल पायेंगे, इसलिए सारी बातचीत अंग्रेज़ी के टूटे-फूटे प्रयोगों के माध्यम से हुई, जिसे हिंदी में लिख दिया है। मैंने उनकी पंजाबी की नवीनतम कविताओं के बारे में पूछा तो कहने लगे 'जवानी में मैंने पंजाबी में नहीं लिखा। अभी किसी ने कहा कि आप पंजाबी में लिख सकते हैं? तो मैंने लिख दिया।'

उन्होंने बताया कि 1942 से पहले वे अमृतसर और लाहौर में रहे। 1942 से 1946 तक वे दिल्ली में लोदी रोड के पास रहते थे। फ़ौज में वे कर्नल थे, पर मोर्चे पर उन्हें कभी नहीं भेजा गया। वैसे फ़ौज में बर्मा तक गये थे।

1942 की दिल्ली और 1980 की दिल्ली के बारे में उनका कहना था कि, यह शहर अब पहचाना नहीं जाता। तब नयी और पुरानी दोनों दिल्ली की सीमाएं थीं कि कहां शहर ख़त्म होता है और कहां शुरू, पर अब तो कुछ पता नहीं चलता। पहले यहां सिर्फ़ दिल्ली के लोग थे, अब तो हर प्रांत से हर जगह के लोग हैं। तब दिल्ली का करेक्टर और क़िस्म का था, हर मौहल्ले की अपनी शख़्सियत थी। तब हर मोहल्ले का लहजा अलग था कूचा पंडित, बल्लीमारान वग़ैरह। हर गली की अपनी तारीख़ और कैरेक्टर था, जो ख़त्म हो गया। 1947 में फ़साद हुआ। लोग उठ गये, बहुत से पाकिस्तान चले गये।

उन दिनों हिंदी-उर्दू के अच्छे शायर दिल्ली में थे। ऑल इंडिया रेडियो की वजह से सब यहीं थे, जैसे हफ़ीज़ जालंधरी, हरीचंद अख़्तर, पतरस बुख़ारी वग़ैरह। उन दिनों के 4-5 सालों में सारे मुल्क के अदब का मरकज़ दिल्ली थी। 1857 में भी दिल्ली अदब का मरकज़ थी। आज़ादी के आसपास के बरसों में दिल्ली फिर मरकज़ हो गयी थी। विभाजन के बाद गड़बड़ हो गया।

लेकिन, अब फिर दिल्ली मरक़ज़ बन रही है। अब नक़्शा मुख़्तलिफ़ है। 'अब दिल्ली अदब का मरकज़ तो है पर उर्दू अदब का नहीं। अब यह मरकज़ कास्मोपालिटन हो गया है।'

'दिल्ली के वे दिन बेहतर थे या अब बेहतर हैं', यह पूछने पर उन्होंने कहा कि 'इसे अच्छा या बुरा नहीं कहना चाहिए, पर दिल्ली हिंदुस्तानी कल्चर की प्रतिनिधि है। तब दिल्ली का अदबी माहौल परंपरागत ज़्यादा था, अब प्रगतिशील और कल्पनाशील अधिक है। आज का माहौल अधिक डाइनेमिक और प्रतिनिधि है।'

'क्या आप अब पुरानी दिल्ली की उन गलियों में गये थे?' पूछने पर उन्होंने कहा 'अब उन गलियों में जाकर क्या करें? अब वहां कोई सूरत नज़र नहीं आती।'

दिल्ली उन दिनों उर्दू का सेंटर थी। अब लाहौर और कलकत्ता उर्दू के सेंटर हैं। कलकत्ता में अब उर्दू का नया सेंटर उभर रहा है। वहां सरकार उर्दू को संरक्षण दे रही है। वहां उर्दू में नारे और इश्तहार नज़र आते हैं।

उर्दू दिल्ली के बाद कलकत्ता में ही पनपी थी। वहीं पहला कॉलेज खुला। मीर अम्मन वग़ैरह वहीं थे। पहली किताबें वहीं लिखी गयीं। वहां ग़ालिब ने अपनी मसनवी लिखी। कलकत्ता की वह परंपरा बीच में ख़त्म हो गयी थी, उसे अब पुनर्जीवित किया जा रहा है। अभी हम लोग कलकत्ता गये तो मैदान में जलसा हुआ। उसमें सात आठ हज़ार लोग थे।

कलकत्ता से उर्दू के चार अख़बार निकलते हैं। बंगाल में ज़बान को लेकर कोई भेदभाव नहीं है।

यहां थोड़ा हिंदी या पंजाबी का झगड़ा हो भी जाता है, पर वहां ऐसा कुछ नहीं है। सरकार ज़बान के बारे में दख़ल नहीं देती।

'क्या हिंदुस्तान में उर्दू ख़त्म हो रही है।?' यह पूछने पर फ़ैज़ साहब ने कहा 'हिंदुस्तान में उर्दू ख़त्म नहीं हो रही है। ज़बान सरकार से नहीं चलती, वह लोगों से चलती है। वह लोगों की ज़रूरत है, सरकार ने उसे पैदा नहीं किया। जब उर्दू पैदा हुई तब सरकारी ज़बान फ़ारसी थी। मुग़लों के समय में उर्दू नहीं पढ़ायी जाती थी। उसे लोगों ने पैदा किया।'

बातचीत अभी रंग पर भी नहीं आयी थी कि संगीतकार अनिल विश्वास आ गये थे। किसी दूतावास के कुछ लोग भी आ गये। उनके पास बोतल भी थी। फ़ैज़ साहब का मन उखड़ने लगा। अनिल विश्वास उनके पुराने दोस्त हैं। दोनों गले मिले। उनका चेहरा चमक रहा था। बातचीत करना अब मुश्किल था। इसलिए अगले दिन मिलना तय हुआ।

अगले दिन, यानी 2 मई को, शाम के वक़्त फ़ैज़ साहब के पास इंडिया इंटरनेशनल सेंटर पहुंचा तो वे अपने कमरे में ले गये। दो पलंग बिछे थे। पीछे सोफ़े पर उनकी पत्नी किसी भारतीय महिला मित्र से बातचीत कर रही थीं। उक्त महिला मित्र श्रीमती इंदिरा गांधी की क़रीबी दोस्त थीं। आदमक़द ड्रेसिंग टेबिल के पास तरह-तरह के नेल पालिश, लिपस्टिक और अन्य विदेशी सौंदर्य प्रसाधन बिखरे थे। फ़ैज़ साहब बेगम साहिबा की तरफ़ पीठ करके बैठ गये। वे लगातार सिगरेट फूंक रहे थे। आज भी कल जैसी ही जल्दबाज़ी और हड़बड़ी थी कि किसी तरह इस मुसीबत से छूटें तो राहत हो। आज के उर्दू अदब के बारे में पूछा तो कहने लगे 'बहुत मुश्किल है कुछ कहना। अदब दो तरह से पैदा होते हैं। एक अदीब करते हैं और एक ज़िंदगी पैदा करती है। आज एक तरीक़े से अदीबों के लिए सहूलियतें ज़्यादा पैदा हुई हैं। सरकार संरक्षण देती है; भौतिक सुविधाएं भी अदीबों को आज ज़्यादा प्राप्त हैं। एक तबक़े के लिए अब ज़्यादा आसानी है। दूसरी तरफ़ 'रियल्टी' रिफ़्लेक्ट करने के बजाय बहुत से अदीब आरामपसंद हो गये हैं। वे सोचते हैं, क्या ज़रूरत है ज़्यादा दुख झेलने की, उन्होंने आसान रास्ते अख़्तियार कर लिये हैं। दूसरा कनफ्यूज़न सियासी और समाजी ज़िंदगी में पैदा हुआ है जिसकी वजह से बहुत से अदीब अपने ख़ोल में बंद हो गये हैं।

दूसरी तरफ़ जैसे ही 'मेटीरियल' हालात कुछ आसान हुए सियासी हालात मुश्किल हो गये। प्रतिबंध बढ़ गये। इतने अधिक अदीब जेलख़ाने पहले नहीं गये, जितने आज़ादी के बाद गये। इस वजह से ज़्यादा जुझारू और ज़्यादा जानदार अदब भी पैदा हुआ। मिसालें बहुत हैं, पर नाम लेने में गड़बड़ हो जाती है। एक का नाम लो तो दूसरा कहता है, मेरा क्यों नहीं?

दूसरी बात यह पैदा हुई कि पहले लोग लिटरेरी शैली में लिखते थे। उनका अदब पढ़े-लिखे लोगों के लिए होता था। दायरा सीमित था। अब पाकिस्तान में क्षेत्रीय ज़बानों में भी लिखा जा रहा है। सिंधी, पंजाबी आदि क्षेत्रीय ज़बानों में अब ज़्यादा लिखा जा रहा है।

यह तरक़्क़ी हुई या नहीं, यह कहना मुश्किल है। तरक़्क़ी इस माने में हुई कि नये तजुरबे आये, नयी थीम्स आयीं। उपन्यास को पुनर्जीवन मिला। तीस चालीस साल तक कहानी का ज़माना था, अब उपन्यास का ज़माना है। ज़िंदगी में इतने बदलाव हुए हैं कि वे कहानी में समा नहीं सकते। तब ड्रामा ज़्यादा नहीं था। पाकिस्तान में अब स्टेज आया। यहां भारत में, स्टेज का ज़्यादा विकास हुआ। पाकिस्तान में कम हो पाया है, लेकिन वहां भी ड्रामा आगे बढ़ा है। हमारे यहां (पाकिस्तान) पढ़ेलिखे लोगों की तादाद

कम है। इससे समस्या बढ़ी है।

पहले शायरी सिर्फ़ ज़बानी सुनायी जाती थी। अब ड्रामा बढ़ रहा है। उसमें भी नया मीडियम टेलीविज़न का पैदा हुआ। चुनांचे ज़्यादा लोगों तक उर्दू पहुंची। उसका रिफ़्लेक्स एक्शन यह हुआ कि सिर्फ़ पढ़े-लिखे लोग ही आज दर्शक नहीं हैं। टी. वी. का प्रेमी हर तरह का दर्शक है, ख़ास तौर पर हिंदुस्तान में

मैंने कहा कि 'उर्दू में एक ही समय में कई बड़े-बड़े लेखक हुए जैसे आप, साहिर, लुधियानवी, सरदार जाफ़री और राजेंद्र सिंह बेदी बग़ैरा... ' तो कहने लगे 'यह इत्तिफ़ाक़ है। अदब कोई फ़सल नहीं है। आप नक़ली तरीक़े से अदब पैदा नहीं कर सकते। बीच में अंधेरा पीरियड आ गया। फिर कोई पीढ़ी आ गयी पर 1930 वाला माहौल तो पैदा नहीं हुआ। पर, आज बहुत अच्छा लिखनेवाले लोग हैं, ख़ासकर नस्र में। पाकिस्तान में एक नया विकास यह हुआ कि वहां अच्छा लिखनेवाले नये लेखकों में औरतें भी है। पहले परंपरा ने औरतों की ज़बान पर ताले लगा रखे थे। अब सामाजिक और बौद्धिक ताले खुले हैं। सामाजिक परिस्थितियों के दबाव से अब केवल गृहिणी बनकर घर बैठना मुमकिन नहीं है। औरत ने अब अपनी हैसियत पहचानी है और उसमें व्यक्त करने की हिम्मत भी है। यह प्रक्रिया आज़ादी से पहले शुरू हो गयी थी। पहले चरण के बाद इस्मत चुग़ताई ने इसे आगे बढ़ाया। अब यह चरमोत्कर्ष पर है।'

उनके कृतित्व को प्रभावित करनेवाले लेखकों के बारे में उन्होंने बताया कि 'इस शताब्दी में सबसे महत्वपूर्ण लेखक गोर्की हैं, जिन्होंने कई पीढ़ियों को प्रभावित किया। क्रम से लें तो दूसरा नाम लोर्का का है। फिर पाब्लो नेरूदा, सार्त्र और एक हद तक टी. एस. एलियट इन ए डिफ़रेंट वे। फिर ड्रामे में ब्रेख़्त ने प्रभावित किया।'

मैंने कहा 'सिर्फ़ किसी एक लेखक का नाम लीजिए जिससे आप बेहद प्रभावित हुए हों, तो वे काफ़ी देर तक सोचते रहे। नयी सिगरेट निकालकर पीने लगे। बोले : 'एक नाम कोई नहीं है। पहले अदब सीमित होता था किसी एक ज़बान में या मुल्क में या महाद्वीप में। अब अदब यूनिवर्सल हो गया है। इसलिए, इतने महान लेखकों में से किसी एक का नाम नहीं लिया जा सकता, इसीलिए आज शेक्सपियर कोई नहीं है। ज़ाहिर है उस वक़्त और आज की ज़िंदगी में फ़र्क़ है। तब शिक्षा और अदब कम थे। तब अदब एक वर्ग तक सीमित था। अब ऐसा नहीं है। इसलिए आज शेक्सपियर होना मुश्किल है। तब एक बादशाह होता था और एक शायर। उस वक़्त शेक्सपियर होना आसान था पर अब ऐसा नहीं है।

'क्या आप हिंदी की रचनाएं पढ़ते हैं' इस प्रश्न के जबाव में उन्होंने कहा 'यहां आकर हिंदी का अदब पढ़ता हूं। हिंदी में ग़ालिबन सक्रियता ज़्यादा है। पहले हिंदी एक वर्ग तक सीमित थी। प्रेमचंद के वक़्त हिंदी-उर्दू एक थीं। वे दोनों ज़बानों के थे। राजनीतिक कारणों से हिंदी-उर्दू का भेद बढ़ता गया। उर्दूवालों के लिए सारे नक़्शे परंपरा के पहले से मौजूद थे। हिंदीवालों को नये सिरे से सब कुछ खोजना पड़ा, क्योंकि हिंदी को सरकार का संरक्षण हासिल नहीं था। अंग्रेज़ों ने कहा कि हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की ज़बान है। उसका नतीजा 50 साल बाद सामने आया हिंदी कांग्रेस की और उर्दू लीग की ज़बान हो गयी।

उर्दू को संरक्षण मिलने के अलावा मुशायरों की वजह से सुविधा थी। नस्र के लिए रिसाले थे जबकि हिंदी को सब-कुछ अपने आप जुटाना पड़ा।

ज़बान अंदर से आये, दिल से निकले, वह नक़ली न हो, रियल्टी से पैदा हो। चुनांचे पुराने ज़माने में जब थियेटर ज़िंदा था, उसमें एक ज़बान पैदा हुई। उसे लोग समझते थे। वही ड्रामा कलकत्ते से चलता सारे उत्तर भारत में पेशावर, लाहौर तक फैल गया। हिंदी का ड्रामा धार्मिक था। दूसरा रोमांटिक क्लासिकल था। जिसमें शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूं, वग़ैरह होते थे। सियासी क्रिस्टलाइज़ेशन से ज़बानों में फ़ासला बढ़ा, लेकिन, सिर्फ़ एक मीडियम क़ायम रहा। वह है फ़िल्म। उसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। फ़िल्म वही रही। वह न हिंदी की है, न उर्दू की। उसे दोनों एक-सा मानते हैं। संगीत भी ऐसे ही हैं, दोनों ज़बानों में एक ही है। हिंदी में गीत था ही, अब ग़ज़ल भी लिखी जा रही है। दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं है।

आल इंडिया रेडियो की हिंदी ऐसी है जो किसी की समझ में नहीं आती। वह कोई ज़बान नहीं है, बनावटी है। आप ज़बान पैदा नहीं कर सकते। एक ज़बान हिंदुस्तान के बाहर इंडोनेशिया, कीनिया तक में तो हैं उसमें हिंदी, उर्दू, बंगाली, गुजराती सब शामिल हैं। रोज़मर्रा के लिए तो वह ज़बान चलती है लेकिन जटिल अनुभव उसमें व्यक्त नहीं हो सकते। हमने पुराने लोक साहित्य से पूरी तरह फ़ायदा नहीं उठाया।

उर्दू वालों ने क्या किया कि बहुत से पंजाबी के लफ़्ज़ छोड़कर अरबी-फ़ारसी के ले लिए। यही हिंदी ने किया। जो बोलते हैं, उसे छोड़कर हम मुश्किल शब्द ले लेते हैं। जो बोलते हैं उसे ही क्यों नहीं लिखते?

जनरलाइज़ करना ठीक नहीं होता पर अगर किसी को मुश्किल तरीक़े से लिखना ही ठीक लगता है तो लिखे। पर, आप ज़बान से ज़्यादती नहीं कर सकते, मांग नहीं कर सकते कि आप आसान ज़बान में ही लिखो। नहीं लिख सकते तो क्या करें। मुश्किल ज़बान कुछ लोग इसलिए लिखते हैं कि लोग कहेंगे कि इसे कुछ नहीं आता।

मैं पिछली बार जब दिल्ली आया था तो शीला संधू के यहां ठहरा था। वहां हिंदी के कवि बुलाये गये थे। मुझे ख़ास दिक़्क़त नहीं हुई। कुछ लोग शायरी में प्रयोग करते हैं, इसलिए नहीं कि उन्हें सीधे तरीक़े से लिखना नहीं आता।

पर एक चीज़ बहुत ज़रूरी है। कोई अदब तब अदब बनता है जब उसमें श्रोता की भी हिस्सेदारी हो। मेरे लिखने से काम नहीं चलता, सुनने वालों की भी हिस्सेदारी हो, तभी अदब संपूर्ण बनता है। यह इम्तिहान पास करना ज़रूरी है। इसके बिना कला की प्रक्रिया पूरी नहीं होती।

'साहित्य में वन वे ट्रैफ़िक नहीं चलता। लेखक और जनता दोनों में तालमेल हो...' मैंने कहा। फ़ैज़ साहब ने अपनी कविता-यात्रा पर प्रकाश डालते हुए बताया : 'मैंने अपना आधार क्लासिकल रखा। उससे आगे बहुत से रास्ते निकलते हैं। नींव एक होनी चाहिए बाद में हम इमारत चाहे जैसी, मनमाफ़िक बनायें। अंग्रेज़ी, फ़्रेंच, स्पेनिश, हिंदी, पंजाबी हर जगह जहां जो मिला, उससे मैं प्रभावित हुआ।

मेरे लेखन का शुरू में रोमांटिक ज़माना था। यह 20 के दशक की बात है। तब मैं अपने समकालीनों से प्रभावित होता रहा। इक़बाल का तो टावरिंग व्यक्तित्व था। हमारे समकालीन थे : तासीर, अख़्तर शीरानी वग़ैरह। उनमें से बहुतों को लोग अब जानते भी नहीं। फिर साथी बने मजाज़ और मख़्दूम वग़ैरह। हम शायरों में आपस में विचार-विनिमय भी होता रहा। पर, बाहर से बहुत प्रभाव पड़ा। असर ज़्यादातर उपचेतन में होता है। कांशसली मैं परंपरा को पुनर्जीवित करने की कोशिश करता हूं। परंपरा को हम भूल गये थे। अमीर खुसरो, ग़ालिब, मीर, फ़ारसी के हाफ़िज, अमीर तक इनसे दोबारा नाता जोड़ने की कोशिश मैंने की। मैंने इनसे 'बौरो' किया।

मैंने जीवन के आरंभिक दिनों में अमृतसर में पढ़ाना शुरू किया। हमारे साथी थे महमूदुज़्ज़फ़र। उनकी बेगम थीं, डॉ. रशीद जहां। उनके ज़रिये तरक़्क़ीपसंदों से संपर्क बढ़ा। मुल्कराज आनंद, सज्जाद ज़हीर वग़ैरह सब उस ग्रुप में थे। फिर मैंने राजनीति पढ़नी शुरू की, तभी प्रगतिवाद का आंदोलन चला। हम ट्रेड यूनियन में भी गये। हम तब अमृतसर में पढ़ाते थे। शाम को मज़दूरों की क्लास लगाते थे।

आज़ादी के बाद मैं पाकिस्तान ट्रेड यूनियंस फ़ेडरेशन का वाइस प्रेसीडेंट था। वार्षिक सम्मेलन में पाकिस्तान से मैं मज़दूरों के प्रतिनिधि के रूप में जाता था। बाद में मज़दूर आंदोलन भंग हो गया, टूट-फूट गया। तब हमने भी छोड़ दिया।

'मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' इस नज़्म के पीछे क्या प्रेरणा थी? क्या कोई घटना या स्मृतिविशेष इसके पीछे है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा : 'कोई घटना नहीं, इस नज़्म के पीछे का हादसा सिर्फ़ कार्ल मार्क्स का *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* पढ़ना था। सिर्फ़ 'मैनिफेस्टो' पढ़ने से लगा कि हम कहां पड़े हैं। तब यह नज़्म लिखी थी। यह रचना *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* का प्रत्यक्ष परिणाम है। व्यक्तिगत घटनाएं होती रहती हैं। इससे पहले भी होती थीं, पर समझ तभी आयी।'

'आपकी एक और नज़्म है 'कहीं नहीं है कहीं भी नहीं लहू का सुराग़' इसके पीछे क्या वाक़यात थे?'

फ़ैज़ साहब ने कहा : 'मार्शल अय्यूब ने सत्ता का तख़्ता पलट दिया। फिर उन्होंने चुनाव जीता। कराची में विजय जुलूस निकला। जिन लोगों ने अय्यूब ख़ां के विरोधी को वोट दिया था, जुलूस वालों ने उन पर हमला कर दिया। वे रिफ़्यूजी कालोनी में झोंपड़ी वाले लोग थे। बेचारे ग़रीब मारे गये। इस पर बड़ा हल्ला हुआ तो एक जांच कमेटी बैठी। कमेटी ने कहा, कोई प्रमाण नहीं है कि गोली चली या दंगा हुआ, यानी कुछ हुआ ही नहीं। वह घटना प्रतीक रूप में इस नज़्म में आयी भी, उसी का आफ़्टर इफ़ैक्ट यह नज़्म है।'

'क्या आप आत्मकथा लिखने की सोच रहे हैं? फ़ैज़ साहब ने कहा', 'नहीं अभी मैं रिटायर नहीं हुआ। लोग रिटायर होने के बाद आत्मकथा लिखते हैं।'

'इस महाद्वीप में क्रांति बराबर टलती जा रही है। जवानी के दिनों में आप लोगों का सपना भी क्रांति ही था। अब तो वह दूर-दूर तक कहीं नज़र नहीं आती।'

उन्होंने कहा 'क्रांति ऐसे नहीं होती। आज बीज डाला, कल हो गयी। लंबी प्रक्रिया है। अंग्रेज़ हमारे यहां उसे शार्ट सर्किट कर गये। अंग्रेज़ गये तो लगा कि अब हम आज़ाद हैं। क्रांति तो हो गयी। इससे बड़ी गड़बड़ हुई।' यदि अंग्रेज़ यहां रहते तो क्रांति हो जाती। यह भ्रम अभी तक चल रहा है कि आज़ादी तो मिल गयी, अब क्रांति की क्या ज़रूरत है। 1947 में मैंने लिखा था

नजाते दीदाओ-दिल की घड़ी नहीं आयी
चले-चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आयी

लोगों ने कहा कि आयी। वे आज भी यही मान रहे हैं। अभी 'चेतना सुप्त है। जब चेतना अधिक पक जायेगी, अधिक संगठित हो जायेगी तब क्रांति होती।'

महान शायर के बारे में उनका कहना था :

'आर्टिकुलेशन ऑफ़ टोटेलिटी ऑफ़ एक्सपीरियेंसेज ऑफ़ टाइम। टोटेलिटी ऑफ़ रियेलिटी ऑफ़

एक्सपीरियेंसेज़।' जहां ये हैं वहीं अज़ीम शायर है, बौद्धिक रूप से नहीं, संवेदना के स्तर पर। केवल फ़ील करना और समझना काफ़ी नहीं। बढ़ई का काम भी आपको आना चाहिए। यानी शिल्प भी मज़बूत हो। कला की अपनी मांग होती है, रियल्टी की अलग। दोनों को आप जिस हद तक पूरा कर सकते हैं, उसी हद तक आप महत्व प्राप्त कर सकते हैं।

मैं बात और आगे बढ़ाना चाहता था पर लगता था कि वह अब थक गये हैं। उन्हें कहीं और भी जाना था। बोले 'अब बहुत है इसी को कुछ कर दीजिए। अख़बार के लिए तो इतना ही काफ़ी है।'

फो. : 011-22724591

दृष्टिकोण कला का अभिन्न अंग है

नईम अहमद से बातचीत

प्र. : फ़ैज़ साहब, शायरी मन की मौज होती है या वह किसी दृष्टिकोण के तहत की जाती है?

उ. : दृष्टिकोण तो मन की मौज का भी होता है। अगर आदमी बिल्कुल ख़ाली दिमाग़ न हो तो उसका कोई दृष्टिकोण ज़रूर होगा। वह मन की बात करेगा तो दृष्टिकोण उसमें भी शामिल होगा। अगर कोई शायर सिर्फ़ अपनी ही बात करे, अपनी ही निजी भूलभुलैयों में गुम हो जाये तो कोई शख़्स उसका कलाम किसलिए पढ़ेगा? लिखना एक सामाजिक प्रक्रिया है। यह तक़ाज़ा उस वक़्त तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कविता सप्रेषित न हो, बात पढ़ने या सुनने वाले तक न पहुंचे। इसका मतलब यह हुआ कि पढ़ने व सुननेवाले की उपस्थिति आवश्यक है चाहे वह सशरीर उपस्थित हो या अनुपस्थित हो, शायर के सामने मौजूद हो या न हो। यूं भी होता है कि लिखने वाला या शेर कहनेवाला ख़ुद ही सुनने और पढ़नेवाला बन जाता है। इस लिहाज से दृष्टिकोण महत्वपूर्ण हो जाता है, अर्थात शेर कहनेवाला अपने अनुभवों में सुनने और पढ़नेवाले को शामिल करे। जैसे-जैसे पढ़ने और सुननेवाले बदलते हैं, साहित्य बदलता रहता है। दृष्टिकोण और व्यक्तित्व दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं, दृष्टिकोण व्यक्तित्व और कला का हिस्सा होता है।

प्र. : फ़ैज़ साहब, क्या आप कुछ बातों को ख़ास तौर से सामने रखते हुए शेर कहते हैं?

उ. : आप बातों को सामने रखें या न रखें, वे ख़ुद सामने आ जायेंगी, यह आपकी कल्पना क्षमता पर निर्भर है कि आपने उनकी कल्पना किस तरह की। बातें सामने रखने का मतलब यथार्थ को सामने रखना है, इसका दारोमदार आपकी दृष्टि पर है इस वास्तविकता पर कि आपको क्या दिखायी देता है। यथार्थ से आंखें बंद करके आप कुछ नहीं देख सकते, सब कुछ बाहर से उपलब्ध होता है। बेहद व्यक्तिगत अनुभव भी बाहर के वातावरण, परिस्थितियों और घटनाओं से जो असर पड़े, भावनाओं और अनुभूतियों में जो हलचल पैदा हो, उसके नतीजे होते हैं, सारी चीज़ें आपके अवचेतन का हिस्सा बन जाती हैं।

प्र. : फ़ैज़ साहब, यथार्थ को साहित्य बनाने के लिए कल्पना की किस सीमा तक आवश्यकता होती है, या आपकी शायरी में यथार्थ और कल्पना का क्या संबंध होता है?

उ. : साहित्य में आप यथार्थ की अपनी कल्पना की मदद से नये सिरे से रचना करते हैं। कलाकार भी यही करता है और वैज्ञानिक भी। वैज्ञानिक सिर्फ़ बाहर के यथार्थ के संबंधों का वर्णन करता है, कलाकार उसी यथार्थ का, कल्पना की मदद से, नये सिरे से सृजन करता है, इसीलिए वह यथार्थ

को एक सापेक्ष पहलू प्रदान करता है। वैज्ञानिक यह काम नहीं करता, विज्ञान में ऐसा नहीं हो सकता। यथार्थ के इस संबंध से हम विज्ञान को फोटोग्राफ़ी और कला तथा साहित्य को चित्रकारी कह सकते हैं।

प्र. : यथार्थ का नये सिरे से सृजन तो 'नासिख़' ने भी किया ; 'ग़ालिब' ने भी अपनी शायरी के आरंभिक दिनों में किया। वह कौन-सी ख़ूबी या विशेषता है जिसकी वजह से यथार्थ के नये सिरे से किये गये एक सृजन को तो स्वीकृति मिलती है जबकि दूसरे सृजन को वह लोकप्रियता नहीं मिलती?

उ. : हां! 'नासिख़' और 'ग़ालिब' दोनों ने ही यथार्थ का नये सिरे से सृजन किया। 'ग़ालिब' ने सामंती व्यवस्था की जानलेवा प्रकृति का नक़्शा पेश किया... उन्होंने सामंती व्यवस्था के अतीत की तड़पानेवाली यादों का खुलासा सामने रखा, उन्होंने अपने से पहले की दो सौ साल की शायरी का भरपूर अनुभव किया, और उसमें अपनी की हुई वृद्धि को बिंबों या रूपकों के साथ ग़ज़ल में पेश किया। 'नासिख़' में यह संवेदना नहीं थी। उन्होंने सिर्फ़ भाषाशास्त्रीय ढंग से शब्दों के प्रयोग किये। इसीलिए, उन्हें कौन पढ़ता है? सिवाय उन लोगों के जिन्हें शोध कार्य करना हो या शब्दों की छानबीन करनी हो या फिर शब्दों के उपयोग पर विचार करना हो। लेकिन 'ग़ालिब' आज भी हमारे ज़माने से जुड़े हुए हैं।

प्र. : फ़ैज़ साहब, 'ग़ालिब' 'गोयम मुश्किल वगरना गोयम मुश्किल' (शेर कहूं तो मुश्किल वरना कुछ न कहना भी मुश्किल) का जो शिकार हुए थे और उन्होंने जो चिढ़कर कहा था कि 'गर नहीं है मेरे अशआर में मानी न सही', तो इस उलझन के सिलसिले में आपकी क्या राय है?

उ. : यह संप्रेषणीयता में, पढ़ने या सुननेवाले को बात समझाने में नाकाम रह जाने की समस्या थी। इस कशमकश के पीछे यह बात नहीं थी कि 'ग़ालिब' को यथार्थ की अभिव्यक्ति पर अधिकार प्राप्त नहीं था। उस वक़्त जो परंपरा थी, 'ग़ालिब' उससे हटकर बात कह रहे थे। वह तत्कालीन सामाजिक स्थिति की बात कह रहे थे और वह भी ऐसे शब्दों में जिनसे लोग परिचित नहीं थे। यही वह मुक़ाम है जहां कल्पना और कला का प्रवेश होता है। सवाल यह पैदा हो जाता है कि आप यथार्थ का किस सीमा तक ख़ाका पेश कर सकते हैं और आप में उसकी अभिव्यक्ति की कितनी क्षमता है। इन दोनों के मिलने से यह मुक़ाम, यह सरहद पार होती है एक तो यथार्थ का अनुभव करने व देखने की क्षमता, दूसरे उसे शब्दों में ढालने की और पेश करने की योग्यता।

प्र. : इसका मतलब यही हुआ न, कि शायरी करते हुए सुनने व पढ़नेवाले दोनों को ध्यान में रखना पड़ता है?

उ. : जी हां! यक़ीनन।

प्र. : फ़ैज़ साहब, यथार्थ व कल्पना में से कौन-सा तत्व आपके कलाम पर हावी है?

उ. : दोनों एक ही चीज़ के दो पहलू हैं। यथार्थ का अनुभव करके कल्पना के ज़रिये उसे अभिव्यक्त किया जाता है।

प्र. : फ़ैज़ साहब, कुछ आलोचक यह कहते हैं कि आपकी शायरी फ़ार्मूलाबद्ध है। आप कुछ शेर रूमानी रंगत में कहते हैं और कुछ राजनीतिक अंदाज़ में, ग़मे-दौरां के, शेर जोड़ देते हैं। इस आरोप के बारे में आपका क्या विचार है?

उ. : यह आरोप बिल्कुल ग़लत है। आरंभ में जब प्रगतिशीलता अच्छी तरह समझ में नहीं आती थी

तब एकाध नज़्म में ऐसा किया था। फिर, देखा कि यह ग़लत बात है। फ़ार्मूला तो शेर ख़ुद बनाता है।

प्र. : फ़ैज़ साहब, अलामतों (प्रतीकों) का आपकी शायरी में क्या और किस हद तक असर है?

उ. : अलामतें दो तरह होती हैं। एक तो वे जो परंपरागत ढंग से परंपरागत अर्थों में इस्तेमाल की जाती है। दूसरी वे कि परंपरागत को आप समसामयिक या तात्कालिक परिस्थितियों के मुताबिक़ अर्थ दें। इसे हमने बहुत इस्तेमाल किया है। इसका कारण यह है कि अलामतें लोगों के दिमाग़ में बैठी हुई चीज़ें है। जो चीज़ सिर्फ़ आपसे संबंधित हो उसे आप बदलते रहते हैं। जैसे आशिक़ को समसामयिक अर्थ में आप मेहनतकश बना सकते हैं, मज़रूह (घायल) को आप इंक़लाबी बना सकते हैं। अलामत को समसामयिक बनाना, मौजूदा हालात के अनुसार अर्थ देना, शायर के पास एक बहुत अच्छा नुस्ख़ा है। इसके ज़रिये लोगों तक पहुंचने में मदद मिलती है।

प्र. : प्रगतिशील शायरी के समग्र मूल्यांकन के बारे में आपकी क्या राय है?

उ. : प्रगतिशील शायरी के बारे में हर व्यक्ति की अपनी-अपनी धारणा है। बहुत-सी शायरी जो प्रगतिशील नहीं है उसे बहुत से लोग प्रगतिशील समझते हैं और जो शायरी प्रगतिशील है उसे प्रगतिशील नहीं मानते। शायरी की पहली शर्त तो शायरी है। अगर, वह शायरी नहीं है तो फिर प्रगतिशील नहीं है। यह सही है कि शायरी ख़ास सामयिक रूप में, आंदोलन के लिए भी लिखी जाती है। इसका अपना एक उपयोग है जो शुद्ध राजनीतिक होता है। ऐसी शायरी भी अपनी जगह आवश्यक है। राजनीतिक तौर से ज़रूरी है। दूसरी शायरी वह है जिसका मक़सद सिर्फ़ राजनीतिक संदेश देना नहीं होता बल्कि उसमें कला और सौंदर्यशास्त्र के तक़ाजे भी पूरे किये जाते हैं। असल प्रगतिशील शायरी वह है जो इन दोनों बातों पर पूरी उतरे, उसमें संदेश भी हो और उससे सौंदर्यशास्त्रीय रुचि की तस्कीन भी हो। इसके अलावा, बाक़ी सब कुछ महज प्रगतिशीलता है या सिर्फ़ शायरी। ख़राब शायरी का आरोप सिर्फ़ प्रगतिशीलता पर ही क्यों लगाया जाय? यह बात तो हर तरह की शायरी के बारे में कही जा सकती है कि उसका ख़ासा बड़ा हिस्सा कला के मानदंडों पर पूरा नहीं उतरता। यह सिर्फ़ प्रगतिशील शायरी तक ही सीमित नहीं है।

प्र. : मौजूदा हालात में क्या प्रगतिशीलता के तक़ाज़े बदलने चाजिए?

उ. : तक़ाज़ा वक़्त के साथ हमेशा बदलता रहता है। जैसे-जैसे हालात बदलते है, नये-नये तक़ाज़े पैदा होते हैं अर्थ और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर। प्रगतिशीलता की प्रक्रिया एक अनवरत प्रक्रिया है जिसे एक बिंदु पर नहीं रोका जा सकता। यह अगर रुक जाये तो पतनोन्मुख हो जाती है। अलबत्ता, यह आवश्यक होता है कि कभी-कभी हालात एक ख़ास तरह के होते हैं, जैसे आज से तीस-चालीस साल पहले थे। उस समय एक जानदार आंदोलन पैदा हुआ। विषयों, लहजों और शब्दों में एक साथ परिवर्तन हुए। ऐसा वक़्त भी आता है जब आंदोलन की आवश्यकता बाक़ी नहीं रहती। ऐसे में कवि और लेखक व्यक्तिगत स्तर पर यथार्थ का चित्रण करने की कोशिश करते हैं। पिछले दिनों यही कुछ होता रहा है। ऐसी स्थिति होने पर आंदोलन की शक्ल तैयार करने में देर लगती है।

प्र. : फ़ैज़ साहब, क्या सृजन के लिए आंदोलन आवश्यक है?

उ. : हां! महान साहित्य के लिए दोनों आवश्यक हैं साहित्य-सृजन भी और सामाजिक-राजनीतिक

आंदोलन भी।

प्र. : प्रगतिशील शायरी में कौन से शायर आपके विचार में विशिष्ट साहित्यिक स्थान रखते हैं?

उ. : मजाज़, मख़दूम मुहीद्दीन, मज़रूह सुल्तानपुरी, अली सरदार जाफ़री। जज़्बी और जांनिसार अख़्तर ने साथ दोड़ दिया था, हमारे साथ साहित्य का सफ़र जारी नहीं रखा। मुझसे उम्र में छोटे शायर हैं साहिर लुधियानवी और कैफ़ी आज़मी।

प्र. : फ़ैज़ साहब, संक्षेप में आपकी राय में इन शायरों के कलाम की क्या विशेषताएं हैं?

उ. : ये सब इसलिए पसंद हैं क्योंकि वे प्रगतिशील भी हैं और शायर भी। मजाज़ ने ग़ज़ल में प्रगतिशीलता को तग़ज़्ज़ुल के रूप में पेश किया जो बहुत ही ख़ूबसूरत चीज़ है। मख़्दूम ने दोनों तरह की शायरी की एजिटेशन वाला भी और ग़ज़लिया भी। मजाज़ को उम्र ज़्यादा नहीं मिली। मख़दूम बहुत ही राजनीतिक व्यस्तताओं में रहे। अली सरदार जाफ़री ने अधिक लिखा। उनके पास फ़ुर्सत भी थी, उन्होंने ध्यान भी केंद्रित किया। असल, चीज़ तो जौहर (गुण) है।

प्र. : फ़ैज़ साहब, एक राष्ट्र के निर्माण के लिए भौगोलिक लिहाज से क्षेत्र विशेष, भाषा या लिपि के एक होने पर कुछ लोग बहुत ज़ोर देते हैं। वे एकीकृत राष्ट्र के निर्माण की एक बड़ी मांग भी बतलाते हैं। मौजूदा पाकिस्तान तो इन तक़ाज़ों पर पूरा उतरता है, फिर वह एक एकीकृत राष्ट्र क्यों नहीं बन सका? वहां जातीयताओं की समस्या के हल की सूरत क्यों नहीं निकल रही?

उ. : बात सिर्फ़ पाकिस्तान की नहीं। दुनिया के हर हिस्से में जहां देश नये-नये आज़ाद हुए हैं, जहां-जहां एक से अधिक सभ्यताएं हैं, और भाषाएं हैं, वहां राष्ट्रीय एकीकरण का मसला सामने आया है। यह सवाल पैदा हुआ कि एकता कैसे क़ायम की जाये। यह एक लंबी प्रक्रिया होती है। जो बहुत गठे हुए और एकीकृत देश समझे जाते थे, जिनका इतिहास है एक ही राष्ट्र बन जाने का, वहां भी ये मसले उठ खड़े हुए हैं। फ़्रांस में ब्रिटेनी के और स्पेन में बास्क के आंदोलन सदियों बाद ज़ोर पकड़ने लगे। ब्रिटेन में आयरलैंड के बाद अब वेल्स और स्काटलैंड के मसले चल रहे हैं।

इस मसले को हल करने के लिए बड़ी दूरदृर्शिता, सूक्ष्म दृष्टि, बुद्धि और दयानतदारी की आवश्यकता है। इसे सुलझाने के लिए एक हद तक वही नुस्ख़ा इस्तेमाल किया जा सकता है जो सोवियत संघ ने किया, अर्थात सारी जातीयताओं को बराबर के अधिकार दिये जायें।

प्र. : फ़ैज़ साहब, अपकी 70वीं सालगिरह के जश्न हिंदुस्तान में हो रहे हैं...

उ. : ये जश्न पाकिस्तान में हो चुके हैं।

प्र. : फ़ैज़ साहब, इसका मतलब तो यही हुआ न कि ज़मीन के बंटने से भाषा और साहित्य का बंटवारा नहीं हो सकता?

उ. : हां! भाषा और साहित्य सबकी साझी पूंजी होती है। यह कभी विभाजित नहीं हो सकती।

प्र. : आपकी सालगिरह के जश्न बार-बार आपकी मौजूदगी में मनाये जायें, इंक़लाब के वे सपने आपके सामने पूरे हों जो आप नौजवानी से देखते आये हैं। आज के नौजवान साहित्यकारों और कवियों को आप क्या संदेश देना पसंद करेंगे?

उ. : सच बोला करें और 'जो दिल पे गुज़रती है वही रक़म' करते रहें। 'परवरिशे-लौहो-क़लम' करते रहें। मैं आज के नौजनवानों से बस यही चाहता हूं।

बुद्धिजीवी और राष्ट्रीय एकता

सुनीत चोपड़ा से बातचीत

प्रश्न : नवस्वतंत्र देशों को मुक्ति संघर्ष में जिस विकट समस्या का सामना करना पड़ा, वह है औपनिवेशिक राज में गठित सभी जातियों और अल्पसंख्यकों को संघर्ष में एकजुट करना। आपकी राय में हम लोग इस उपमहाद्वीप में इस समस्या को कहां तक हल कर सके हैं?

फ़ैज़ : बहुभाषी और बहुजातीय राज्य की समस्याओं को समझने के लिए पहले तो हमें यह समझना पड़ेगा कि ऐसे राज्य अस्तित्व में कैसे आते हैं? लेनिन ने अपने एक लेख में लिखा है कि बहुजातीय समाज बाधित विकास की उपज है। विकास में यह बाधा कई कारणों से पड़ सकती है। बाहरी हमला विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर सकता है या उसी समाज के भीतर एक या एक से ज़्यादा प्रबल जातीयताएं राजनीतिक शक्ति का इस्तेमाल करते हुए दूसरी छोटी, कमज़ोर और कम विकसित जातीयताओं पर हावी होकर उनकी प्रगति और विकास को रोक सकती हैं। जहां तक इस महाद्वीप के देशों का सवाल है, यह समस्या इसलिए उत्पन्न हुई कि हमारे देश के अधिक शक्तिशाली, सबसे व्यापक और सबसे बढ़कर अत्याचारी साम्राज्यवादी शक्ति, यानी ब्रिटिश उपनिवेशवाद, के अधीन साम्राज्यवादियों की प्रशासनिक ज़रूरतों के कारण पहले से मौजूद जातीय, भाषाई और सांस्कृतिक सीमाओं का उल्लंघन हुआ जिन्होंने आगे चलकर संघर्षों और वैर भाव के लिए एक उपजाऊ ज़मीन तैयार कर दी। विभिन्न प्रबल समूहों के निहित स्वार्थों ने वर्ग समाजों में इन संघर्षों और बैर-भाव को और दृढ़ किया।

सरसरी तौर पर इसे सुलझाने के दो उपाय हैं। पहला, विभिन्न समूहों की विशिष्ट भाषाई, सांस्कृतिक तथा जातीय पहचान को स्वीकार करते हुए उनके बीच मौजूद समान तत्वों की खोज करना। इसे राजनीतिक और सांस्कृतिक अनेकवाद की नीति कहते हैं। दूसरे उपाय सुदृढ़ केंद्रीकृत नीति की वकालत करनेवाले यह कहकर पहली नीति की आलोचना करते हैं कि इसमें फूटपरस्त तत्वों को बढ़ावा मिलेगा। इतिहास गवाह है कि दूसरी नीति हर जगह नाकाम रही है। इस नीति की वकालत करनेवालों की बुनिदादी ग़लती यह है कि वे जातीय, भाषायी और अन्य सांस्कृतिक विभेदों को वैर भाव मान बैठते हैं। सांस्कृतिक विभेदों में शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध देखना ग़लत है।

ज़ाहिर है कि इन दोनों नीतियों में से किसका पालन किया जाये यह बात इन देशों के सामाजिक-आर्थिक ढांचे पर निर्भर करती थी क्योंकि निर्णायक तत्व यही था। स्वाभाविक रूप

से वर्ग समाज में इसका रूप यह होता है कि विभिन्न निहित स्वार्थ राष्ट्र में व्याप्त विभेदों को कटु बनाकर न सिर्फ़ अपने समूह पर, बल्कि अन्य समूहों पर भी हावी होने की कोशिश करते हैं।

जातीय पहचान के दावे के भी दो पहलू हैं। जब यह दावा जनहित को ध्यान में रखकर पेश किया जाता है तो यह एक प्रगतिशील नारा हो सकता है। लेकिन जब वह केवल मुट्ठी-भर निहित स्वार्थों के हित को ध्यान में रखते हुए किया जाता है तो इसका चरित्र प्रतिक्रियावादी हो सकता है। राष्ट्रीय एकीकरण तभी संभव है जब हम सबसे पहले और सबसे ज़ोरदार ढंग से इस बात पर बल दें कि इस बहुजातीय राज्य के तमाम समूहों के बीच समान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हित मौजूद हैं, और इसके साथ हक़ ग़रीबी और उन दूसरी समस्याओं को रेखांकित करने के लिए तैयार रहें जो सबको समान रूप से पीड़ित कर रही हैं। इसके बाद हमारा काम होना चाहिए तमाम विभिन्न जातीयताओं के बीच समान ऐतिहासिक अनुभव की खोज करना और उस पर बल देना और उन तत्वों को खोज निकालना जो उन सबमें समान रूप से मौजूद हैं।

इनमें लेखक की भूमिका केवल सहजातीय हितों का विश्लेषण करने की ही नहीं है, बल्कि उनके ऐतिहासिक अनुभवों, सामाजिक मूल्यों और उनकी व्यावहारिक आचरण पद्धतियों की छानबीन करने की भी है। अपनी ग्रहण-क्षमता द्वारा लेखक को इन्हें सृजनात्मक और सैद्धांतिक रूप देना चाहिए। लेखक को चाहिए कि वह निहित स्वार्थों द्वारा भड़कायी गयी अंधराष्ट्रवादी और पृथकतावादी प्रवृत्तियों का विरोध करे और अनुभव और अभिव्यक्तियों के आदान-प्रदान को बल प्रदान करे। भारत में प्रगतिशील लेखक संघ को ही लें। यह इस दृष्टि की ठोस अभिव्यक्ति था। फिर वह स्वाधीनता के बाद विघटित क्यों हो गया? आज़ादी से पहले स्वतंत्रता आंदोलन में साम्राज्यवाद-विरोध के समान उद्देश्य ने उसे एकजुट बनाये रखा। लेकिन, आज़ादी के बाद देश की नयी परिस्थितियों में ऐसा कोई समान आधार नहीं बन सका। इसलिए, यह आंदोलन टूट गया। मैं यहां सीमित अर्थों में किसी दल या राजनीतिक उद्देश्य से प्रतिबद्ध किसी लेखक संगठन का आह्वान नहीं कर रहा हूं। इस तरह के किसी भी प्रस्ताव को आम लेखक स्वीकार नहीं करेंगे। मेरा मतलब आज़ादी के बाद की नयी सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों के संदर्भ में एक व्यापक आधार वाला संगठन बनाने से है। इन परिस्थितियों में ऐसे किसी नये सामाजिक-राजनीतिक आदर्श स्थापित न कर सकने के कारण ही प्रगतिशील लेखक संघ टूट गया था।

प्रश्न : साम्राज्यवाद ने सचेत रूप से लोगों को बांटने के लिए जो कुछ दिया, उसके संबंध में आपके क्या विचार हैं?

फ़ैज़ : हमारे उपमहाद्वीप में सत्ता हस्तांतरण के दौरान साम्राज्यवादियों की तिकड़में अपने नंगे रूप में सामने आयीं। ब्रिटिश शासकों ने विभिन्न जातीयताओं और वर्गों के लिए अनेक तरीक़े अख़्तियार किये जिससे वे ब्रिटिश शासन की जूठन के टुकड़ों के लिए आपस में लड़ना शुरू कर दें। ये तरीक़े क्या थे? एक सवाल था विधानसभाओं में सीटें देने का। उन्होंने सांप्रदायिक आधार पर, भूस्वामियों, नवाबों और राजाओं को विशेष छूट देकर तथा एक ख़ास मात्रा में कर

देनेवाले ऊपरी तबकों को ये सीटें दीं। उसके बाद सेवाओं में आरक्षण का सवाल था, जो पिछड़े हिस्सों को न देकर सांप्रदायिक आधार पर तय किया गया और अंततः शिक्षा को भी सांप्रदायिक आधार पर संगठित किया गया। उन्होंने भाषा के संबंध में जो नीतियां अपनायीं उन्हें विभिन्न निहित स्वार्थों के प्रतिनिधि उन नेताओं ने जनता में प्रचारित किया जिनका उद्देश्य था जनता के हितों के नाम पर अपने क्षुद्र स्वार्थों को सामने रखना। ये नीतियां बहुत ही घातक थीं और गहरी जड़ें जमा चुकी थीं। साथ ही आदर्श हिंदू और आदर्श मुस्लिम अतीत की काल्पनिक तस्वीर बनाकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर हमारी संस्कृति और साहित्य के लिए केवल औपनिवेशिक विचारधारा को ही आधार रूप में प्रस्तुत करना ब्रिटिश शासकों का उद्देश्य था। इससे हिंदी-उर्दू का झमेला खड़ा हुआ। उर्दू ही हिंदी थी जो अपने में एक फ़ारसी शब्द है, वास्तव में इन दोनों की लिपियां अलग-अलग हैं, लेकिन इनका मुहावरा एक ही है। प्रेमचंद ने बिना भाषा को बदले हिंदी और उर्दू में लिखा। आग़ा हश्र कश्मीरी हिंदुस्तानी रंगमंच के जनक थे जिन्होंने *पूरन भगत* जैसी हिंदू दंतकथा के साथ ही *लैला मजनूं* की कथा को भी प्रसारित किया, और साथ ही शेक्सपियर के *मर्चेंट आफ़ वेनिस* का *यहूदी की लड़की* नाम से भावानुवाद प्रस्तुत किया। फ़िल्मों की भाषा भी इसका एक और प्रमाण है कि इन दोनों में एक सामान्य मुहावरा मौजूद है। हालांकि, यह सच है कि अधिकांश फ़िल्मों का लोगों पर बड़ा घातक असर पड़ता है और उनसे घटिया अभिरुचि को बढ़ावा मिला है, लेकिन सही दृष्टिकोण द्वारा इसे बदला भी जा सकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि गांधी जैसे स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं ने हिंदुस्तान के विकास के लिए प्रयास बड़े ही अधूरे मन से किये और वह भी तब जबकि बहुत देर हो चुकी थी।

प्रश्न : राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने इस समस्या के समाधान के लिए क्या किया?

फ़ैज़ : उन्होंने भी पुलिस और रक्षा आदि के प्रशासन के उसी तंत्र को अपनाया, जिसे ब्रिटिश छोड़ गये थे। इस ढांचे के साथ ही उन्होंने उससे जुड़े सामाजिक-आर्थिक शोषण और सामाजिक दमन को भी जारी रखा। इसलिए, आर्थिक रूप से जो चीज़ पैदा हुई वह थी सामंतवाद और पूंजीवाद की सांठगांठ, न कि एक जनतांत्रिक समाज। उसने सामंतवाद और पूंजीवाद की विकृतियों को तो अपनाया, लेकिन उनकी अच्छी चीज़ों को छोड़ दिया। उन्होंने उसी पुरानी व्यवस्था को अपना लिया और कभी भी आधारभूत ढांचे को बदलने की चिंता नहीं की।

प्रश्न : राष्ट्रीय एकता में आपके अनुसार लेखकों और बुद्धिजीवियों की क्या भूमिका है? वह हमारे उपमहाद्वीप में विभिन्न जातीयताओं और जातीय अल्पमतों की ज़रूरतों को कहां तक पूरा करती है?

फ़ैज़ : लेखक यथार्थ का उसी रूप में बोध करता है, जैसा वह है। वह उसकी संपूर्ण असंगतियों और अंतर्विरोधों के साथ उसे अभिव्यक्ति देता है। वह राज्य की मशीनरी का नियंता नहीं है। वह अपने पाठकों की चेतना को बदलने का प्रयत्न कर सकता है जिससे वे भी ठीक उसी की नज़र से देखें और उसी की तरह महसूस करें। एक तरह से वह हमारे समाज में वैसी ही भूमिका अदा करता है जैसी अतीत में हमारे गांवों में सूफ़ियों, भक्तों और मानवतावादी चिंतकों ने की। हालांकि, उसकी आधारभूत राजनीति उसका लेखन ही है, लेकिन वह तभी प्रभावी हो सकता

है जब वह लोगों की ज़िंदगी के अनुभवों में हिस्सा ले, अर्थात् उनकी राजनीति में भागीदार बने। इसका यह क़तई अर्थ नहीं है कि वह पूर्णकालिक राजनीतिज्ञ बन जाये, लेकिन उसके लिए ज़रूरी है कि वह आम लोगों के राजनीतिक जीवन में हिस्सेदार हो और उनके अनुभव में शरीक हो। बोध के माध्यम के रूप में लेखक के लिए ज़रूरी है कि वह व्यक्तिगत रूप में भावना और अनुभूति की ज़मीन पर जनता से अपनी एकात्मता स्थापित करे। इसे शाब्दिक रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। वियतनाम के संबंध में लिखते समय ज़रूरी नहीं है कि मैं वियतनाम ही जाऊं। मैं अपनी समझ से भी वहां के बारे में लिख सकता हूं।

प्रश्न : आपने किन जातीय अल्पमतों के बीच कार्य किया है? और आपके अनुभव क्या रहे हैं?

फ़ैज़ : ट्रेड यूनियन आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं के बीच जातीयताओं का प्रश्न उतना प्रमुख नहीं होता। लेकिन, विभाजन के बाद लेखकों और छात्रों के बीच यह सवाल महत्वपूर्ण बन गया। 1960 में राष्ट्रीय भाषाओं की समस्या का अध्ययन करने के लिए बनी प्रथम समिति का मैं एक सदस्य था। हमने इस दृष्टि से एक रिपोर्ट तैयार की कि सभी जातीय संस्कृतियों को विकास का समान अधिकार है और इसका राष्ट्रीय एकता से कोई विरोध नहीं है। छठे दशक के अंत में मैं उस समिति का अध्यक्ष था, जो अधिक बड़ी और प्रतिनिधित्व की दृष्टि से अधिक लोकतांत्रिक थी। हम प्रश्न की गहराई में गये, 500 लोगों से मिले तथा पेशावर से लेकर चटगांव तक के क़रीब तीन सौ सांस्कृतिक संगठनों से संपर्क स्थापित करने में सफल रहे। इस आधार पर हमने एक विस्तृत रिपोर्ट बनायी, जिसे भुट्टो सरकार ने स्वीकार किया। उसके परिणामस्वरूप 1972 में पाकिस्तान में कला और संस्कृति की राष्ट्रीय परिषद का गठन हुआ। इसके द्वारा हमने लोक संस्कृति के विकास के लिए कुछ अच्छा काम किया। हमारे देश में जहां क्लासिक परंपरा सब लोगों के बीच एक समान है, वहीं लोक कला की परंपरा हर क्षेत्र में अलग-अलग रही है। उसका एक प्रतिनिधि संकलन निकालकर आप उन पर समान तत्वों को देख सकते हैं जो उनके निर्माण के पीछे रहे हैं। बहुत-सी सांस्कृतिक विशेषताएं ऐसी हैं जिनका निर्धारण जातीय कारणों से नहीं, बल्कि भौगोलिक परिस्थिति और अन्य कारणों से होता है। ये कारण जातीय सीमाओं को तोड़ देते हैं। मुझे यह बात बराबर याद रही है कि कैसे बड़े ग़ुलाम अली ख़ां पहाड़ी रागों से बने पहाड़ी गीतों और आल्प्स और स्पेन की पहाड़ियों के गीतों की समानता उद्घाटित कर देते थे। आज हमारे बीच ऐसे अनेक रचनाकार मौजूद हैं जो हमारी बहुजातीय जनसमूह की आक़ांक्षाओं को मुखर करते हैं। इसमें से कुछेक नाम गिनवाऊं सिंधी के कवि शेख़ अयाज़, बलूची के गुल ख़ां नसीर, पश्तो के अजमल खटक और पंजाबी के मुनीर नियाजी।

प्रश्न : आपने एक लेखक के रूप में अपनी जन्मजात संस्कृति की सीमाओं और पूर्वाग्रहों पर विजय कैसे पायी?

फ़ैज़ : अपने से बड़ी चीज़ के साथ इनसान को एक होना होता है। मैं अमृतसर में जब अध्यापक था तो ट्रेड यूनियन आंदोलन के संपर्क में आया। मैंने मुख्य रूप से कपड़ा मिल के मज़दूरों के बीच, जिनमें अधिकांश बुनकर थे, इस्लामाबाद क्षेत्र के छहरटा क़स्बे में काम किया। हम वहां रात को जाते थे और उन्हें पढ़ाते थे। आज़ादी के बाद मैं लाहौर चला गया। वहां मैंने डाक मज़दूर यूनियन और रेलवे कर्मचारियों के बीच काम किया। उनके अध्यक्ष मिर्ज़ा इब्राहीम

अधिकांश समय जेल में ही रहे। उनकी जगह मैंने उपाध्यक्ष के रूप में काम किया। पाकिस्तानी मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मैं विश्व श्रम संगठन के सम्मेलन में डेलीगेट बनाकर भेजा गया। यह मेरा पहला विदेशी दौरा था। ट्रेड यूनियन आंदोलन के साथ इस लगातार संपर्क ने मुझे अपनी तंग हदों से ऊपर उठा दिया।

प्रश्न : आपकी राय में वे कौन से गुण हैं जिनका लेखकों और बुद्धिजीवियों को अपने अंदर विकास करना चाहिए जिससे कि वे निहित स्वार्थों और साम्राज्यवादियों द्वारा सांस्कृतिक और भाषायी आधार पर जनता में फूट डालने की तिकड़मों से लड़ सके?

फ़ैज़ : पहले तो उन्हें अच्छा लेखक और बुद्धिजीवी बनना चाहिए। बुरे लेखन और अधकचरे विचारों का कोई असर नहीं पड़ता। चाहे उनमें भरी हुई भावना कितनी ही अच्छी क्यों न हो! उनको सामाजिक यथार्थ की सतह के नीचे जाकर यथार्थ को पकड़ने में सक्षम होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सार से थोथे को अलग करने में लेखक को समर्थ होना चाहिए। सबसे ज़रूरी चीज़ है कि वह कभी भी अपनी ग़लत आवश्यकताओं के अनुसार यथार्थ को ग़लत रूप में पेश न करे। वह जीवन की संपूर्णता पर ही सारा ध्यान केंद्रित करे और अपनी व्यक्तिगत विकृतियों में ही फंसकर न रह जाये। लेखक वही कहे जो लोग कहना चाहते हैं, लेकिन कह नहीं पाते। लेखकों को गूंगी जनता के बहुमत की आवाज़ बनना चाहिए, जिसे वह अपनी आवाज़ मान सके। समस्या का समाधान तो जनता ही करेगी, लेखक नहीं। लेकिन, लेखक कम से कम स्पष्ट रूप में समस्याओं को सामने रखने में मदद तो कर ही सकते हैं।

मो. : 09868210135

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के महत्वपूर्ण प्रकाशन

नये प्रकाशन

सितम की इन्तिहा क्या है/सत्येन्द्र कुमार तनेजा 500.00
पंजाबी नाटक और रंगमंच की एक सदी/ सतीश कुमार वर्मा 125.00
प्रवासी की कलम से/बादल सरकार, अनु: प्रतिभा अग्रवाल 300.00
रंग दस्तावेज़ : सौ साल (दो खंडों में)/ सं. महेश आनंद 2500.00
उर्दू थिएटर कल और आज/ सं. मख़मूर सईदी, अनीस आज़मी 250.00
रंग हबीब/भारत रत्न भार्गव 250.00
नुक्कड नाटक : रचना और प्रस्तुति/प्रज्ञा 175.00
रंग भूमिकाए/मुद्राराक्षस 150.00
भारतीय रंग कोश-भाग-2/प्रतिभा अग्रवाल 400.00
परंपराशील नाट्य/जगदीश चंद्र माथुर 160.00
गिर्राज प्रसाद/डॉ. शरद नागर 200.00
मोहन उप्रेती : द मैन एंड हिज़ आर्ट/दीवान सिंह बजेली 300.00

विविध

कहानी का रंगमंच/सं. महेश आनंद 300.00
अंधा युग : पाठ और प्रदर्शन/जयदेव तनेजा 280.00
जयशंकर प्रसाद : रंगदृष्टि, भाग-1/महेश आनंद 350.00
जयशंकर प्रसाद : रंगसृष्टि, भाग-2/महेश आनंद 750.00
रंगभाषा/गिरीश रस्तोगी 300.00
पुत्री का कथन/सांओली मित्र 150.00
हे सामाजिक/डॉ. सुरेश अवस्थी 400.00
स्तानिस्लावस्की : भूमिका की संरचना/ डॉ. विश्वनाथ मिश्र 350.00
स्तानिस्लावस्की : चरित्र की रचना-प्रक्रिया/ डॉ. विश्वनाथ मिश्र 300.00
स्तानिस्लावस्की : अभिनेता की तैयारी/ डॉ. विश्वनाथ मिश्र 300.00
बेताब चरित/नारायण प्रसाद 'बेताब' 95.00
कुछ आंसू कुछ फूल : जयशंकर सुंदरी/दिनेश खन्ना 225.00
नाट्य विमर्श (मोहन राकेश)/सं. जयदेव तनेजा 195.00
अभिनय चिंतन/दिनेश खन्ना 350.00
रंगयात्रा/सं. सुरेश शर्मा 350.00
रंगमंच के सरताज पृथ्वीराज/योगराज टंडन 250.00
ग्रीक नाट्य कला कोश/डां.कमल नसीम 250.00
मेरा नाटक काल/कविरत्न पं. राधेश्याम कथावाचक 225.00
रंग स्थापत्य : कुछ टिप्पणियां/एच. वी. शर्मा 95.00
भारतीय रंग कोश, भाग-1/सं. प्रतिभा अग्रवाल 500.00
भारत रंग महोत्सव : एक परिदृश्य/ सं. चंद्रदत्त तिवारी 1000.00
भारत रंग महोत्सव/सं. सोनल परमार 500.00

नाटक

अंधार यात्रा (गो. पु. देशपांडे)/अनु. वसंत देव 125.00
विक्रम सैंधव (शैक्सपीयर)/अनु. अरविंद कुमार 150.00
रास्ते (गो. पु. देशपांड)/अनु. ज्योति सुभाष 125.00
मृच्छकटिकम् (शूद्रक)/अनु. मोहन राकेश 225.00
महाकवि कालिदास कृत शाकुंतल/अनु. मोहन राकेश 225.00
महाकवि कालिदास कृत विक्रमोर्वशीयम्/ अनु. इंदुजा अवस्थी 125.00
बेगम बर्वे (सतीश आलेकर)/अनु वसंद देव 125.00
दांतों की मौत (जार्ज ब्युखनर)/अनु. जे. एन. कौशल 125.00
हिम्मतमाई (बर्तोल्त ब्रेष्ट)/अनु. नीलाभ 150.00
एक शून्य बाजीराव (चिं. त्र्यं. खानोलकर)/ अनु. कमलाकर सोनटक्के 150.00
आगा हश्र काश्मीरी के चुनिंदा ड्रामे भाग 1/ सं. अनीस आज़मी 550.00
आगा हश्र काश्मीरी के चुनिंदा ड्रामे भाग 2/ सं. अनीस आज़मी 550.00

रंग व्यक्तित्व

शीला भाटिया/सं. जे. एन. कौशल 200.00
रेखा जैन/महेश आनंद 150.00
मनोहर सिंह/जयदेव तनेजा 175.00
बी.एम. शाह/सं. जयदेव तनेजा 250.00
नेमिचंद्र जैन/मुद्राराक्षस 125.00

पत्रिका

रंग प्रसंग 2 से 4 /सं. प्रयाग शुक्ल 25.00 प्रत्येक
रंग प्रसंग 5 से 36 /सं. प्रयाग शुक्ल 50.00 प्रत्येक
रंग प्रसंग 37 /सं. नीलाभ 50.00 प्रत्येक

रंग प्रसंग त्रैमासिक पत्रिका के अब तक कई विशेष अंक प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें पारसी रंगमंच और मुखौटों, कठपुतलियों, बाल रंग-मंच और माइम से संबंधित विशेष अंक उल्लेखनीय हैं।

अधिक जानकरी के लिए कृपया निम्न पते पर संपर्क करें :

विक्रय एवं प्रकाशन विभाग

बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड, नयी दिल्ली - 110001

दूरभाष : 011-23389402, 23387916,23382821 एक्सटेंशन-61 (D) 23387563

E-mail: nsdr@rediffmail.com, Website : www.nsd.gov.in

खंड तीन

चुनी हुई रचनाएं

रख दी है हरेक हलका़-ए-ज़ंजीर में ज़बां मैंने

ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या केः रख दी है
हर एक हलका़-ए-ज़ंजीर में जबां मैंने

नज़्में और ग़ज़लें

फ़ैज़ की शायरी का यह खंड ***सारे सुखन हमारे*** *(सं. अब्दुल बिस्मिल्लाह, प्रकाशकः राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नयी दिल्ली) से अनुमतिपूर्वक साभार लिया गया है। सं.*

दोनों जहान तेरी मुहब्बत में हार के
वो जा रहा है कोई शबे-ग़म गुज़ार के

वीरां है मयकदा, ख़ुमो-साग़र उदास हैं
तुम क्या गये कि रूठ गये दिन बहार के

इक फ़ुर्सते-गुनाह मिली, वो भी चार दिन
देखे हैं हमने हौसले परवरदिगार के

दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझ से भी दिलफ़रेब हैं ग़म रोज़गार के

भूले से मुस्करा तो दिये थे वो आज 'फ़ैज़'
मत पूछ वलवले दिले-नाकर्दाकार[1] के

1. अनुभवहीन दिल

कई बार इसका दामन भर दिया हुस्ने-दो आलम[1] से
मगर दिल है कि उसकी ख़ानावीरानी नहीं जाती

कई बार इसकी ख़ातिर ज़र्रे-ज़र्रे का जिगर चीरा
मगर ये चश्मे-हैरां, जिसकी हैरानी नहीं जाती

नहीं जाती मताए-लालो-गौहर[2] की गरांयाबी[3]
मताए-ग़ैरतो-ईमां[4] की अरज़ानी[5] नहीं जाती

मेरी चश्मे-तन आसां[6] को बसीरत[7] मिल गयी जब से
बहुत जानी हुई सूरत भी पहचानी नहीं जाती

सरे-खुसरौ[8] से नाज़े-कजकुलाही[9] छिन भी जाता है
कुलाहे-खुसरौ[10] से बू-ए-सुल्तानी नहीं जाती

ब-जुज़ दीवानगी वां और चारा ही कहो क्या है
जहां अक़्लो-ख़िरद[11] की एक भी मानी नहीं जाती

1. लोक-परलोक की सुंदरता, 2. हीरे-मोती की दौलत, 3. महंगापन 4. स्वाभिमान और सच्चाई की दौलत, 5. सस्तापन, 6. आलसी, निकम्मा, 7. ज्ञान-चक्षु, देखने की शक्ति, 8. बादशाह खुसरौ का सर, 9. राजत्व का गौरव, 10. खुसरौ का ताज, 11. समझ-बूझ

इज्ज़े-अह्ले-सितम[1] की बात करो
इश्क़, के दम-क़दम की बात करो

बज़्मे-अह्ले-तरब[2] को शरमाओ
बज़्मे-असहाबे-ग़म[3] की बात करो

बज़्मे-सरवत[4] के ख़ुशनसीबों से
अज़्मते-चश्मे-नम[5] की बात करो

है वही बात यूं भी और यूं भी
तुम सितम या करम की बात करो

ख़ैर हैं अह्ले-दैर जैसे हैं
आप अह्ले-हरम की बात करो

हिज्र की शब तो कट ही जायेगी
रोज़े-वस्ले-सनम[6] की बात करो

जान जायेंगे जानने वाले
'फ़ैज़' फ़रहादो-जम[7] की बात करो

1. अत्याचार करनेवालों की बेबसी, 2. सुखी लोग, 3. दुखी लोगों की दुनिया, 4. समृद्धि की महफ़िल, 5. भीगी आंखों की महानता, 6. प्रिय-मिलन का दिन, 7. फ़रहाद और बादशाह जमशेद

रंग पैराहन का, ख़ुशबू ज़ुल्फ़ लहराने का नाम
मौसमे-गुल है तुम्हारे बाम पर आने का नाम

दोस्तो उस चश्मो-लब की कुछ कहो जिसके बग़ैर
गुलसितां की बात रंगीं है न मयख़ाने का नाम

फिर नज़र में फूल महके, दिल में फिर शम्एं जलीं
फिर तसव्वुर ने लिया उस बज़्म में जाने का नाम

दिलबरी ठहरा ज़बाने-ख़ल्क़[1] खुलवाने का नाम
अब नहीं लेते परी-रू[2] ज़ुल्फ़ बिखराने का नाम

अब किसी लैला को भी इक़रारे-महबूबी नहीं
इन दिनों बदनाम है हर एक दीवाने का नाम

मुहतसिब की ख़ैर, ऊंचा है उसी के फ़ैज़ से
रिंद का, साक़ी का, मय का, ख़ुम का, पैमाने का नाम

हमसे कहते हैं चमन वाले, ग़रीबाने-चमन[3]
तुम कोई अच्छा-सा रख लो अपने वीराने का नाम

'फ़ैज़' उनको है तक़ाज़ा-ए-वफ़ा हमसे जिन्हें
आशना के नाम से प्यारा है बेगाने का नाम

1. दुनिया की ज़बान, 2. परियों जैसे चेहरेवाले, 3. जो चमन से बाहर चले गये या कर दिये गये

अब वही हर्फ़े-जुनूं[1] सबकी ज़बां ठहरी है
जो भी चल निकली है, वो बात कहां ठहरी है

आज तक शैख़ के इकराम[2] में जो शै थी हराम
अब वही दुश्मने-दीं[3] राहते-जां[4] ठहरी है

है ख़बर गर्म कि फिरता है गुरेज़ां[5] नासेह
गुफ़्तगू आज सरे-कू-ए-बुतां[6] ठहरी है

है वही आरिज़े-लैला,[7] वही शीरीं का दहन[8]
निगाहे-शौक़ घड़ी-भर को जहां ठहरी है

वस्ल की शब थी तो किस दर्जा सुबुक[9] गुज़री थी
हिज्र की शब है तो क्या सख़्तगरां ठहरी है

बिखरी इक बार तो हाथ आयी है कब मौजे-शमीम
दिल से निकली है तो कब लब पे फ़ुग़ां ठहरी है

दस्ते-सैयाद[10] भी आजिज़ है, कफ़े-गुलचीं[11] भी
बू-ए-गुल ठहरी न बुलबुल की ज़बां ठहरी है

आते-आते यूं ही दम भर को रुकी होगी बहार
जाते-जाते यूं ही पल-भर को ख़िज़ां ठहरी है

हमने जो तर्ज़े-फ़ुग़ां की है क़फ़स में ईजाद
'फ़ैज़' गुलशन में वहीं तर्ज़े-बयां ठहरी है

1. उन्माद का शब्द, 2. अनुकंपा, कृपादृष्टि, 3. दीन-धर्म की दुश्मन, 4. प्राणों को सुख देनेवाली, 5. भागा-भागा, 6. हसीनों की गली में, 7. लैला के गाल, 8. मुंह, 9. हल्की 10. शिकारी का हाथ, 11. फूल चुननेवाले का हाथ

सितम की रस्में बहुत थीं लेकिन, न थीं तेरी अंजुमन से पहले
सज़ा ख़ता-ए-नज़र से पहले, इताब[1] जुर्मे-सुख़न से पहले

जो चल सको तो चलो कि राहे-वफ़ा बहुत मुख़्तसर हुई है
मुक़ाम है अब कोई न मंज़िल, फ़राज़े-दारो-रसन[2] से पहले

नहीं रही अब जुनूं की ज़ंजीर पर वो पहली इज़ारेदारी
गिरफ़्त करते हैं करनेवाले ख़िरद[4] पे दीवानापन से पहले

करे कोई तेग़ का नज़ारा, अब उनको यह भी नहीं गवारा
ब-ज़िद है क़ातिल कि जाने-बिस्मिल फ़िगार[3] हो जिस्मो-तन से पहले

गुरूरे-सर्वो-समन से कह दो कि फिर वही ताजदार होंगे
जो ख़ारो-ख़स वाली-ए-चमन थे उरूजे-सर्वो-समन[5] से पहले

इधर तक़ाज़े हैं मसलहत के, उधर तक़ाज़ा-ए-दर्दे-दिल है
ज़बां संभाले के दिल संभाले, असीर[6] ज़िक्रे-वतन से पहले

हैदराबाद जेल, 17-22 मई, 1954

1. कोप, 2. फांसी का तख्ता, 3. अक़्ल, 4. घायल, 5. सरो के लंबे गर्वीले पेड़ और चमेली की बेल के उत्थान, 6. बंदी,

कब याद में तेरा साथ नहीं, कब हात में तेरा हात नहीं
सद शुक्र कि अपनी रातों में अब हिज्र की कोई रात नहीं

मुश्किल हैं अगर हालात वहां, दिल बेच आयें जां दे आयें
दिलवालो कूचा-ए-जानां में क्या ऐसे भी हालात नहीं

जिस धज से कोई मक़तल में गया, वो शान सलामत रहती है
ये जान तो आनी-जानी है, इस जां की तो कोई बात नहीं

मैदाने-वफ़ा दरबार नहीं, यां नामो-नसब[1] की पूछ कहां
आशिक़ तो किसी का नाम नहीं, कुछ इश्क़ किसी की ज़ात नहीं

गर बाज़ी इश्क़ की बाज़ी है, जो चाहो लगा दो डर कैसा
गर जीत गये तो क्या कहना, हारे भी तो बाज़ी मात नहीं

मंटगोमरी जेल

1. नाम और ख़ानदान

गुलों में रंग भरे बादे-नौबहार चले
चले भी आओ कि गुलशन का कारोबार चले

क़फ़स उदास है यारो सबा से कुछ तो कहो
कहीं तो बह्रे-ख़ुदा आज ज़िक्रे-यार चले

कभी तो सुब्ह तेरे कुंजे-लब[1] से हो आग़ाज
कभी तो शब सरे-काकुल[2] से मुश्कबार चले

बड़ा है दर्द का रिश्ता ये दिल ग़रीब सही
तुम्हारे नाम पे आयेंगे ग़मगुसार चले

जो हम पे गुज़री सो गुज़री मगर शबे-हिज्रां
हमारे अश्क तेरी आक़बत संवार चले

हुज़ूरे-यार हुई दफ़्तरे-जुनूं की तलब
गिरह में लेके गरेबाने-तार-तार चले

मुक़ाम, 'फ़ैज़' कोई राह में जंचा ही नहीं
जो कू-ए-यार से निकले तो सू-ए-दार चले

मंटगोमरी जेल, 29 जनवरी, 1954

1. होंठ का कोना, 2. लटों का सिरा

गर्मि-ए-शौक़े-नज़ारा[1] का असर तो देखो
गुल खिले जाते हैं वो सायए-दर तो देखो

ऐसे नादां भी न थे जां से गुज़रने वाले
नासेहो, पंदगरों[2], राहगुज़र तो देखो

वो तो वो है, तुम्हें हो जायेगी उल्फ़त मुझसे
इक नज़र तुम मेरा महबूबे-नज़र तो देखो

वो जो अब चाक गरेबां भी नहीं करते हैं
देखनेवालो, कभी उनका जिगर तो देखो

दामने-दर्द को गुलज़ार बना रक्खा है
आओ, इक दिन दिले-पुरख़ूं[3] का हुनर तो देखो

सुब्ह की तरह झमकता है शबे-ग़म का उफ़क़
'फ़ैज़' ताबंदगिए-दीद-ए-तर तो देखो

मंटगोमरी जेल, 4 मार्च, 1955

1. दर्शन की अभिलाषा का उत्साह, 2. उपदेश देनेवालो, 3. ख़ून से भरा हुआ दिल

जमेगी कैसे बिसाते-यारां कि शीशा-ओ-जाम बुझ गये हैं
सजेगी कैसे शबे-निगारां[1] कि दिल सरे-शाम बुझ गये हैं

वो तीरगी[2] है रहे-बुतां में चिराग़े-रुख़ है न शम्ए-वादा
किरन कोई आरज़ू की लाओ कि सब दरो-बाम बुझ गये हैं

बहुत संभाला वफ़ा का पैमां मगर वो बरसी है अबके बरखा
हर एक इक़रार मिट गया है, तमाम पैग़ाम बुझ गये हैं

क़रीब आ ऐ महे-शबे-ग़म[3] नज़र पे खुलता नहीं कुछ इस दम
कि दिल पे किस-किसका नक़्श बाक़ी है कौने से नाम बुझ गये हैं

बहार अब आके क्या करेगी कि जिनसे था जश्ने-रंगो-नग़्मा
वो गुल सरे-शाख़ जल गये हैं, वो दिल तहे-दाम बुझ गये हैं

1. प्रेमिकाओं की रात, 2. अंधेरा, दर्द की रात के चांद

तेरे ग़म को जां की तलाश थी, तेरे जां-निसार चले गये
तेरी रह में करते थे सर तलब, सरे-रहगुज़ार चले गये

तेरी कज-अदाई[1] से हारके शबे-इंतज़ार चली गयी
मेरे ज़ब्ते-हाल[2] से रूठ कर मेरे ग़मगुसार चले गये

न सवाले-वस्ल, न अर्ज़े-ग़म, न हिक़ायतें न शिकायतें
तेरे अह्द[3] में दिले-ज़ार के सभी इख़्तियार चले गये

ये हमीं थे जिनके लिबास पर सरे-रू सियाही लिखी गयी
यही दाग़ थे जो सजा के हम सरे-बज़्मे-यार चले गये

न रहा जुनूने-रुख़े-वफ़ा, ये रसन ये दार करोगे क्या
जिन्हें जुर्मे-इश्क़ पे नाज़ था वो गुनाहगार चले गये

जुलाई, 1959

1. ख़ामोशी, 2. अपनी दशा पर संतोष, 3. वफ़ा की क़सम

न गंवाओ नावके-नीमकश[1], दिले-रेज़ा-रेज़ा गंवा दिया
जो बचे है संग समेट लो, तने-दाग़-दाग़ लुटा दिया

मेरे चारागर को नवेद[2] हो, सफ़े-दुश्मनां को ख़बर करो
जो वो कर्ज़ रखते थे जान पर वो हिसाब आज चुका दिया

करो कज जबीं पे सरे-कफ़न, मेरे क़ातिलों को गुमां न हो
कि ग़ुरूरे-इश्क़ का बांकपन पसे-मर्ग[3] हमने भुला दिया

उधर एक हर्फ़ कि कुश्तनी[4], यहां लाख उज्र[5] था गुफ़्तनी[6]
जो कहा तो सुन के उड़ा दिया, जो लिखा तो पढ़के मिटा दिया

जो रुके तो कोहे-गरां[7] थे हम, जो चले तो जां से गुज़र गये
रहे-यार हमने क़दम-क़दम तुझे यादगार बना दिया

1. आधा खिंचा हुआ तीर, 2. ख़ुशख़बरी, 3. मरने के बाद, 4. मार देनेवाला, 5. विवशता, 6. कहने योग्य, 7. बहुत बड़ा पहाड़

ये मौसमे-गुल गर्चे तरबख़ेज़[1] बहुत है
अहवाले-गुलो-लाला ग़मअंगेज़[2] बहुत है

ख़ुश[3] दावते-यारां भी है, यल्ग़ारे-उदू[4] भी
क्या कीजिये दिल का जो कमआमेज़[5] बहुत है

यों पीरे-मुग़ां[6] शैख़े-हरम[7] से हुए यक्जां[8]
मयख़ाने में कमज़र्फ़िए-परहेज़[9] बहुत है

इक गर्दने-मख़लूक़[10] जो हर हाल में ख़म[11] है
इक बाज़ुए क़ातिल है, कि ख़ूरेज़[12] बहुत है

क्यों मश्अले-दिल[13] 'फ़ैज़' छुपाओ तहे-दामां
बुझ जायेगी यों भी, कि हवा तेज़ बहुत है

1975

1. आनंदवर्धक, 2. दुःखद, 3. प्रसन्नता की बात, 4. दुश्मन का हमला, 5. मिलना-जुलना कम पसंद करनेवाला, 6. पीनेवालों यानी मस्तों के सरदार, 7. धर्मगुरु, 8. एकजान, 9. परहेज़ की तंगदिली, 10. अवाम की गर्दन, 11. टेढ़ी, 12. ख़ून बहानेवाला, 13. दिल की मशाल।

मख़दूम* की याद में-1

'आपकी याद आती रही रात भर'
चांदनी दिल दुखाती रही रात भर

गाह जलती हुई, गाह बुझती हुई
शम-ए-ग़म झिलमिलाती रही रात भर

कोई ख़ुशबू बदलती रही पैरहन[1]
कोई तस्वीर गाती रही रात भर

फिर सबा[2] साय-ए-शाख़े-गुल[3] के तले
कोई क़िस्सा सुनाती रही रात भर

जो न आया उसे कोई ज़ंजीरे-दर[4]
हर सदा पर बुलाती रही रात भर

एक उम्मीद से दिल बहलता रहा
इक तमन्ना सताती रही रात भर

मास्को, सितंबर, 1978

---

* *उर्दू के मशहूर कवि, जिन्होंने तेलंगाना आंदोलन में हिस्सा लिया था। उनकी दो ग़ज़लों से प्रेरित होकर फ़ैज़ ने दो ग़ज़लें लिखी हैं।*

1. वस्त्र, 2. हवा, 3. फूल की टहनी की छाया, 4. दरवाज़े की सांकल।

एक दक्खनी ग़ज़ल

कुछ पहले इन आंखों आगे क्या क्या न नज़ारा गुज़रे था
क्या रौशन हो जाती थी गली जब यार हमारा गुज़रे था

थे कितने अच्छे लोग कि जिनको अपने ग़म से फ़ुर्सत थी
सब पूछे थे अहवाल[1] जो कोई दर्द का मारा गुज़रे था

अब के तो ख़िज़ां[2] ऐसी ठहरी वो सारे ज़माने भूल गये
जब मौसमे-गुल[3] हर फेरे में आ आ के दुबारा गुज़रे था

थी यारों की बहुतात तो हम अग़यार[4] से भी बेज़ार न थे
जब मिल बैठे तो दुश्मन का भी साथ गवारा[5] गुज़रे था

अब तो हाथ सुझाइ न देवे लेकिन अब से पहले तो
आंख उठते ही एक नज़र में आलम सारा गुज़रे था

मास्को, अक्टूबर, 1978

1. दशा, 2. पतझड़, 3. बसंत, 4. ग़ैर, 5. सहन करना।

कब तक दिल की ख़ैर मनायें, कब तक रह दिखलाओगे
कब तक चैन की मोहलत[1] दोगे, कब तक याद ना आओगे

बीता दीद-उमीद[2] का मौसम, ख़ाक उड़ती है आंखों में
कब भेजोगे दर्द का बादल, कब बरखा, बरसाओगे

अह्दे-वफ़ा या तर्के-मुहब्बत[3], जो चाहो सो आप करो
अपने बस की बात ही क्या है, हमसे क्या मनवाओगे

किसने वस्ल का सूरज देखा, किस पर हिज्र की रात ढली
गेसुओं वाले[4] कौन थे क्या थे, उनको क्या जतलाओगे

'फ़ैज़' दिलों के भाग में है घर बसना भी, लुट जाना भी
तुम उस हुस्न के लुत्फ़ो-करम[5] पर कितने दिन इतराओगे

अक्टूबर, 1968

1. अवकाश, 2. देखने की आशा, 3. वफ़ादारी का प्रण या प्रेम-संबंध का विच्छेद, 4. जुल्फ़ोंवाले, 5. कृपाओं।

कहीं तो कारवाने - दर्द की मंज़िल ठहर जाये
किनारे आ लगे उम्रे - रवां या दिल ठहर जाये

अमां[1] कैसी कि मौजे - ख़ूं अभी सर से, नहीं गुज़री
गुज़र जाये तो शायद बाज़ुए क़ातिल ठहर जाये

कोई दम बादबाने-कश्तिए - सहबा[2] को तह रक्खो
ज़रा ठहरो ग़ुबारे - ख़ातिरे - महफ़िल[3] ठहर जाये

ख़ुमे - साक़ी में जुज़[4] ज़हरे - हलाहल कुछ नहीं बाक़ी
जो हो महफ़िल में इस इकराम[5] के क़ाबिल ठहर जाये

हमारी ख़ामुशी बस दिल से लब तक एक वक़्फ़ा[6] है
य' तूफ़ां है जो पल भर बर-लबे - साहिल ठहर जाये

निगाहे - मुंतज़िर[7] कब तक करेगा आइनाबंदी
कहीं तो दश्ते - ग़म[8] में यार का महमिल[9] ठहर जाये

---

1. शांति, सुरक्षा भाव, 2. शराब की कश्ती का बादबान, शराब के दौर को मस्ती के झोंके देनेवाली सोहबत ('कश्ती' शराब के एक क़िस्म के प्याले को भी कहते हैं), 3. महफ़िल के दिल का ग़ुबार, 4. सिवाय, 5. सत्कार, 6. बीच का अवकाश, 7. इंतज़ार करनेवाली निगाह, प्रतीक्षा दृष्टि, 8. दुख और संताप का बियाबान, 9. ऊंट पर स्त्रियों के बैठने के लिए बनी हुई डोलीनुमा जगह।

ख़ुदा वह वक़्त न लाये

ख़ुदा वह वक़्त न लाये कि सोगवार[1] हो तू
सुकूं की नींद तुझे भी हराम हो जाये
तेरी मसर्रते-पैहम[2] तमाम हो जाये
तेरी हयात तुझे तल्ख़ जाम हो जाये

ग़मों से आईन-ए-दिल गुदाज़[3] हो तेरा
हुजूमे-यास[4] से बेताब होके रह जाये
वफूरे-दर्द[5] से सीमाब[6] होके रह जाये
तेरा शबाब फ़क़त ख़्वाब होके रह जाये

गुरूरे-हुस्न सरापा नियाज़[7] हो तेरा
तवील रातों में तू भी क़रार को तरसे
तिरी निगाह किसी ग़मगुसार को तरसे
ख़िज़ांरसीदा तमन्ना बहार को तरसे

कोई जबीं न तिरे संगे-आस्तां[8] पे झुके
कि जिन्से-इज़्ज़ो-अक़ीदत[9] से तुझको शाद करे
फ़रेबे-वादा - ए-फ़र्दा[10] पे एतमाद करे
ख़ुदा वह वक़्त न लाये कि तुझको याद आये

वो दिल कि तेरे लिए बे-क़रार अब भी है
वो आंख जिसको तेरा इंतज़ार अब भी है

---

1. उदास, 2. निरंतर सुख, 3. नर्म, बोझिल, 4. निराशाओं की भीड़, 5. पीड़ा की अति, 6. पारा, 7. श्रद्धा, 8. चौखट का पत्थर, 9. नम्रता और श्रद्धा, 10. भविष्य के वादे का धोखा।

मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग

मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग
मैंने समझा था कि तू है तो दरख़्शां[1] है हयात[2]
तेरा ग़म है तो ग़मे-दह्र[3] का झगड़ा क्या है
तेरी सूरत से है आलम में बहारों को सबात[4]
तेरी आंखों के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है
तू जो मिल जाये तो तक़दीर नगूं[5] हो जाये
यूं न था, मैंने फ़क़त चाहा था यूं हो जाये

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी है वस्ल[6] की राहत के सिवा

अनगिनत सदियों के तारीक बहीमाना[7] तिलिस्म
रेशमो अतलसो किमख़्वाब में बुनवाये हुए
जा-ब-जा बिकते हुए कूचा-ओ-बाज़ार में जिस्म
ख़ाक में लिथड़े हुए, ख़ून में नहलाये हुए
जिस्म निकले हुए अमराज़[8] के तन्नूरों से
पीप बहती हुई गलते हुए नासूरों से
लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजे
अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजे

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा
मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग

---

1. चमकदार, 2. जीवन, 3. दुनिया का दुःख, 4. स्थिरता, 5. उलट जाना, बदल जाना, 6. प्रणय, मिलन, 7. पाशविक, बर्बर, 8. बीमारियां।

रक़ीब से

आ कि वाबस्ता[1] है उस हुस्न की यादें तुझसे
जिसने इस दिल को परीख़ाना बना रक्खा था
जिसकी उल्फ़त में भुला रक्खी थी दुनिया हमने
दहर्[2] को दहर का अफ़साना बना रक्खा था

आशना है तेरे क़दमों से वो राहें जिन पर
उसकी मदहोश जवानी ने इनायत की है
कारवां गुज़रे हैं जिनसे उसी रानाई[3] के
जिसकी इन आंखों ने बे सूद[4] इबादत[5] की है

तुझसे खेली हैं वो महबूब हवाएं जिनमें
उसके मलबूस[6] की अफ़सुर्दा[7] महक बाक़ी है
तुझ पे भी बरसा है उस बाम से महताब का नूर
जिसमें बीती हुई रातों की क़सम बाक़ी है

तूने देखी है वो पेशानी[8] वो रुख़सार[9] वो होंठ
ज़िंदगी जिनके तसव्वुर[10] में लुटा दी हमने
तुझपे उट्ठी हैं वो खोई हुई साहिर[11] आंखें
तुझ को मालूम है क्यों उम्र गवां दी हमने

हम पे मुश्तरिका[12] हैं एहसान ग़मे उल्फ़त के
इतने एहसान कि गिनवाऊं तो गिनवा न सकूं
हमने इस इश्क़ में क्या खोया है क्या सीखा है
जुज़[13] तेरे और को समझाऊं तो समझा न सकूं

आजिज़ी[14] सीखी ग़रीबों की हिमायत सीखी
यासो हिरमान[15] के दुख दर्द के मानी सीखे
ज़ेरदस्तों के मसाइब[16] को समझना सीखा
सर्द आहों के रुख़े-ज़र्द[17] के मानी सीखे

जब कहीं बैठ के रोते हैं वो बेकस जिनके
अश्क आंखों में बिलकते हुए सो जाते हैं
नातवानों[18] के निवालों पे झपटते हैं उक़ाब[19]
बाजू तोले हुए मंडलाते हुए आते हैं

जब कभी बिकता है बाज़ार में मज़दूर का ग़ोश्त
शाहराहों[20] पे ग़रीबों का लहू बहता है
या कोई तोंद का बढ़ता हुआ सैलाब लिये
फ़ाक़ामस्तों[21] को डुबोने के लिए कहता है
आग-सी सीने में रह रह के उबलती है न पूछ
अपने दिल पर मुझे क़ाबू ही नहीं रहता है

1. जुड़ी हुई, 2. दुनिया, 3. छटा, 4. व्यर्थ, 5. उपासना, पूजा, 6. वस्त्र, 7. उदास, 8. माथा, 9. गाल, 10. कल्पना, 11. जादूगर, 12. समान, 13. अतिरिक्त, 14. विनम्रता, 15. आशा व निराशा, 16 निर्बलों की व्यथाएं, 17. पीला चेहरा, 18. शक्तिहीन, 19. गीध, 20. राजपथ, 21. फ़ाक़ा कर रहे, मूर्ख

तनहाई

फिर कोई आया दिले-ज़ार नहीं कोई नहीं
राहरौ[1] होगा, कहीं और चला जायेगा
ढल चुकी रात, बिखरने लगा तारों का ग़ुबार[2]
लड़खड़ाने लगे एवानों[3] में ख़्वाबीदा चिराग़
सो गयी रास्ता तक-तक के हर इक राहगुज़ार
अजनबी ख़ाक ने धुंदला दिये क़दमों के सुराग़
गुल करो शम्एं, बढ़ा दो मयो-मीना-ओ-अयाग़[4]
अपने बे-ख़्वाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल[5] कर लो
अब यहां कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा

1. पथिक, 2. धूल, 3. महलों, 4. शराब, सुराही और प्याला, 5. ताला लगाना

चंद रोज़ और मेरी जान

चंद रोज़ और मेरी जान फ़क़त चंद ही रोज़
ज़ुल्म की छांव में दम लेने पे मजबूर हैं हम
और कुछ देर सितम सह लें, तड़प लें, रो लें
अपने अजदाद[1] की मीरास[2] हैं माज़ूर[3] हैं हम
जिस्म पर क़ैद है, जज़्बात पे ज़ंजीरें हैं
फ़िक्र महबूस[4] है, गुफ़्तार पे ताज़ीरें[5] हैं
अपनी हिम्मत है कि हम फिर भी जिये जाते हैं
ज़िंदगी क्या किसी मुफ़लिस की क़बा है जिसमें
हर घड़ी दर्द के पैबंद लगे जाते हैं
लेकिन अब ज़ुल्म की मीयाद के दिन थोड़े हैं
इक ज़रा सब्र, कि फ़रियाद के दिन थोड़े हैं
अर्सा-ए-दह्र[6] की झुलसी हुई वीरानी में
हमको रहना है पे यूं ही तो नहीं रहना है
अजनबी हाथों का बे-नाम गरांबार[7] सितम
आज सहना है हमेशा तो नहीं सहना है
ये तेरे हुस्न से लिपटी हुई आलाम[8] की गर्द
अपनी दो-रोज़ा जवानी की शिकस्तों का शुमार
चांदनी रातों का बेकार दहकता हुआ दर्द
दिल की बे-सूद तड़प, जिस्म की मायूस पुकार
चंद रोज़ और मेरी जान फ़क़त चंद ही रोज़

1. पूर्वज, 2. देन, धरोहर, 3. लाचार, 4. बंदी, 5. प्रतिबंध, 6. संसार का मैदान, 7. भारी, बोझिल, 8. दुःख।

कुत्ते

ये गलियों के आवारा बेकार कुत्ते
कि बख़्शा गया जिनको ज़ौक़े-गदाई[1]
ज़माने की फटकार सरमाया[2] इनका
जहां भर की दुतकार इनकी कमाई

न आराम शब को, न राहत सवेरे
ग़लाज़त में घर, नालियों में बसेरे
जो बिगड़ें तो इक दूसरे से लड़ा दो
ज़रा एक रोटी का टुकड़ा दिखा दो

ये हर एक की ठोकरें खाने वाले
ये फ़ाक़ों से उकता के मर जाने वाले
ये मज़लूम[3] मख़लूक़[4] गर सर उठायें
तो इनसान सब सरकशी[5] भूल जाये

ये चाहें तो दुनिया को अपना बना लें
ये आक़ाओं[6] की हड्डियां तक चबा लें
कोई इनको एहसासे-ज़िल्लत[7] दिला दे
कोई इनकी सोई हुई दुम हिला दे

1. भीख मांगने की रुचि 2. पूंजी, 3. दलित-पीड़ित, 4. प्राणी, 5. घमंड, 6. मालिकों, 7. अपमान का एहसास।

बोल

बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे
बोले ज़बां अब तक तेरी है
तेरा सुतवां[1] जिस्म है तेरा
बोल कि जां अब तक तेरी है
देख के आहनगर[2] की दुकां[3] में
तुंद[4] है शोले, सुर्ख़ है आहन[5]
खुलने लगे क़ुफ़्लों के दहाने[6]
फैला हर एक ज़ंजीर का दामन
बोल, ये थोड़ा वक़्त बहुत है
जिस्मो-ज़बां की मौत से पहले
बोल, कि सच ज़िंदा है अब तक
बोल, जो कुछ कहना है कह ले

1. सुडौल, 2. लोहार, 3. दुकान, 4. तेज़, 5. लोहा, 6. तालों के मुंह।

मेरे हमदम, मेरे दोस्त

गर मुझे इसका यक़ीं हो, मेरे हमदम, मेरे दोस्त
गर मुझे इसका यक़ीं हो कि तेरे दिल की थकन
तेरी आंखों की उदासी, तेरे सीने की जलन
मेरी दिलजोई, मेरे प्यार से मिट जायेगी
गर मेरा हर्फ़े - तसल्ली वो दवा हो जिससे
जी उठे फिर तेरा उजड़ा हुआ बे - नूर दिमाग़
तेरी पेशानी से धुल जायें ये तज़लील[1] के दाग़
तेरी बीमार* ज़बानी को शफ़ा हो जाये
गर मुझे इसका यक़ीं हो, मेरे हमदम, मेरे दोस्त

रोज़ो - शब, शामो - सहर, मैं तुझे बहलाता रहूं
मैं तुझे गीत सुनाता रहूं हल्के, शीरीं
आबशारों के, बहारों के, चमनज़ारों के गीत
आमदे - सुब्ह के, महताब के सय्यारों[2] के गीत

तुझसे मैं हुस्नो-मुहब्बत की हिक़ायत[3] कहूं
कैसे मग़रूर हसीनाओं के बर्फ़ाब[4] से जिस्म
गर्म हाथों की हरारत में पिघल जाते हैं
कैसे इक चेहरे के ठहरे हुए मानूस[5] नुकूश
देखते-देखते यकलख़्त बदल जाते हैं
किस तरह आरिज़े-महबूब का शफ़्फ़ाफ़ बिल्लूर[6]
यकबयक बादा ए-अहमर[7] से दहक जाता है

कैसे गुलचीं के लिए झुकती है ख़ुद शाख़े-गुलाब
किस तरह रात का ऐवान[8] महक जाता है
यूं ही गाता रहूं, गाता रहूं, तेरी ख़ातिर
गीत बुनता रहूं, बैठा रहूं, तेरी ख़ातिर

पर मेरे गीत तेरे, दुख का मदावा[9] तो नहीं
नग़्मा जर्राह नहीं, मूनिसो-ग़मख़्वार[10] सही
गीत नश्तर तो नहीं, मरहमे-आज़ार[11] सही
तेरे आज़ार का चारा नहीं नश्तर के सिवा
और ये सफ़्फ़ाक[12] मसीहा मेरे क़ब्ज़े में नहीं
इस जहां के किसी ज़ी-रूह[13] के क़ब्ज़े में नहीं
हां मगर तेरे सिवा, तेरे सिवा, तेरे सिवा

---

* *'बादे-सबा' के एक संस्करण में 'बीमार' शब्द के स्थान पर 'मदकूक़ (क्षयग्रस्त) शब्द का प्रयोग मिला है।*

1. अपमान, 2. सितारों, 3. कहानियां, 4. ठंडे 5. परिचित, 6. सुरा-पात्र, 7. लाल रंग की शराब, 8. महल, 9. इलाज, 10. दोस्त और दुःख बंटानेवाला, 11. कष्ट को कम करनेवाला मरहम, 12. निर्मम, 13. प्राणी, जिसके रूह हो।

सुब्हे-आज़ादी
(अगस्त, '47)

ये दाग़-दाग़ उजाला, ये शबगज़ीदा[1] सहर
वो इंतिज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं

ये वो सहर तो नहीं जिसकी आरज़ू लेकर
चले थे यार को मिल जायेगी कहीं न कहीं
फ़लक के दश्त में तारों की आख़िरी मंज़िल
कहीं तो होगा शबे-सुस्तमौज का साहिल
कहीं तो जाके रुकेगा सफ़ीनए-ग़मे-दिल
जवां लहू की पुर-असरार[2] शाहराहों से
चले जो यार तो दामन पे कितने हाथ पड़े
दयारे-हुस्न की बे-सब्र ख़्वाबगाहों से
पुकारती रहीं बांहें, बदन बुलाते रहे
बहुत अज़ीज़ थी लेकिन रुख़े-सहर की लगन
बहुत करीं[3] था हसीनाने-नूर का दामन
सुबुक-सुबुक थी तमन्ना दबी-दबी थी थकन

सुना है हो भी चुका है फ़िराक़े-ज़ुल्मते-नूर[4]
सुना है हो भी चुका है विसाले-मंज़िलो-गाम[5]
बदल चुका है बहुत अह्ले-दर्द का दस्तूर
निशाते-वस्ल हलालो-अज़ाबे-हिज्रे[6]-हराम
जिगर की आग, नज़र की उमंग, दिल की जलन
किसी पे चाराए-हिज्रां[7] का कुछ असर ही नहीं
कहां से आयी निगारे सबा[8] किधर को गयी
अभी चिराग़े सरे-रह को कुछ ख़बर ही नहीं
अभी गरानी-ए-शब में कमी नहीं आयी
नजाते-दीदा-ओ-दिल[9] की घड़ी नहीं आयी
चले चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आयी

---

1. रात की डसी हुई, 2. रहस्यमय, 3. निकट, 4. अंधेरे और रौशनी का अलगाव, 5. मंज़िल और क़दम का मिलन, 6. विरह की मुसीबत, 7. विरह का समाधान।

लौहो-क़लम

हम परवरिशे लौहो क़लम करते रहेंगे
जो दिल पे गुज़रती है रक़म करते रहेंगे
असबाबे ग़मे-इश्क़ बहम[1] करते रहेंगे
वीरानी-ए-दौरां पे करम करते रहेंगे
हां, तलख़ी-ए-अय्याम[2] अभी और बढ़ेगी
हां, अह्ले-सितम मश्क़े-सितम करते रहेंगे
मंजूर ये तलख़ी, ये सितम हमको गवारा
दम है तो मदावा-ए-अलम[3] करते रहेंगे
मयख़ाना सलामत है तो हम सुर्ख़ी-ए-मय से
तज़ईने-दरो-बामे-हरम[4] करते रहेंगे
बाक़ी है लहू दिल में तो हर अश्क से पैदा
रंगे-लबो-रुख़सारे-सनम करते रहेंगे
इक तर्ज़े-तग़ाफ़ुल है सो वो उनको मुबारक
इक अर्ज़े-तमन्ना है सो हम करते रहेंगे

1. जुटाना, 2. दिनों की कटुता, 3. दुःख का इलाज, 4. मस्जिद के दर और छत की सजावट।

तराना

दरबारे-वतन में जब इक दिन सब जाने वाले जायेंगे
कुछ अपनी सज़ा को पहुंचेंगे कुछ अपनी जज़ा[1] ले जायेंगे

ऐ ख़ाकनशीनो, उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ पहुंचा है
जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे

अब टूट गिरेंगी ज़ंजीरें, अब ज़िंदानों[2] की ख़ैर नहीं
जो दरिया झूम के उट्ठे हैं, तिनकों से न टाले जायेंगे

कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो, बाज़ू भी बहुत हैं, सर भी बहुत
चलते भी चलो कि अब डेरे मंज़िल ही पे डाले जायेंगे

ऐ ज़ुल्म के मातो, लब खोलो, चुप रहनेवालो, चुप कब तक
कुछ हश्र तो उनसे उट्ठेगा, कुछ दूर तो नाले जायेंगे

1. पुरस्कार, 2. जेलख़ानों।

दो इश्क़

(1)

ताज़ा हैं अभी याद में ऐ साक़ी-ए-गुलफ़ाम[1]
वो अक्से रुख़े यार से लहके हुए अय्याम[2]
वो फूल-सी-खिलती हुई दीदार की साअत
वो दिल-सा धड़कता हुआ उम्मीद का हंगाम

उम्मीद कि लो जागा, ग़मे-दिल का नसीबा
लो शौक़ की तरसी हुई शब हो गयी आख़िर
अब चमकेगा बे - सब्र निगाहों का मुक़द्दर

इस बाम से निकलेगा तेरे हुस्न का खुरशीद[3]
उस कुंज से फूटेगी किरन रंगे हिना की
इस दर से बहेगा तेरी रफ़्तार का सीमाब[4]
उस राह पे फूलेगी शफ़क़[5] तेरी क़बा की

फिर देखे हैं वो हिज्र कि तपते हुए दिन भी
जब फ़िक्रे-दिलो-जां में फुग़ां[6] भूल गयी हैं
हर शब वो सियह बोझ कि दिल बैठ गया है
हर सुब्ह की लौ तीर-सी सीने में लगी है

तनहाई में क्या-क्या न तुझे याद किया है
क्या - क्या न दिले - ज़ार ने ढूंढ़ी हैं पनाहें
आंखों से लगाया है कभी दस्ते-सबा को
डाली हैं कभी गर्दने - महताब में बांहें

(2)

चाहा है उसी रंग में लैला-ए-वतन को
तड़पा है उसी तौर से दिल उसकी लगन में
ढूंढ़ी है यूं ही शौक़ ने आसाइशे - मंज़िल[7]
रुख़सार के ख़म में कभी काकुल[8] की शिकन में

इस जाने-जहां को भी यूं ही क़ल्बो-नज़र[9] ने
हंस-हंस के सदा दी, कभी रो-रो के पुकारा
पूरे किये सब हर्फ़े - तमन्ना के तक़ाज़े
हर दर्द को उजियाला, हर इक ग़म को संवारा

वापस नहीं फेरा कोई फ़रमान जुनूं का
तनहा नहीं लौटी कभी आवाज़ जरस[10] की
ख़ैरीयते जां, राहते-तन,[11] सेहते-दामां[12]
सब भूल गयी मसलहतें अहले - हवस की

इस राह में जो सब पे गुज़रती है वो गुज़री
तनहा पसे - ज़िदां कभी रुस्वा[13] सरे- बाज़ार
गरजे हैं बहुत शैख़-सरे-गोशा-ए-मिंबर[14]
कड़के हैं बहुत अहले-हक़म[15] बर-सरे-दरबार[16]

छोड़ा नहीं ग़ैरों ने कोई नावके-दुश्नाम[17]
छूटी नहीं अपनों से कोई तर्ज़े-मलामत[18]
इस इश्क़ न उस इश्क़ पे नादिम[19] है मगर दिल
हर दाग़ है इस दिल में ब-जुज़ दागे़-नदामत[20]

---

1. फूल-जैसा साक़ी, 2. दिन, 3. सूरज, 4. पारा, 5. सूर्यास्त की लाली, 6. विलाप, 7. मंज़िल का सहारा, 8. केश, 9. हृदय और दृष्टि, 10. घंटा। 11. शरीर का सुख, 12. दामन का सुरक्षित रहना, 13. बदनाम, 14. मंच पर से, 15. अधिकारी, 16. दरबार में, 17. गाली का तीर, 18. निंदा का ढंग, 19. लज्जित, 20. लज्जा का कलंक।

ईरानी तुलबा के नाम

(जो अम्न और आज़ादी की जद्दोजेहद में काम आये)

'यह कौन सख़ी[1] है
जिनके लहू की
अशरफ़ियां छन्-छन्, छन्-छन्
धरती के पैहम[2] प्यासे
कशकोल[3] में ढलती जाती हैं
कशकोल को भरती जाती हैं

ये कौन जवां है, अर्ज़े-अजम,[4]
ये लखलुट
जिनके जिस्मों की
भरपूर जवानी का कुंदन
यूं ख़ाक में रेज़ा-रेज़ा है
यूं कूचा-कूचा बिखरा है
ऐ अर्ज़े-अजम ऐ अर्ज़े-अजम,
क्यों नोच के हंस-हंस फेंक दिये
इन आंखों ने अपने नीलम
इन होंठों ने अपने मर्जां[5]
इन हाथों की बेकल चांदी
किस काम आयी, किस हाथ लगी?

'ऐ पूछनेवालो परदेसी,
ये तिफ़्लो-जवां[6]
उस नूर के नौरस[7] मोती हैं
उस आग की कच्ची कलियां हैं
जिस मीठे नूर और कड़वी आग
से ज़ुल्म की अंधी रात में फूटा

सुब्हे-बग़ावत का गुलशन
और सुब्ह हुई मन-मन, तन-तन!

इन जिस्मों का चांदी-सोना
इन चेहरों के नीलम-मर्जां
जगमग, जगमग, रख़्शां-रख़्शां[8]
जो देखना चाहे परदेसी
पाय आये देखे जी भर कर
यह ज़ीस्त[9] की रानी का झूमर
यह अम्न की देवी का कंगन!'

1. दानी, 2. निरंतर, 3. भिक्षापात्र, 4. ईरान की धरती, 5. मूंगे, 6. बच्चे और युवक, 7. नये, 8. दमकते हुए, 9. ज़िंदगी।

निसार मैं तेरी गलियों पे*

निसार मैं तेरी गलियों पे ऐ वतन, कि जहां
चली है रस्म कि कोई न सर उठा के चले
जो कोई चाहनेवाला तवाफ़[1] को निकले
नज़र चुरा के चले जिस्मो-जां बचा के चले

है अह्ले-दिल के लिए अब ये नज़्मे-बस्तो-कुशाद[2]
कि संगो-ख़िश्त[3] मुक़य्यद[4] हैं और सग[5] आज़ाद

बहुत है ज़ुल्म के दस्ते-बहाना-जू[6] के लिए
जो चंद अह्ले-जुनूं तेरे नामलेवा हैं
बने हैं अह्ले-हवस, मुद्दई भी, मुंसिफ़ भी
किसे वकील करें, किससे मुंसिफ़ी चाहें

मगर गुज़ारनेवालों के दिन गुज़रते हैं
तेरे फ़िराक़ में यूं सुब्हो-शाम करते हैं

बुझा जो रौज़ने-ज़िंदां तो दिल ये समझा है
कि तेरी मांग सितारों से भर गयी होगी
चमक उठे हैं सलासिल[7] तो हमने जाना है
कि अब सहर तेरे रुख़ पर बिखर गयी होगी

ग़रज़ तसव्वुरे-शामो-सहर में जीते हैं
गिरफ़्ते-साया-ए-दीवारो-दर में जीते हैं

यूं ही हमेशा उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क़
न उनकी रस्म नयी है, न अपनी रीत नयी
यूं ही हमेशा खिलाये हैं हमने आग में फूल
न उनकी हार नयी है, न अपनी जीत नयी

इसी सबब से फ़लक का गिला नहीं करते
तिरे फ़िराक़ में हम दिल बुरा नहीं करते
गर आज तुझसे जुदा हैं तो कल बहम[8] होंगे
ये रात-भर की जुदाई तो कोई बात नहीं

गर आज औज[9] पे है ताला-ए-रक़ीब[10] तो क्या
ये चार दिन की ख़ुदाई तो कोई बात नहीं

जो तुझसे अह्दे-वफ़ा उस्तवार[11] रखते हैं
इलाजे-गर्दिशे-लैलो-निहार[12] रखते हैं

---

* *पाठांतर : निसार मैं तिरी गलियों पे (शीशों का मसीहा : सं. अली सरदार जाफ़री*

1. परिक्रमा, 2. बंधने और खुलने की व्यवस्था, 3. ईंट-पत्थर, 4. क़ैद, 5. कुत्ते, 6. बहाना ढूंढ़नेवाले हाथ, 7. ज़ंजीरें, 8. मिलेंगे, 9. शिखर, 10. प्रतिद्वंद्वी का भाग्य, 11. पक्का, 12. रात और दिन के क्रम का इलाज।

वासोख़्त*

सच है हमीं को आपके शिकवे बजा न थे
बेशक सितम जनाब के सब दोस्ताना थे

हां, जो जफ़ा भी आपने की, क़ायदे से की
हां, हम ही कारबंदे-उसूले-वफ़ा[1] न थे

आये तो यूं कि जैसे हमेशा थे मेह्रबां
भूले तो यूं कि गोया कभी आश्ना[2] न थे

क्यों दादे-ग़म हमीं ने तलब, की बुरा किया
हमसे जहां में कुश्ता-ए-ग़म[3] और क्या न थे

गर फ़िक्रे-ज़ख़्म की तो ख़तावार हैं कि हम
क्यूं मह्वे-मदहे-ख़ूबी-ए-तेग़े अदा[4] न थे

हर चारागर को चारागरी से गुरेज़ था
वरना हमें जो दुख थे, बहुत ला-दवा न थे

लब पर है तलख़ी-ए-मये-अय्याम[5], वरना 'फ़ैज़'
हम तलख़ी-ए-कलाम[6] पे माइल[7] ज़रा न थे

मंटगोमरी जेल, 24 नवंबर, 1953

---

* उर्दू पद्य की एक क़िस्म, जो मुसद्दस के रूप में होता है, और जिसमें प्रेमिका के व्यवहार से नाराज़ होकर प्रेमी उसे जली-कटी सुनाने पर उतारू हो जाता है।

1. वफ़ा के उसूल के पाबंद, 2. परिचित, 3. ग़म के मारे हुए, 4. अदा की तलवार के गुणों की प्रशंसा में व्यस्त, 5. समय की शराब की कड़वाहट, 6. बात की कटुता, 7. प्रवृत्ति रखना।

हम जो तारीक राहों में मारे गये

(ईथेल और जूलियस रोज़नबर्ग के ख़तों से मुतास्सिर होकर लिखी गयी)

तेरे होठों के फूलों की चाहत में हम
दार[1] की ख़ुश्क टहनी पे वारे गये
तेरे हाथों की शम्ओं की हसरत में हम
नीम-तारीक राहों में मारे गये

सूलियों पर हमारे लबों से परे
तेरे होठों की लाली लपकती रही
तेरे ज़ुल्फ़ों की मस्ती बरसती रही
तेरी हाथों की चांदी दमकती रही

जब घुली तेरी राहों में शामे-सितम
हम चले आये लाये जहां तक क़दम
लब पे हर्फ़े-ग़ज़ल, दिल में क़ंदीले-ग़म
अपना ग़म था गवाही तेरे हुस्न की
देख क़ायम रहे इस गवाही पे हम
हम जो तारीक राहों पे मारे गये

ना-रसाई[2] अगर अपनी तक़दीर थी
तेरी उल्फ़त तो अपनी ही तदबीर थी
किसको शिकवा है गर शौक़[3] के सिलसिले
हिज्र की क़त्लगाहों से सब जा मिले

क़त्लगाहों से चुनकर हमारे अलम[4]
और निकलेंगे उश्शाक़[5] के क़ाफ़िले
जिनकी राहे-तलब से हमारे क़दम
मुख़्तसर कर चले दर्द के फ़ासले

कर चले जिनकी ख़ातिर जहांगीर[6] हम
जां गंवाकर तिरी दिलबरी का भरम
हम जो तारीक राहों में मारे गये

मंटगोमरी जेल, 15 मई, 1954

1. फांसी, 2. विफलता, 3. उत्कंठा, 4. झंडे, 5. प्रेमी, 6. विश्वव्यापी।

दर्द आयेगा दबे पांव

और कुछ देर में, जब फिर मेरे तनहा दिल को
फ़िक्र आ लेगी कि तनहाई का क्या चारा करे
दर्द आयेगा दबे पांव, लिये सुर्ख़ चिराग़
वह जो इक दर्द धड़कता है कहीं दिल से परे
शोला-ए-दर्द जो पहलू में लपक उट्ठेगा
दिल की दीवार पे हर नक़्श दमक उट्ठेगा

हल्क़ा-ए-ज़ुल्फ़[1] कहीं, गोशा-ए-रुख़सार[2] कहीं
हिज्र का दश्त कहीं, गुलशने-दीदार कहीं
लुत्फ़ की बात कहीं, प्यार का इक़रार कहीं
दिल से फिर होगी मेरी बात कि ऐ दिल, ऐ दिल
ये जो महबूब बना है तेरी तनहाई का
ये तो मेहमां है घड़ी भर का चला जायेगा
इससे कब मेरी मुसीबत का मदावा[3] होगा
मुश्तइल[4] होके अभी उट्ठेंगे वहशी साये
ये चला जायेगा, रह जायेंगे बाक़ी साये
रात भर जिनसे तेरा ख़ून-ख़राबा होगा
जंग ठहरी है कोई खेल नहीं है, ऐ दिल
दुश्मने-जां, हैं सभी सारे के सारे क़ातिल
ये कड़ी रात भी, ये साये भी, तनहाई भी
दर्द और जंग में कुछ मेल नहीं है, ऐ दिल
लाओ, सुलगाओ कोई जोशो-ग़ज़ब का अंगार
तैश की आतिशे-जर्रार[5] कहां है, लाओ
वो दहकता हुआ गुलज़ार कहां है, लाओ
जिसमें गर्मी भी है, हरकत भी, तवानाई[6] भी
हो न हो अपने क़बीले का भी कोई लश्कर
मुंतज़िर होगा अंधेरे की फ़सीलों[7] के उधर
उनको शोलों के रजज़[8] अपना पता तो देंगे
ख़ैर, हम तक वो न पहुंचे भी, सदा तो देंगे
दूर कितनी हैं अभी सुब्ह, बता तो देंगे

मंटगोमरी जेल, 1 दिसंबर 1954

1. बालों के घेरे, 2. गालों के कोने, 3. इलाज, 4. उत्तेजित, 5. तेज़ आग, 6. ताक़त, 7. प्राचीरों, 8. वीर-गाथा।

AFRICA COME BACK*

(एक रजज़)[1]

आ जाओ, मैंने सुन ली तेरे ढोल की तरंग
आ जाओ, मस्त हो गयी मेरे लहू की ताल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'
'आ जाओ, मैंने धूल से माथा उठा लिया
'आ जाओ, मैंने छील दी आंखों से ग़म की छाल
आ जाओ, मैंने दर्द से बाज़ू छुड़ा लिया
आ जाओ, मैंने नोच दिया बेकसी का जाल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'
पंजे में हथकड़ी की कड़ी बन गयी है गुर्ज़[2]
गर्दन का तौक़ तोड़ के ढाली है मैंने ढाल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'
जलते हैं हर कछार में भालों के मिरग-नैन
दुश्मन लहू से रात की कालिख हुई है लाल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'
धरती धड़क रही है मेरे साथ, अफ़्रीक़ा
दरिया थिरक रहा है तो बन दे रहा है ताल
मैं अफ़्रीका हूं, धार लिया मैंने तेरा रूप
मैं तू हूं, मेरी चाल है तेरे बबर की चाल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'
आओ, बबर की चाल
'आ जाओ, अफ़्रीक़ा'

मंटगोमरी जेल, 14 जनवरी, 1955

---

* अफ़्रीकी, स्वतंत्रता-प्रेमियों का नारा।

1. वीरोचित गर्वोक्ति के पद, 2. गदा।

आज बाज़ार में पा-ब-जौलां चलो

चश्मे - नम, जाने - शोरीदा[1] काफ़ी नहीं
तुहमते - इश्क़े - पोशीदा[2] काफ़ी नहीं
आज बाज़ार में पा - ब - जौलां[3] चलो

दस्त-अफ़्शां[4] चलो, मस्तो - रक़्सां[5] चलो
ख़ाक - बर - सर चलो, ख़ूं - ब - दामां चलो
राह तकता है सब शह्‌रे - जानां चलो

हाकिमे - शह्‌र भी, मजमए - आम भी
तीरे इल्ज़ाम भी, संगे - दुश्नाम[6] भी
सुब्हे - नाशाद भी, रोज़े - नाक़ाम भी

इनका दमसाज़[7] अपने सिवा कौन है
शह्‌रे - जानां में अब बा - सफ़ा[8] कौन है
दस्ते - क़ातिल के शायां[9] रहा कौन है

रख़्ते - दिल[10] बांध लो दिलफ़िगारो चलो
फिर हमीं क़त्ल हो आयें यारो चलो

लाहौर जेल, 11 फरवरी, 1959

1. उद्विग्न प्राण, 2. गुप्त प्रेम का लांछन, 3. पैर में ज़ंजीर डाले, 4. हाथ छोड़कर, 5. मस्त और नाचते हुए, 6. गली का पत्थर, 7. हमदर्द, 8. पवित्र, 9. योग्य, 10. दिल के सफ़र का सामान।

इन्तिसाब

आज के नाम
और
आज के ग़म के नाम
आज का ग़म कि है ज़िंदगी के भरे गुलसितां से ख़फ़ा
ज़र्द पत्तों का बन
ज़र्द पत्तों का बन जो मेरा देश है
दर्द की अंजुमन जो मेरा देस है
किलर्कों की अफ़सुर्दा जानों के नाम
किर्मख़ुर्दा[1] दिलों और ज़बानों के नाम
पोस्टमैनों के नाम
तांगेवालों के नाम
रेलवानों के नाम
कारखानों के भोले जियालों के नाम
बादशाहे-जहां, वालिए-मासिवा[2], नायबुल्लाहे-फ़िल-अर्ज़[3], दहक़ां[4] के नाम

जिसके ढोरों को ज़ालिम हंका ले गये
जिसकी बेटी को डाकू उठा ले गये
हाथ भर खेत से एक अंगुश्त[5] पटवार ने काट ली है
दूसरी मालिये[6] के बहाने से सरकार ने काट ली है
जिसकी पग ज़ोर वालों के पांवों तले
धज्जियां हो गयी है

उन दुखी माओं के नाम
रात में जिनके बच्चे बिलखते हैं और
नींद की मार खाये हुए बाज़ुओं से संभलते नहीं
दुख बताते नहीं
मिन्नतों ज़ारियों[7] से बहलते नहीं

उन हसीनाओं के नाम
जिनकी आंखों के गुल

चिलमनों[8] और दरीचों[9] की बेलों पे बेकार खिल खिल के
मुरझा गये हैं
उन ब्याहताओं के नाम
जिनके बदन
बे-मुहब्बत रियाकार[10] सेजों पे सज-सज के उकता गये हैं
बेवाओं[11] के नाम
कटरियों[12] और गलियों, मुहल्लों के नाम
जिनकी नापाक ख़ाशाक[13] से चांद रातों
को आ-आ के करता है अक्सर वज़ू[14]
जिनके सायों में करती है आहो-बुका[15]
आंचलों की हिना
चूड़ियों की खनक
काकुलों[16] की महक
आरज़ूमंद[17] सीनों की अपने पसीने में जलने की बू

पढ़नेवालों के नाम
वो जो असहाबे-तब्लो-अलम[18]
के दरों पर किताब और क़लम
का तक़ाज़ा-लिये, हाथ फैलाये
पहुंचे, मगर लौटकर घर न आये
वो मासूम जो भोलेपन में
वहां अपने नन्हें चिराग़ों में लौ की लगन
ले के पहुंचे, जहां
बंट रहे थे घटाटोप, बेअंत रातों के साये
उन असीरों[19] के नाम
जिनके सीनों में फ़र्दा[20] के शबताब गौहर[21]
जल-जल के अंजुम-नुमां[23] हो गये हैं

आने वाले दिनों के सफ़ीरों[24] के नाम
वो जो ख़ुशबू-ए-गुल[25] की तरह
अपने पैग़ाम[26] पर ख़ुद फ़िदा हो गये हैं

(अपूर्ण)

---

1. कीड़ों का खाया हुआ, 2. सर्वोच्च स्वामी, 3. धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि, 4. किसान, 5. उंगली-भर, 6. लगान, 7. रोने, 8. परदों, 9. झरोखों, 10. दुष्टतापूर्ण, 11. विधवाओं, 12. कटरा मकानों का समूह (पंजाबी), 13. कूड़ा-करकट, 14. नमाज़ के लिए हाथ-पैर धोकर पवित्र करना, 15. बैन, 16. जुल्फ़ों, 17. आशावान, 18. नगाड़े व पताका के मालिक, 19. बंदियों, 20. भविष्य, 21. रात को चमकनेवाले मोती, 22. परेशान, 23. सितारों-जैसे, 24. दूतों, 25. फूल की महक, 26. संदेश।

सिपाही का मर्सिया

उट्ठो अब माटी से उट्ठो
जागो मेरे लाल
अब जागो मेरे लाल
तुम्हारी सेज सजावन कारन
देखो आयी रैन अंधियारन
नीले शाल दोशाले लेकर
जिनमें इन दुखियन अंखियन ने
ढेर किये हैं इतने मोती
इतने मोती जिन की जोती
दान से तुम्हरा
जगमग लागा
नाम चमकने

उट्ठो अब माटी से उट्ठो
जागो मेरे लाल
अब जागो मेरे लाल
घर-घर बिखरा भोर का कुंदन
घोर अंधेरा अपना आंगन
जाने कब से राह तके हैं
बाली दुल्हनिया, बांके वीरन
सूना तुम्हरा राज पड़ा है
देखो कितना काज पड़ा है

बैरी बिराजे राज सिंहासन
तुम माटी में लाल
उट्ठो अब माटी से उट्ठो, जागो मेरे लाल
हठ न करो माटी से उट्ठो, जागो मेरे लाल
अब जागो मेरे लाल

अक्टूबर, 1965

दुआ

आइए, हाथ उठायें हम भी
हम जिन्हें रस्मे-दुआ याद नहीं

हम जिन्हें सोज़े-मोहब्बत[2] के सिवा
कोई बुत कोई ख़ुदा याद नहीं

आइए, अर्ज़ु गुज़ारें कि निगारे-हस्ती[2]
ज़हरे-इमरोज़[3] में शीरीनी-ए-फ़र्दा[4] भर दे

वो जिन्हें ताबे-गरांबारी-ए-अय्याम[5] नहीं
उनकी पलकों पे शबो-रोज़ को हल्का कर दे

जिनकी आंखों को रुख़े-सुब्ह[6] का यारा[7] भी नहीं
उनकी रातों में कोई शम्अ मुनव्वर[8] कर दे

जिनके क़दमों को किसी रह का सहारा भी नहीं
उनकी नज़रों पे कोई राह उजागर कर दे

जिनका दीं[9] पैरविए-कज़्बो-रिया[10] हैं उनको
हिम्मते-कुफ़्र[11] मिले, जुरअते-तहक़ीक[12] मिले

जिनके सर मुंतज़िरे-तेग़े-जफ़ा[13] है उनको
दस्ते-क़ातिल को झटक देने की तौफ़ीक[14] मिले
इश्क का सर्रे-निहां[15] जान-तपां[16] है जिससे
आज इक़रार करें और तपिश मिट जाये
हर्फ़े-हक़[17] दिल में खटकता है जो कांटे की तरह
आज इज़हार करें और ख़लिश मिट जाये

---

1. प्रेम की ज्वाला, 2. जीवन का सौंदर्य, 3. वर्तमान का विष, 4. भविष्य की मिठास, 5. जीवन का बोझ उठाने की शक्ति, 6. प्रातः काल का मुखड़ा, 7. सहन शक्ति, 8. प्रकाशमान, 9. धर्म, 10. झूठ और मक्कारी का समर्थन, 11. धर्मद्रोह का साहस, 12. जिज्ञासा का साहस, 13. अत्याचार की तलवार की प्रतीक्षा, 14. सामर्थ्य, 15. चुभा हुआ तीर, 16. तपते हुए प्राण, 17. सत्यवाणी।

सज्जाद ज़हीर के नाम

न अब हम साथ सैरे-गुल[1] करेंगे
न अब मिलकर सरे-मक़्तल[2] चलेंगे
हदीसे-दिलबरां बाहम करेंगे[3]
न ख़ूने-दिल से शरहे-ग़म[4] करेंगे
न लैला - ए - सुख़न[5] की दोस्तदारी
न ग़महा - ए - वतन पर अश्कबारी[6]
सुनेंगे नग़्मए-ज़ंजीर[7] मिलकर
न शब-भर मिलके छलकायेंगे सागर

ब-नामे - शाहिदे - नाज़ुकख़यालां[8]
ब - यादे - मस्तिए - चश्मे - ग़िज़ालां[9]
ब - नामे - इम्बिसाते - बज़्मे - रिंदां[10]
ब - यादे - कुल्फ़ते - अय्यामे - ज़िंदां[11]

सबा[12] और उसका अंदाज़े - तकल्लुम[13]
सहर[14] और उसका अंदाज़े तबस्सुम[15]

फ़िज़ा में एक हालः - सा[16] जहां है
यही तो मसनदे - पीरे - मुग़ां[17] है
सहरगह[18] अब उसी के नाम, साक़ी
करें इत्मामे[19] दौरे - जाम, साक़ी

बिसाते - बादा - ओ - मीना उठा लो
बढ़ा दो[20] शम्ए - महिफल, बज़्मवालो
पियो अब एक जामे - अलविदाई
पियो, और पीके सागर तोड़ डालो

दिल्ली, सितंबर, 1973

---

1. बाग़ की सैर करेंगे, अर्थात् सौंदर्य और कला का साथ-साथ आनंद लेंगे, 2. शहादत के स्थान तक, 3. न तो चित्ताकर्षक प्रेमिकाओं के आख्यान या अफ़साने एक-दूसरे को सुनायेंगे, 4. और न दिल के ख़ून से दुख-दर्द की व्याख्या करेंगे, 5. काव्यरूपी लैला, 6. वतन के दुखड़ों पर आंसू बहाना, 7. बंदीगृह में पांवों की बेड़ियों का संगीत, 8. कोमल भावनाओं-कल्पनाओं में निहित प्रेमिकाओं के नाम, 9. मृगनयनियों की मस्ती की याद में, 10. रिंदों-की महफ़िल की मस्ती और आनंद के नाम पर, 11. जेल की मुसीबतों की याद में, 12. मलयानिल, 13. बात करने का अंदाज़, 14. भोर, प्रभात, 15. मुस्कान का आरंभ, 16. प्रभामंडल-सा, 17. मस्तों के गुरु की मसनद (आसन) 18. भोर बेला में 19. इत्माम = समाप्ति (जाम का दौर समाप्त करें) 20. अब गुल कर दो, बुझा दो।

गीत

चलो फिर से मुस्करायें
चलो फिर से दिल जलायें

जो गुज़र गयी हैं रातें
उन्हें फिर जगा के लायें
जो बिसर गयी हैं बातें
उन्हें याद में बुलायें
चलो फिर से दिल लगायें
चलो फिर से मुस्कुरायें

किसी शह-नशीं[1] पे झलकी
वो धनक किसी क़बा[2] की
किसी रंग में कसमसाई
वो कसक किसी अदा की
कोई हर्फ़े - बे - मुरव्वत[3]
किसी कुंजे - लब से फूटा
वो छनक के शीशा-ए-दिल
तहे-बाम फिर से टूटा[4]

ये मिलन की, नामिलन की
ये लगन की और जलन की
जो सही हैं वारदातें
जो गुज़र गयी हैं रातें
जो बिसर गयी हैं बातें

कोई इनकी धुन बनायें
कोई इनका गीत गायें
चलो फिर से मुस्कुरायें
चलो फिर से दिल जलायें

1974

1. बैठने का उच्च स्थान, 2. अंगरखा, 3. निष्ठुर, 4. छत के नीचे।

ढाका से वापसी पर

हम कि ठहरे अजनबी इतनी मदारातों[1] के बाद
फिर बनेंगे आशना[2] कितनी मुलाक़ातों के बाद

कब नज़र में आयेगी बे-दाग़ सब्ज़े की बहार
ख़ून के धब्बे धुलेंगे कितनी बरसातों के बाद

थे बहुत बेदर्द लम्हे ख़त्मे-दर्दे-इश्क़ के[3]
थीं बहुत बे-मह्र[4] सुब्हें मह्रबां रातों के बाद

दिल तो चाहा पर शिकस्ते-दिल[5] ने मोहलत[6] ही न दी
कुछ गिले-शिकवे भी कर लेते, मुनाजातों[7] के बाद

उनसे जो कहने गये थे 'फ़ैज़' जां सद्क़ा[8] किये
अनकही ही रह गयी वो बात सब बातों के बाद

1974

1. आवभगत, 2. परिचित, 3. प्रेम की पीड़ा की समाप्ति के क्षण, 4. निर्दयी, 5. दिल की हार, 6. अवकाश, 7. प्रार्थना-गीत, 8. प्राण न्यौछावर

कुछ इश्क़ किया कुछ काम किया

वो लोग बहुत ख़ुश-क़िस्मत थे
जो इश्क़ को काम समझते थे
या काम से आशिक़ी करते थे
हम जीते-जी मसरूफ़ रहे
कुछ इश्क़ किया, कुछ काम किया

काम इश्क़ के आड़े आता रहा
और इश्क़ से काम उलझता रहा
फिर आख़िर तंग आकर हमने
दोनों को अधूरा छोड़ दिया

1976

दिले-मन मुसाफ़िरे-मन

मेरे दिल, मेरे मुसाफ़िर
हुआ फिर से हुक्म सादिर[1]
कि वतन-बदर[2] हों हम तुम
दें गली-गली सदाएं
करें रुख़ नगर-नगर का
कि सुराग़ कोई पायें
किसी यार-ए-नामा-बर[3] का
हर एक अजनबी से पूछें
जो पता था अपने घर का
सर - ए - कू - ए - नाशनायां[4]
हमें दिन से रात करना
कभी इस से बात करना
कभी उस से बात करना
तुम्हें क्या कहूं कि क्या है
शब-ए-ग़म बुरी बला है
हमें ये भी था ग़नीमत
जो कोई शुमार होता
'हमें क्या बुरा था मरना
अगर एक बार होता'*

लंदन, 1975

1. घोषित, 2. देश निकाला, 3. पत्रवाहक, 4. अजनबी गालियों में
* ग़ालिब के शेर का दूसरा मिसरा

हम तो मजबूरे-वफ़ा हैं

तुझको कितनों का लहू चाहिए ऐ अर्ज़े-वतन[1]
जो तेरे आरिज़े-बेरंग[2] को गुलनार[3] करें
कितनी आहों से कलेजा तेरा ठंडा होगा
कितने आंसू तेरे सहराओं[4] को गुलज़ार करें
तेरे ऐवानों[5] में पुर्ज़े हुए पैमां[6] कितने
कितने वादे जो न आसूदा-ए-इक़रार[7] हुए
कितनी आंखों को नज़र खा गयी बदख़ाहों[8] की
ख़्वाब कितने तेरी शहराओं[9] में संगसार[10] हुए
'बला कशाने[11] मुहब्बत पे जो हुआ सो हुआ
जो मुझ पे गुज़री मत उस से कहो, हुआ सो हुआ
मबादा[12] हो कोई ज़ालिम तेरा गरेबांगीर[13]
लहू के दाग़ तू दामन से धो, हुआ सो हुआ
हम तो मजबूरे-वफ़ा हैं मगर ऐ जाने-जहां
अपने उश्शाक़[14] से ऐसे भी कोई करता है
तेरी महफ़िल को ख़ुदा रक्खे अबद[15] तक क़ायम
हम तो मेहमां है घड़ी भर के हमारा क्या है

1. वतन की ज़मीन, 2. मुरझाये हुए गाल, 3. फूलों (गुलाब) जैसे सुर्ख़, 4. रेगिस्तान, 5. महलों, 6. प्रतिज्ञा, 7. मान्यता से परिपूरित, 8. बुरा चाहेनवालों, 9. सड़क, मार्ग, 10. पत्थर मारना, 11. सख़्तियां झेलनेवाले, 12. कहीं ऐसा न हो, 13. गरेबां पकड़नेवाला, 14. चाहनेवाले, 15. हमेशा, दुनिया के अंतिम दिन तक।

फ़िलिस्तीन के लिए-2

(फ़लिस्तीनी बच्चे के लिए लोरी)

मत रो बच्चे
रो रो के अभी
तेरी अम्मी की आंख लगी है

मत रो बच्चे
कुछ ही पहले
तेरे अब्बा ने
अपने ग़म से रुख़्सत ली है

मत रो बच्चे
तेरा भाई
अपने ख़्वाब की तितली पीछे
दूर कहीं परदेस गया है

मत रो बच्चे
तेरी बाजी का
डोला पराये देस गया है

मत रो बच्चे
तेरे आंगन में
मुर्दा सूरज नहला के गये हैं
चंदरमा दफ़ना के गये हैं

मत रो बच्चे
गर तू रोयेगा तो ये सब
अम्मी, अब्बा, बाजी, भाई
चांद और सूरज

और भी तुझको रुलवायेंगे
तू मुस्कायेगा तो शायद
सारे इक दिन भेस बदल कर
तुझसे खेलने लौट आयेंगे

बैरूत, 1980

मेजर इसहाक़ की याद में

लो तुम भी गये हमने तो समझा था कि तुमने
बांधा था कोई यारों से पैमाने-वफ़ा और
ये अहद कि ताउम्रे-रवां साथ रहोगे
रस्ते में बिछड़ जायेंगे जब अहले-सफ़ा और
हम समझे थे सैयाद का तरकश हुआ ख़ाली
बाक़ी था मगर उसमें अभी तीरे-क़ज़ा और
हर ख़ार रहे-दश्त वतन का है सवाली
कब देखिए आता है कोई आबला-पा और
आने में तअम्मुल था अगर रोज़े-जज़ा को
अच्छा था ठहर जाते अगर तुम भी ज़रा और

बैरूत, 3 जून, 1982

एक तराना पंजाबी किसान के लिए

उठ उतांह नूं जट्टा
मरदा क्यूं जानैं
भुलिया, तूं जग दा अनदाता
तेरी बांदी धरती माता
तूं जग दा पालण हारा
ते मरदा क्यूं जानैं
उठ उतांह नूं जट्टा

मरदा क्यूं जानैं
जनरल, करनल, सूबेदार
डिप्टी, डी सी, थानेदार
सारे तेरा दित्ता खावण
तूं जे न बीजें, तूं जे न गाहवें
भुक्खे, भाणे सब मर जावन
इह चाकर, तूं सरकार
मरदा क्यूं जानैं
उठ उतांह नूं जट्टा

मरदा क्यूं जानैं
विच कचहरी, चंगी, थाणे
कीह अनभोल ते कीह सयाणे
कीह अशराफ़ ते कीह निमाणे
सारे खज्जल ख़्वार
मरदा क्यूं जानैं
उठ उतांह नूं जट्टा

एका कर लो हो जओ कट्ठे
भुल जओ रांगड़, चीमे चट्ठे
सब्भे दा इक परवार
मरदा क्यूं जानैं

जे चढ़ आवन फ़ौजां वाले
तूं वी छवियां लंब करा लय
तेरा हक़ तेरी तलवार
तूं मरदा क्यूं जानैं
दे 'अल्लाह हू' दी मार
तूं मरदा क्यूं जानैं
उठ उतांह नूं जट्टा

फ़ैज़ का आख़िरी कलाम

बहुत मिला न मिला ज़िंदगी से ग़म क्या है
मताए-दर्द बहम है तो बेशो-कम क्या है

हम एक उम्र से वाक़िफ़ हैं अब न समझाओ
कि लुत्फ़ क्या है मेरे मेह्रबां सितम क्या है

करे न जग में अलाओ तो शेर किस मक़सद
करे न शह्र में जल-थल तो चश्मे-नम क्या है

अजल के हाथ कोई आ रहा है परवाना
न जाने आज की फ़ेहरिस्त में रक़म क्या है

सजाओ बज़्म ग़ज़ल गाओ जाम ताज़ा करो
बहुत सही ग़मे-गेती, शराब कम क्या है।

नवंबर, 1984

फ़ैज़-अज़-फ़ैज़

अपने बारे में बातें करने में मुझे डर लगता है। इसलिए कि सभी बोर लोगों का मनपसंद शग़ल यही है। इस अंग्रेज़ी लफ़्ज़ के लिए माज़रत चाहता हूं, लेकिन अब तो हमारे यहां इसके रूप बोरियत वग़ैरा भी इस्तेमाल में आने लगे हैं। इसलिए अब इसे उर्दू रोज़मर्रा में शामिल समझना चाहिए। तो मैं यह कह रहा था कि मुझे अपने बारे में क़ीलो-क़ाल बुरी लगती है, बल्कि मैं तो शेर में भी भरसक एकवचन उत्तमपुरुष का इस्तेमाल नहीं करता और 'मैं' के बजाय हमेशा से 'हम' लिखता आया हूं। चुनांचे जब अदबी सुराग़साने हज़रात मुझ से ये पूछने बैठते हैं कि तुम शेर क्यों कहते हो तो बात को टालने के लिए जो दिल में आये कह देता हूं। मसलन ये कि भई, मैं जैसे भी कहता हूं, जिस लिए भी कहता हूं, तुम शेर में से ख़ुद ढूंढ़ लो, मेरा सर खाने की क्या ज़रूरत है। लेकिन उनमें से ढीठ क़िस्म के लोग तब भी नहीं मानते। चुनांचे आज की गुफ़्तगू की सब ज़िम्मेदारी उन हज़रात के सर है, मुझ पर नहीं।

शेरगोई का वाहिद उज़्रे गुनाह तो मुझे नहीं मालूम। इसमें बचपन की फ़ज़ाए- गर्दो-पेश में शेर का चर्चा, दोस्त-अहबाब की तरग़ीब और दिल की लगी सभी कुछ शामिल है। ये *नक़्शे-फ़रियादी* के पहले हिस्से की बात है जिसमें 28-29 से 34-35 ई. तक की तहरीरें शामिल हैं जो हमारी तालिब इल्मी के दिन थे, यूं तो इन सब अशआर का क़रीब-क़रीब एक ही ज़हनी और जज़्बाती वारदात से ताल्लुक़ है।और इस वारदात का ज़ाहरी मुहरिक तो वही एक हादसा है जो उस उम्र में अक्सर नौजवान दिलों पर गुज़र जाया करता है, लेकिन अब जो देखता हूं तो ये दौर भी एक दौर नहीं था, बल्कि उसके भी दो अलग-अलग हिस्से थे जिनकी दाख़िली और ख़ारजी कैफ़ियत काफ़ी मुख़्तलिफ़ थी। वो यूं है कि 20 ई. से 30 ई. तक का ज़माना हमारे यहां मआशी और समाजी तौर से कुछ अजीब तरह की बेफ़िक्री, आसूदगी का ज़माना था जिसमें अहम क़ौमी और सियासी तहरीकों के साथ-साथ नस्रो-नज़्म में बेश्तर संजीदा फ़िक्रो-मुशाहिदा के बजाय कुछ रंगरलियां मनाने का-सा अंदाज़ था। शेर में अव्वलन हसरत मोहानी और उनके बाद 'जोश', हफ़ीज़ जालंधरी और अख़्तर शीरानी की रियासत क़ायम थी, अफ़सानें में यलदरम और तनक़ीद में हुस्न बराए हुस्न और अदब बराए अदब का चर्चा था। *नक़्शे-फ़रियादी* की इब्तदाई नज़्में, 'ख़ुदा वो वक़्त न लाये कि सोगवार हो त', 'मेरी जां अब भी अपना हुस्न वापस फेर दे मुझको', 'तहे नजूम कहीं चांदनी के दामन में' वग़ैरा वग़ैरा, इसी माहौल के ज़ेरे असर मुरत्तब हुईं और इस फ़िज़ा में इब्तदाए इश्क़ का तहय्युर भी शामिल था। लेकिन हम लोग इस दौर की एक झलक भी ठीक से न देख पाये थे कि सुहबते यार आख़िर शुद। फिर देस पर आलमी कसाद-बाज़ारी के साये ढलने शुरू हुए। कॉलेज के बड़े-बड़े बांके तीसमार ख़ां तलाशे-मआश में गलियों की ख़ाक फांकने लगे। ये वो दिन थे जब यकायक बच्चों की हंसी बुझ गयी। उजड़े हुए किसान खेत खलिहान छोड़ कर शहरों में मज़दूरी करने

लगे और अच्छी ख़ासी शरीफ़ बहू बेटियां बाज़ार में जा बैठीं। घर के बाहर ये हाल था और घर के अंदर मर्गे-सोज़े-मुहब्बत का कुहराम मचा था। यकायक यूं महसूस होने लगा कि दिलोदिमाग़ पर सभी रास्ते बंद हो गये हैं और अब यहां कोई नहीं आयेगा। इस कैफ़ियत का इख़्तमाम जो *नक़्शे-फ़रियादी* के पहले हिस्से की आख़री नज़्मों की कैफ़ियत है, एक निस्बतन ग़ैर मारूफ़ नज़्म पर होता है, जिसे मैंने 'यास' का नाम दिया था। वो यूं है :

यास[1]

बरबते-दिल[2] के तार टूट गये
हैं ज़मीं-बोस[3] राहतों के महल
मिट गये क़िस्सःहा-ए-फ़िक्रो-अमल
बज़्मे-हस्ती के जाम फूट गये
छिन गया कैफ़े-कौसरो-तस्नीम[4]

ज़हमते-गिरियाः-ओ-बुका[5] बे-सूद
शिकवः-ए-बख़्ते-नारसा[6] बे-सूद
हो चुका ख़त्म रहमतों का नुज़ूल[7]
बंद है मुद्दतों से बाबे-क़बूल[8]
बे-नियाज़े-दुआ है रब्बे-करीम

बुझ गयी शम्ए-आरज़ू-ए-जमील[9]
याद बाक़ी है बेकसी की दलील
इंतज़ारे-फ़ज़ूल रहने दे
राज़-उल्फ़त निबाहने वाले
बारे-ग़म से कराहने वाले
काविशे-बे-हुसूल[10] रहने दे

34 ई. में हम लोग कॉलेज से फ़ारिग़ हुए और 35 ई. में मैंने एम.ए.ओ. कॉलेज अमृतसर में मुलाज़मत कर ली। यहां से मेरी और मेरे बहुत से हमअस्र लिखने वालों की ज़हनी और जज़्बाती ज़िंदगी का नया दौर शुरू होता है। उस दौरान कॉलेज में अपने रफ़क़ा साहबज़ादा महमूदुज़्ज़फ़र (मरहूम) और उनकी बेगम रशीद जहां से मुलाक़ात हुई। फिर तरक़्क़ीपसंद तहरीक की दाग़ बेल पड़ी, मज़दूर तहरीकों का सिलसिला शुरू हुआ और यूं लगा कि जैसे गुलशन में एक नहीं कई दबिस्तान खुल गये हैं। उस दबिस्तान में सबसे पहला सबक़ जो हमने सीखा था कि अपनी ज़ात को बाक़ी दुनिया से अलग करके सोचना अव्वल तो मुमकिन ही नहीं, इसलिए कि इसमें बहरहाल गर्दो-पेश के सभी तजुर्बात शामिल होते हैं और अगर ऐसा मुमकिन हो भी तो इंतहाई ग़ैर सूदमंद फेल है कि एक इनसानी फ़र्द की ज़ात अपनी सब मुहब्बतों और क़ुदरतों, मुसर्रतों और रंजिशों के बावजूद, बोहत ही छोटी सी, बोहत ही महदूद अैर हक़ीर शै है। इसकी वुसअत और पहनाई का पैमाना तो बाक़ी आलमे मौजूदात से उसके ज़हनी और जज़्बाती रिश्ते हैं, ख़ास

1. निराश, 2. हृदय-तंत्री, 3. धराशायी, 4. जन्नत की नहरों का मज़ा, 5. क्रंदन और रुदन का कष्ट, 6. अभागेपन का दुखड़ा, 7. अवतरण, 8. स्वीकृति का द्वार, 9. सुंदर कामना का दीपक, 10. निष्फल खोज

तौर से इनसानी बिरादरी के मुश्तरका दुख-दर्द के रिश्ते। चुनांचे ग़मे जानां और ग़मे दौरां तो एक ही तजुर्बे के दो पहलू हैं। इस नये एहसास की इब्तदा *नक़्शे-फ़रियादी* के दूसरे हिस्से की पहली नज़्म से होती है। इस नज़्म का उन्वान है, 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' और अगर आप ख़ातून हैं तो 'मेरे महबूम न मांग'। ... ...

इसके बाद तेरह-चौदह बरस 'क्यों न जहां का ग़म अपना लें' में गुज़रे और फिर फ़ौज, सहाफ़त, ट्रेड यूनियन वग़ैरा में गुज़ारने के बाद हम चार बरस के लिए जेलख़ाने चले गये। *नक़्शे-फ़रियादी* के बाद की दो किताबें *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* उसी जेलख़ाने की यादगार हैं। बुनियादी तौर से तो ये तहरीरें उन्हीं ज़हनी मेहसूसात और मामूलात से मुसलिक हैं जिनका सिलसिला 'मुझसे पहली सी मुहब्बत' से शुरू हुआ था लेकिन जेलख़ाना आशिक़ी की तरह ख़ुद एक बुनियादी तर्जुबा है जिसमें फ़िक्रो-नज़र का एक-आध नया दरीचा ख़ुद-ब-ख़ुद खुल जाता है। चुनांचे अव्वल तो ये है कि इब्तदाए-शबाब की तरह तमाम हय्यात यानी Sensations फिर तेज़ हो जाती हैं और सुबह की 'पौ' शाम के धुंधलके, आसमान की नीलाहट, हवा के गुदाज़, के बारे में वही पहला सा तहय्युर लौट आता है। दूसरे यूं होता है कि बाहर की दुनिया का वक़्त और फ़ासले दोनों बातिल हो जाते हैं। 'नज़दीक की चीज़ें भी बोहत दूर हो जाती हैं और दूर की नज़दीक और फ़रवादरी का तिफ़रक़ा कुछ इस तौर से मिट जाता है कि कभी एक लम्हा क़यामत मालूम होता है और कभी एक सदी कल की बात'। तीसरी बात यह है कि फ़रागत़े-हिज्रां में फ़िक्रो मुतालआ के साथ उरूसे सुख़न के ज़ाहरी बनाव सिंगार पर तवज्जो देने की ज़्यादा मुहलत मिलती है। जेलख़ाने के भी दो दौर थे, एक हैदराबाद जेल का जो इस तर्जेबे के इनकशाफ़ के तहय्युर का ज़माना था। एक मंटगोमरी जेल का जो इस तजुर्बे से उक्ताहट और थकन का ज़माना था। इन दो क़ैफियतों की नुमाइंदा ये दो नज़्में हैं, 'पहली *दस्ते-सबा* में से दूसरी *ज़िंदांनामा* में है।

ज़िंदां की एक शाम

शाम के पेचो-ख़म[1] सितारों से
ज़ीना-ज़ीना उतर रही है रात
यूं सबा पास से गुज़रती है
जैसे कह दी किसी ने प्यार की बात
सहने-ज़िंदां[2] के बे-वतन अशजार[3]
सरनिगूं[4] महव[5] है बनाने में
दामने-आसमां पे नक़्शो-निगार

शानए-बाम[6] पर दमकता है
मेहरबां चांदनी का दस्ते-जमील[7]
ख़ाक में घुल गयी है आबे-नजूम
नूर में घुल गया है अर्श[8] का नील

1. टेढ़े-मेढ़े, 2. जेल का आंगन, 3. पेड़, 4. नतमस्तक, 5. व्यस्त,6. बारजे पर, 7. सुंदर हाथ, 8. आसमान

सब्ज़ गोशों में नीलगूं साये
लहलहाते हैं जिस तरह दिल में
मौजे-दर्दे-फ़िराक़े-यार[9] आये

दिल से पैहम ख़याल कहता है
इतनी शीरीं है ज़िंदगी इस पल
ज़ुल्म का ज़हर घोलने वाले
कामरां[10] हो सकेंगे आज न कल
जल्वागाहे-विसाल[11] की शम्एं
वो बुझा भी चुके अगर तो क्या
चांद को गुल करें, तो हम जानें

ऐ रौशनियों के शहर

सब्ज़ा-सब्ज़ा सूख रही है फीकी, ज़र्द दुपहर
दीवारों को चाट रहा है तनहाई का ज़हर
दूर उफ़क़ तक घटती, बढ़ती, उठती, गिरती रहती है
कुहर की सूरत बे-रौनक़ दर्दों की गदली लहर
बसता है उस कुहर के पीछे रौशनियों का शहर
ऐ रौशनियों के शहर

कौन कहे किस सिम्त है तेरी रौशनियों की राह
हर जानिब बे-नूर खड़ी है हिज्र की शहरपनाह
थक कर हर सू बैठ रही है शौक़ की मांद सिपाह
आज मेरा दिल फ़िक्र में है
ऐ रौशनियों के शहर

शब ख़ूं से मुंह फेर न जाये अरमानों की रौ
ख़ैर हो तेरी लैलाओं की, उन सबसे कह दो
आज की शब जब दिये जलायें, ऊंची रक्खें लौ

ज़िंदांनामा के बाद का ज़माना कुछ ज़ेहनी अफ़रा-तफ़री का ज़माना है जिसमें अपना अख़बारी पेशा छूटा, एक बार फिर जेलख़ाने गये। मार्शल लॉ का दौर आया, और ज़ेहनी और गिर्दो-पेश की फ़ज़ा में फिर से कुछ इंसदादे राह और कुछ नयी राहों की तलब का एहसास पैदा हुआ। इस सकूत और इंतज़ार की आईनादार एक नज़्म है 'शाम' और एक ना मुकम्मल ग़ज़ल के चंद अश्आर : 'कब ठहरेगा दर्द ऐ कब रात बसर होगी?'

लाहौर जेल/मंटगोमरी जेल, 28 मार्च 15 अप्रैल, 1954

अनुवाद : मोहम्मद अंजुम

---

9. प्रेमिका के विरह की पीड़ा की लहर, 10. सफल, 11. जहां प्रणय की लीला होती है

प्रगतिशील लेखकों से कुछ बातें

फ़ैज़ अहमद फ़ैज

1983 में ताशक़ंद में एफ़्रो-एशियाई लेखक संघ की रजत जयंती के मौक़े पर आयोजित सम्मेलन में फ़ैज़ ने यह ऐतिहासिक व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान को पढ़ते हुए आप देख सकते हैं कि 28 साल पहले फ़ैज़ ने जो मुद्दे उठाये थे, वे आज भी प्रासंगिक हैं। सं.

'हमारा इस बात में दृढ़ विश्वास है कि साहित्य बहुत गहराई से मानवीय नियति के साथ जुड़ा है, कि स्वतंत्रता और राष्ट्रीय सार्वभौमिकता के बिना साहित्य का विकास संभव नहीं है, कि उपनिवेशवाद और नस्लवाद का समूल नाश साहित्य की सृजनात्मकता के संपूर्ण विकास के लिए बेहद ज़रूरी है।'

एफ़्रो-एशियाई लेखकों की पहली कान्फ्रेंस के समापन पर जारी अंतिम घोषणा पत्र के ये कुछ शुरुआती शब्द हैं। यह 1958 का वर्ष था और लगभग इन्हीं दिनों हम अनेक भव्यताओं से घिरे इस शहर ताशक़ंद में इकट्ठा हुए थे। धूप ख़ुशगवार थी, फलों के पकने का मौसम था, फसलें खलिहानों में आ चुकी थीं और जाती हुई गर्मियों में गुनगुनापन बाक़ी था।

घोषणापत्र तथा इससे जुड़े प्रस्तावों को एक मत से स्वीकार करने के साथ ही एफ़्रो-एशियाई लेखक संघ का जन्म हुआ। यह कुछ उत्साही साहित्यकारों के द्वारा किया गया कोई अप्रत्याशित कारनामा नहीं था। इसके उलट, यह उस विचार का फलना-फूलना था जो वर्षों से एशियाई और अफ़्रीकी लेखकों-बुद्धिजीवियों के दिमाग़ में बीज की तरह अंकुरा रहा था। चौंतीस देशों से हम दो सौ लोग उस मौक़े पर यहां इकट्ठा हुए थे। यह हमारे उस सपने का पूरा होना था जिसे हमने औपनिवेशिक ग़ुलामी की लंबी काली रात में देखा था। यह उन पुराने दोस्तों का, पुरातन प्रेमियों का मिलन महोत्सव था जो इससे पहले कभी नहीं मिले थे।

और इस सपने को पूरा करने के लिए, इस मुलाक़ात की अवर्णनीय ख़ुशी के लिए हम इस ताशक़ंद शहर, उज़्बेक नागरिकों और तुम्हारे कामरेड शरफ़ रशीदोव तुम्हारे ऋणी हैं और हार्दिक रूप से कृतज्ञता से भरे हैं। पांच वर्ष पहले भी, हम अपने संगठन की बीसवीं सालगिरह का उत्सव मनाने के लिए आपके ही इस ख़ुशनुमा आकाश के तले मिले थे और अब हमारी रजत जयंती ने हमें फिर इकट्ठा होने, और एक बार फिर प्यारे मेज़बानों, आपके प्रति हमारे प्रेम और आभार को अभिव्यक्त करने का मौक़ा दे दिया है।

हममें से वे जो पच्चीस बरस पहले भी सितारों से भरे इस जमावड़े में मौजूद थे और जो किसी तरह आज भी जीवित बचे हुए हैं, उनके लिए हमारे पुनर्मिलन की यह ख़ुशी, थोड़ी शोकग्रस्त भी है। शोक,

उन प्यारे दोस्तों की स्मृतियों का जो अब हमारे बीच नहीं हैं निकोलाई तिखोनोव, अलेक्सी सुर्कोव, कांस्टेंटाइन सिमोनोव, मुख़्तार अवेज़ेव, मूसा ऐबक, बर्डी केरबाबायेव, मिर्जो तरसुनजादे, नाज़िम हिकमत, सज्जाद ज़हीर, कृष्णचंदर, माओतुन ये सभी उनमें से कुछ एक नाम हैं। आज के दिन हम उनकी स्मृतियों के लिए एक बार फिर अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित करते हैं।

हम जब अपने अतीत की ओर देखते हैं तो ऐसा भी नहीं है कि 1958 में पहली बार साहित्य और समाज के अंतर्संबंध, हमारे समय की बुराइयों से संघर्ष में अच्छाइयों और न्याय के पक्ष में खड़े होने और इस तरह दुनिया को बदलने में सहायक होने की लेखकीय जिम्मेदारी, जैसी स्वयंसिद्ध बातें हमने खोज निकालीं थी। लेकिन यह पहली बार हुआ था कि स्पष्ट रूप से परिभाषित इन लक्ष्यों के लिए अफ़्रो-एशियाई लेखकों का यह मंच अस्तित्व में आया।

तमाम युद्धों के अंत की तरह, लड़े गये पहले महायुद्ध के बाद सामाजिक, नैतिक और साहित्यिक बूर्जुआ मान्यताओं और वर्जनाओं के टूटने और समृद्धि के एक संक्षिप्त दौर में विजेताओं के दिमाग़ में अहं का उन्माद उफनने लगा था। ख़ुदा आसमान पर था और धरती पर सब कुछ मज़े में चल रहा था। नतीजतन ज़्यादातर पश्चिमी और कुछ उपनिवेशों के साहित्य ने उसे आदर्श के रूप में अपना लिया। बड़े पैमाने पर शुद्ध रूपवाद के आनंद का सम्मोहन, अहं केंद्रित चेतना की रहस्यात्मकता से लगाव, रूमानी मिथकों और कल्पित आख्यानों के बहकावों के साथ 'कला, कला के लिए' के उद्‌बोधक सौंदर्यशास्त्रियों द्वारा अभिकल्पित गजदंती मीनारों का निर्माण होने लगा।

लेकिन, बमुश्किल एक दशक ही बीता था कि पूंजीवादी और औपनिवेशिक दुनिया को पहली बार, वैश्विक स्तर पर आर्थिक मंदी ने घेर लिया और हर ओर पूरब से पश्चिम तक, गुएर्निका से मुकदेन तक फ़ासीवाद का प्रेत, तबाही पर आमादा हो उठा। सिक्के के दूसरे पहलू पर, साथ ही साथ उकेरे जा रहे बोल्ड रिलीफ़ की तरह, दुनिया ने अक्तूबर की महान समाजवादी क्रांति को देखा। उसके साथ एक लगभग अकल्पनीय सामाजिक दिवास्वप्न जीवित सचाई में बदल चुका था। राजनीतिक रूप से दुनिया भर के साम्राज्यवादियों की सम्मिलित ताक़तों पर क्रांतिकारी ताक़तों की विजय और सभी के लिए राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की उद्‌घोषणा ने एशिया और अफ़्रीका के अधिकांश देशों में स्वतंत्रता और सामाजिक मुक्ति के आंदोलनों को एक प्रेरक उत्साह से भर दिया।

इसी समय फ़ासीवाद के उदय ने दुनिया भर के बौद्धिकों को इसके संभावित ख़तरों के विरुद्ध एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। इन सामाजिक-राजनीतिक सच्चाइयों और इनसे उभरती नयी वैचारिक सुर संगतियों से सृजनात्मक और मूल्यांकनपरक साहित्य में एक नयी गुणात्मक और मात्रात्मक अभिवृद्धि हुई। सृजनात्मक क्षेत्र में यथार्थवादी कथा साहित्य और सामाजिक टिप्पणियों से ओतप्रोत कविताएं रची गयीं। गद्य, पद्य तथा नाट्य साहित्य में अनेक उल्लेखनीय नाम सोवियत संघ, यूरोप, अमेरिका तथा तीसरी दुनिया के कई साक्षर मुल्कों से हमारे सामने आये। एक लंबी और उत्तेजक बहस के बाद मूल्यांकन के क्षेत्र में साहित्यिक आलोचना को राजनीति, नीतिशास्त्र और साहित्य के ग़ैरसाहित्यिक उपादानों के साथ एक अपरिवर्तनीय रिश्ते में पुनः जोड़ा गया। इसने समकालीन साहित्यिक सृजनधर्मिता को अपने सामाजिक और ऐतिहासिक मूल से जोड़ा और चारण, भाट, लोक गायक, किस्सागो, पुजारी, जादूगर, ओझा जैसे तमाम लोगों की आदिम भूमिका की पड़ताल, न सिर्फ़ शब्दों के कारीगर की तरह, बल्कि जीवन और उसके शृंगार की प्रक्रिया में सामाजिक हिस्सेदारों की तरह की। और फिर गजदंती मीनारों का ध्वंस प्रारंभ

हुआ और भारतीय प्रगतिशील लेखकों के महान आंदोलन की तरह गंभीर राजनीतिक चेतना और प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख अनेक साहित्यिक आंदोलन खड़े हुए। इन आंदोलनों ने अपनी मूल अंतर्वस्तु और रूपरेखा दो निर्णायक तत्वों से प्राप्त की। पहली तो वह राजनीतिक प्रेरणा है जो इन्हें सोवियत समाजवादी क्रांति से मिली और दूसरे मार्क्सवादी विचारों से मिला विचारधारात्मक दिशा-निर्देश।

यह दौर दूसरे महायुद्ध की भयावह छाया में पला-बढ़ा, इस पर बहुत ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ एक इशारा ही काफ़ी होगा कि इसी भयानक समय में प्रतिरोध के साहित्य की मशाल उठायी गयी और प्रतिबद्ध साहित्य के स्पष्ट मानदंड भी निर्धारित होते चले गये। अब हम ज़रा अपने निकट अतीत को देखें। युद्ध के बाद का हमारा समय, विराट अंतर्विरोधों से ग्रस्त हमारा युग, विजयोल्लास और त्रासदियों से भरा युग, उत्सवों से भरा और हृदयविदारक युग, बड़े सपनों और उनसे बड़ी कुंठाओं का ज़माना। तीसरी दुनिया की जनता के लिए, एशियाई, अफ्रीकी और लातीनी अमेरिकी लोगों के लिए, कम से कम इनकी एक बड़ी आबादी के लिए, किसी को तत्काल ही चार्ल्स डिकेंस के शब्द याद आ जायेंगे 'वह बेहतरीन वक़्त था, वह बदतरीन वक़्त था।' अपने दो-दो विश्वयुद्धों से थके हुए साम्राज्यवाद का कमज़ोर पड़ते जाना, सोवियत सीमाओं के पार विस्तार लेता और एकजुट होता समाजवादी ख़ेमा, संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक मुक्ति के आंदोलनों का उदय और उनकी सफलताएं, सभी कुछ एक ऐसी साहसी नयी दुनिया का वादा कर रहे थे जहां हमें स्वतंत्रता, शांति और न्याय उपलब्ध हो सकता था। पर हमारी बदक़िस्मती से ऐसा नहीं था।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, युद्ध में बंदूकों के ख़ामोश होने से पहले, हिरोशिमा और नागासाकी को क़त्लो-ग़ारत और विनाश के लिए मानवीय युद्धों के इतिहास में सर्वाधिक मारक युक्ति के विकराल प्रदर्शन के लिए चुन लिया गया। आणविक हथियारों के जिन्न को बंद बोतल से आज़ाद करते हुए अमेरिका ने समाजवादी खेमे को भी ऐसा ही करने के लिए आमंत्रण दे दिया। उस दिन से आज तक हमारी दुनिया की समूची सतह पर विनाश के डरावने साये की एक मोमी परत चढ़ी है और आज जितने ख़तरनाक तरीक़े से हमारे सामने वह झूल रही हैं, उतनी पहले कभी न थी। दूसरे, इस घटना को अभी कुछ ही दिन बीते थे कि अमेरिका ने कोरियाई जन के ख़िलाफ़ हथियारबंद हमले की शुरुआत की। जैसा कि कुछ लोगों ने हिसाब लगाया है, युद्ध की समाप्ति के बाद से हर चौदह महीनों में एक बार अमेरिकन एजेंसियों ने एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में उन सरकारों को उखाड़ फेंकने, नष्ट करने या अस्थिर करने की कोशिशें की हैं जो साम्राज्यवाद के नवउपनिवेशवादी इरादों की कठपुतली बनने से इंकार करती हैं या अपने मुल्कों के भीतर अप्रासंगिक हो चुकी प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहती हैं। स्वतंत्र विश्व के नाम पर संभवतः हमारे इतिहास के घोर अयथार्थ ढोल नगाड़ों के शोर के साथ अमेरिकन शासन तंत्र ने यहां वहां ढेर सारे निरंकुश राजाओं-सुल्तानों, ख़ून के प्यासे अधिनायक-तानाशाहों, बेदिमाग़ दुस्साहसी सेनापतियों और हवा-हवाई क़िस्म के राजनीतिज्ञों, जिस पर भी वे हाथ रख सकें, को सत्ता के सिंहासन पर बैठाने की कोशिशें की हैं और बैठाया भी है। यह कार्रवाई वियतनाम से बड़ी बदनामी के बाद हुई अमेरिकन विदाई के साथ कुछ वक़्त के लिए रुक सी गयी थी। फिर रोनाल्ड रीगन के ज़माने से हम अमेरिकनों और उनके नस्लवादी साथियों को यहां-वहां भौंकते शिकारी कुत्तों की तरह इन तीन महाद्वीपों में जैसे बिखरे बारूद के ढेरों के आसपास देख रहे हैं। तीसरे, जहां पुराने साम्राज्यवादी मालिकों का गिरोह अपने क़ब्ज़े में रहे उपनिवेशों के संसाधनों का दोहन कर रहा था, वहां अब उनकी जगह

अंतर्राष्ट्रीय एकाधिकार पूंजी के वित्तीय माफ़िया और नव उपनिवेशवाद के संरक्षकों ने ले ली है। अपने साम्राज्यवादी पूर्वजों की तरह ही, तीसरी दुनिया के मुल्कों में उद्योग-व्यापार का उनके लिए एक ही मतलब होता है अमीर का और अमीर होते चले जाना और ग़रीब का और ग़रीब होते होते मर जाना। पुराने ज़माने के शाइलॉक की तरह वे तीसरी दुनिया की सरकारों के तमाम यथास्थितिवादी ख़र्चों के लिए अपने अनुदान और ऋण के उदार प्रस्तावों के साथ हर वक़्त तैयार नज़र आते हैं, बस उन्हें उनके हिस्से का गोश्त गिरवी रखना है।

कोई पूछ सकता है, और उसे ठीक ही पूछना चाहिए कि इस सबका अफ़्रो-एशियाई लेखकों या साहित्य मात्र से आख़िर क्या लेना-देना है? जवाब है सब कुछ! सबसे पहले तो एक लेखक के तौर पर, एक नागरिक के तौर पर और मनुष्य होने के नाते वह संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा मानवीय अस्तित्व के सामने आवाणिक हथियारों के ज़रिये लगातार खड़ी की जा रही भीषण चुनौती को न तो अनदेखा कर सकता है और न ही निष्क्रिय होकर बैठा रह सकता है।

दूसरे, तीसरी दुनिया के अनेक देशों में एक लेखक, एक नागरिक के तौर पर उसने पाया है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलनों और राजनीतिक स्वतंत्रता के इस दौर में उसकी और उसके लोगों की मुक्ति नहीं हुई है। विदेशी शोषकों के आधिपत्य की समाप्ति के बाद दरअसल उसे और भी अधिक निर्दयी निरंकुश एक घरेलू निज़ाम मिला है। बतौर एक नागरिक उसकी ईमानदारी और बतौर एक लेखक उसकी निष्ठा, बार-बार अग्निपरीक्षा से गुज़र कर चूर-चूर हुई जाती है। अब और ज़्यादा क्या कहा जाये दुनिया के कुछ हिस्सों में नस्लवादी शासकों के द्वारा राजनीतिक स्वतंत्रता का मूलभूत अधिकार भी नहीं दिया जा रहा है और अभी भी गांव-क़स्बों के गली-मुहल्लों में स्वाधीनता सेनानियों का ख़ून बहे चला जा रहा है। फिलस्तीन में, इज़राइलियों के द्वारा हथियाये गये अरब इलाक़ों पर, दक्षिण अफ़्रीका और नामीबिया में यही हालात हैं। तीसरी बात है कि तीसरी दुनिया में जारी राजनीतिक दुरभिसंधियों और आर्थिक संसाधनों की लूट के साथ ही एक ऐसा सोचा-समझा विनाशक संहार जारी है जो उसके सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट करने के बाद उसकी पारंपरिक पहचान को भी समाप्त कर देगा।

यह स्वाभाविक ही है कि इन घृणित योजनाओं को चुनौती दी जाये। इसीलिए युद्धोत्तर काल में कई प्रगतिशील आंदोलनों का जन्म हुआ। इनमें विश्वशांति और आपसी समझदारी को बढ़ाने के लिए, अंतर्राष्ट्रीय एकता के लिए, स्त्री के अधिकारों के लिए, मज़दूर संगठनों के लिए आंदोलन चल रहे हैं। और अब यह अफ़्रो-एशियाई लेखकों का आंदोलन है। ऊपर उठाये गये राजनीतिक मुद्दों की बात के अलावा लेखकों से आवाहन किया गया था कि इनके साथ ही वे अपने व्यवसाय की ज़िम्मेदारियों और समस्याओं के बारे में भी अपने बीच संवाद क़ायम करें। हमारे समय के लेखकों और कलाकारों से अपेक्षा है कि वे औपनिवेशिक काल के अवशेषों से विकृत और धूलधूसरित अपने अतीत के खंडहरों से स्वयं को मुक्त करें और अपनी पहचान के जीवित तत्वों की खोज करें। काल की निरंतरता के बीच अपने अनुभव सत्य और समय की वास्तविकताओं की प्रस्थापना करें।

इस प्रक्रिया में उन्होंने एक ओर साम्राज्यवादियों द्वारा मिटा दिये गये अपने एशियाई और अफ़्रीकी पड़ोसियों के साथ अतीत के सांस्कृतिक संबंधों की फिर से खोज की। वहीं पीड़ा और अपमान झेल रहे समाजों में संघर्ष और मुक्ति के रास्ते तलाशते दो महाद्वीपों की जनता के दिलोदिमाग़ को भी आपस में जोड़ दिया। और इस तरह युद्धोत्तर काल में पहले एक मनोवेग और फिर एक सपने ने जन्म लिया और

सोवियत लेखक संघ के आमंत्रण और ताशक़ंद की दिलनवाज़ मेहमाननवाज़ी को धन्यवाद, कि सपना सच हुआ और एफ़्रो-एशियाई लेखक संघ का जन्म हुआ। जन्म बिना किसी तकलीफ़ के हुआ और ख़ुशी से भरा दिन था। लेकिन बच्चे का बड़ा होना? जैसा कि हम सब जानते हैं, उसकी अपनी मुसीबतें हैं। नतीजतन आज पच्चीस बरस बाद भी, जो कुछ किया जाना चाहिए था उसके बहुत बड़े हिस्से पर कुछ भी नहीं हो सका है। कई योजनाएं-परियोजनाएं जिन्हें पहली ही कांफ्रेंस में तय किया गया था और बाद में भी जिन पर लगभग हर बार जो दिया जाता रहा, आज भी काग़ज़ों पर ही हैं।

आज बहुत से अधूरे रहे आये कामों को कोई भी गिना सकता है। मसलन, एफ़्रो-एशियाई साहित्य के लिए एक प्रकाशन गृह की स्थापना, एफ़्रो-एशियाई लेखकों की जीवनी सहित संपर्क-संदर्भ-कोश, एफ़्रो-एशियाई क्लासिक्स का बड़ी यूरोपियन भाषाओं में अनुवाद, राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में एफ़्रो-एशियाई साहित्य विभागों की स्थापना, वग़ैरह-वग़ैरह। ज़ाहिर है कि इन महत्वाकांक्षी परियोजनाओं को तभी हाथ में लिया जा सकता था जब हमारे पास पर्याप्त कर्मचारी, सुसज्जित संसाधन, हर परियोजना के लिए एक वित्त पोषित संगठन, और राष्ट्रीय समितियों के साथ नज़दीकी संपर्क के लिए एक केंद्रीय मुख्यालय होता। लेकिन हम इनमें से कुछ भी नहीं जुटा पाये। वजह सभी को मालूम है। संगठन का पहला मुख्यालय पहले सम्मेलन के बाद कोलंबो में स्थापित किया गया और वह निराशाजनक ढंग से असफल हो गया। इसके बाद एक सुव्यवस्थित और सक्रिय केंद्र की काहिरा में स्थापना करने और वहां काम शुरू करने में क़रीब आठ बरस लग गये। यह भी कैंप-डेविड षड्यंत्र का शिकार हुआ और तब से हमारा कैंप केंद्रीय मुख्यालय अपने महासचिव के साथ-साथ बेघर-बेपता और बेसरोसामान है।

फिर भी एक महत्वपूर्ण परियोजना जिसे मूल रूप से पहले प्रस्तावित किया गया था और जिस पर बहुत बाद में काम शुरू हुआ *द लोटस* पत्रिका आज भी है, हालांकि अपनी अनियमितताओं के साथ। वह बची रही क्योंकि उसे सोवियत लेखक संघ, जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक की एकता समिति और फ़िलस्तीनी मुक्ति संगठन की सहायता और सहयोग मिलता रहा। इनके साथ ही उसे कई देशों से मित्र और सहयोगी सदस्य भी मिलते रहे।

एक अन्य सकारात्मक पहलू सचिवालय अथवा राष्ट्रीय समितियों के द्वारा बड़ी संख्या में सेमिनार, परिसंवाद और साहित्यिक सम्मेलन आदि आयोजनों का है। जिनमें अनुभवों और विचारों के आदान-प्रदान से हमारे आपसी रिश्ते मज़बूत हुए और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की हमारी समझदारी बढ़ी। इन सभी मामलों पर, इसमें कोई शक नहीं कि हम महासचिव से विस्तार से सुनेंगे। मैं यहां सिर्फ़ उन कुछ मुद्दों पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं जो इन्हीं परिस्थितियों में पिछले पच्चीस बरसों में हमारे सामने आये हैं।

पहला भौतिक मामला तो बढ़ती उम्र का है। इस आंदोलन की शुरुआत और संगठन की स्थापना के समय इसके सदस्य नेतागण और वैचारिक सहयोगी, ज़्यादातर नौजवान थे और अपनी सृजनात्मकता के शिखर पर थे। बीते वक़्त के साथ-साथ हम सामूहिक नेतृत्व में पर्याप्त संख्या में युवतर लेखकों को शामिल करते चलने का कोई रास्ता नहीं खोज पाये। नतीजतन, कुछ एशियाई और अफ़्रीकी देशों में कई प्रतिभावान लेखक, हमसे उद्देश्यों से सहमति रखते हुए भी, हमारे संगठन की सीमाओं से बाहर रह कर ही विकसित हो रहे हैं।

दूसरे, राजनीतिक मुद्दों को प्रमुखता से उठाते रहने की वजह से प्रगतिशील लेखक और उनके संगठन,

लेखकीय कौशल और सौंदर्यशास्त्र के मुद्दों को दरकिनार करने में कुशल होते गये हैं। ठीक वैसे ही जैसे रूपवादी और पलायनवादी लेखक अपने आस-पास की दुनिया की तरफ़ से आंख मूंद लेते हैं। सिद्धांत-कथन के स्तर पर इन संगठनों की घोषणाएं, बयान और मुद्दों का प्रतिपादन, प्रकट रूप से साहित्य से निर्लिप्त राजनीतिक दलों से ज़रा भी भिन्न नहीं होता। सृजनात्मक रूप से, दूरंदेशी के बिना सृजन प्रक्रिया की जटिलताओं के प्रति एक काहिली भरा रवैया प्रगतिशील लेखन को ऐसे नीरस और बकवादी पिष्टपेषण में बदल देता है जो कभी भी न तो राजनीतिक और न ही कलात्मक रूप से मूल्यवान होता है। हमें स्वीकार करना चाहिए कि बहुत ही अच्छे इरादों से, बहुत सारे साहित्य के लिए हमने पहले तो जगह और फिर रास्ता बना दिया है। इसलिए यह ज़रूरी है कि सिद्धांत और कार्य व्यवहार में ठीक-ठीक संतुलन किया जाये, जैसा कि हर क्षेत्र में किया जाता है। ख़ास तौर से सृजनात्मक प्रतिभाओं को विचारधारात्मक बोध से संपन्न करने के मामले में इस बात पर ध्यान देना चाहिए।

तीसरी बात यह कि तीसरी दुनिया के कुछ देशों में जिस तरह सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियां विकसित हो रही हैं जैसा कि पहले भी संक्षेप में कहा गया है नये शोषक वर्ग और निरंकुश तानाशाही के उदय और स्वतंत्रता मिलने के बाद वैयक्तिक और सामाजिक मुक्ति के सपनों के ढह जाने से युवा पीढ़ी मोहभंग, सनकीपन और अविश्वास की विषाक्त चपेट में आ गयी है। नतीजतन बहुत से युवा लेखक पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रतिपादित किये जा रहे जीवित यथार्थ से साहित्य का रिश्ता तोड़ने, उसके मानवीयकरण और शैक्षणिक पक्ष को अस्वीकार करने और लेखक को तमाम सामाजिक ज़िम्मेदारियों से मुक्त होने जैसे प्रतिकियावादी विचारों और सिद्धांतों के प्रति आकर्षित हो रहे हैं। इन वैचारिक मठों और गढ़ों से रूपवाद, संरचनावाद, अभिव्यक्तिवाद और अब 'लेखक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता' जैसे ऊपर से अत्यंत आकर्षक लगने वाले नारे की लगातार वकालत की जा रही है। इसका ज़ाहिर उद्देश्य लेखक को अपनी सामाजिक, राजनीतिक, विचारधारात्मक प्रतिबद्धता से दूर करना है। इस सारे विभ्रम को इसीलिए विचारपूर्ण तरीक़ों से हटाने की ज़रूरत है।

और अंत में, एफ्रो-एशियाई लेखकों के सामने अपने लोगों के बजाय पश्चिमी पाठकों के लिए लिखने पर ढेरों भौतिक लालच बाहें फैलाकर स्वागत कर रहे हैं। जिस एफ्रो-एशियाई लेखक की रचनाएं किसी एक भी यूरोपियन भाषा में प्रकाशित हो जाती हैं वह रातोंरात विश्वख्याति का हक़दार बन जाता है। दूसरी तरफ़ उसका वह साथी है जिसकी रचनाएं दस-दस एफ्रो-एशियाई भाषाओं में अनूदित हो रही हैं, और वह ऐसी किसी ख्याति का दावा भी नहीं कर सकता। इस विषम स्थिति का भी कोई न कोई हल हमें निकालना चाहिए।

अब अपने आंदोलन और अपने संगठन की ओर वापस लौटते हुए सभी कुछ कहे-सुने जाने के बावजूद, हमारी एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि से कोई इनकार नहीं कर सकता। वह उपलब्धि यह है कि एफ्रो-एशियाई लेखक संगठन आज भी चल रहा है, और न सिर्फ़ चल रहा है बल्कि इसने अपने जन्म से ही घोषित उद्देश्यों और इरादों को न तो छोड़ा है, न मुंह मोड़ा है।

इसलिए मुझे अपनी ताशक़ंद की पहली कांफ्रेंस में जारी घोषणापत्र की अंतिम पंक्तियों से अपना वक्तव्य समाप्त करने की इजाज़त दीजिए 'हम दुनिया भर के सभी लेखकों से आवाहन करते हैं कि आप तमाम मानवीय बुराइयों के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करें। उन बुराइयों के ख़िलाफ़ जिनका शिकार हमारा समाज और हमारे लोग हैं। उपनिवेशवाद, नस्लवाद और शोषण की बुराइयों के ख़िलाफ़।

हम आपसे आग्रह करते हैं कि इसके साथ ही साथ सत्य, सौंदर्य और स्वतंत्रता की अपनी खोज, जनजीवन से जुड़े ऐसे साहित्य की रचना, जो न्याय और तर्क की सर्वोपरि स्थापना के उनके संघर्ष में सहायक हो सके, जारी रखें।'

मैं दुनिया में आज के हालात देखते हुए इस घोषणा पत्र को कुछ शब्दों के ज़रिए थोड़ा सा और बढ़ाना चाहता हूं 'मनुष्य जाति और मानवीय सभ्यता पर आणविक सर्वनाश का ख़तरा मंडरा रहा है और मनुष्यता के सामने यह सबसे बड़ा ख़तरा है। दुनिया भर के तमाम लेखको, आप अपनी आवाज़ विश्व शांति और तनाव-शैथिल्य के पक्ष में और हर क़िस्म के सैन्यवाद तथा युद्ध के ख़िलाफ़ बुलंद करें।'

अनुवाद : राजेंद्र शर्मा

अविकसित देशों की सांस्कृतिक समस्याएं

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

शीमा माजिद द्वारा संपादित फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के चुनिंदा अंग्रेज़ी लेखों का संग्रह 'कल्चर एंड आइडेंटिटीः सिलेक्टेड इंग्लिश राइटिंग्स ऑफ़ फ़ैज़ (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005) अपनी तरह का पहला संकलन है। इस संकलन में फ़ैज़ के संस्कृति, कला, साहित्य, सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लेख इसी शीर्षक से पांच खंडों में विभाजित हैं। इनके अलावा एक और 'आत्म-कथ्यात्मक' खंड है, जिसमें प्रमुख है फ़ैज़ द्वारा 7 मार्च 1984 (अपने इंतकाल से महज़ आठ महीने पहले) को इस्लामाबाद में एशिया स्टडी ग्रुप के सामने कही गयी बातों को ट्रांसक्रिप्ट करके संकलित किया गया है। इस महत्वपूर्ण पुस्तक की भूमिका पाकिस्तान में उर्दू साहित्य के मशहूर आलोचक मुहम्मद रज़ा काज़िमी ने लिखी है। शायरी के अलावा फ़ैज़ साहब ने उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में साहित्यिक आलोचना और संस्कृति के बारे में विपुल लेखन किया है। साहित्य की प्रगतिशील धारा के प्रति उनका जगज़ाहिर झुकाव इस संकलन के कई लेखों में झलकता है। इस संकलन में शामिल अमीर खुसरो, ग़ालिब, तोल्स्तोय, इक़बाल और सादिक़ैन जैसी हस्तियों पर केंद्रित उनके लेख उनकी 'व्यावहारिक आलोचना' (एप्लाइड क्रिटिसिज़्म) की मिसाल हैं। यह संकलन केवल फ़ैज़ के साहित्यिक रुझानों पर ही रौशनी नहीं डालता बल्कि यह पाकिस्तान और समूचे दक्षिण एशिया की संस्कृति और विचार की बेहद साफ़दिल और मौलिक व्याख्या के तौर पर भी महत्वपूर्ण है। इसी पुस्तक के एक लेख 'कल्चरल प्राब्लम्स इन इंडरडिवेलप्ड कंट्रीज़' का तर्जुमा हम पेश कर रहे हैं। सं.

इनसानी समाजों में संस्कृति के दो मुख्य पहलू होते हैं; एक बाहरी, औपचारिक; और दूसरा आंतरिक वैचारिक संस्कृति के बाह्य स्वरूप, जैसे सामाजिक और कला-संबंधी, संस्कृति के आंतरिक वैचारिक पहलू की संगठित अभिव्यक्ति मात्र होते हैं और दोनों ही किसी भी सामाजिक संरचना के स्वाभाविक घटक होते हैं। जब यह संरचना परिवर्तित होती है या बदलती है तब वे भी परिवर्तित होते हैं या बदलते हैं और इस जैविक कड़ी के कारण वे अपने मूल जनक जीव में भी ऐसे बदलाव लाने में असर रखते हैं या उसमें सहायता कर सकते हैं। इसलिए सांस्कृतिक समस्याओं का अध्ययन या उन्हें समझना सामाजिक समस्याओं अर्थात राजनीतिक और आर्थिक संबंधों की समस्याओं से पृथक करके नहीं किया जा सकता। इसलिए अविकसित देशों की सांस्कृतिक समस्याओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में यानी सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में रखकर समझना और सुलझाना होगा।

फिर अविकसित देशों की मूलभूत सांस्कृतिक समस्याएं क्या हैं? उनके उद्गम क्या हैं और उनके समाधान के रास्ते में कौन से अवरोध हैं?

मोटे तौर पर तो ये समस्याएं मुख्यतः कुंठित विकास की समस्याएं हैं; वे मुख्यतः लंबे समय के साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शासन और पिछड़ी, कालबाह्य सामाजिक संरचना के अवशेषों से उपजी हुई हैं। इस बात का और अधिक विस्तार से वर्णन करना ज़रूरी नहीं। सोलहवीं और उन्नीसवीं सदी के बीच एशिया,

अफ़्रीका और लातिन अमरीका के देश यूरोपीय साम्राज्यवाद से ग्रस्त हुए। उनमें से कुछ अच्छे-ख़ासे विकसित सामंती समाज थे जिनमें विकसित सामंती संस्कृति की पुरातन परंपराएं प्रचलित थीं। औरों को अभी प्रारंभिक ग्रामीण क़बीलाईवाद से परे जाकर विकास करना था। राजनीतिक पराधीनता के दौरान उन देशों का सामाजिक और सांस्कृतिक विकास रुक सा गया और यह राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने तक रुका ही रहा। तकनीकी और बौद्धिक श्रेष्ठता के बावजूद इन प्राचीन सामंतवादी समाजों की संस्कृति एक छोटे से सुविधासंपन्न वर्ग तक ही सीमित थी और उसका अंतर्मिश्रण जन साधारण की समानांतर सीधी सहज लोक संस्कृति से कदाचित ही होता। अपनी बालसुलभ सुंदरता के बावजूद आदिम क़बीलाई संस्कृति में बौद्धिक तत्व कम ही था। एक ही वतन में पास-पास रहने वाले क़बीलाई और सामंतवादी समाज दोनों ही अपने प्रतिद्वंद्वियों के साथ लगातार क़बीलाई, नस्ली और धार्मिक या दीगर झगड़ों में लगे रहते। अलग-अलग क़बीलाई या राष्ट्रीय समूहों के बीच का खड़ा विभाजन (vertical division)। और एक ही क़बीलाई या राष्ट्रीय समूह के अंतर्गत विविध वर्गों के बीच का क्षैतिज विभाजन (horizontal division), इस दोहरे विखंडन को उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी प्रभुत्व से और बल मिला। यही वह सामाजिक और सांस्कृतिक मूलभूत ज़मीनी संरचना है जो नवस्वाधीन देशों को अपने भूतपूर्व मालिकों से विरासत में मिली है।

एक बुनियादी सांस्कृतिक समस्या जो इनमें से बहुत से देशों के आगे मुंह बाये खड़ी है, वह है सांस्कृतिक एकीकरण की समस्या, नीचे से ऊपर तक एकीकरण जिसका अर्थ है विविध राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रतिरूपों को साझा वैचारिक और राष्ट्रीय आधार प्रदान करना और क्षैतिज एकीकरण जिसका अर्थ है अपने समूचे जन समूह को एक से सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर तक ऊपर उठाना और शिक्षित करना। इसका मतलब यह कि उपनिवेशवाद से आज़ादी तक के गुणात्मक राजनीतिक परिवर्तन के पीछे-पीछे वैसा ही गुणात्मक परिवर्तन उस सामाजिक संरचना में होना चाहिए जिसे उपनिवेशवाद अपने पीछे छोड़ गया है।

एशियाई, अफ़्रीकी और लातिन अमरीकी देशों पर जमाया गया साम्राज्यवादी प्रभुत्व विशुद्ध राजनीतिक आधिपत्य की निष्क्रिय प्रक्रिया मात्र नहीं था और वह ऐसा हो भी नहीं सकता था। इसे सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना (deprivation) की क्रियाशील प्रक्रिया ही होना था और ऐसा था भी। पुराने सामंती या प्राक्-सामंती समाजों में कलाओं, कौशलों, प्रथाओं, रीतियों, प्रतिष्ठा, मानवीय मूल्यों और बौद्धिक प्रबोधन के माध्यम से जो कुछ भी अच्छा, प्रगतिशील और अग्रगामी था उसे साम्राज्यवादी प्रभुत्व ने कमज़ोर करने और नष्ट करने की कोशिश की। और अज्ञान, अंधविश्वास, जीहुज़ूरी और वर्ग शोषण अर्थात जो कुछ भी उनमें बुरा, प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी था उसे बचाये और बनाये रखने की कोशिश की। इसलिए साम्राज्यवादी प्रभुत्व ने नवस्वाधीन देशों को वह सामाजिक संरचना नहीं लौटायी जो उसे शुरुआत में मिली थी बल्कि उस संरचना के विकृत और बर्बाद कर दिये गये अवशेष उन्हें प्राप्त हुए। और साम्राज्यवादी प्रभुत्व ने भाषा, प्रथा, रीतियों, कला की विधाओं और वैचारिक मूल्यों के माध्यम से इन अवशेषों पर अपने पूंजीवादी सांस्कृतिक प्रतिरूपों की घटिया, बनावटी, सेकंड-हैंड नक़लें अध्यारोपित कीं।

अविकसित देशों के सामने इस वजह से बहुत सी सांस्कृतिक समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। पहली समस्या है अपनी विध्वस्त राष्ट्रीय संस्कृतियों के मलबे से उन तत्वों को बचा कर निकालने की जो उनकी राष्ट्रीय पहचान का मूलाधार है, जिनका अधिक विकसित सामाजिक संरचनाओं की आवश्यकताओं के अनुसार समायोजन और अनुकूलन किया जा सके, और जो प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों और प्रवृत्तियों को मज़बूत बनाने और उन्हें बढ़ावा देने में मदद करे। दूसरी समस्या है उन तत्वों को नकारने और तजने की

जो पिछड़ी और पुरातन सामाजिक संरचना का मूलाधार हैं, जो या तो सामाजिक संबंधों की और विकसित व्यवस्था से असंगत हैं या उसके विरुद्ध हैं, और जो अधिक विवेकवान, बुद्धिपूर्ण और मानवीय मूल्यों और प्रवृत्तियों की प्रगति में बाधा बनते हैं। तीसरी समस्या है, आयातित विदेशी और पश्चिमी संस्कृतियों से उन तत्वों को स्वीकार और आत्मसात करने की जो राष्ट्रीय संस्कृति को उच्चतर तकनीकी, सौंदर्यशास्त्रीय और वैज्ञानिक मानकों तक ले जाने में सहायक हों, और चौथी समस्या है उन तत्वों का परित्याग करने की जो अधःपतन, अवनति और सामाजिक प्रतिक्रिया को सोद्देश्य बढ़ावा देने का काम करते हैं।

तो ये सभी समस्याएं नवीन सांस्कृतिक अनुकूलन, सम्मिलन और मुक्ति की हैं। और इन समस्याओं का समाधान आमूल सामाजिक (अर्थात राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक) पुनर्विन्यास के बिना केवल सांस्कृतिक माध्यम से नहीं हो सकता। इन सभी बातों के अलावा, अविकसित देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता के आने से कुछ नयी समस्याएं भी आयी हैं। पहली समस्या है उग्र-राष्ट्रवादी पुनरुत्थानवाद, और दूसरी है नव-साम्राज्यवादी सांस्कृतिक पैठ की।

इन देशों के प्रतिक्रियावादी सामाजिक हिस्से; पूंजीवादी, सामंती, प्राक-सामंती और उनके अभिज्ञ और अनभिज्ञ मित्रगण ज़ोर देते हैं कि सामाजिक और सांस्कृतिक परंपरा के अच्छे और मूल्यवान तत्वों का ही पुनः प्रवर्तन और पुनरुज्जीवन नहीं किया जाना चाहिए बल्कि बुरे और बेकार मूल्यों का भी पुनः प्रवर्तन और स्थायीकरण किया जाना चाहिए। आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के बुरे और बेकार तत्वों का ही नहीं बल्कि उपयोगी और प्रगतिशील तत्वों का भी अस्वीकार और परित्याग किया जाना चाहिए। इस प्रवृत्ति के कारण एशियाई और अफ्रीकी देशों में कई आंदोलन उभरे हैं, इन सारे आंदोलनों के उद्देश्य मुख्यतः राजनीतिक हैं, अर्थात बुद्धि संपन्न सामाजिक जागरूकता के उभार में बाधा डालना और इस तरह शोषक वर्गों के हितों और विशेषाधिकारों की पुष्टि करना।

उसी समय नव-उपनिवेशवादी शक्तियां, मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका, अपराध, हिंसा, सिनिसिज़्म, विकार और लंपटता का महिमामंडन और गुणगान करने वाली दूषित फ़िल्मों, पुस्तकों, पत्रिकाओं, संगीत, नृत्यों, फ़ैशनों के रूप में सांस्कृतिक कचरे, या ठीक-ठीक कहें तो असांस्कृतिक कचरे के आप्लावन से प्रत्येक अविकसित देश के समक्ष खड़े सांस्कृतिक शून्य को भरने की कोशिश कर रही हैं। ये सभी निर्यात अनिवार्यतः अमरीकी सहायता के माध्यम से होने वाले वित्तीय और माल के निर्यात के साथ साथ आते हैं और उनका उद्देश्य भी मुख्यतः राजनीतिक है अर्थात अविकसित देशों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागरूकता को बढ़ने से रोकना और इस तरह उनके राजनीतिक और बौद्धिक परावलंबन का स्थायीकरण करना। इसलिए इन दोनों समस्याओं का समाधान भी मुख्यतः राजनीतिक है अर्थात् देशज और विदेशी प्रतिक्रियावादी प्रभावों की जगह प्रगतिशील प्रभावों को स्थानापन्न करना। और इस काम में समाज के अधिक प्रबुद्ध और जागरूक हल्क़ों जैसे लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों की प्रमुख भूमिका होगी। संक्षेप में, कुंठित विकास, आर्थिक विषमता, आंतरिक विसंगतियां, नक़लचीपन आदि अविकसित देशों की प्रमुख सांस्कृतिक समस्याएं मुख्यतः सामाजिक समस्याएं हैं। वे एक पिछड़ी हुई सामाजिक संरचना के संगठन, मूल्यों और प्रथाओं से जुड़ी हुई समस्याएं हैं। इन समस्याओं का कारगर समाधान तभी होगा जब राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संपन्न हो चुकी राजनीतिक क्रांति के पश्चात राष्ट्रीय स्वाधीनता को पूर्ण करने के लिए सामाजिक क्रांति भी होगी।

अंग्रेजी से अनुवाद : भारत भूषण तिवारी
bharatbhooshan.tiwari@gmail.com

ग़ज़ल की भावभूमि में अन्विति

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

पाकिस्तान नेशनल सेंटर, इस्लामाबाद ने 'इदारए-यादगारे-ग़ालिब' के साथ मिलकर 20 जुलाई, 1973 को इस्लामाबाद में 'महफ़िले-ग़ालिब' का आयोजन किया था। इस महफ़िल में इदारे के जनरल सेक्रेटरी ने अपनी संस्था और 'ग़ालिब-लायब्रेरी' की सरगर्मियों का हाल सुनाया। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने, जो इदारे के संस्थापक और अध्यक्ष होने के अलावा उपर्युक्त 'महफ़िल' के भी सभापति थे, ग़ालिब की मशहूर ग़ज़ल 'मेहमां किये हुए-बज़्म चराग़ां किये हुए' पर भाषण दिया। उस भाषण का टेप 'ग़ालिब लायब्रेरी' के 'फ़ैज़ कक्ष' में सुरक्षित कर लिया गया है। फ़ैज़ का यह लेक्चर ग़ज़ल के रचना-विन्यास की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस टिप्पणी का केंद्रीय सूत्र यह है कि ग़ज़ल में विषयवस्तु या भावनाओं की एकता नहीं होती बल्कि मूड की एकता या कैफ़ियत होती है। सं.

अगर मुझे पहले से मालूम होता कि आज के इस आयोजन में मेरी और मिर्ज़ा ज़फ़रुल हसन की शिरकत महज़ अपनी ग़रज़ और मतलब के लिए है तो मैं आयोजकों से कहता कि वह कुछ प्रबंध करें ताकि यह मालूम न हो कि हम दोनों सिर्फ़ ग़ालिब लायब्रेरी के लिए आपसे किताबें मांगने के लिए यहां आये हैं।

ग़ालिब के काव्य, व्यक्तित्व और चिंतन के बहुत-से पहलुओं पर इस क़दर तफ़सील से और इतना कुछ लिखा जा चुका है कि उस पर इज़ाफ़ा शायद अब मुमकिन न हो।

ग़ज़ल पर आम एतराज़ यह है कि इसमें भावभूमि की एकता यानी यूनिटी का कोई तत्व नहीं पाया जाता। बल्कि यह विभिन्न विचारों और भावनाओं को महज़ छंद और तुक (रदीफ़ क़ाफ़िये) की रस्सी में टांकने का नाम है; और उसमें किसी क़िस्म का सिलसिला या रब्त (संबंध) नहीं होता। मैं समझता हूं कि इस तरह इसको समझना ठीक नहीं है। दूसरे या तीसरे दर्जे के ग़ज़लिया कलाम के बारे में तो यह बात कही जा सकती है, इसलिए कि उस तरह के शायर तो महज़ क़ाफ़ियाबंदी (तुकबंदी) करते हैं, लेकिन जो अच्छा और संजीदा (गंभीर, मार्मिक) ग़ज़लिया कलाम है उसके बारे में यह एतराज़ शायद सही न हो; और ग़ालिब के बारे में यक़ीनन सही नहीं है। ग़ालिब तो क़ाफ़ियाबंद नहीं थे। चुनांचे वह ख़ुद कहते हैं :

ग़ालिब न बूद शैवए-मन क़ाफ़ियाबंदी
जुल्मीस्त कि बर-किल्क्-ओ वरक़ मी कुनम इमशब

वह तो किल्क-ओ वरक़ (क़लम और काग़ज़) पर यह ज़ुल्म करते थे। ज़ाहिर है कि महज़ विभिन्न विषयों को एक जगह पर ला रखना ग़ालिब को अच्छा न लगा होगा। इतना ज़रूर है कि ग़ज़ल में जिस क़िस्म

की इकाई पायी जाती है, वह विषयवस्तु या भावनाओं की इकाई नहीं होती बल्कि उस चीज़ की इकाई होती है जिसको आप मूड कह लें या एक कैफ़ियत (भावधारा) कह लें।

अगर आप ग़ालिब के कलाम पर नज़र डालें तो उनके पुख़्ता ज़माने के कलाम में देखेंगे कि हर ग़ज़ल क़रीब-क़रीब एक ही मूड की है, या एक ही कैफ़ियत लिये हुए है। न सिर्फ़ यह, बल्कि उस मूड की भी जो अलग-अलग कैफ़ियतें हैं उनमें भी एक तरतीब पायी जाती है। और उसी की एक मिसाल मैं इस वक़्त पेश करनेवाला हूं। लेकिन ज़ाहिर है कि इकाई का यह तत्व साफ़ खुला और उभरा हुआ नहीं है। बल्कि ग़ज़ल का यह सिलसिला आंतरिक होता है और जो महज़ महसूस किया जा सकता है। ज़ाहिरी तौर से इसकी दो सूरतें हैं : एक तो छंद का चुनाव, दूसरे 'ज़मीन' यानी क़ाफ़िया-रदीफ़* (तुक-योजना) का चुनाव। यह बिल्कुल सीधी और साफ़ बात है कि आप कोई बहुत उदास मज़मून किसी चलती हुई धुन में नहीं गा सकते। उसमें वह आहंग (नाद) पैदा न होगा जो उद्दिष्ट है। छंद का चुनाव अपनी जगह पर यह तय कर देता है कि उस ग़ज़ल का मूड क्या है। या ग़ज़ल की कैफ़ियत (भावधारा) इस चीज़ का फ़ैसला करती है कि उसके लिए कौन-सा छंद मौज़ूं है। दूसरे यह कि जो 'ज़मीन' (या क़ाफ़िया-रदीफ़ : तुक-योजना) और ख़ास तौर से 'रदीफ़' चुनी जाती है, उससे भी एक ख़ास लगाव होता है उस भावना या कैफ़ियत का, जिसका आधार पाकर वह ग़ज़ल मन में गूंजी है और लिखी गयी है।

जिस ग़ज़ल का मैं आपसे ज़िक्र करना चाहता हूं वह संभवतः ग़ालिब की सबसे लंबी और उनकी कल्पनायोजना और तकनीक की सबसे नुमाइंदा (प्रतिनिधि) ग़ज़ल है। सत्रह शेरों की यह मशहूर ग़ज़ल आपको ज़रूर याद होगी :

मुद्दत हुई है यार को मेहमां किये हुए
जोशे-क़दह से बज़्म चराग़ां किये हुए

इस ग़ज़ल में शुरू से आख़िर तक एक बुनियादी मज़मून और एक बुनियादी कैफ़ियत है, बल्कि यह बिल्कुल एक राग या म्यूज़िकल कॉम्पोज़ीशन या एक फ़िल्म की तरह है। इसके विभिन्न टुकड़े और सीक्वेंस (क्रम-योजना) हैं, जिनकी अपनी जगह अलग-अलग एक तरतीब भी है और अपनी-अपनी जगह उनका एक अलग वैशिष्ट्य भी है।

मैंने इस पूरी ग़ज़ल का इस तरह विभाजन किया है। पहले तो इसका मतला[1] है। इसे आप संगीत की परिभाषा में यों कह लें कि मतले से खरज कर सुर क़ायम किया गया है, या इससे भूमिका बांधी गयी है, उस सारी कैफ़ियत की, जो कि बाद में हुई है। या इसको 'बुनियादी विषय' कह लीजिए :

मुद्दत हुई है यार को मेहमां किये हुए
जोशे-क़दह से बज़्म चराग़ां किये हुए

इस शेर में सोचने की बात यह है कि... मुद्दत हुई है यार से मिले हुए, या यार से एकांत में मुलाक़ात किये हुए नहीं बल्कि यार को मेहमान किये हुए मुद्दत गुज़र चुकी है। 'मेहमान' का जो लफ़्ज़ इस्तेमाल

---

* तुकों के अन्त्यानुप्रास; मसलन 'मेहमां किये हुए', 'चराग़ां किये हुए' वाली ग़ज़ल में 'किये हुए' रदीफ़ और 'मेहमां', 'चराग़ां' आदि क़ाफ़िये।

1. ग़ज़ल का पहला शेर। मसलन, जो अभी ऊपर दिया गया, 'मुद्दत हुई...'

किया गया है, उसके दो पहलू ग़ौर-तलब हैं। एक तो यह कि किसी अजनबी को या किसी ऐसे शख़्स को मेहमान नहीं रखा जाता जिससे कभी-कभार मुलाक़ात हुई हो। मेहमान तो उसी को रखा जाता है जिससे काफ़ी मेल हो, जिससे एक पुराना राबिता हो, जिससे बेतकल्लुफ़ी का एक रिश्ता हो। चुनांचे ग़ालिब महबूब से एकांत मिलन या प्रेममिलन के प्रसंग (विसाल) का ज़िक्र नहीं कर रहे हैं। बल्कि, एक तो वह एक शख़्स का जिक्र कर रहे हैं जिससे हृदय का पुराना लगाव है, बेतकल्लुफ़ी है, आना-जाना है, और जिससे महज़ मुलाक़ात नहीं बल्कि जिसकी मेहमानी उद्दिष्ट है। मेहमानदारी का अपना एक लुत्फ़ है जो कि मुलाक़ात के लुत्फ़ को दोबाला करता है। दूसरा पहलू जिसकी तरफ़ मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूं, यह है कि यार या महबूब की यह मेहमानदारी एकांत में नहीं है, बल्कि 'जोशे-क़दह' (पियालों की मादकता के जोश) से महफ़िल को 'चराग़ां' किये हुए है (दिवाली की-सी जगमग पैदा किये हुए है)। बात यह नहीं है कि कोई अकेला मिलने के लिए आया हुआ है; बल्कि, महफ़िल है, बज़्म है, और ग़ालिब जिस चीज़ को याद कर रहे हैं वह विसाले-यार नहीं, बल्कि महफ़िले-यारां है। उन्हें महबूब के बिछुड़ने का नहीं बल्कि महफ़िल के उजड़ने का दुख है। जिस बात के लिए ग़ालिब उदास हैं और जिसे वह याद कर रहे हैं वह एक ज़ाती मुलाक़ात या किसी से उनके ज़ाती तअल्लुक़ का ज़िक्र नहीं है, बल्कि वह तो एक पूरे जीवन जीने के ढंग और उठने-बैठने, मिलने-जुलने के अंदाज़ और पूरी जीवन-व्यवस्था का रोना है, जिसको वह इस ग़ज़ल के बाद के शेरों में बयान करते हैं। यह ग़ालिब की ज़ाती कैफ़ियत नहीं थी यह उस युग के समाज की सामूहिक भावना थी।

ग़ालिब एक ख़ास जीवन-व्यवस्था और जीने के तौर-तरीक़े से वाक़िफ थे। अंग्रेज़ों के आने और मुल्क के गुलामी में चले जाने की वजह से वह पुरानी व्यवस्था, वह पुराने तौर-तरीक़े, वह पुराने आदाबे-महफ़िल रुख़सत हो चुके थे, और उनकी जगह कोई नयी व्यवस्था या जीवन के नये आचार-व्यवहार समाज में नहीं आये थे। चुनांचे उन्नीसवीं सदी में सन् 1857 के हंगामों से पहले और उन हंगामों के बाद का जो ज़माना है, और उस ज़माने के लोगों की जो सामाजिक, बौद्धिक और भावनात्मक कैफ़ियत है, उसे एक तरीक़े से ग़ालिब ने शेर में बयान किया है कि, मुद्दत से न वो महफ़िलें रहीं, न वो आदाब (शिष्टाचार) बाक़ी है और न वो यार-दोस्त बचे हैं, जिनकी वजह से हमारी ज़िंदगी में हरियाली थी और उमंग और आनंद के सामान।

'बज़्म चराग़ां किये हुए' वाली भूमिका के बाद 'करता हूं जम्अ फिर जिगरे-लख़्त-लख़्त को' से पहला सीक्वेंस[2] शुरू होता है। यानी 'मतले' के बाद के सात शेरों का एक सीक्वेंस; उसके बाद दूसरा सीक्वेंस या टुकड़ा है छह शेरों का, जो 'फिर शौक़ कर रहा है ख़रीदार की तलब' से शुरू होकर 'इक नौबहारे-नाज़'. .. वाले शेर तक गया है। इसके बाद ग़ज़ल के आख़िरी तीन शेर हैं, जो गोया पूरी ग़ज़ल का समापन प्रस्तुत करते हैं।

अभी मैं अर्ज़ कर चुका हूं कि महफ़िल के बरहम हो जाने (उखड़ जाने) की वजह से ग़ालिब ग़मगीन हैं, उदास हैं। क्योंकि इन ही से ग़ालिब की ज़िंदगी में रौनक़ थी। पहला सीक्वेंस 'करता हूं जम्अ फिर जिगरे-लख़्त-लख़्त को' वाले शेर से शुरू होकर 'पिंदार का सनमकदा वीरां किये हुए' वाले शेर पर ख़त्म होता है।

---

2. एक के बाद एक परस्पर-संबद्ध रूप से आने वाले पद-समूह; एक समूह, एक क्रमखंड।

करता हूं जम्अ फिर जिगरे-लख़्त-लख़्त को
अर्सा हुआ है दावते-मिज़्गां किये हुए

जब वह बिखरी हुई महफ़िल ग़ालिब को याद आती है तो उनका जी चाहता है कि वह कैफ़ियत जो कि महफ़िल के ज़माने में उनके दिलो-दिमाग़ पर छायी हुई थी और वह पुराना मूड और भावना का संसार फिर किसी तरीक़े से दुबारा ज़िंदा किया जाये, ताकि उसके अपने-आप पर दुबारा छा जाने से शायद वह पुरानी महफ़िल किसी तरह वापस आ जाये।

इस सीक्वेंस के बाक़ी शेर इसी मज़मून पर हैं कि वह शौक़, वह हसरत, वह तलब और वह हवस जो पुरानी महफ़िल के अंग और अंश थे उन्हें अपने-आप पर दुबारा एक फ़जा बनकर छाने दिया जाये। चुनांचे :

करता हूं जम्अ फिर जिगरे-लख़्त-लख़्त को
अर्सा हुआ है दावते-मिज़्गां किये हुए

अलग-अलग टुकड़ा तो कोई चीज़ महसूस नहीं करता, इसलिए पहले तो जिगर के उन अलग-अलग टुकड़ों को इकट्ठा करें, ताकि उसमें दर्द की कोई टीस उठे और उसकी वजह से आंखें नम हों और जब आंखें नम हों तो फिर वह महफ़िल कम-अज़-कम याद ही में ताज़ा हो जाये। इसके बाद का शेर :

फिर वज़्अ-एहतियात से रुकने लगा है दम
बरसों हुए हैं चाक गिरेबां किये हुए

कहते हैं : एक ज़माने से सब्र और एहतियात का दामन हमने पकड़ रखा है। अब यह दामन किसी तरीक़े से छोड़ें, और फिर अपना गिरेबां चाक करें, ताकि जुनून, विभोरता और तल्लीनता की जो कैफ़ियत उस महफ़िल में होती थी वह लौट आये। इस शेर पर ग़ौर फ़रमाइये

फिर गर्मे-नालाहा-ए-शररबार है नफ़स
मुद्दत हुई है सैरे-चराग़ां किये हुए

यानी अपने अधरों से शब्दों के बजाय शोले बरसने लगें, ताकि उन शोलों से उस भावना और शौक़ की कैफ़ियत पैदा हो जो कि उस महफ़िल से जुड़ी हुई थी। यह शेर भी आपका ध्यान खींचना चाहेगा

फिर पुरसिशे-जराहते-दिल को चला है इश्क़
सामाने-सदहज़ारे-नमकदां किये हुए!

यहां ग़ालिब कहते हैं : फिर दिल के ज़ख़्मों पर नमक छिड़कें और उससे इतना दर्द हो कि पुरानी कैफ़ियत पैदा हो जो कि उस महफ़िल से जुड़ी हुई थी। इसी तरह के ये तीन शेर भी हैं

फिर भर रहा हूं ख़ामए-मिज़्गां ब-ख़ूने-दिल
साज़े-चमनतराज़िए-दामां किये हुए
बाहमदिगर हुए हैं दिलो-दीदा फिर रक़ीब
नज़्ज़ारा-ओ-ख़याल का सामां किये हुए

दिल फिर तवाफ़े-कू-ए-मलामत को जाये है
पिंदार का सनमकदा वीरां किये हुए

आख़िरी शेर की शब्दावली पर ज़रा ध्यान दें; जिसमें 'कू-ए-मलामत' के 'तवाफ़' (परिक्रमा) और 'पिंदार' (अहमन्यता, दंभ) के 'सनमकदे' (मंदिर, मूर्तिगृह) का ज़िक्र है। 'कू-ए-मलामत' का संकेत है कू-ए-यार, यार की गली। और उस कू-ए-यार को तो का'बा ठहराया है जिसकी परिक्रमा करने को जी चाहता है, और अपने 'पिंदार' (दंभ और अहं) को 'सनमकदा' (मूर्ति-गृह, सनम का घर) माना है। कू-ए-यार, इश्क़े-यार तो हक़ीक़त (यथार्थ सत्ता) है, और अपने-आप पर जो घमंड है, और अपना जो पिंदार है वह सनम (मूर्ति) की तरह मिथ्यालोक की वस्तु है। आशिक़ी हक़ीक़त है सत्यमूल यथार्थ है; और ख़ुदपसंदी (आत्मप्रशंसा) असत्य। एक काबा है, दूसरा सनकमदा। शब्दों के प्रयोग में जो अलंकार और व्यंजना है, वह देखने के क़ाबिल है। इस शेर पर पहला सीक्वेंस ख़त्म होता है। इसके बाद 'सीक्वेंस' इस शेर से शुरू होता है :

फिर शौक़ कर रहा है ख़रीदार की तलब
अर्ज़े-मता-ए-अक़्लो-दिलो-जां किये हुए

अक़्ल, दिल और जान को वार के शौक़ चाहता है कि अब कोई ऐसा ख़रीदार पैदा हो जिस पर वो सब कैफ़ियतें छा जायें जो पहले बयान की गयी हैं। यानी, तलब इस बात की, कि जिगर के टुकड़े-टुकड़े एक जगह हों। तलब इस बात की, कि सब्र को छोड़कर जुनून इख़्तियार कर लें। इस बात की तलब कि शब्दों से शोले भड़कने लगें। इस बात की तलब कि ज़ख़्मे-दिल पर नमक छिड़का जाये। इस बात की तलब कि आंखें ख़ून से भर जायें। इस बात की तलब कि नज़्ज़ारा-ओ-ख़याल में दिल और आंखें एक-दूसरे का मुक़ाबिला करने लगें, और अपनी ज़ात के सनमकदे को वीरान करके (मिथ्या अहं की पूजा को त्यागकर) अपने महबूब के कूचे की परिक्रमा के लिए दुबारा जायें।

इस तलब का नतीजा क्या है? दूसरा सीक्वेंस इस सारे शौक़ और तलब का नतीजा है; इसलिए कि, वही दृश्य जिसको वह महफ़िले-यार का रूपक बनाते हैं, उसी तलब के जवाब में बयान करते हैं। यह सीक्वेंस या मंज़रनामा (दृश्यावली का रूपक) इतना कसा हुआ, अपने सिलसिले में बंधा हुआ है कि अगर आप किसी शेर की जगह बदल दें, यानी ऊपर का नीचे या नीचे का शेर ऊपर कर दें तो क्रम टूट जायेगा, मंज़रनामा बिगड़ जायेगा; और सीक्वेंस ग़लत हो जायेगा। न सिर्फ़ ग़ालिब की इस ग़ज़ल में, बल्कि हर सीक्वेंस के शेरों में एक क्रम और सुसंबद्धता है। चुनांचे :

दौड़े है फिर हरेक गुल-ओ-लाला पर ख़याल
सद गुल्सितां निगाह का सामां किये हुए

यह तो पृष्ठभूमि है बैकग्राउंड। इसमें ग़ालिब बताते हैं : दुनिया एक गुलिस्तां है। हर तरफ़ फूल लिखे हुए हैं और हर फूल निहायत हसीन और ख़ूबसूरत है। यह पृष्ठभूमि है उस भावभूमि की घटना की, जिसका ज़िक्र वह बाद के शेरों में करते हैं। उस गुलिस्तां में क्या होता है? कहते हैं :

फिर चाहता हूं नामए-दिलदार खोलना
जां नज़्रे-दिलफ़रेबिए-उनवां किये हुए

आगे ज़ाती कैफ़ियत शुरू होती है जो कि इस अर्थ में ज़ाती नहीं है कि यही कैफ़ियत बहुत पहले से और आज तक लोगों पर गुज़रती आयी है। इस कैफ़ियत (भावस्थिति) की पहली मंज़िल तो यह है कि महबूब न सामने है और न कहीं आसपास, बल्कि नज़र से दूर और ग़ायब है। इसलिए ग़ालिब 'ख़त' का ज़िक्र करते हैं। 'नामए-दिलदार' आता है। चूंकि नाम-ए-दिलदार में 'उन्वान' (शीर्षक) महबूब के हाथ का लिखा हुआ है, इसलिए प्रेयसी के सौंदर्य और उसके परम आकर्षण की निशानी मात्र एक है, और वह 'नामए-दिलदार' का 'उन्वान' और सरनामा है। यह उन्वान अपनी जगह पर स्वयं इतना मोहक है कि ग़ालिब का इसी पर जान छिड़कने का जी चाहता है। न महबूब का नैकट्य, न उसका दीदार और न उसका विसान (मिलन) : सिर्फ़ उसका ख़त आया है! अब दूसरी मंज़िल की तरफ़ चलिए :

मांगे है फिर किसी को लबे-बाम पर हवस
ज़ुल्फ़े-सियाह रुख़ पे परीशां किये हुए

महबूब है तो सही, मगर बाम पर है। आस-पास नहीं, दूर बाम पर है। और जब बाम पर है, तो वहां से सिर्फ़ उसकी ज़ुल्फ़े-सियाह ही नज़र आ सकती है। बाक़ी नख-शिख पर नज़र नहीं पहुंच सकती। ज़ुल्फ़े-सियाह का सिर्फ़ एक साया-सा नज़र आता है। महबूब के चेहरे की अन्य तफ़सीलें नज़र से ओझल हैं। पहली मंज़िल में दिलदार के ख़त का जिक्र और दूसरी मंज़िल में दूर से दीदारे-यार का। अब तीसरी मंज़िल या तीसरा मोड़ यों बयान होता है :

चाहे है फिर किसी को मुक़ाबिल में आरजू
सुर्मे से तेज़ दश्नए-मिज़गां किये हुए

महबूब अब बाम से उतरकर सामने आ गया है। मुक़ाबिल में है। अगर मुक़ाबिल में है तो जिस तरह बाम पर सबसे नुमायां चीज़ ज़ुल्फे-सियाह थी, उसी तरह अपने सामने होने पर सबसे नुमायां चीज़, ज़ाहिर है, कि 'दश्नए मिज़गां' (पलकों की कटार) है। चेहरे के नक़्शे में सबसे आकर्षक और मोहक महबूब की आंखें ही हो सकती हैं। इसके बाद मुलाक़ात का बयान है। यह चौथी मंज़िल है :

इक नौबहारे-नाज़ को ताके है फिर निगाह
चेहरा फ़रोग़े-मय से गुलिस्तां किये हुए

ख़त के बाद दीदार। दीदार के बाद हमनशीनी (पास-पास बैठना)। हमनशीनी के बाद हमपियालगी (साथ-साथ मधुपान)। यानी बेतकल्लुफ़ी की यह सूरत है कि अब *चेहरा फ़रोगे-मय से गुलिस्तां किये हुए* है।

आमने-सामने होने और मुलाक़ात के बाद महफ़िल का सजना और यारों के साथ हमनशीनी की तरफ़ इशारा है। इस ग़ज़ल का मतला अगर आप फिर एक बार याद कर लें तो महसूस करेंगे कि *जोशे-क़दह* के बाद अब किसी क़िस्म का संदेह या धुंधलका बाक़ी नहीं रहता। अगर संगीत की परिभाषा का प्रयोग किया जाये तो कहेंगे कि इस दूसरे सीक्वेंस के सारे शेर चढ़ते हुए सुर हैं। 'सीक्वेंस' ऊपर की तरफ़ जा रहा है।

अब आख़िरी 'सीक्वेंस' शुरू होता है; जिसके अशआर उतरते हुए सुर हैं। यहां पहुंचकर ग़ालिब को यकायक ख़याल आता है कि ये सब बेकार बातें हैं। क्योंकि, न तो महबूब आयेगा, न गिरेबां चाक

करेंगे और न शौक़ का वह आलम ही हम पर तारी होगा जिसके लिए हम भटकते फिरते हैं। बल्कि ग़ालिब अंत में हार ही क़ुबूल कर रहे हैं। इस सीक्सवेंस में तीन शेर हैं :

फिर जी में है कि दर पे किसी के पड़े रहें
सर ज़ेरे-बारे-मिन्नते-दरबां किये हुए

न महबूब बाम पर आयेगा, न उसका ख़त आयेगा, न क़ुरबत (नैकट्य) प्राप्त होगी, न महफ़िल सजेगी, न यार-दोस्त जमा होंगे। इसलिए कम-से-कम इतना तो हो कि *सर ज़ेरे-बारे-मिन्नते-दरबां किये हुए* हम यार के दर पर पड़े रहें। इस शेर में कहीं कोई इशारा नहीं है कि दर के अंदर जाने के लिए ख़्वाहिश है। शौक़ का वलवला, और सारी बेचैनी और बेकारी ख़त्म हो चुकी है। इसलिए अब सिर्फ़ इतनी इजाज़त मिल जाये कि हम उसके दर पर पड़े रहें ताकि महबूब से कुछ-न-कुछ लगाव और तअल्लुक़ क़ायम रहे। अगर यह भी नहीं हो सकता तो :

जी ढूंडता है फिर वही फ़ुर्सत के रात दिन
बैठे रहें तसव्वुरे-जानां किये हुए

अगर दरे-जानां भी मुयस्सर नहीं हो तो फिर इतना हो तो, और इतनी फ़ुर्सत तो मिले कि हम तसव्वुरे-जानां ही किये बैठे रहें (महबूब के कल्पनासुख में ही लीन रहें) उससे लौ लगाये रखें। ग़ौर फ़रमायें कि दर पर पड़े रहनेवाला शेर बाद में, और तसव्वुरे-जानां वाला शेर पहले लिख दिया जाये या वर्णन किया जाये तो न सिर्फ़ उसके सही सिलसिले में बल्कि सारी कैफ़ियत (भावधारा) और भावभूमि पर घटनेवाली 'वारदात' (वास्तविक अनुभूति) में फ़र्क़ आ जायेगा। और आख़िर में 'ग़ालिब' नतीजा यह निकालते हैं :

'ग़ालिब' हमें न छेड़ कि फिर जोशे-अश्क से
बैठे हैं हम तहैय्यए-तूफ़ां किये हुए

ग़ालिब, ये सब फ़ुजूल बातें हैं। क्यों ये क़िस्से छेड़ते हो? क्यों महबूब की याद दिलाते हो? क्यों महिफ़ल का ज़िक्र करते हो? जाने दो इन तमाम बातों को। अब इसके सिवा कोई चारा नहीं कि हम तहैय्यए-तूफ़ां कर लें (एक तूफ़ान उठाने का संकल्प ही कर लें), रोना-धोना कर लें; दिल का बुख़ार हल्क़ा कर लें। अब कुछ होना-हुआना नहीं है। इसलिए, ग़ालिब, बेहतर यही है कि इन सारी बातों के आलाप से बचो. ..ताकि यह तूफ़ान थम जाये, ख़त्म हो जाये।

मैंने बहुत-सी बातें और टीका-टिप्पणियां विस्तार के भय से नज़र-अंदाज़ करते हुए एक संक्षिप्त-सा जायज़ा आपके विचारार्थ पेश किया है। मेरी बयान की हुई क्रमबद्धता के दृष्टिकोण से ग़ालिब की किसी भी मशहूर ग़ज़ल को पढ़िए, उसमें आपको इसी क़िस्म का कोई-न-कोई सिलसिला मिलेगा, और वह सिलसिला एक कैफ़ियत (भावधारा) का, या एक कैफ़ियत के विभिन्न अंगों या उसके विभिन्न पक्षों का मिलेगा और एक से अधिक रूपों में मिलेगा। इस दृष्टिकोण से अगर आप कलामे-ग़ालिब का दुबारा अध्ययन और मूल्यांकन करें तो बहुत-से नुकते, जो पहले शायद आपके ज़ेहन में न आये हों, अध्ययन करने के बाद साफ़ और स्पष्ट रूप में नज़र आयेंगे।

अनुवाद : शमशेर बहादुर सिंह

इक़बाल अपनी नज़र में

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

यह लेख फ़ैज़ की पुस्तक 'मीज़ान' से लिया गया है। उर्दू की काव्य-परंपरा और फ़ारसी सौंदर्य-दृष्टि दोनों को ध्यान में रखकर इक़बाल की रचनाशीलता के मूल्यांकन के सिलसिले में यह आलेख बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। हिंदी के पाठक फ़ैज़ के आलोचनात्मक लेखन से परिचित नहीं हैं। इसीलिए उनके आलोचनात्मक लेखों के संग्रह 'मीज़ान' से इक़बाल पर लिखे गये उनके लेख का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। सं.

इक़बाल की नज़र से दुनिया को बहुत लोगों ने देखा है। इक़बाल की नज़र से इक़बाल का अध्ययन किसी ने नहीं किया। यह लेख इसी बहस का प्राक्कथन है। यह बहस दो वजह से अहम है। पहली वजह यह है कि अहं की स्थिरता, अक़्लो-इश्क़, ख़ुदा और इनसान और ऐसे ही दूसरे दार्शनिक विषयों की तरह इक़बाल का व्यक्तित्व भी एक मुश्किल विषय है। और उनके कलाम का कोई दौर ऐसा नहीं जो इस विषय से ख़ाली हो। दूसरी वजह ये है कि मेरी राय में इक़बाल की शायरी का सबसे खरा, सबसे मार्मिक, सबसे रसीला हिस्सा वही है जो उनके अपने व्यक्तित्व से संबंधित है। यह हिस्सा फ़लसफ़े से ख़ाली लेकिन जज़्बे से भरपूर है। इसमें तकरीर का जोश नहीं लेकिन एहसास की शिद्दत बहुत ज़्यादा है। यह शायरी इक़बाल की दार्शनिक श्रेष्ठता पर बहुत कम निर्भर है।

इक़बाल के दार्शनिक दृष्टिकोण का क्रमिक विकास हुआ है, इंक़लाबी ढंग से छलांग लगाकर नहीं। उनके शुरुआती और आख़िरी समय के विचारों में एक आंतरिक संबंध और सिलसिला है जो टूटने नहीं पाता। विभिन्न अवसरों पर इक़बाल ने जिन विचारों की टीका और व्याख्या की है उनमें आपस में विरोधाभास तो है, पर अंतर्विरोध नहीं है। इक़बाल ने अपने व्यक्तित्व के बारे में जो कुछ लिखा है उसका आधार भी यही है। शुरू के दौर की शायरी में वे जिन-जिन मानसिक उलझनों और जज़्बाती मसअलों का ज़िक्र करते हैं, जिन परेशानियों और ख़ुशियों, जिस दर्द या सुरूर का इज़्हार करते हैं, बाद की शायरी में उन्हीं स्थितियों की गूंज बार-बार सुनायी देती है। अगर हम इक़बाल की नज़र से देखें तो हमें इस शख़्सियत के चंद एक पहलू बहुत साफ़ नज़र आयेंगे।

पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह यह है कि इक़बाल अपने व्यक्तित्व को दुनिया और जो कुछ इसमें है, उससे अलग-थलग एक क़तई ख़ुदमुख़्तार और निरंकुश हक़ीक़त क़रार देकर अपने दिलो-दिमाग़ का विश्लेषण नहीं करते थे। वो अपने व्यक्तित्व के संबंध में जो कुछ कहते हैं, ज़्यादातर किसी बाहरी यथार्थ के हवाले से कहते हैं। यूं कह लीजिए कि अपने व्यक्तित्व के तईं उनका बयान ज़्यादातर इसके अतिरिक्त होता है। उसमें ज़्यादातर उस संतोष या असंतोष का ज़िक्र होता है जो शायर

के व्यक्तित्व या किसी रिश्ते के आपसी तअल्लुक़ से पैदा होता है। ये अन्य चीज़ें कभी प्राकृतिक दृश्य हैं तो कभी मानव जाति, कभी वतन की मिट्टी है तो कभी ज़िंदगी का रेगिस्तान, कभी कोई कलात्मक या जज़्बाती या नैतिक आदर्श है तो कभी ख़ुदी (अहं) का बुलंदतर मुक़ाम। इक़बाल को अपने व्यक्तित्व में अगर दिलचस्पी है तो वो अंतर्मुखी भावप्रवण शायरों की तरह महज़ अपने व्यक्तित्व की वजह से नहीं बल्कि उस नफ़्अ-नुकसान की वजह से है जो इस व्यक्तित्व से दुनिया और दुनिया से परे इस व्यक्तित्व से संबद्ध होते हैं।

अब ये देखिये कि इक़बाल ने अलग-अलग समय में अपने बारे में क्या कुछ महसूस किया है, 'बांगे-दरा' की दूसरी नज़्म में इक़बाल 'गुले-रंगीं' से मुख़ातिब होकर फ़रमाते हैं :

इस चमन में मैं सरापा सोज़ो-साज़े-आरज़ू
और मेरी ज़िंदगानी बेगुदाज़े-आरज़ू
मुतमइन है तू, परेशां मिस्ले-बू रहता हूं मैं
ज़ख़्मिए-शमशीरे-ज़ौक़े-जुस्तजू रहता हूं मैं

ये परेशानी और बेचैनी, ये लगातार तलाश और आरज़ूमंदी इक़बाल की शायराना शख़्सियत का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस बेचैनी के कारण और इस तलाश के उद्देश्य बदलते रहे। लेकिन इन स्थितियों का एहसास इक़बाल की तमाम शायरी पर हावी है और वो इसकी अभिव्यक्ति तरह-तरह के अंदाज़ में करते हैं। इक़बाल जब भी प्राकृतिक दृश्यों के चैन-आराम और सुकून का अवलोकन करते हैं तो उन्हें हमेशा अपने दिल की तड़प और जज़्बात की बेचैनी का शिद्दत से एहसास होता है :

तारों का ख़मोश कारवां है ये क़ाफ़िला बेदरा रवां है
ख़ामोश है कोहो-दस्तो-दरिया कुदरत है मुराकबे में गोया
ऐ दिल तू भी ख़मोश हो जा
आग़ोश में ले के ग़म को सो जा

सूरज बुनता है तारे-ज़र से दुनिया के लिए रिदाए-नूरी
आलम है ख़मोशो-मस्त गोया हर शै को नसीब है हुज़ूरी
दरिया, कुहसार, चांद-तारे क्या जानें फ़िराक़ो-नासुबूरी

शायां है मुझे ग़मे-जुदाई
ये खाक़ है महरमे-जुदाई

बह्रो-दश्तो-कोह कि ख़ामोश व कर आसमानो-मेहरो-यह ख़ामोश व कर
हर यके मानिंद बेचारा ईस्त दर फ़जाये नीलगूं आवारा ईस्त
ईं जहां सैद अस्त व सैयादेम मा या असीरे-रफ़्ता अज यादेम मा
ज़ार नालीदम सदाए-बर नख़्वास्त हमनफ़स फर्ज़ंद-आदम ए कुजास्त

ये बेचैन और पीड़ामय शख़्सियत जो अपनी बेचैनी और पीड़ा की वजह से चांद सूरज की दुनिया में अपने को अजनबी और तनहा महसूस करती है, इनसानों की दुनिया में भी उसी तरह अजनबी और तनहा है। इक़बाल की नज़र में उनका हमअस्र (समकालीन) इनसान भी सजीव और निर्जीव की तरह मुर्दादिल और बेसोज़ है। इसलिए वो इनसान से भी अपने को उतना ही दूर पाते हैं जितना चांद-सितारों से :

ये कैफ़ियत है मेरी जाने नाशकेबाक़ी
मेरी मिसाल है तिफ़्ले-सग़ीर तन्हा की
अंधेरी रात में करता है वो सरोद आग़ाज
सदा को अपनी समझता है ग़ैर की आवाज़
हुनूज़ हमनफ़से-दर-चमन नमी बीनम
बहार भी रसदो मन गुल तख़ीतीनम
जहां ज़वलो-मुश्ते-खाक़ मन हमा दिल
चमन ख़ुश अस्त वले दरखुरे नवायम नीस्त

जलन और तनहाई का ये एहसास सीने में दबाये शायर सुकून और दोस्ती की तलाश में जगह-जगह और गली-गली भटकता फिरता है। लेकिन ये दौलत न हरमो-दैर (मंदिर-मस्जिद) में मयस्सर है न मद्रसा-ओ-ख़ानक़ाह में, मस्जिदें भी इससे ख़ाली हैं मैकदे भी :

न ईं जा चश्मके-साक़ी न आं जा हर्फ़े मुश्ताक़ी
ज़ बज्में सूफ़ी-ओ-मुल्ला बसे ग़मनाक भी आयम
सिवाय खाना-ओ-मंज़िल न दारम
सरेराहम ग़रीबे-हर दयारम
उठायें मद्रसा-ओ-ख़ानक़ाह से ग़मनाक
न ज़िंदगी, न मुहब्बत, मारिफ़त, न निगाह

इस लगातार और अथाह अकेलेपन की वजह से आशावाद और आत्मविश्वास की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति को आहिस्ता-आहिस्ता वैयक्तिक पराजय या नाकामी का गहरा और पुरदर्द एहसास होने लगता है और वक़्त गुज़रने के साथ-साथ उस एहसास की शिद्दत कम होने के बजाय धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। इस शिकस्त को इक़बाल कभी नासाज़िए-ज़माना (युग की प्रतिकूलता) पर मढ़ते हैं :

बख़ाके हिंद नवाय-हयात बेअसर अस्त
कि मुर्दा ज़िंदा न गर्दद ज़ नग़मए-दाऊद
कस न दानिस्त कि मन नीज़ बहाये दारम
आं मताअम कि शवद दस्त ज़दे-वे अजरां

लेकिन ज़्यादातर इस शिक़स्त का एहसास इस वजह से होता है कि वो लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सके। न वो अक़्ल की गुत्थियां सुलझा सके, न इश्क़ की आख़िरी मंज़िल उन्हें हाथ आयी। उनकी बेक़रारी का उस हक़ीकत से मिलन नहीं हो सका जिसका मिलन अहं की पूर्णता और संतोष का प्रमाण है। कला की इंतिहा भी ख़ुदी की इस तृष्णा को नहीं मिटा सकी और इसी प्यास के कारण अभिव्यक्ति में कामयाबी संपूर्ण सफलता का दर्जा हासिल नहीं कर सकी :

वही मेरी कमनसीबी वही तेरी बेनियाज़ी
मेरे काम कुछ न आया ये कमाले-नै नवाज़ी
इसी कशमकश में गुज़री मेरी ज़िंदगी की रातें
कभी सोज़ो-साज़े रूमी, कभी पेचो-ताबे-राज़ी
थी वो इक दरमांदा रहरौ की सदाए दर्दनाक

जिसको आवाज़े रहीले-कारवां समझा था मैं
परेशां हो के मेरी ख़ाक आख़िर दिल न बन जाये
जो मुश्किल अब है यारब फिर वही मुश्किल न बन जाये

इससे ये न समझना चाहिए कि इस संवेदनात्मक तीव्रता की वजह से इक़बाल अपनी जद्दोजहद को उपलब्धि से परे समझते हैं या अपने माहौल से मायूस और बेज़ार हो जाते हैं। उनके कलाम में कहीं-कहीं दुःख और उदासी तो है, मायूसी और निराशा कहीं नहीं है :

नहीं है नाउम्मीद इक़बाल अपनी किश्ते-वीरां से
ज़रा नम हो तो ये मिट्टी बहुत ज़रखेज़ है साक़ी

इसलिए इक़बाल को अगर कमनसीबी का गिला है तो बांसुरीवादक होने का गर्व भी है। उनकी तबीयत में विनम्रता भी है गर्व और शालीनता भी। इस गर्व और शालीनता की दो सूरतें हैं। अव्वल उनकी फ़क़ीरी में संतुष्टि और सांसारिक विरक्ति है। ऐसा गर्व जो अपनी बेसामानी पर नाज़ करता हो और कम मेलजोल पर ख़ुश है। यह निस्पृहता भी इक़बाल के अतिप्रिय विषयों में से है :

करम-ऐ शहे-अरबो-अजम कि खड़े हैं मुंतज़िरे-करम
वो गदा कि तूने अता किया है जिन्हें दमाग़े-सिकंदरी
फ़कीरे शह्र न शायर न ख़र्कापोश इक़बाल
गदाए-राहनशीनस्तो-दिल ग़नी दारद
ख़्वाएज-मन निगाह दार आबरूए गदाए-ख़्वेश
आंकि ज़ जूए-दीगरां पूर न कुनद पियाला रा

उसको दूसरी सूरत में इस चमत्कार का एहसास है जो शायर की वाक्शक्ति को बख़्शा गया है। ऐसा चमत्कार जिसके सामने बादशाहों की दौलत भी कुछ नहीं है और बादशाही दबदबा भी सर झुकाये है :

दमे मुरा सिफ़ते-बादे-फ़र्दे-दीं करदंद
गियारह रासे सिरशकम जू यासमीं करदंद
बुलंद बाल चुनाएम कि बर सिपह्रे बरीं
हज़ार बार मुरा नूर यां कमीं करदंद
मेरे गुलू में है इक नग़मए-जिब्रील आशोब
संभाल कर जिसे रक्खा है लामकां के लिए
फ़क़ीरे-राह को बख़्शे गये अस्रारे-सुल्तानी
बहा मेरी नवा की दौलते-परवेज़ है साक़ी

जिस तरह इक़बाल की विनम्रता निराशाजनक नहीं उसी तरह उनके ग़रूर में भी उद्दंडता और कठोरता नहीं है। अपनी ग़रीब क़ौम की आम जनता और ख़ास तौर से नौजवानों को इक़बाल जब भी संबोधित करते हैं तो उनके व्यक्तित्व का एक और जज़्बाती पहलू स्पष्ट होता है। ये जज़्बा एक बहुत ही पुरख़ुलूस और स्नेहपूर्ण प्यार का जज़्बा है, जो हमारे घमंडी शायरों में ज़्यादातर नहीं मिलता है :

मेरे नालए-नीमशब का नियाज़
मेरी ख़ल्वतो-अंजुमन का गुदाज़
उमंगें मेरी आरज़ूएं मेरी
उमीदें मेरी जुस्तजूएं मेरी
मेरी फ़ितरत आईनए-रोज़गार
गज़ालाने-अफ़कार का मर्ग़ज़ार
यही कुछ है साक़ी मताए फ़क़ीर
इसी से फ़क़ीरी में हूं मैं अमीर
मेरे क़ाफ़िले में लुटा दे इसे
लुटा दे ठिकाने लगा दे इसे

ग़रज़ कि इक़बाल के कलाम से शायर की जो तस्वीर उभरती है, उसमें विरही आशिक़ की पीड़ा और हसरत है। बादशाह का सा ग़रूर, फ़क़ीर जैसी विनम्रता, सूफ़ी जैसी निस्पृहता, भाई की सी मुहब्बत और दोस्त की सी घनिष्ठता है।

उर्दू से अनुवाद : गोबिंद प्रसाद
मो. : 09999428212

इब्तिदाइया*

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

यह छोटी-सी टिप्पणी फ़ैज़ की किताब 'दस्ते-सबा' (1952) के प्राक्कथन या आमुख के रूप में प्रकाशित हुई थी। कविता की सृजनात्मक रचना-प्रक्रिया के कुछ बुनियादी पहलुओं पर यह सार्थक ढंग से रोशनी डालती है। फ़ैज़ की राय में ज़िंदगी के फ़न और शायरी के फ़न एक साथ एक बिंदु पर अपने-अपने ढंग से मिल जाते हैं, चूंकि ज़िंदगी का तक़ाज़ा ही शायरी का भी तक़ाज़ा बन जाता है। सं.

एक ज़माना हुआ जब ग़ालिब ने लिखा था कि जो आंख क़तरे में दजला[1] नहीं देख सकती, वह दीदए-बीना[2] नहीं बच्चों का खेल है। अगर ग़ालिब हमारे समकालीन होते तो ग़ालिबन कोई न कोई आलोचक ज़रूर पुकार उठता कि ग़ालिब ने बच्चों के खेल की तौहीन की है। या ये कि ग़ालिब अदब में प्रोपगैंडा के हामी मालूम होते हैं। शायर की आंख को क़तरे में दजला देखने की नसीहत करना सरासर प्रोपगैंडा है। उसकी आंख को तो महज़ हुस्न से ग़रज़ है और हुस्न अगर क़तरे में दिखायी दे जाये तो वो क़तरा दजला का हो या गली की नाली का, शायर को इससे क्या सरोकार। ये दजला देखना-दिखाना फिलासफ़र या सियासतदान का काम होगा, शायर का काम नहीं है।

अगर इन हज़रात का कहना सही होता तो ज्ञानी पंडितों का हुनर रहता या जाता, हुनरमंदों का काम यक़ीनन बहुत आसान हो जाता। लेकिन ख़ुशाक़िस्मती या बदक़िस्मती से शायरी का फ़न (या कोई और कला) बच्चों का खेल नहीं है। इसके लिए तो ग़ालिब का दीदए-बीना भी काफ़ी नहीं, इसलिए काफ़ी नहीं कि शायर या अदीब को क़तरे में दजला देखना ही नहीं दिखाना भी होता है। इसके अलावा अगर ग़ालिब के दजला से ज़िंदगी और दुनिया की तमाम चीज़ों से मतलब लिया जाये तो अदीब ख़ुद भी इसी दजले का एक क़तरा है। इसके मानी ये हैं कि दूसरे अनगिनत क़तरों से मिलकर इस दरिया के रुख, इसके बहाव, इसकी शक्लो-सूरत और इसकी मंज़िल तय करने की ज़िम्मेदारी अदीब के सर आन पड़ती है।

यूं कहिए कि शायर का काम महज़ अपनी आंख से देखना ही नहीं बल्कि देखे हुए की साधना अथवा तपस्या करना भी उसका कर्तव्य है। आस-पास के बेचैन कतरों में ज़िंदगी के दजले का अनुभव उसकी

---

* भूमिका या प्राक्कथन

1. बग़दाद में बहने वाली एक नदी।
2. दृश्य-शक्ति।

दृष्टि पर है, उसे दूसरों को दिखाना उसकी कलात्मक पैठ पर, उसके बहाव में दख़लअंदाज़ होना उसके शौक़ की पुख़्तगी और लहू की गर्मी पर।

और ये तीनों काम लगातार खोज और जद्दोजहद चाहते हैं।

ज़िंदगी का सिलसिला किसी हौज़ का ठहरा हुआ बंद पानी नहीं है, जिसे तमाशाई की एक ग़लत अंदाज़ निगाह घेर सके। दूर-दराज़, ओझल दुश्वारगुज़ार पहाड़ियों में बर्फ़ें पिघलती हैं, चश्मे उबलते हैं, नदी-नाले पत्थरों को चीरकर, चट्टानों को काटकर आपस में बग़लगीर होते हैं, और फिर ये पानी कटता-बढ़ता वादियों, जंगलों और मैदानों में सिमटता और फैलता जाता है। जिस दीदए-बीना ने इनसानी तारीख़ में ज़िंदगी के दुखों के ये पड़ाव नहीं देखे, उसने दजला का क्या देखा है?

फिर शायर की निगाह उन गुज़रे हुए और हालिया मुक़ाम तक पहुंच भी गयी लेकिन उनकी मंज़रकशी में वाणी और होंठों ने मदद न की या अगली मंज़िल तक पहुंचने के लिए जिस्मो-जां कोशिश पर राज़ी न हुए तो भी शायर अपने फ़न में पूरी तरह क़ामयाब नहीं है।

ग़ालिबन इतने बड़े रूपक को रोज़मर्रा, अल्फ़ाज़ में बयान करना ग़ैरज़रूरी है। मुझे कहना सिर्फ़ यह था कि इनसानी ज़िंदगी की सामूहिक जद्दोजहद का एहसास, और उस जद्दोजहद में सामर्थ्य के अनुसार शिरकत, ज़िंदगी का तक़ाज़ा ही नहीं फ़न का भी तक़ाज़ा है।

फ़न इसी ज़िंदगी का एक हिस्सा और इसी कोशिश का एक पहलू है।

यह तक़ाज़ा हमेशा क़ायम रहता है। इसलिए फ़न के इच्छुक लोगों के लिए इस तपस्या से मुक्ति नहीं। उसका फ़न एक स्थायी कोशिश है और लगातार तलाश।

इस कोशिश में कामयाबी या नाकामी तो अपनी-अपनी क़ाबलियत पर है। लेकिन लगातार कोशिश करते रहना किसी तरह मुमकिन भी है और ज़रूरी भी है। ये कुछ पन्ने भी इसी तरह की एक कोशिश हैं। मुमकिन है कि फ़न की अहम ज़िम्मेदारियों को निभाने की कोशिश के दिखावे में भी नुमाइश या अपनी शेखी बघारने और ख़ुदपसंदी का एक पहलू निकलता हो। लेकिन कोशिश कैसी भी मामूली क्यों न हो, ज़िंदगी या फ़न से फ़रार या शर्मसारी से बढ़कर है।

सेंट्रल जेल, हैदराबाद
16 सितंबर 1952 ई.

उर्दू से अनुवाद : गोबिंद प्रसाद
मो. : 09999428212

खंड चार

अदीबों की नज़र में

फ़ैज़ को अतीत की साहित्यिक परंपराओं पर बहुत अधिकार प्राप्त है। वे तलमीहें और रम्ज़े और क़ैफ़ियतें जिनसे हमारी क्लासिकी शायरी भरी पड़ी है, फ़ैज़ के यहां ज़रा ज़्यादा भरपूर मानीख़ेज ढंग से अर्थात अर्थपूर्णता के साथ इसलिए नज़र आती हैं कि वह मीर और सौदा, ग़ालिब और मोमिन, हाली और इक़बाल की क़ायम की हुई परंपराओं का आदर करता है, और उसे मालूम है कि तरक़ीबों और लफ़्ज़ों की भी एक तारीख़ और एक रवायत होती है और हर लफ़्ज़ कितने ही युगों के नाज़ुक अंशों को समेटे हुए हम तक पहुंचता है। फ़ैज़ को लफ़्ज़ों की तारीख़ की चेतना के साथ ही मुस्कुराहटों, आंसुओं और उमंगों की तारीख़ की भी चेतना है और यही वजह है कि फ़ैज़ की शायरी में हुस्न और मानी का बड़ा ही हसीन तालमेल है।

अहमद 'नदीम' क़ासमी

सच्चाई का नूर एक

सज्जाद ज़हीर

1956 में लिखा गया सज्जाद ज़हीर का यह लेख फ़ैज़ की शायरी की यथार्थवादी अंतर्वस्तु की विवेचना के लिहाज से आज भी सार्थक है, उल्लेखनीय है और फ़ैज़ के सृजनात्मक विकास का सटीक मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। सं.

रावलपिंडी साज़िश के मुक़दमे के दिनों में फ़ैज़ के साथ मैं भी सेंट्रल जेल (हैदराबाद, सिंध) में था। दिसंबर 1952 तक हमारे मुक़दमे की सुनवाई ख़त्म हो चुकी थी। हमें रोज़ रोज़ स्पेशल डिविज़नल ट्रिब्यूनल के इजलास में जाकर मुलज़िमों के कठघरे में घंटों बैठे रहने और उस दौरान गवाहों की शहादत, वकीलों की जिरह और उनकी बेमतलब क़ानूनी छानबीन से मुक्ति मिल गयी थी। अभी फ़ैसला नहीं सुनाया गया था और हम उम्मीदों के आलम में थे। उन्हीं दिनों एक दिन यह सूचना मिली कि *दस्ते-सबा* प्रकाशित हो गयी। वैसे हम इसकी तमाम चीज़ें फ़ैज़ के मुंह से सुन चुके थे और उन्हें बार-बार पढ़ चुके थे। लेकिन इस ख़बर से हममें से तमाम क़ैदियों को, जो साहित्य में रुचि रखते थे, एक ग़ैर मामूली ख़ुशी हुई। जेल के हाकिमों से अनुमति ले कर हमने एक दावत भी कर डाली, जिसमें हम तमाम क़ैदियों ने मिल कर फ़ैज़ को *दस्ते-सबा* के प्रकाशन पर मुबारकबाद दी। उस मौक़े पर अन्य बातों के अलावा मैंने यह भी कहा था कि बहुत अर्सा गुज़र जाने के बाद जब लोग रावलपिंडी साज़िश के मुक़दमे को भूल जायेंगे और पाकिस्तान की सन् 1952 की अहम घटनाओं पर नज़र डालेंगे तो यक़ीनन इस साल की सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना इस छोटी सी किताब का प्रकाशन ही होगा।

बहुत दिनों से कुछ नेकनीयत और बदनीयत लोग उर्दू साहित्य और विशेष रूप से प्रगतिशील परिवेश के पतन की बातें करते हैं। मैं इस नज़रिये को सही नहीं समझता। बल्कि मेरा ख़याल है कि उर्दू साहित्य का आधुनिक काल प्रगतिशील आंदोलन से ही रौशन है। यह दौर तक़रीबन 1930 से शुरू होकर अभी तक जारी है। और अगर हम पिछले चार-पांच साल को ही लें तो मेरे ख़याल में फ़ैज़ की *दस्ते-सबा, ज़िंदांनामा,* नदीम काज़मी की *शोला-ए-गुल,* सरदार जाफ़री की *पत्थरों की दीवार,* एहतेशाम हुसैन की *तनक़ीद और अमली तनक़ीद,* और मजनूं गोरखपुरी की *नकुश वाफ़कार* आदि किताबें इस दौर में काफ़ी लोकप्रिय हुईं। रचनात्मकता का सुर्ख़ शोला, 'जिसमें गर्मी भी है, हरकत भी', तवानाई (ताक़त, शक्ति) भी, विपरीत हालात में न धीमा होता है और न बुझता है बल्कि जहालत की काली आंधियां इसे और भी भड़काती हैं और इस तरह संघर्ष और टकराहटों से गुज़र कर रचनात्मकता का यह सुर्ख़ शोला ऐसी ताक़त हासिल करता है कि सच्चाई का नूर पहले से भी ज़्यादा निखरकर झिलमिलाने लगता है।

ज़िंदांनामा की ज़्यादातर नज़्में फ़ैज़ ने मंटगोमरी सेंट्रल जेल और लाहौर सेंट्रल जेल में लिखीं। यानी जुलाई 1952 से मार्च 1955 तक की लिखी हुई चीज़ें इसमें शामिल हैं। इसी दौरान हम एक दूसरे से बिछड़ गये। क्योंकि हम दोनों को चार-पांच साल की क़ैद बामशक्कत देने के बाद हुक्मरान ने फ़ैसला किया कि हम एक साथ जेल में न रखे जायें। फ़ैज़ को पंजाब में मंटगोमरी जेल भेजा गया और मुझे हैदराबाद सिंध से बलूचिस्तान सेंट्रल जेल। हम एक दूसरे से चिठ्ठी-पत्री भी नहीं कर सकते थे। दूसरे दोस्तों के खतों और कुछ उर्दू पत्रिकाओं के ज़रिये मुझे फ़ैज़ की पंद्रह ग़ज़लें और नज़्में, जो *ज़माना* में लिखी गयी थीं, पढ़ने का मौक़ा मिला।

अब ज़िंदगी के हालात मेरे लिए काफ़ी ख़ुशगवार हैं और मैं आज़ाद फ़िज़ा में सांस ले सकता हूं। इसके बावजूद जब मैं उन ज़हनी, जज़्बाती और रूहानी हालात का ख़याल करता हूं जो मुझ पर उस वक़्त छायी थीं, जब अपने इस प्यारे दोस्त और हमदम का कलाम पढ़ता था, तो इसका इज़हार अब मुश्किल मालूम होता है। शायद बेलाग आलोचना के लिए यह अच्छा भी नहीं है। यह भी सही है कि चूंकि हमारे बहुत से अनुभव, ज़िंदगी और अपने वतन को बनाने से जुड़े हमारे ख़्वाब, हमारा दर्द, हमारी नफ़रतें और हमारी आपबीती एक जैसी थीं, इसलिए फ़ैज़ के उन अशआर का मुझ पर ग़ैरमामूली असर होता था। मेरा दिल कभी ख़ून के आंसू रोता कि जो अपनी हुस्नकारी से सबकी ज़िंदगी को इतनी करुणा से संपन्न कर देता और अपने नग़मों से हम सबकी रगों में सुरूर की लहरें बहा देता है, क़ैद की मुश्किलें उसकी ज़िंदगी का हिस्सा क्यों हैं। तो कभी मेरा ज़हन उस शायरी में मौजूद ख़यालात की ख़ुशनुमा गुलकारियों (कलात्मकता) से कसबे-शऊर करता (प्रबोधन पाता) जिनमें आधुनिक संघर्ष और इल्म की रौशनी इंसानियत के शरीफ़ तरीन जज़्बात से इस तरह मिल गयी है जैसे सूरज की किरणों में गर्मी और रौशनी मिली होती है।

फ़ैज़ की इन नज़्मों को मुकम्मल तौर पर देखने से हमें मालूम होता है कि जहां तक उनके सरोकारों, जिनको शायर ने इनमें पेश किया है, का ताल्लुक़ है, वे तो वही हैं जो इस ज़माने में तमाम प्रगतिशील इंसानियत के सरोकार हैं। लेकिन फ़ैज़ ने इनको इतनी ख़ूबी से अपनाया है कि वे न तो हमारी सभ्यता और संस्कृति की बेहतरीन परंपराओं से अलग नज़र आते हैं और न शायर की विशिष्ट मधुर गीतात्मक शैली से अलग।

उनमें मौजूद और प्रवहमान प्रगतिशीलता के अंदर हमारे वतन के फूलों की खूशबू है। उनके ख़यालात में उन सचाइयों और मक़सदों की चमक है जिनसे हमारी क़ौम के ज़्यादातर दिल रौशन हैं। अगर सभ्यता के विकास का अर्थ यह है कि इनसान अपनी मूल प्रकृति और रूहानी पतन से मुक्ति हासिल कर के अपने दिलों में कोमलता, अपनी दृष्टि में न्यायशीलता, और अपने किरदार में ठहराव और बुलंदी पैदा कर सके और हमारी ज़िंदगी अपनी पूर्ण और विशिष्ट हैसियत से बाहरी और अंदरूनी तौर पर साफ़ भी हो, तो फ़ैज़ की शायरी उन तमाम तहज़ीबी मक़सदों को छू लेने की कोशिश करती है। मेरा ख़याल है कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान में इसकी लोकप्रियता का सबब यही है। लिहाज़ा फ़ैज़ के तमाम चाहने वाले *नक़्शे-फ़रियादी, दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* के दीवाने होने के बाद भी उनसे यह उम्मीद रखते हैं कि उनकी अब तक की गयी रचनाओं के मुक़ाबले मात्रा और गुणवत्ता दोनों लिहाज़ से जो रचनाएं अभी नहीं हुई हैं, वे ज़्यादा मूल्यवान होंगी।

(13 जनवरी 1956)

अनुवाद : बलवंत कौर
मो. : 09868892723

सच्चाई का नूर दो

सज्जाद ज़हीर

सज्जाद ज़हीर की यह दूसरी विवेचनात्मक टिप्पणी 1970 में प्रकाशित हुई थी। तब तक फ़ैज़ के चार कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। उनकी सृजनशीलता के भिन्न-भिन्न पहलुओं को इसमें उद्घाटित किया गया है। सज्जाद ज़हीर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि फ़ैज़ की शायरी में जो चीज़ निरंतर मिलती है, वह है उनकी रूह, उनका विशिष्ट व्यक्तित्व, चिंतन और कल्पना-नियोजन का आश्चर्यजनक अछूतापन। सं.

फ़ैज़ का लगभग सारा कलाम उनके चार संग्रहों में है यानी सन् 1970 तक *नक़्शे-फ़रियादी, दस्ते-सबा, ज़िंदांनामा* और *दस्ते-तहे-संग*। यही उनके सृजनात्मक जीवन की मुकम्मल दास्तान है। ख़ुशक़िस्मती से हममें से बहुतों ने उन्हें बार-बार पढ़ा है। यह उनके अपने शब्दों में बयान की हुई दास्तान है : अस्ल, सच्ची, अंदरूनी, दिलचस्प, और बड़ी ख़ूबसूरत दास्तान। इसके अलावा और इससे बेहतर मैं या कोई दूसरा शख़्स क्या कह सकता है। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि आख़िर लोग किसी कलाकार की बाहरी रोज़मर्रा की ज़िंदगी, उसकी आदतें और स्वभाव, उसकी समाजी हैसियत, उसकी चाल-ढाल, उसके बात करने या शेर पढ़ने के अंदाज़; वह कहां पैदा हुआ, उसने कितनी और कहां शिक्षा पायी, घोषित रूप से और खुफ़िया तौर पर कितनी औरतों से उसने मुहब्बत की; उसका राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण क्या है... और इसी क़िस्म की बहुत-सी बातें मालूम करने की कोशिश क्यों करते हैं? विश्वास किया जाता है कि हम इन बातों के मालूम हो जाने के बाद उस कलाकार के व्यक्तित्व को समझ लेंगे और यह भी जान लेंगे कि वह कैसा आदमी है। लेकिन दाने और मिट्टी और हवा और पानी और सूरज की रौशनी के बारे में सब कुछ मालूम करने के बाद भी हम फूल, उसके रंग की मोहकता, उसकी पंखड़ियों की नमी और कोमलता, उसकी उड़ती हुई महक यानी उसकी सारी लताफ़त और उसकी सुंदरता का अंदाज़ा कैसे लगा सकते हैं? वह बना तो उन्हीं चीज़ों के मेल से है जिनका ऊपर ज़िक्र किया गया है लेकिन उनसे किसी क़दर भिन्न है।

लोग नैतिकता के क्षेत्र में आम तौर पर एक बात को सख़्त नापसंद करते हैं, और वह है कथनी और करनी का परस्पर-विरोध, यानी, हम कहें कुछ और, दावा करें कुछ और, अमल करें कुछ और। हमारा देश ऋषियों-मुनियों, औलियाओं-फ़कीरों, भक्तों और महात्माओं का देश है। लेकिन हमारे ही देश में 'बगुला भगत' का मुहावरा भी आम है, और हममें से अक्सर ने ख़ुद पिछले तीस-चालीस बरस में यह माजरा देखा है कि हमारे मुल्क में एक ख़ास क़िस्म की टोपी और लिबास, जो कभी देशभक्ति और निष्ठावान जीवन और विनम्रता की अलामत समझे जाते थे, अब आम हिंदुस्तानियों की नज़र से बिल्कुल

उनसे उलट बातों के निशान समझे जाने लगे हैं। मैं समझता हूं कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान, बल्कि इन मुल्कों के बाहर भी जहां फ़ैज़ के बारे में लोगों को जानकारी है, फ़ैज़ की असाधारण लोकप्रियता और लोगों को उनसे गहरी दिली मुहब्बत का एक कारण उनके काव्य की खूबियों के अलावा यह भी है कि लोग फ़ैज़ की ज़िंदगी और उनके अमल, उनके दावों और उनकी कथनी में टकराव नहीं देखते। गो कि, मेरी राय में, अगर यह टकराव होता भी, तब भी इस वजह से कि कला की दुनिया के विधि-विधान प्रचलित नैतिक विधि-विधानों से अगर भिन्न नहीं तो दूसरे ही स्तर के होते हैं, उनकी काव्यात्मक हैसियत में कोई फ़र्क़ न आता।

मैं मिसाल के तौर पर चंद वाक़िआत आपको बताना चाहता हूं। फ़ैज़ 9 मार्च 1951 को लाहौर में अपने मकान से अचानक गिरफ़्तार कर लिये गये। उस वक़्त वे पाकिस्तान के दो सबसे महत्वपूर्ण अख़बारों *पाकिस्तान टाइम्स* और *इमरोज़* के संपादक थे। उनके साथ पाकिस्तानी फ़ौज के चीफ़ आफ़ द जनरल स्टाफ़, जनरल अकबर ख़ान, और कई दूसरे फ़ौजी अफ़सरान भी बड़े ड्रामाई अंदाज़ में गिरफ़्तार कर लिये गये। सारा पाकिस्तान हिल गया। अख़बारों में रोज़ ये अफ़वाहें छपने लगीं कि इन सब लोगों को फ़ौजी बग़ावत की साज़िश के जुर्म में फ़ौरन गोली मार दी जायेगी। मैं उस वक़्त लाहौर में था और मुझे लोगों ने आकर बताया कि किसी को इसका पता नहीं है कि फ़ैज़ किस जेल में हैं। कई हफ़्ते उनकी बीवी और बच्चों को भी इसका पता न था। न किसी को फ़ैज़ से मिलने की इजाज़त थी। यह भी सुना गया कि फ़ैज़ को शारीरिक यातना पहुंचायी जा रही है (बाद में मालूम हुआ कि यह बात ग़लत थी)। अलबत्ता दूसरी बातें सही थीं; यानी वे बिल्कुल अकेले और तकलीफ़देह हालात में रखे गये थे। कोई किताब (सिवाय *क़ुरान-मजीद* के), अख़बार, पत्रिकाएं, या काग़ज़, क़लम-दवात तक, उनको नहीं दिया गया था। न ख़ुद कुछ लिख सकते थे, न किसी का कोई ख़त वग़ैरा पा सकते थे। सारांश यह कि परिस्थिति भयावह थी। इन्हीं हालात में फ़ैज़ ने वह अपना मशहूर कित'आ[1] कहा :

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में ज़बां मैंने

और इस मज़मून की ग़ज़ल भी कही :

हम परवरिशे-लौह-ओ-क़लम करते रहेंगे
जो दिल पे गुज़रती है रक़म करते रहेंगे
हां, तल्ख़िए-ऐय्याम अभी और बढ़ेगी
हां, अहले-सितम मश्क़े-सितम करते रहेंगे
मैख़ाना सलामत है, तो हम सुर्ख़िए-मय से
तज़ईने-दरो-बाते-हरम करते रहेंगे

1. किसी भी एक विषय पर उस सुसंबद्ध पदयोजना वाली कविता को क़ित्आ कहते हैं जिसमें प्रथम शेर के दोनों पद ग़ज़ल की तरह सम-तुकांत नहीं होते। मगर बाक़ी शेरों में तुकांत योजना ग़ज़ल की ही तरह होती है।

मैंने फ़ैज़ का यह कलाम ख़ुद उनकी ज़बानी हैदराबाद-सिंध जेल में सुना; इसलिए कि उनकी गिरफ़्तारी के तक़रीबन तीन महीने के बाद मैं भी गिरफ़्तार कर लिया गया था और रावलपिंडी साज़िश केस के कुल क़ैदी एक स्पेशल ट्रेन में लाहौर से हैदराबाद-सिंध पहुंचाये गये। यह स्पेशल ट्रेन और उसका सफ़र भी अजीबोग़रीब, और दरअसल स्पेशल था। हम तेरह क़ैदी एक ही ट्रेन के अलग-अलग डिब्बों में थे। हरेक क़ैदी दो स्टेनगन से लैस सिपाहियों और एक इंस्पेक्टर पुलिस के साथ फ़र्स्ट क्लास के एक डिब्बे में हिरासत में था। हम एक-दूसरे से मिल नहीं सकते थे, और न हमको यह पता था कि दूसरे डिब्बे में कौन है। लेकिन यह मौक़ा इन बातों के बयान करने का नहीं, और न अब इसका कोई ख़ास महत्व है। जेल के अंदर हमारी मुलाक़ात हुई, और हमने अपनी आपबीतियां सुनाने के बाद फ़ैज़ से पूछा कि शायरी का क्या हाल है, तब उन्होंने हमको अपनी ताज़ा चीज़ें सुनायीं। काग़ज-क़लम न होने की वजह से उस वक़्त तक, तीन महीने में, क्या हुआ, कलाम दर-अस्ल लौहे-दिल[2] पर ही लिखा हुआ था। हैदराबाद में जब हमें क़लम और काग़ज़ रखने की इजाज़त मिली, तब यह कलाम बयाज़[3] में क़लमबंद किया गया।

हैदराबाद सिंध के जेलख़ाने में हम तक़रीबन दो साल रहे। एक स्पेशल ट्रिब्यूनल[4] जो जेल के अंदर ही बैठता था, उसके सामने हमको रोज़ाना पेश होना पड़ता था और हम सरकारी वकील की बहस और जिरह और सफ़ाई के वकीलों का जवाब, सैकड़ों गवाहों की गवाहियां यह सब सुनते रहते थे। आम तौर पर ये चंद घंटे निहायत बोरिंग होते थे। दूसरी या आख़िरी पंक्ति के बायें सिरे पर मैं और फ़ैज पास पास बैठे कानाफूसी करते रहते और सामने पड़ी हुई कापी पर कभी कार्टून बनाते, कभी गवाहियों पर अपने नोट लेते। हम 'दंडसंहिता पाकिस्तान' की अनगिनत धाराओं के तहत मुलज़िम क़रार दिये गये थे; जिनमें सबसे संगीन, फ़ौजी बग़ावत फैलाने का अभियोग था; जिसकी सज़ा मौत थी। हमें उस वक़्त हंसी आती थी जब हमारे ख़िलाफ़ झूठी गवाहियां पेश होती थीं। इन मौक़ों पर कभी-कभी हम या हमारे साथी बेसाख़्ता हंस देते थे जो अदालत की तौहीन का पर्याय समझा जाता था। इस पर स्पेशल ट्रिब्यूनल के अध्यक्ष जस्टिस अब्दुर्रहमान, जिनको हाई ब्लड प्रेशर की शिकायत थी, गुस्से से बिल्कुल लाल-पीले हो जाते (वे बहुत गोरे-चिट्टे थे) और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर हमको ख़ामोश रहने का आदेश देते, और अगर इस पर भी किसी को और ज़्यादा हंसी आती, तो वे धमकी देते।

अपनी क़िस्मत का फ़ैसला करने वाले जज को नाराज़ कर लेना और भड़काना कोई दूरदर्शिता नहीं थी, लेकिन आख़िर हम भी मजबूर थे।

उन दिनों हम लोग हर पंद्रह दिन पर छुट्टी के दिन एक 'तरही-मुशायरा'[5] करते थे; जिसके लिए शेर कहना हर क़ैदी के लिए लाज़िमी था। दरअसल यह फ़ैज़ के ख़िलाफ़ एक षड्यंत्र था, ताकि उनको शेर लिखने पर मजबूर किया जाये। इन्हीं हालात में फ़ैज़ ने यह ग़ज़ल लिखी :

तुम आये हो न शबे-इंतिज़ार गुज़री है
तलाश में है सहर, बार-बार गुज़री है

2. हृदय की पाटी।
3. शेरों के लिखने की कापी, नोटबुक।
4. अदालत
5. किसी नियत छंद और तुक योजना ('तरह') के अनुसार कही गयी ग़ज़लों का मुशायरा 'तरही मुशायरा' कहलाता है।

और आप सब भी समझ सकते हैं कि इस मशहूर शेर को प्रेरित करनेवाले कौन से हालात थे :

वो बात, सारे फ़साने में जिसका ज़िक्र न था
वो बात उनको बहुत नागवार गुज़री है।

उन्हीं दिनों एक दिन हमने अख़बारों में यह ख़बर पढ़ी कि अनारकली में एक ख़ूबसूरत लड़की, जिसके कंधों पर बालों की घटा छायी थी, हंसती-बोलती गुज़र रही थी। एक मौलाना किसी दुकान पर बैठे थे। उनको यह मंज़र देखकर ख़ुश होने के बजाय सख़्त गुस्सा आया, और इस बेपर्दगी में उन्हें इस्लाम की तौहीन नज़र आयी। चुनांचे वे एक कैंची लिये हुए अपनी जगह से कूदे और लपककर उस बेचारी लड़की की ज़ुल्फ़ें काट दीं। ख़ैर, इस अनधिकार हस्तक्षेप पर मौलाना पकड़े गये और उनको सज़ा हुई। मालूम होता है, फ़ैज़ इस घटना से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी ग़ज़ल में यह शेर लिखा :

दिलबरी ठहरी ज़बाने-ख़ल्क़ खुलवाने[6] का नाम
अब नहीं लेते परीरू ज़ुल्फ़ लहराने का नाम

ज़ाहिर है, इन हालात में सबसे ज़्यादा रूहानी तकलीफ़ हमें उस वक़्त होती थी जब हम पर ग़द्दारी का, स्वदेश-विरोध का इल्ज़ाम लगाया जाता था। इसकी सफ़ाई हम उस अदालत में क्या पेश करते जो बनायी ही इसलिए गयी थी कि विशेष क़ानून का सहारा लेकर (रावलपिंडी साज़िश के मुक़दमे के लिए एक ख़ास क़ानून बनाया गया था, जिसकी एक धारा यह भी थी कि यह मुक़दमा गुप्त रूप से चलाया जायेगा, और इसकी कार्रवाई के किसी हिस्से को भी प्रकाश में लाना स्वयं जुर्म होगा) तमाम अभियुक्तों को किसी-न-किसी प्रकार दंडित किया जाये। लेकिन फ़ैज़ चुप नहीं बैठे और अपनी अनेक कविताओं, ग़ज़लों, स्फुट रचनाओं (क़ित्'ओं) और छिट-पुट अश्'आर में उन्होंने अपनी ऐसी बेमिसाल सफ़ाई पेश की कि उन पर अभियोग लगानेवाले ख़ुद ही मुज़रिम नज़र आने लगे। इस क़िस्म की नज़्मों में 'दो इश्क़' और 'निसार मैं तेरी गलियों पे' ख़ास तौर पर इन भावनाओं को व्यक्त करती हैं। 'दो इश्क़' में फ़ैज़ ने नये और अछूते रूपकों का प्रयोग किया है :

तनहाई में क्या-क्या न तुझे याद किया है
क्या-क्या न दिले-ज़ार ने ढूंढ़ी हैं पनाहें
आंखों से लगाया है कभी दस्ते-सबा[7] को
डाली हैं कहीं गर्दने-महताब में[8] बाहें

तनहाई की भावनाओं का वर्णन करना हर कवि अपना पैदाइशी हक़ समझता है और आजकल कतिपय कवियों औार चिंतकों ने तो इसको बाक़ायदा दर्शन का रूप दे दिया है; और वे अपने तथाकथित एकाकीपन को इतनी अहमियत देते हैं जितना ज़ोर एक ईश्वर को माननेवाले मुसलमान अल्लाह-त' आला के एकाकी और अद्वितीय होने को देते हैं। लेकिन आप ज़रा फ़ैज़ की इस दर्दनाक लेकिन हसीन तनहाई की कल्पना कीजिए जिसमें *दस्ते-सबा* की नर्मी और ठंडक प्रेयसी के हाथों की याद दिलाती है,

6. दुनिया का मुंह खुलवाने.
7. ठंडी हवाओं के हाथ (को)
8. चंद्रमा की गर्दन में

और चांद की वक्रता को देखकर प्रिया की अनुपस्थिति में, उसके गले में बांहें डाल देने को जी चाहता है।

मानव-स्वतंत्रता, मानवीय मूल्यों की गरिमा, प्रेमपूर्ण सहज मानवीय संबंध, भद्र और पवित्र आचरण, मानवों पर होनेवाले हर प्रकार के जुल्म, शोषण, ज़ोर-ज़बरदस्ती और तानाशाही की समाप्ति का लक्ष्य और इस लक्ष्य और उच्चादर्श की प्राप्ति के लिए ऐसी साधना और संघर्ष कोई कायिक, मानसिक, आत्मिक रूप से एकाग्र समर्पित प्रेमी ही करता है। फ़ैज़ के श्रेष्ठ काव्य की विषयवस्तु यही है। उनका लहजा कभी नर्म, मुलायम और धीमा; कभी कठोर, तेज़ और द्रुत प्रवाहमय। उनके प्रतीक और व्यंजनाएं कभी सादा, कभी पेचीदा; बात में कभी सीधा-स्पष्ट और ओजस्वी संबोधन; कभी तह-ब-तह हज़ारों पर्दों और नक़ाबों में ढका-छुपा। मसलन देखिए इस 'क़ित'ए' का आहंग (स्वरनाद) कितना ओजस्वी और गूंजता हुआ है :

हमारे दम से है कू-ए-जुनूं में अब भी ख़जिल
अबा-ए-शैख़-ओ-क़बा-ए-अमीर-ओ-ताजे-शही
हमीं से सुन्नते-मन्सूर-ओ-क़ैस ज़िंदा है
हमीं से बाक़ी है गुलदामनी-ओ-कजकुलही[9]

और कभी इस बात को आहिस्ता से मुस्कराकर यों कह देते हैं :

इज्ज़े-अहले-सितम की बात करो
इश्क़ के दम-क़दम की बात करो[10]
बामे-सर्वत के ख़ुशनशीनों से
अज़मते-चश्मे-नम की बात करो[11]
जान जायेंगे जाननेवाले[12]
'फ़ैज़' फ़रदाह्-ओ-जम की बात करो।

फ़ैज़ की सहल और सादा शायरी की बात आयी तो एक दिलचस्प वाक़िआ और सुन लीजिए। हैदराबाद-सिंध के जेल में हम पर पहरा देने के लिए जो वार्ड मुक़र्रर थे उनमें एक साहब थे जिनको सब लोग नवाब साहब कहकर पुकारते थे। ये हज़रत गोरे-चिट्टे और काफ़ी मोटे-ताज़े थे। हर वक़्त पान

9. भावार्थ : अपना लंबा धार्मिक चुग़ा पहने हुए शैख़, शानदार लिबासों में शासकगण और मुकुट-छत्रधारी सम्राट हमारी जुनून की गलियों में हतप्रभ होकर लज्जा से भर जाते हैं। आत्मबलिदानी संत मंसूर और महान प्रेमी मजनूं (क़ैस) के आत्मोत्सर्ग का धर्म हमीं से जीवित है। इसी प्रकार अपने दामन को फूलदार (यानी बलिदानी रक्त से रंजित) करने और कुलाह टेढ़ी रखने (यानी विद्रोह की आन लेकर जीने) की परंपरा भी हमीं से क़ायम है।
10. चर्चा करो अत्याचरियों की विनम्रता और दीनता की। प्रेम के साहसिक चरण की चर्चा करो।
11. ऐश्वर्य की उत्तुंग अट्टालिकाओं में प्रसन्न आवास करनेवाले के आगे अश्रुपूर्ण आंखों की गौरव-गरिमा का प्रसंग उठाओ।
12. समझने वाले समझ ही जायेंगे, फ़ैज़ ज़रा फ़रहाद - जैसे मज़दूर और जमशेद - जैसे बादशाह की चर्चा तो करो। (फ़रहाद का प्रेम आज भी अमर है; और जमशेद की बादशाहत का नामोनिशान तक नहीं।)

खाये रहते थे, और सिंधी और पंजाबी पहरेदारों के दरमियान वैसी ही वर्दी में होने के बावजूद अपनी साफ़-शुस्ता (प्रांजल) उर्दू और उसके लहज़े की वजह से फ़ौरन पहचाने जा सकते थे। दर्याफ़्त करने पर उन्होंने बताया कि वह लखनऊ के हैं, और शीशमहल के नवाबों के ख़ानदान के। वैसे, पाकिस्तान पहुंचकर, यू.पी. और हैदराबाद-दकन से आये हुए शरणार्थियों में से बहुत-से लोग नवाब बन गये हैं। बहरहाल इन साहब को जब मालूम हुआ कि 'फ़ैज़' शायर हैं और मैं लखनऊ के एक जाने-बूझे शीआ ख़ानदान का हूं, तो हम दोनों में ख़ास दिलचस्पी लेने लगे। हम भी वार्डों की तलाश में रहते थे, जिनकी हमदर्दी की भावना से लाभ उठाकर हम उनसे छोटे-मोटे ग़ैर-क़ानूनी काम ले सकें (जिसे जेल की परिभाषा में 'तिगड़म' कहते हैं)। ज़ाहिर है नवाब साहब शायर भी थे। अपनी हलकी-फुलकी ग़ज़लें फ़ैज़ को सुनाते, और फ़ैज़ से कलाम सुनाने की फ़रमाइश करते। लेकिन फ़ैज़ का कलाम सुनकर थोड़ी-सी रस्मी तारीफ़ करके चुप साध लेते। एक दिन उन्होंने चुपके से मुझसे कहा : 'हैदराबाद में एक मुशायरा होने वाला है। फ़ैज़ साहब ज़रा अच्छी-सी ग़ज़ल लिख दें (यानी वैसी नहीं जैसी फ़ैज़ आम तौर से कहते हैं जो नवाब साहब को ज़्यादा पसंद नहीं आती थी) तो बड़ा अच्छा हो, और नवाब साहब उसे मुशायरे में पढ़ देंगे।' मैंने फ़ैज़ को नवाब साहब का पैग़ाम पहुंचा दिया, और यह भी कह दिया कि इस लखनऊ वाले पर तुम्हारे कलाम का कोई रौब नहीं पड़ा है। अगर उसे ख़ुश रखना है तो उसके मतलब की कोई चीज़ कहो। फ़ैज़ बोले 'भाई, तुम लखनऊवालों को ख़ुश करना मेरे लिए मुश्किल है। आख़िर मैं सियालकोट का पंजाबी हूं, लेकिन चलो, कोशिश करते हैं। अलबत्ता नवाब साहब से कह दो कि इसके एवज़ में हमारे लिए एक शराब की बोतल का इंतज़ाम करेंगे।'[13]

न गुल खिले हैं; न उनसे मिले, न मय पी है
अजीब रंग में अबके बहार गुज़री है

एक दिन में फ़ैज़ ने नवाब साहब की फ़रमाइश पूरी कर दी और यह ग़ज़ल लिखी :

तेरी सूरत जो दिलनशीं[14] की है
आशना[15] शक्ल हर हसीं की है

इस ग़ज़ल में नवाब साहब की पसंद के ये दो शेर थे :

शैख़ से बेहिरास[16] मिलते हैं
हमने तौबा अभी नहीं की है
ज़िक्रे-जन्नत, बयाने-हूर-ओ-क़ुसूर[17]
बात गोया यहीं कहीं की है

13. बोतल के दाम फ़ैज़ ने अदा किये थे।
14. दिल में बसायी है।
15. परिचत
16. बेझिझक
17. क़ुसूर क़स्र का बहुवचन; अर्थात् महलात।

नवाब साहब भी वादे के पक्के निकले। एक दिन शाम को चुपके से 'जिन' की एक बोतल जेब में रख लाये, और मेरे हवाले कर दी। गर्मियों के दिन थे। हमने बड़े तकल्लुफ़ से उसे शाम के वक़्त शरबत में मिलाकर पिया। लेकिन उस दिन के बाद फिर जेल में पीने से तौबा कर ली। शराब दरअस्ल आज़ादी और ख़ुशदिली के माहौल में पीने की चीज़ है। दिल कहीं भटके और जेलख़ाना, और अनगिनत अभावों के आलम में इसके असर से दिल की ख़राबी और बढ़ जाती है।

इन हिक़ायतों और लतीफ़ों की तो पूरी किताब लिखी जा सकती है, और आप शायद उन्हें सुनकर बोर भी न हों। ... लेकिन मेरी राय में फ़ैज़ की शायरी से लुत्फ़ उठाने के लिए उसको इन वाक़िआत और परिस्थितियों और प्रेरणास्रोतों से जोड़ने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं है हालांकि इन्होंने रचनाप्रक्रिया में सहायता दी है; और यह कि उसका सृजन एक ख़ास सरज़मीन में पैवस्त होने के बावजूद, उससे अलग, भिन्न, और विशिष्ट है (भले ही इस शेरो-शायरी के प्रेरक तत्वों के रूप में वे उसका आवश्यक अंश हों)। लेकिन फ़ैज़ की सृजनात्मक प्रतिभा से गुज़रने के बाद उनका महत्व आंशिक मात्र और दूसरे दर्जे का होकर रह जाता है; और जो चीज़ हमको मिलती है वह फ़ैज़ की रूह, उनका विशिष्ट व्यक्तित्व, और चिंतन और कल्पना-नियोजन का आश्चर्यजनक अछूतापन, और कला का अद्वितीय कौशल, हुस्न और लताफ़त और पाकीज़गी और पावन मूल्यों की एक अनंत खोज : जैसे बहार के मौसम में तरह-तरह के फूलों से रौशन किसी बाग़ में मिलीजुली अनजानी महक से भरी मादक हवाओं के हलके झोंकों में होती है। आप उसे महसूस कर सकते हैं, उनको पकड़ना और पहचानना मुश्किल है, इसलिए कि उनकी जैसी और कोई दूसरी चीज़ नहीं, और न ही कला के उत्कृष्ट रूप-जैसी है।

असलियत का राज़ खोलने वाली शायरी

शमशेरबहादुर सिंह
मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी

1979 में 'फ़ैज़' नामक एक गद्य-पद्य संग्रह का संपादन शमशेर जी और फ़रीदी साहब ने किया था। यह संग्रह राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ था। उस संग्रह की जो भूमिका दोनों संपादकों ने लिखी थी, उसे हम यहां पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। इस भूमिका में अनेक प्रश्नों पर महत्वपूर्ण टिप्पणियां हैं, अतः फ़ैज़ जन्मशती पर तैयार किये गये 'नया पथ' के इस विशेषांक में इसका होना बहुत ही अनिवार्य प्रतीत होता है। सं.

सन् 1978 में फ़ैज़ का स्वागत हिंदुस्तान के हर बड़े शहर में कुछ ऐसे हुआ जैसे बरातियों के दिलों में बसे हुए किसी हसीन दूल्हे का होता है।

यह हुस्न फ़ैज़ की शायरी के अंदर हमारे उपमहाद्वीप के उस इनसान का है जिसके जिस्म पर हज़ारों ज़ख़्म हैं, जो सितारों की तरह चमक रहे हैं। उन्हीं ज़ख़्मों का सेहरा पहने हुए इस 'दूल्हे' की बारात में हिंद-ओ-पाक का हर वह नागरिक शामिल है जो आज इनसान बनने को तरस गया है। क्योंकि आज सच पूछिए तो ऐसे इनसान के सिर्फ़ दूर-दराज़ सपने ही उसके पास रह गये हैं, और कुछ नहीं।

फ़ैज़ उस हिंदुस्तान की यादगार भी है जिसने अंग्रेज़ों की सियासत और संगीनों के आगे अपना सीना खोला था। उसी साम्राज्यवादी सियासत ने हमारे विशाल सीने के दो टुकड़े कर दिये थे और आज वो दोनों चुपचाप अलग-अलग तड़प रहे हैं। क्या वो सचमुच कभी मिल भी सकते हैं, एक भी हो सकते हैं... भूगोल के मिलन में नहीं, दिलों के एक होकर मिलने में?

अकेले फ़ैज़ के यहां ये दोनों एक होकर, मिले हुए, हमारे सामने आते हैं। फ़ैज़ की शायरी से दोनों को गहरा सुकून मिलता है।

फ़ैज़ वहीं हैं जहां असलियत बोलती है, भाषा की हदों से ऊपर उठकर बोलती है, और अपने लहज़ों के नर्म और गर्म तेवर से हमारे आज की ज़िंदगी के बहुत-से राज़ खोलती चलती है... वो राज़ जिनसे रूह तो वाक़िफ़ है मगर जिन पर बूर्ज़ुआ और सामंती सियासत और तानाशाही ने शोषण और अत्याचार के धुआंधार पर्दे डाल रखे हैं, अगर्चे वह बहुत-कुछ ढंक नहीं भी पा रहे हैं। हां, इसी मंच पर फ़ैज़ की शायरी अपनी आवाज़ बुलंद करती है।

फ़ैज़ की शायरी ऐसे ज़िंदा इशारों का पर्याय है जो दर्द की चीख़ और कराह को कसकर अंदर-ही-अंदर दबाये और छुपाये हुए है, मगर जो दरअसल दबाये दबते हैं न छुपाये छुपते।

फ़ैज़ की शायरी एक ऐसा संगीत है जो मालूम तो होता है रूमानी, मगर अस्लन् इज्तिहादी है अपने

रूमानी तेवर में भी ख़ालिसन् इन्क़िलाबी, यानी संघर्षों में उसका जन्म हुआ है। रूमान के सही माने और मफ़हूम उनके सही सार्थक संदर्भ शायद पहली बार फ़ैज़ के यहां ही इतने आधुनिक रूप में, इतने साफ़-साफ़ समझ में आने लगते हैं जितने कि पहले कम ही समझ में आये होंगे। जोश और मजाज़ का कलाम इनके साथ रखकर देख सकते हैं। ('मख़दूम' ... का मामला कुछ दूसरा है)

फ़ैज़ ने इक़बाल की गर्म ओजस्वी कल्पना को अपने ख़ून की आंच नर्मा कर व्यापक अवाम के दिलों में रौशन किया है, और इस रंग और लय में किया है कि अपने सुख-दुख के इतिहास के फ़लसफ़े को वह व्यापक अवाम पहले से कुछ ज़ियादा खुले अंदाज़ में समझने लगा।

इस समझ में अगर किसी सियासत को दख़्ल था तो वह गहरी इनसानी सच्चाइयों में, और पावन कुर्बानियों की सच्चाई थी। फ़ैज़ के यहां व्यक्तिगत प्रेम के महत् मूल्य का अर्थ भी इसी सच्चाई में झलकता है। फ़ैज़ का पूरा कलाम इसका प्रमाण है।

नवंबर 1979

यह चयन

फ़ैज़ की सन् '71-72 की ख़ासी-कुछ कविताओं से हिंदी कविता-प्रेमी जगत् परिचित है। कोई छह-सात साल पहले 'शीशों का मसीहा' नाम से एक संकलन राजकमल ने ही प्रकाशित किया था जिसमें उस समय तक की प्रायः सभी कविताएं संगृहीत थीं। तब से इस बीच फ़ैज़ के दो और संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो नागरी लिपि में अभी तक नहीं आये थे यानी *सरे-वादिए-सीना* और *शामे-शह्रे-यारां*। पिछले साल जब फ़ैज़ भारत आये और जगह-जगह उनका हार्दिक स्वागत हुआ, तो यह ज़रूरत महसूस हुई कि नागरी लिपि में उनकी कविताओं का एक अप-टु-डेट संकलन तैयार किया जाये। यही नहीं, बल्कि फ़ैज़ के दूसरे रचनात्मक पहलू यानी उनके गद्य को भी हिंदी में प्रस्तुत किया जाये। फ़ैज़ एक महान कवि ही नहीं, विचारोत्तेजक निबंधकार भी हैं। संस्कृति, साहित्य और राजनीति के अंतर्संबंधों का उन्होंने मार्मिक विश्लेषण किया है। युद्ध और शांति की समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है। थोड़े शब्दों में वह बहुत-कुछ कह सकने की क्षमता रखते हैं जैसा कि प्रस्तुत संकलन में किये गये चयन से अनेक स्थलों पर प्रकट होगा। उन्होंने जेल से जो पत्र अपनी पत्नी के नाम लिखे, वे भी एक यादगार चीज़ हैं। अपने मित्रों को लिखे उनके पत्र भी दिलचस्पी से ख़ाली नहीं। गंभीर पत्रकारिता और स्तरीय संपादन (जैसे *पाकिस्तान टाइम्स* और *इमरोज़* का) उन्हें पहले ही व्यापक प्रसिद्धि प्रदान कर चुका था; (हाल ही में बग़दाद [ईराक], में उन्हें अफ्रो-एशियाई लेखक संघ के अंतर्राष्ट्रीय मुखपत्र 'लोटस' के संपादन का भार सौंपा गया है।) उन्होंने अपनी प्रतिभा का योगदान रेडियो, टेलीविज़न, और फ़िल्म को भी दिया; चार सफल मंचीय नाटक भी लिखे। राष्ट्रीय कला-परिषद की स्थापना की; इदारए-यादगारे-ग़ालिब क़ायम किया। अनेकानेक देशों की यात्रा की; और जहां गये विश्वबंधुत्व की भावना मज़बूत की, और युद्ध के विरोध और शांति के समर्थन के पक्ष में अपनी प्रत्येक गतिविधि से बल दिया।

ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का आंशिक प्रतिनिधित्व ही इस संकलन में संभव हो सका है।

पद्य भाग में अधिक से अधिक कविताएं हमने फ़ैज़ के नये संकलनों से देनी चाही हैं। तथापि 'शीशों का मसीहा' की प्रायः सभी विशिष्ट और प्रसिद्ध कविताएं और ग़ज़लें हमने प्रस्तुत प्रतिनिधि संकलन में शामिल की हैं। अस्तु, हम इसके योग्य चयनकर्ता और संपादक, प्रसिद्ध साहित्यकार जनाब अली

सरदार जाफ़री और डा. मुल्कराज आनंद के ऋणी हैं, इसलिए और भी कि उनकी दी हुई पाद-टिप्पाणियों से हमने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। जहां-जहां उन्होंने **मेरे** और **तेरे** को **मिरे** और **तिरे** किया है 'मे...' और 'ते...' में प्रयुक्त ह्रस्व 'ए' को स्पष्ट करने के लिए (ताकि पद को सही उर्दू छंद में पढ़ा जा सके) वहां हमने उनका अनुसरण किया है; यद्यपि कुछ हिंदी पाठकों को आरंभ में यह कुछ अटपटा-सा लगता है। हां, फ़ारसी शब्दों के अन्त्य 'ह' को हमने विसर्ग (:) से व्यक्त करने के बजाय 'आ' की मात्रा (ा) से व्यक्त किया है जो हमें सामान्य हिंदुस्तानी उच्चारण के अधिक निकट लगा। जैसे 'पियालः' के बजाय 'पियाला', 'नामः' के बजाय 'नामा'।

गद्य भाग के अनुवादों में पूरी-पूरी सतर्कता बरती गयी है कि मूल की शैली ज्यों-की-त्यों रहे और हिंदी के अपने स्वाभाविक प्रवाह के अंतर्गत ऐसे मूल उर्दू शब्द भी बरक़रार रहें जो बहुत अपरिचित-से न हों; ताकि पाठक मूल के निकट से निकट अपने को महसूस करता चले। हां, गंभीर सैद्धांतिक साहित्यिक निबंधों के अनुवाद से हिंदी सुष्ठ संस्कृतनिष्ठ रूप को अपनाना अनिवार्य-सा जान पड़ा।

परंपरागत ज़बान में एक जुदा अंदाज़ का जादू

मुहम्मद अली सिद्दीक़ी

उर्दू अदब में एक तेजस्वी समालोचक की हैसियत से इस आलेख के लेखक को विशेष रूप से आदर प्राप्त है। फ़ैज़ की शायरी की ज़बान, बिंब, प्रतीक, रूपक आदि पर अक्सर विवादपूर्ण दृष्टिकोण की चर्चा की जाती है। उर्दू काव्यभाषा की परंपरा में फ़ैज़ की नयी उद्भावनाओं और समकालीन यथार्थ को व्यंजित करने वाली कथन-शैली पर मुहम्मद अली सिद्दीक़ी का एक ख़ास नज़रिया है। इस समय पाकिस्तान की उर्दू साहित्य-समीक्षा में प्रगतिशील मानदंडों के वे प्रामाणिक व्याख्याता माने जाते हैं। यह लेख उनके एक निबंध संग्रह 'मज़ामीन' से साभार लिया गया है। सं.

फ़ैज़ निर्विवाद रूप से फ़ैज़ हैं उन्होंने परंपरागत काव्य भाषा से अपने धीमे स्वभाव, सुंदर सांस्कृतिक रचाव और तार्किक खोज पर आधारित वैज्ञानिक विश्वास के लिए जिस ढंग से बिल्कुल जुदा अंदाज़ से काम लिया है वह न केवल उनकी कलात्मक श्रेष्ठता का प्रमाण है बल्कि उस सत्य की घोषणा भी है कि उन्होंने परंपरागत भाषा पर उठायी जाने वाली सामूहिक आपत्तियों को निराधार और अनावश्यक घोषित कर दिया है। फ़ैज़ परंपरागत काव्य भाषा से संबंध-विच्छेद किये बिना एक बड़े रचनाकार के रूप में उभरे। जबकि आधुनिक युग के कई बड़े रचनाकार चली आ रही काव्य-शैली को निरस्त किये बिना या उस में दरार डाले बिना अपनी विशेष काव्य शैली आविष्कृत न कर सके। ये फ़ैज़ ही हैं जो अपने चिरागों को हाफ़िज़ और उर्फ़ी के चिराग़ों से जलाते और मसहफ़ी की हसीं फज़ा में बाक़ायदा तौर पर सांस लेते हुए सौदा और ग़ालिब की ओर बढ़ते हैं।

मसहफ़ी फ़ैज़ के सर्वप्रिय कवियों में से हैं। वे मसहफ़ी और साथ ही साथ सौदा के रंग में इस हद तक डूबे हुए हैं कि ग़ालिब से सभी प्रकार के लगाव के बावजूद फ़ैज़ ग़ालिब के कौतुक भरे वातावरण से बचकर निकल जाते हैं। फ़ैज़ ने प्रियतम को सच्चा और अच्छा मानते हुए भी अपने अनोखेपन पर अडिग रहते हुए मसहफ़ी और सौदा के रंगों से एक तीसरा रंग पैदा करने की कामयाब कोशिश की है। उन्होंने अपने जाम में मुहब्बत की पवित्र शराब के साथ अपनी राजनीतिक दृष्टि को कुछ इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि वे परंपरागत काव्य भाषा की सैकड़ों सालों की जादूगरी को मंत्र बनाते हुए उसे अपने विशेष जादू से चमत्कृत करते हुए दिखायी देते हैं। उन्होंने इस प्रभामंडल को विस्तृत करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय पटल पर सक्रिय समान विचार के कवियों से कुछ इस ढंग से आदान-प्रदान किया है कि उर्दू कविता के इतिहास का एक उज्ज्वल अध्याय बन गया है। जब फ़ैज़ अपने शेर में वास्तविकता जगाते हैं तो ऐसी स्थिति में वे बड़ी हद तक धार्मिक ज्ञान का भी उपयोग करते हैं।

फ़ैज़ ने सूफ़ियाना और सामाजिक ज्ञान को प्रायः विस्मृत नहीं किया है लेकिन शायद ही उर्दू के किसी और शायर ने स्पष्ट रूप से धार्मिक उपक्रमों से इस हद तक क्रांतिकारी काम लिया हो जिस हद तक फ़ैज़ ने। उनके जीवन काल में पारंपरिक काव्य पद्धति के विरुद्ध कई बड़े और महत्वपूर्ण विद्रोह हुए लेकिन वे बहुत हद तक केवल इस कारण निष्प्रभावी हो गये कि फ़ैज़ जैसे महान रचनाकार ने परंपरागत भाषा की कमियों के ख़िलाफ़ सभी तर्क निरस्त कर दिये। ऐसा नहीं था कि ये आपत्तियां पूरी तरह से ग़लत या अनावयक थीं। लेकिन फ़ैज़ ने उन आपत्तियों को जिस ढंग से प्रभावहीन बना दिया इसके कारण फ़ैज़ के समानधर्मा और उनके अनुयायियों के लिए रास्ते अपने आप आसान हो गये। वर्तमान परिस्थिति फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के लिए बहुत अनुकूल रही लेकिन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की अप्रत्याशित लोकप्रियता ने फ़ैज़ के अध्ययन के रास्ते में कई रुकावटें खड़ी कर दी हैं। चूंकि कई साहित्यिक पंडित इस भ्रम में हैं कि आने वाले कुछ वर्षों में साहित्यिक भाषा बदल जायेगी या इस हद तक बदल जायेगी कि शायद आने वाली पीढ़ी ही फ़ैज़ की गिनती क्लासिक कवि के रूप में करने लगे। फ़ैज़ की काव्य पद्धति पर आज भी वे सभी आरोप लगा रहे हैं जिन्हें फ़ैज़ जैसे शायर के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया ही माना जा सकता है। यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या फ़ैज़ कोई वर्चस्व की लड़ाई लड़ रहे हैं? क्या उनकी कविता की भाषा के विरुद्ध आज से बीस साल पहले भी नयी कविता के दावेदारों ने आसमान सिर पर नहीं उठा लिया था, और क्या आज भी गद्यमय कविता के कई समर्थक फ़ैज़ की काव्य भाषा को पारंपरिक घोषित कर उसे आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त घोषित नहीं कर रहे हैं?

फ़ैज़ की शैली निश्चित रूप से दो प्रकार के दृष्टिकोण को जन्म देती है। उसे स्वीकार किया जाये या फिर उसे अस्वीकार किया जाये। लेकिन यह संभव नहीं है कि फ़ैज़ की काव्य शैली को पसंद करके उससे दूर रहा जाय। आज हमारे बीच ऐसे बहुत से कवि हैं जिन्होंने इस असफल प्रयास में अपना भविष्य गंवा दिया और ऐसे महानुभाव भी हमारे बीच उपस्थित हैं जिन्होंने फ़ैज़ की दार्शनिक भाषा को भी अनसुना कर दिया और विरोधी राय की आतिशबाज़ी की सहायता से थोड़ी सी रौशनी पैदा करके अपने उद्देश्य की पूर्ति कर गये।

फ़ैज़ की काव्य भाषा के विषय में पहली बात तो यह है कि यह हमारी काव्य परंपरा की निरंतरता में है। स्पष्ट है कि विद्रोह परंपरा ही के किसी न किसी मिलन बिंदु से फूटता है। फ़ैज़ अपने विरोधियों के हर वार से इस आधार पर बचते रहे और सुरक्षित होते चले गये कि वह अजनबी भाषाओं के अनमोल रूपकों और कुछ अनोखे काव्यानुभव को उर्दू के भंडार में कुछ इस ढंग से रचनात्मक ईमानदारी के साथ शामिल करते हैं कि ये गढ़े हुए शब्द फ़ैज़ की रचना में शामिल होते ही फ़ैज़ की अपनी खोज नज़र आने लगते हैं। जबकि फ़ैज़ से कमतर रचनाकारों के यहां इस ढंग का अधिग्रहण चोरी मालूम पड़ता है और उनकी पंक्तियां चीख-चीख कर बताती हैं कि यहीं कहीं हमारे बीच 'बाहरी तत्व' छिपा बैठा है। फ़ैज़ की काव्य शैली न केवल परंपरा के सुंदरतम दौर से संबद्ध होती है बल्कि वह उसे अपने विशेष परिवेश, संस्कृति, पीढ़ियों के संस्कार और अच्छे-बुरे के बारे में परंपरागत अनुभवों से गुज़ारते हुए नये युग की आवश्यकताओं से संबद्ध कर देते हैं। और इस तरह फ़ैज़ की परंपरा की अवधारणा में वह सब कुछ आ जाता है जो उनके लिए राजनीतिक रूप से ठीक भी होता है। फ़ैज़ के यहां राजनीतिक रूप से ठीक और सौंदर्यशास्त्रीय ढंग से सुंदर होने में किसी प्रकार का कोई द्वंद्व नहीं है। फ़ैज़ की रचनाओं का अध्ययन अगर केवल इस पहलू से किया जाये तो उनकी शायरी में राजनीति और सौंदर्यशास्त्र दोनों एक दूसरे

के संबंध को स्पष्ट करते हैं। एक ख़ास ढंग का राजनीतिक उद्देश्य ख़ास ढंग का सौंदर्यशास्त्रीय नियम उत्पन्न करता है और विशेष संबंधों को चिह्नित भी। इस ढंग से प्रतीकों को नये सिर से अपनाने की इच्छा उत्पन्न होती है और यह काम उस समय और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब उपमानों को अनायास ही व्यवहृत करने से अर्थ स्पष्ट हो सकता है। फ़ैज़ इस मंज़िल से इस तरह गुज़रते हैं कि उनकी शायरी की पंक्तियों के बीच का अर्थ छिपा नहीं रहता बल्कि हमसे बातचीत करता रहता है। कई बार उनकी शायरी चौंका देने वाला जादुई दायरा बन जाता है जिसका अर्थ उसी समय स्पष्ट हो पाता है जब पाठक फ़ैज़ की Wave-length पर आ जाये।

फ़ैज़ की काव्य शैली के विरोध का एक कारण तो केवल यह जान पड़ता है कि फ़ैज़ ने अपने चिंतन के साथ श्रेष्ठ रचनात्मक तकनीक को मिला दिया है जो हर किसी के बस की बात नहीं है। फ़ैज़ के चिंतन पर आक्रमण किया जा सकता है। फ़ैज़ की तकनीक पर नाक-भौं चढ़ायी जा सकती है। और फ़ैज़ की काव्य भाषा की कई नयी शैलियों पर उंगली भी उठायी जा सकती है। लेकिन जब यही सब अलग-अलग अंग-प्रत्यंग आपस में मिलकर अपने Mosaic का निर्माण कर देते हैं तो फिर सारे हमले बेकार हो जाते हैं। क्योंकि अब युद्ध केवल काव्य प्रभाव ही से हो सकता है और काव्य प्रभाव के विरुद्ध युद्ध परंपरागत काव्य शैली की संभावना से युद्ध किये बिना संभव नहीं हो पाता और यह काम फ़ैशनप्रिय विद्रोह के बस की बात नहीं है।

फ़ैज़ ने पहला युद्ध तो परंपरावादियों के विरुद्ध लड़ा। वह उस समय जब उन्होंने अपनी नज़्म में जो ग़ज़ल ही की परंपरा का एक अंग थी, प्रगातिशील अर्थ को इस तरह ग्रहण किया कि वह काव्य परंपरा में बोझ सा न लगे। उन्होंने अपनी नज़्मों में ग़ज़ल के सभी प्रकार के माधुर्य को मिलाते हुए उनके अर्थ के लिए रास्ते निकाले जो कई कवियों के विचार में छंद मुक्त *कविता में ही संभव* थे। फ़ैज़ ने यह मोर्चा अपने पहले संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* में लिया था।

फ़ैज़ ने दूसरा मोर्चा उस समय जीता जब *बादे-सबा* और *ज़िंदांनामा* के प्रकाशन ने कुछ और बाधाएं पार कीं और परंपरावादियों को एक भ्रम में डालकर बहुत संकट में फंसा दिया। जर्जर व्यवस्था को तहस-नहस करने के लिए जिस काव्य भाषा का प्रयोग किया गया वह मानो जर्जर व्यवस्था को बचाने के लिए प्रस्तुत की जा रही है। यहां फ़ैज़ ने भाषा के विषय में अपनी राजनीतिक समझ से काम लिया जिसके अनुसार भाषाएं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था से संबद्ध नहीं होती बल्कि उनकी एक अलग व्यवस्था होती है और वे समाज की प्रगति के साथ विकसित होती हैं। फ़ैज़ भाषा के व्यावहारिक महत्व के समर्थक थे। सामंतवादी युग और पूंजीवादी युग की भाषा का अंतर शब्दकोश में सतत वृद्धि के अंतर से संबद्ध किया जाता है। भाषा का व्याकरण और व्यवहार जैसे का तैसा रहता है। अगर फ़ैज़ की काव्य शैली के विरोधी इस बुनियादी वैज्ञानिक वास्तविकता को दृष्टि में रखते तो उन्हें इस अपमान का सामना न करना पड़ता जो उन्हें तर्कसंगत प्रत्यक्षवाद (logical positivism) के पश्चिमी विद्वानों के उस दावे के कारण उठाना पड़ा कि भाषा चाहे वह कोई हो, मानवीय स्वभाव को अभिव्यक्त करने में अक्षम है। फ़ैज़ उन काव्य विमर्शों से बख़ूबी वाक़िफ़ थे। वे अपनी काव्य भाषा पर मज़बूती से डटे रहे। वे जानते थे कि उर्दू काव्य परंपरा के भीतर रहते हुए दार्शनिक विषय और हास्य-व्यंग्य के भावों को भी व्यक्त किया जा सकता है। फ़ैज़ ने यह मोर्चा अभिव्यक्ति और संप्रेषण की आवश्यकता पर विश्वास रखते हुए जीता। जबकि फ़ैज़ की काव्य शैली को ख़तरनाक हद तक मधुर घोषित करने

वालों ने फ़ैज़ के मुक़ाबले में समसामयिकता से प्रयोगवादी उद्‌भावनाएं प्रस्तुत की थीं, जो स्वीकृत नहीं हो सकीं। संभव है कि भविष्य में यही खोज फ़ैज़ के रंग का असर कम कर सके। किंतु इस समय फ़ैज़ के आसपास होने वाले समस्त विद्रोहों की अपील बहुत सीमित है। यह विशेष रूप से कुछ लोगों के उस दावे के ख़ारिज होने के बाद कि परंपरागत भाषा को निरस्त कर दिया जाये और एक नयी गणितीय भाषा गढ़ ली जाये।

फ़ैज़ ने उर्दू की काव्य परंपरा के विरुद्ध जो मोर्चा जीता है वह उन लोगों का भी ध्यान खींचता है और दाद चाहता है जो उनके राजनीतिक चिंतन से असहमति रखते हैं। केवल इसी ढंग से फ़ैज़ की वैज्ञानिक चिंतन पद्धति का समर्थन किया जा सकेगा जिसका उद्देश्य उर्दू भाषा की काव्य परंपरा का बचाव था। फ़ैज़ की काव्य भाषा का अध्ययन किया जाये तो ऐसा लगता है कि हम विशुद्ध सामंतवादी युग में सांस ले रहे हैं। जब वैभवशाली शब्दावली और जड़ावदार भाषा के भीतर कठोर वास्तविकता को छिपाना उद्देश्य होता था, तो कवि इस ढंग की भाषा का प्रयोग केवल इसलिए किया करते थे कि शासक वर्ग की आवभगत रूपवादिता और कलावादी पच्चीकारी द्वारा की जा सके। फ़ैज़ ने इस मेकेनिज़्म से रक्षात्मक के बजाय आक्रामक दृष्टि से काम लिया और वे सफल रहे। यह सब कुछ इसलिए संभव हुआ कि फ़ैज़ ने क्लासिकी शब्दकोश से लाभ उठाते हुए उस वास्तविकता को अपने सामने रखा जो उनकी नौजवानी और जवानी के दौर के उपमहाद्वीप के समाज में Base यानी Content के रूप में थी। उस ज़माने में परिवर्तन और क्रांति के सभी प्रयास क़ौमपरस्त राजनीति, मज़दूर आंदोलन और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के अनुभव, एक विशेष ढंग की अंतर्वस्तु (Content) को उपयुक्त रूप (Form) में व्यक्त कर रहे थे। हम देखते हैं कि फ़ैज़ की शायरी में क्रांतिकारी विचार के लिए भी कई बार धार्मिक अभिधान (Connotation) के शब्द इस्तेमाल होते हुए नज़र आते हैं, शायद यह सजग चयन के कारण हो। यह सब कुछ इसलिए है कि फ़ैज़ अपनी शायरी का जाल दूर तक और स्पष्ट रूप से फेंकना चाहते थे।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

ख़ुदा वह वक़्त न लाये कि सोगवार हो तू
....
गुरूरे हुस्न सरापा नियाज़ हो तेरा

तवील रातों में तू भी क़रार को तरसे
तेरी निगाह किसी ग़मगुसार को तरसे
ख़िज़ां रसीदा तमन्ना बहार को तरसे
कोई जबीं न तेरे संगे आस्तां पे झुमके

(*नक़्शे-फ़रियादी*)

इस बंद में 'ख़ुदा', 'जबीं' और 'संगे आस्तां' पर ग़ौर कीजिए फ़ैज़ प्रसिद्ध धार्मिक उपादानों से विशुद्ध रूमानी वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं। कुछ और उदाहरण देखें :

हर हक़ीक़त मजाज़ हो जाये
काफ़िरों की नमाज़ हो जाये
....

इश्क़ दिल में रहे तो रुस्वा हो
लब पे आये तो राज़ हो जाये
....
किनारे रहमत हक़ में उसे सुलाती है
सुकूते-शब में फ़रिश्तों की मर्सिया ख्वानी
तवाफ़ करने को सुबहे बहार आती है
सबा चढ़ाने को जन्नत के फूल लाती है।

(*नक़्शे-फ़रियादी*)

मुतलकुल-हुक्म है शाराज़ए-असबाब अभी
साग़र नाब में आंसू भी ढलक जाते हैं
लगज़िशे-पा में भी है पाबंदी आदाब अभी
....
खुशा-नज़ाराये-रुख्सारे' यार की साअत
खुशा-क़रारे दिले बेक़रार का मौसम
हदीसे बादा-ओ-साक़ी नहीं तो किस मसरफ़
ख़िरामे-अब्रे सरे-कोहसार का मौसम
....
हमारे दम से है कूए-जुनूं में अब भी ख़जल
उबाए शेख़ो-क़बाए-अमीरो-ताजेशही
हमीं से सुन्नते मंसूरो-क़ैस ज़िंदा है
हमीं से बाक़ी है गुल दामनी-ओ-कज कुलही
....
बोलो कि शोरे-हश्र की बुनियाद कुछ तो है
बोलो कि रोज़े-अदल की बुनियाद कुछ तो है

(*दस्ते-सबा*)

उपर्युक्त पंक्तियों में आये ठेठ पारंपरिक शब्द व्यापक अर्थों में क्रांतिकारी अर्थों के वाहक हैं, और यही फ़ैज़ की विशेष पहचान है 'पेकिंग की तामीर' शीर्षक कविता देखें :

यूं गुमां होता है बाज़ू हैं मेरे साथ करोड़ों
और आफ़ाक़ की हद तक मेरे तन की हद है
दिल मेरा कोहो-दमन, दश्ते-चमन की हद है
मेरे केसे में है रातों का सियहफ़ाम जलाल
मेरे हाथों में है सुबह की अनामन कलकूं
मेरे आग़ोश में पलती है खुदाई सारी
मेरे मक़दूर में है मोजज़ए-कुन-फ़यकूं

फ़ैज़ अंतिम पंक्ति तक इस तरह आते हैं कि 'माजज़ए कुन फयकूं' की तरकीब तक पहुंचते हैं। फ़ैज़ ने एक विशुद्ध धार्मिक उपादान को कुछ से कुछ बना दिया है।

फ़ैज़ की कविता 'शोरिशे-ज़ंजीर बिस्मिल्ला है' देखें या 'फिर आज बाज़ार में 'पाबजौलां चलो' दोनों नज़्मों में इस्लामी संस्कृति में सांस लेते हुए उपादानों को कुछ इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि परंपरागत काव्यशैली की संभाव्य शक्ति फ़ैज़ की क़लम में सिमट आयी है :

नागहां आज मेरे तार नज़र से कटकर
टुकड़े टुकड़े हुए आफ़ाक़ पर खुर्शीदो-क़मर

फिर 'ज़िंदां ज़िंदां शोर अनलहक़ महफ़िल महफ़िल कुल-कुल हैं' जैसी पंक्ति पर रुकिये, और फ़ैज़ के यहां पारंपरिक रस की चाश्नी महसूस कीजिए। ये उद्धरण केवल बानगी भर हैं। ज़ाहिर है कि फ़ैज़ की कविता की मधुरता को कमज़ोरी मान लिया गया। फ़ैज़ पर पारंपरिक भाषा के प्रयोग का आरोप अधिक तूल न पकड़ता अगर उनके एक समकालीन कवि नून मीम राशिद ने फ़ैज़ की परंपरा के साथ 'मिरंजां-मिरंजी' (न किसी को दुखी करना न स्वयं दुखी होना) को आलोचना का लक्ष्य न बनाया होता। फ़ैज़ 'हलक़ाए अरबाबे-ज़ौक़' (नये ढंग के रचनाकरों का मंडल-हिंदी के प्रयोगवाद जैसा) के काव्यशास्त्र (सनकी) से नहीं भिड़ते तो शायद यह समस्या इतनी गंभीर नहीं होती। लेकिन जो कुछ भी हुआ वह बहुत आवश्यक था। ब्रेख्त और लुकाच के बीच भाषा को लेकर गतिरोध राशिद और फ़ैज़ के बीच के विवाद से मिलता-जुलता है। केवल एक बात अलग है कि लुकाच और राशिद अपने समकालीन प्रतिद्वंद्वियों के बारे में कुछ अधिक सनकी हैं। लेकिन दोनों का महत्व अपनी जगह स्थायी है।

फ़ैज़ की मूल विशेषता यह है कि उन्होंने इकहरे अर्थों वाले उपादानों को नये संदर्भों में प्रस्तुत किया। परंपरागत अन्योक्ति और उपमान केवल उसी रचनाकार के यहां आत्मसात हो सकते हैं जो प्राचीन और नवीन के खांचों में विभाजित न हो। वह अपनी आधुनिकता में प्राचीनता के सार्थक तत्वों को स्वीकारे और अपनी प्राचीनता में सभी प्रकार की आधुनिकता का समर्थन करे। फ़ैज़ ने अर्नेस्ट फिशर की तरह अपनी काव्य भाषा को अपने समय की चिंता तक सीमित कर लिया है। फ़ैज़ की शायरी अपने समय के एक ताक़तवर चिंतन को प्रदर्शित करती है और यह अजीब बात है कि आज़ादी के बाद वे क्रमशः अधिक राजनीतिक भंगिमा स्वीकार करते हुए दिखते हैं, जिसकी एक वजह तो यही है कि आज़ादी उनके लिए भ्रम निकली :

यह दाग़ दाग़ उजाला यह शबगज़ीदा सहर

और फिर लगातार जेल के कष्ट झेले। जिन्होंने आज़ादी और उसकी राह में रुकावटों को कुछ इस तरह चित्रित किया कि उनके यहां वतन और महबूब के बीच का अंतर समाप्त हो गया और हम देखते हैं कि जैसे फ़ैज़ ने यह तारीफ़ अपनी काव्य भाषा के बयान में की है।

खुद फ़ैज़ की काव्य भाषा के तेवर में *शामे-शहरे-यारां* के साथ-साथ परिवर्तन स्पष्ट नज़र आता है और जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं फ़ैज़ के यहां सुंदरता के बजाय तेज और ओज का रंग दिखता है। भाषा कम क्लासिक होती चली जाती है। अपितु कई जगह कथात्मकता का रंग अलग से दिखता है, फ़िलिस्तीन और लेबनान की घटना हृदय विदारक होने के कारण ओज गुण उत्पन्न कर देती है। इस चमत्कार का आरंभ इक़बाल के इस निम्नलिखित शेर से होता है :

गुमां मुबर्रिका बियाबां रसीदकार मुगां
हज़ार बादए-नाख़ुर्दा दर रंगे-ताक अस्त

इस संग्रह में शामिल नज़्म 'मेरे दर्द को जो ज़बां मिले' इस तरह शुरू होती है :

मेरा दर्द नग़मए बेसदा
मेरी ज़ात ज़र्रा बेनिशां
मेरे दर्द को जो ज़बां मिले
मुझे अपना नामो-निशां मिले
मुझे राज़ नज़्मे-जहां मिले
मेरी ख़ामुशी को बयां मिले
मुझे कायनात की सरवरी
मुझे दौलते-दो जहां मिले।

यह नज़्म फ़ैज़ की मृत्यु से ग्यारह साल पहले की है और सन् 1973 ई. से 1984 ई. तक फ़ैज़ सजग रूप से जिस शैली की ओर बढ़ते हुए दिखते हैं वह 'तुम अपनी करनी करे गुज़रो' का दौर है। अब फ़ैज़ धीरे-धीरे सरल-सीधी शायरी की तरफ़ आ रहे हैं। इस नज़्म का आख़िरी बंद देखिए :

अब क्यों दिन की फ़िक्र करो
जब दिल टुकड़े हो जायेगा
और सारे ग़म मिट जायेंगे
तुम ख़ौफ़ो-ख़तर से दर गुज़रो
जो होना है सो होना है
गर हंसना है तो हंसना है
गर रोना है तो रोना है
तुम अपनी करनी कर गुज़रो
जो होगा देखा जायेगा

इस संग्रह (*शामे-शहरे-यारां*) की ग़ज़ल का एक शेर है :

वो बुतों ने डाले हैं वसवसे कि दिलों से ख़ौफ़े ख़ुदा गया
वो पड़ी हैं रोज़ क़यामतें कि ख़याल रोज़े-जज़ा गया

इस शेर में 'ख़ौफ़े-ख़ुदा' और 'रोज़े-जज़ा' के स्पष्टतः सरल और इकहरे अर्थ की तरकीब से किस प्रकार अलग काम लिया गया है।

'मरसिया इमाम' में फ़ैज़ अपनी सोच की छाप की घोषणा कुछ इस तरह करते हैं :

तालिब हैं अगर हम तो फ़क़त हक़ के तलबगार
बातिल के मुक़ाबिल में सदाक़त के परस्तार
इंसाफ़ के, नेकी के मुरव्वत के तरफ़दार
ज़ालिम के मुख़ालिफ़ हैं, तो बेकस के मददगार
जो ज़ुल्म पर लानत न करे आप लईन हैं
जो ज़बर का मुन्किर नहीं मुन्किरे-दीं है

'उम्मीदे-सहर की बात सुनो' भी अधिक जटिल संरचना की तरह बढ़ती है

अब इल्तिफ़ात निगार सहर की बात सुनो
सहर की बात उम्मीदे-सहर की बात सुनो

और *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर* जो यासिर अरफ़ात को समर्पित है, निर्वासन के ज़माने की वतनी शायरी से भरी हुई है। यह संग्रह सन् 1978 की पहली नज़्म 'मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर' से शुरू होता है। इसमें जुदाई के मनोभाव हैं और मिलन की आख़िरी सरमस्तियां पड़ाव पर हैं, स्मृतियों की बौछार है। मख़दूम की आख़िरी याद हो या फुफ़काज के शायर क्रासिन कुली की कविताओं के अनुवाद इसी विचार की ओर इशारा करते हैं कि

हर इक दौर में हम, हर ज़माने में हम
ज़हर पीते रहे, गीत गाते रहे

स्पष्ट रूप से यह पीछे की ओर देखने का प्रयास है किंतु इस दौर की शायरी में ओज गुण स्पष्ट रूप से दिखता है। बैरूत-प्रवास इस दिशा में अपने आप में प्रेरणा की एक बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। 'लाओ तो क़त्लनामा मेरा' और 'तीन आवाज़ें' स्पष्ट रूप से सरल काव्यशैली की ओर क़दम है लेकिन उन नज़्मों में भी और ख़ास तौर पर 'तीन आवाज़ें' का आख़िरी हिस्सा 'निदाए-ग़ैब' की निम्नलिखित पंक्तियां गवाह हैं कि फ़ैज़ विशुद्ध राजनीतिक प्रयास या उद्देश्य के लिए धार्मिक अभिधान के शब्द बहुत चपलता और सुंदरता से प्रयुक्त करते हैं और इस तरह वे अपनी रचनाओं को बहुआयामी बनाने में सफल हो जाते हैं :

हर एक ऊलुल-अम्र को सदा दो
कि अपनी फ़र्दे-अम्ल संभाले
उठेगा जब मजमा सरफरोशां
पड़ेंगे दारो-रसन के लाले
कोई न होगा कि जो बचा ले
जज़ा सज़ा सब यहीं पर होगी
यहां अज़ाबो-सवाब होगा
यहीं से उठेगा रोज़े-महशर
यहीं पे रोज़े-हिसाब होगा

फ़ैज़ के ओज और अली सदार जाफ़री के ओज की अवधारणा में समानता ढूंढने का चलन नज़र आने लगा है। उन दोनों समकालीन कवियों की ओज की अवधारणा में काफ़ी अंतर है। फ़ैज़ की भंगिमा विशुद्ध राजनीतिक नहीं है। 'दो नज़्में फ़िलिस्तीन के लिए' में फ़ैज़ की ओज की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है।

'ग़ुबारे अय्याम' फ़ैज़ के अंतिम दिनों की रचना है जो सन् 1983 ई. में इस शेर पर ख़त्म होता है :

या ख़ौफ़ से दर गुज़रें या जां से गुज़र जायें
मरना है या जीना है इक बार ठहर जायें

फ़ैज़ संभवतः स्पष्ट रूप से वह सब कुछ कह गये जो काव्य भाषा में कहा जा सकता है। शायरी से फ़ैज़ ने और फ़ैज़ से शायरी ने जैसा व्यवहार किया है वह हमारी क़ौमी ज़िंदगी का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

एक ऐसे दौर में जब साहित्य और रोमांचक विधाओं के सभी विभागों ने वे सारे काम अपने जिम्मे ले लिये हैं जब दूसरे समाज में सभी विभागों की उपस्थिति में अपने-अपने ढांचों में पूरे किये जाते हैं। यह कठिन कार्य बहुत हद तक बड़ी खूबसूरती से साथ पूरा किया जा रहा है। फ़ैज़ ने इस जिम्मेदारी को जिस ढंग से बख़ूबी निभाया है वह नयी पीढ़ी के मन में इस तरह बैठ गया है कि अब तकनीक और रूप के लिए विद्रोह शायरी का असली उद्देश्य यानी अंतर्वस्तु के लिए विद्रोह नहीं रह गया है। फ़ैज़ अपने अनुयायियों और बाग़ियों के लिए केवल इस कारण से भी आदरणीय रहेंगे कि उनकी काव्य शैली से बग़ावत अब बहुत कठिन है।

(1985 ई.)

हिंदी अुनवाद : मो. ज़फ़र इक़बाल

विश्वकाव्य की अमूल्य धरोहर

मुहम्मद हसन

हरियाणा उर्दू अकादमी ने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की प्रतिनिधि कविताओं का एक चयन प्रकाशित किया था। मुहम्मद हसन ने उस किताब की एक छोटी-सी भूमिका लिखी थी। यह आलेख उसी भूमिका को यथावत प्रस्तुत करता है। सं.

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (1911-1986) सियालकोट में पैदा हुए। उनके पिता ने काफ़ी समय तक अफ़ग़ानिस्तान में राजकीय सलाहकार के रूप में कार्य किया था। फ़ैज़ की शिक्षा लाहौर में हुई। उन्होंने अरबी और अंग्रेज़ी की परीक्षाएं पास कीं और बाद में अमृतसर के एक कॉलेज में प्रवक्ता नियुक्त हुए। उसी ज़माने में वह एक भावनात्मक संबद्धता की बिना पर छायावादी कविता की ओर बढ़े। जब वे अमृतसर में थे तो डॉ. रशीद जहां और उनके पति साहबज़ादा महमूदुज्ज़फ़र के ज़रिये सज्जाद ज़हीर से मिले, जो उन दिनों हिंदुस्तान के विभिन्न नगरों का दौरा करके साहित्यकारों को प्रगतिवादी विचारों की ओर आकर्षित कर रहे थे। 1936 में लखनऊ में अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्नेफ़ीन (प्रगतिशील लेखक संघ) का पहला सम्मेलन हुआ जिसकी अध्यक्षता प्रेम चंद ने की। प्रगतिशील और मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव से फ़ैज़ की कविता में एक नया मोड़ आया और उन्होंने रूमानी दुःख दर्द को व्यापक दिशा प्रदान की। 'मुझ से पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग', 'रक़ीब से' और 'चंद रोज़ और मेरी जान फ़क़त चंद ही रोज़' जैसी कविताएं उसी समय की यादगार हैं।

कुछ समय बाद द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हो गया और 1941 में जब हिटलर की फ़ौजों ने सोवियत रूस पर आक्रमण कर दिया तो हिंदुस्तान में प्रगतिशील विचारधारा के लोगों ने हिटलर के विरुद्ध युद्ध में मित्र देशों की सहायता करने का निर्णय लिया। इसी निर्णय से प्रभावित फ़ैज़ अंग्रेज़ों की सेना में भर्ती हो गये और मेजर के पद तक पहुंचे। उस ज़माने में प्रसारण और प्रकाशन के काम में भी बराबर भाग लेते रहे।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की समस्या सामने आयी। इस मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई हिंदू-मुस्लिम मतभेद से पैदा हो रही थी। मुस्लिम लीग मुस्लिम बहुसंख्यक राज्यों को मिलाकर पाकिस्तान बनाना चाहता था और प्रगतिशील धारा से संबंधित लोग इस पक्ष में थे कि हिंदुस्तानी मुस्लमानों को मुस्लिम लीग के उग्रवादियों के प्रभाव से बचाने के लिए प्रगतिशील विचारधारा के मुसलमानों को मुस्लिम लीग में सम्मिलित होकर कार्य करना चाहिए। इसी विचार से प्रभावित होकर

फ़ैज़ ने प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता मियां इफ़्तिख़ारुदीन से मिल कर अंग्रेज़ी दैनिक समाचार पत्र *पाकिस्तान टाइम्स* निकाला और उसके संपादक नियुक्त हुए।

1953 में रावलपिंडी षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में उन पर मुक़दमा चलाया गया। पाकिस्तान के प्रधानमंत्री साहबज़ादा लियाक़त अली खान को उस समय के प्रधान सेनापति जनरल अय्यूब खान ने यह विश्वास दिलाया कि कुछ सैनिक अधिकारी कम्युनिस्टों से मिल कर उनका तख्ता पलटना चाहते हैं और शासन पर अधिकार करने की योजना बना चुके हैं। उनमें जनरल अकबर खान, मेजर इस्हाक़ और दूसरे सैनिक अधिकारियों के साथ सैयद सज्जाद ज़हीर, सचिव पाकिस्तान कम्युनिस्ट पार्टी और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी शामिल थे। षड्यंत्र में शामिल होने का आरोप सिद्ध न हो सका, मगर सलाहकार समिति की बैठक में भाग लेने के कारण उन्हें चार वर्ष के कारावास का दंड मिला। कारावास के दौरान फ़ैज़ ने ग़ज़लें लिखना आरंभ किया और उनकी नज़्मों में एक रंग और राग उभरा जिसमें लालसा और अभिलाषा, विवशता और अत्याचार के एहसास के बावजूद संकल्प और साहस के दीप प्रज्जवलित हैं और जो आशा और विश्वास से भरा हुआ है। कारागृह में कही हुई उनकी कविताओं और ग़ज़लों के संग्रह *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* के नाम से छपे और छपते ही पूरे विश्व में प्रसिद्ध हो गये।

कारावास से छूटने के बाद फ़ैज़ विभिन्न प्रकार के सामाजिक और कल्याणकारी आंदोलनों से जुड़े, श्रमिक संगठनों के अध्यक्ष बने, निर्धन बच्चों के स्कूल चलाते रहे और अपने देश के सभी जनतांत्रिक आंदोलनों से जुड़े रहे। यही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अत्याचार, अन्याय, पराधीनता, युद्ध और निरंकुशता के विरुद्ध लड़ी जाने वाली हर लड़ाई में वे मानसिक रूप से शामिल रहे। उन्हें सोवियत संघ के सबसे बड़े पुरस्कार 'लेनिन शांति पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

उनके देश पाकिस्तान में रूढ़िवादी सैनिक शासन स्थापित होते रहे और फ़ैज़ को अपनी जनवादी रुझान और प्रगतिशील विचारों की बिना पर बार-बार कारावास की यातना झेलनी पड़ी। अंततः जब 1972 में बांगलादेश के पाकिस्तान से अलग हो जाने के बाद जुलफ़िक़ार अली भुट्टो के नेतृत्व में पाकिस्तान का संविधान बना और पहली बार आम चुनाव के माध्यम से सरकार स्थापित हुई तो फ़ैज़ अहम फ़ैज़ पाकिस्तान आर्ट कौंसिल के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। किंतु कुछ वर्ष बाद ही जनरल ज़िया-उल-हक़ ने मार्शल लॉ लागू कर दिया और प्रशासनिक अधिकार हथिया कर इस्लाम के नाम पर अति रूढ़िवादी क़ानून लागू करना शुरू कर दिया। जन आंदोलनों पर प्रतिबंध लगा दिया और प्रगतिशील विचारों पर सख़्त पाबंदी लगायी जाने लगी।

फ़ैज़ अहम फ़ैज़ के लिए यह स्थिति धैर्य की परीक्षा की सी थी। उन्होंने देश से बाहर जाने का फ़ैसला किया। जल्द ही फ़िलिस्तीनी आंदोलन के नेता यासर अरफ़ात से संपर्क किया। एफ़्रो-एशियाई लेखकों के आंदोलन की पत्रिका *लोटस* के संपादक बन गये। यह पत्रिका बैरूत से प्रकाशित होती थी। वे फ़िलिस्तीन के स्वतंत्रता आंदोलन से भी जुड़े रहे और विभिन्न देशों के प्रगतिशील आंदोलनों के निमंत्रण पर व्याख्यान देते और दौरे करते रहे। जीवन के अंतिम समय में वे लाहौर वापस गये और वहीं उनका देहावसान हुआ।

फ़ैज़ अपने जीवन में ही हीरो का रूप धारण कर चुके थे। उनके काव्य में वह ताज़गी, रंगीनी, प्रबलता और शक्ति है जो आधुनिक उर्दू साहित्य में ही नहीं बल्कि आधुनिक विश्व साहित्य में उदाहरणीय है। फ़ैज़ की कोशिश यह रही है कि वे व्यक्तिगत और निजी अनुभवों को, विस्तृत वैचारिक और व्यापक

सामाजिक दुःख दर्द को, इस तरह अपना कर अपने काव्यात्मक रचाव में जगह दें कि उन पर व्यक्तिगत अनुभवों का रंग छाया रहे। इस कोशिश में उन्होंने एक तरफ़ पूर्वी विशेषतः फ़ारसी और उर्दू की काव्य परंपरा से काम लिया है और दूसरी तरफ़ पाश्चात्य रूमानी कवियों की कल्पना, लक्षणा और रूपक शैली को अपनी शैली में इस तरह समो लिया कि उनका काव्य आधुनिक शैली की विशेषताओं से सुसज्जित हो गया है।

इसके अलावा उनके जीवन के संदर्भ में उनके काव्य की यथार्थपरकता और विशेषता और बढ़ गयी है। कठोर से कठोर कष्ट झेलने के बावजूद और अत्याचार, हिंसा बल्कि मौत की आंखों में आंखें डालकर भी वे आशा और साहस का परित्याग नहीं करते। आशा और साहस की यह प्रबलता उनके काव्य में एक व्यक्तिगत और निजी अनुभव के रूप में उभरती है और करोड़ों लोगों के दर्द में शामिल ही नहीं होती बल्कि उस दर्द के माध्यम से अत्याचार से ऊपर उठने का निमंत्रण और उस न्यायिक समाज पर विजय पाने की भविष्यवाणी भी करती है।

फ़ैज़ का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि उन्होंने व्यक्तिगत अनुभवों को इस प्रकार व्यापक बनाया है कि उनके साथ की सांसारिक समस्याएं भी उनके व्यक्तिगत अनुभव का एक हिस्सा मालूम होती हैं। इनमें अपने ही दिल पर घटित होने वाली घटनाओं ही की सी गहराई, आवेश और सहानुभूति पायी जाती हैं। वे गहरे से गहरे यथार्थ को भी प्रवचन की तरह नहीं कहते बल्कि उसे अपने दिल पर गुज़री हुई परिस्थितियों का रूप दे देते हैं। इसी कारण उनकी कविताओं में प्रचार या प्रोपगंडा की लहर तेज़ नहीं होने पाती और उनकी कविता मद्धिम गति और नर्मी से दिलों को छूती है और छा जाती है। जिस अन्याय के विरुद्ध उनका पाठक-श्रोता लड़ना चाहता है और स्वयं को असहाय पाता है, उसे फ़ैज़ के काव्य में देखता और पहचानता है और फ़ैज़ को उनके विरुद्ध संघर्ष करता हुआ देखता है। यही प्रत्यक्ष संबद्धिता उनकी कविताओं की लोकप्रियता और सम्मोहकता का एक महत्वपूर्ण कारण है।

शैली की दृष्टि से फ़ैज़ की कविता ने छायावादिता और यथार्थवादिता का एक आकर्षक विभेद पैदा किया। उसमें दुख दर्द अपने चारों तरफ़ बिखरे हुए समाज का ही है जिसका कवि भी स्वयं एक अभिन्न अंग है; लेकिन उनकी दृष्टि आने वाले समय की उन शुभ घड़ियों पर टिकी हुई है जिनका मार्ग कोई रोक नहीं सकता। फ़ैज़ का काव्य यथार्थ पर रंगीन पर्दा डालने वाला काव्य नहीं है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यही है कि वह दुख को अपना कर और अपना ही नहीं। संपूर्ण विश्व का दुख अपना कर उसे दूर करने का निदान सोचने और दुख से प्राप्त हुई शक्ति और साहस और आशा को जगाती है और एक उज्जवल भविष्य पर विश्वास पैदा करती है। यही सच्चाई, यही ताज़गी, यही उन्मुक्तता और यही दुख व पीड़ा से प्राप्त हुआ जीवनदान और निवारण-शक्ति फ़ैज़ की पहचान है।

और इसी शक्ति और प्रबलता को प्रकट करने के लिए उन्होंने ऐसी शैली का आविष्कार किया जिसमें अपनी धरती की सुगंध भी है और पाश्चात्य काव्य की लक्षण और रूपक विधा भी। यह सब कारीगरी या शैली के स्थान पर अनिवार्य रूप से प्रकट होने वाली उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का ही प्रतिफल है। और इसीलिए उनकी संवेदना प्रत्यक्ष रूप से काव्य के रूप में ढल जाती है और दिल को प्रभावित करती है।

इस दृष्टिकोण से फ़ैज़ की कविता उर्दू की ही नहीं हमारी राष्ट्रीय बल्कि विश्व काव्य की अमूल्य धरोहर है और इसके अध्ययन से दिशा और ज्ञान के नये मार्ग प्रशस्त होते हैं।

दरअसल, कविता हर व्यक्ति अपने तौर पर पढ़ता है और हर पाठक का अपना मापदंड होता है जिसके आधार पर वह अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार कविता से प्रभावित होता है। फ़ैज़ के काव्य की कई दिशाएं हैं, इसलिए उससे आनंद लेने और उसकी दिशाओं को समझने व आनंद प्राप्त करने की कई सतहें और कोण हैं। आलोचक वाला किसी पाठक की केवल इतनी सहायता कर सकता है कि कवि और काव्य के बारे में मौलिक बातों का ज्ञान करा दे। बाक़ी काम स्वयं पाठक के अनुभव, कल्पना और विद्वता पर निर्भर करता है कि उसका विवेक और भावना उस काव्य से किस तरह फूल खिलाती हैं, कैसे-कैसे अर्थ निकालती है।

अभिप्राय और व्यंजना की निरंतरता

वज़ीर आग़ा

वज़ीर आग़ा (जन्म : 18 मई 1922, सरगोधा, निधन : 7 सितंबर 2010, लाहौर) उर्दू कविता में आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रवर्तकों में माने जाते हैं। शायर होने के साथ-साथ उनकी पहचान आलोचक और ललित निबंधकार के रूप में भी है। 'अदबी दुनिया' (लाहौर) तथा 'औराक़' (लाहौर) के संपादक रहे। यह आलेख वज़ीर आग़ा की पुस्तक 'नज़्मे जदीद की करवटें' पुस्तक से साभार संकलित किया गया है। सं.

नक़्शे-फ़रियादी की भूमिका में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की शायरी पर टिप्पणी करते हुए नून मीम राशिद ने लिखा था : 'फ़ैज़ किसी मर्कज़ी नज़रिये (केंद्रीय विचारधारा) का शायर नहीं, सिर्फ़ एहसासात (संवेदनाओं) का शायर है।'

यह बात 1941 की है। मुझे विश्वास है कि *नक़्शे-फ़रियादी* के बाद *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* के प्रकाशन के बाद राशिद साहब अपने इस वक्तव्य पर पुनर्दृष्टि की आवश्यकता महसूस करेंगे। यह इसलिए कि इन चंद सालों में फ़ैज़ की कविता में एक मौलिक दृष्टिकोण प्रकट हो गया है। फ़ैज़ की कविता इस दृष्टिकोण के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित दिखायी देती है जो *नक़्शे-फ़रियादी* में उद्‌भूत हुआ था। लेकिन राशिद साहब ने उसे उस समय महत्वपूर्ण नहीं समझा था। शायरी में किसी दृष्टिकोण का प्रगट होना कोई बुराई नहीं है। अधिकतर बड़े शायरों के यहां एक विशिष्ट दृष्टिकोण मिलता है जो जीवन और विश्व को एक विशिष्ट कोण से देखने में सहायक सिद्ध होता है। उनकी निरंतर सक्रिय रचनात्मक प्रक्रिया के कारण इस दृष्टिकोण में लचक, फैलाव, विस्तार या दूसरे शब्दों में एक क्रमिक विकास भी मिलता है जो उनके दृष्टिकोण को क्लिष्टता और जड़ता दृष्टिकोण से बचाये रखता है। फ़ैज़ की कविता में यह बात नहीं है। उनके दृष्टिकोण में एक ठहराव या स्थिरता का एहसास होता है। मानो शायर अवबोध के एक विशेष बिंदु पर पहुंचने के बाद रुक गया है। इससे फ़ैज़ की काव्य रचना को सदमा भी पहुंचा है। मगर इसी बात की तो व्याख्या अपेक्षित है।

नज़्म में फ़ैज़ के स्थान को समझने और उसके विशिष्ट दृष्टिकोण का जायज़ा लेने के लिए उस परिदृश्य का अध्ययन अत्यावश्यक है जिस पर फ़ैज़ की शायरी के चिह्न स्पष्ट रूप से उभरे हुए दिखायी देते हैं।

परिदृश्य की यह दास्तान 1857 से शुरू होती है। 1857 दो युगों का संगम है। यह एक ऐसे दौर की आख़िरी हिचकी है जिसमें व्यक्ति समाज का केंद्र था और जिसमें सामूहिक आंदोलनों में शामिल हो जाने का रुझान व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की भावना की अपेक्षा बेहद कमज़ोर था। यह समय सांस्कृतिक

विकास का दर्पण था। इस दौर की शायरी में बाहरी घटनाचक्र, सामूहिक प्रवृत्ति और समाज के विभिन्न क्रियाकलाप भी वैयक्तिकता में ही प्रतिबिंबित दिखायी देते थे। समग्र रूप से इस दौर की शायरी में आंतरिक दृष्टिकोण का चलन ही नज़र आता है। यह चलन समाज की अंतर्मुखता के अनुरूप है। लेकिन 1857 के बाद का दौर उस समाज के ख़िलाफ़ बग़ावत का दौर है। अचानक दूरियों के कम होने, नगरों के विस्तारीकरण, राजनीतिक जागरूकता, लोकतांत्रिक व्यवस्था और शिक्षा के अवसरों की उपलब्धता के कारण संस्कृति के तत्व सभ्यता के रूप में उद्‌भूत होते हैं और वैयक्तिक मूल्यों पर सामूहिक मूल्य का वर्चस्व स्थापित होना आरंभ हो जाता है। दूसरे शब्दों में, भावना पृष्ठभूमि में चली जाती है और बुद्धि एवं अवबोध की क्षमताएं मैदान मार लेती हैं। इस युग के साहित्य में भी ये प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

एक विशेष प्रकार की कविता का विकास इसका एक उदाहरण है। हाली और मोहम्मद हुसैन आज़ाद के प्रयासों से राष्ट्रीय और यथार्थवादी कविता का आंरभ होता है। इस कविता का अधिकांश नज़्म में है और यह मनोभाव की आंतरिक दुनिया से 'आज़ाद' होने की एक कोशिश है। विशेषतः हाली की नज़्में बहिर्मुखी कविता की एक बड़ी हद तक समर्थक हैं। न सिर्फ़ यह कि इन नज़्मों का रुख़ आम जन की ओर है और हाली उनके माध्यम से कौम को अपमान के कुएं से बाहर निकालने का एक महान कार्य करने के इच्छुक हैं बल्कि उनकी पृष्ठभूमि में भी किसी व्यक्तिगत रहस्योद्‌घाटन या भावनात्मक आवेग का चिह्न छुपा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हाली की काव्य यात्रा एक सोची समझी हुई भावना के अनुरूप है और इसीलिए इसमें लालित्य पूर्ण रूप से उभरा हुआ नहीं मिलता है जिन पर शेर का प्रभाव निर्भर है। उर्दू नज़्म में भाव के प्रति एक बड़ी हद तक उपेक्षा की यह प्रवृत्ति, जिसे हाली ने प्रचलित किया, हाली से लेकर इक़बाल तक दिखायी देती है। चुनांचे हाली की क़ौमी शायरी, जोश की इंक़लाबी शायरी और किसी हद तक इक़बाल की दार्शनिक शायरी वास्तव में एक ही सिलसिले की कड़ियां हैं। हाली की तरह जोश की कविता में भी वैयक्तिक अभिव्यक्ति का अभाव है और भावनात्मक आवेग लक्ष्य है जो शेर के लिए अत्यावश्यक है। कला की दुनिया में इस भावनात्मक आवेग का महत्वपूर्ण स्थान है। बल्कि अगर यह कहा जाये कि इसके बिना कला का उदय संभव ही नहीं तो शायद ग़लत न हो। हज़रत यूनुस का मछली के पेट में सिमटना, हज़रत नूह का तूफ़ाने-नूह से गुज़रना, हज़रते रसूले अकरम का हिरा नामक गुफा में जाना आदि प्रसंगों से हमें उस गोताखोरी के महत्व का अनुमान होता है जो वैयक्तिक अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है और जिसका प्रतिबिंब कला की दुनिया में भी उतना ही महत्वपूर्ण है। यह गोताखोरी जोश के यहां नज़र नहीं आती। उनके यहां विशेषतः व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का अभाव है। इक़बाल की आरंभिक रचनाओं में भाव और बुद्धि का सम्मिश्रण मिलता है। विशेष रूप से *बांगे-दरा* की बहुत की नज़्मों में व्यक्तिगत प्रभाव का एहसास भी होता है लेकिन आगे चलकर इक़बाल के यहां भी वैयक्तिक आग्रह एक सीमा तक बुद्धि और अवबोध तथा विचारधारात्मक कशमकश के मोटे पर्दों में दब कर रह गया है। हाली, जोश और इक़बाल इन तीनों की कविता जनोन्मुखी है। यद्यपि इनमें से प्रत्येक की संबोधन शैली दूसरे से भिन्न है। तीनों की शायरी का आरंभ किसी भावनात्मक आवेग का कृतज्ञ नहीं है और इसीलिए तीनों के वैयक्तिक सरोकारों का व्यक्तिवादी तत्व अनुपस्थित है।

उर्दू नज़्म की इस परंपरा के परिदृश्य में फ़ैज़ की कविता के कुछ लक्षण विशेष महत्व रखते हैं। हाली, जोश या इक़बाल के विपरीत फ़ैज़ की शायरी का आरंभ एक कोमल संवेदनात्मक या भावनात्मक आवेग

से होता है। फ़ैज़ के जीवन के उस भावनात्मक आवेग के विवरण से हमें सरोकार नहीं। लेकिन *नक़्शे-फ़रियादी* का पहला हिस्सा इस जज़्बे की गहराई, कोमलता और शिद्दत का बड़ी हद तक प्रमाण है। यह वह युग है जिसमें शायर बाहरी जीवन के ठोस सत्यों और घटनाओं की सतही संवेदना से हटकर दिल के समंदर में उतर आया है। फ़ैज़ के जीवन के इस मोड़ का कारण प्रेम का हादसा है। प्रेम तन्मयता और तल्लीनता का सर्वाधिक मुखर उदाहरण है। जब तक इसकी पकड़ मज़बूत रहती है, व्यक्ति अपने परिवेश से असंपृक्त होकर अपनी 'स्व' की परिक्रमा करने पर मजबूर दिखायी देता है। यही प्रेम फ़ैज़ की शायरी का पहला मील का पत्थर है और यह वह तीव्र भावनात्मक आवेग है जिसने फ़ैज़ को शेर कहने पर उकसाया है। इस दौर में फ़ैज़ ने कुछ अत्यंत ख़ूबसूरत नज़्में लिखी हैं जो उनके 'स्व' के अंदर उठने वाले तूफ़ान की तीव्रता और वहशत की एक झलक प्रस्तुत करती हैं और शायर के प्रेम की पीड़ादायक स्थिति को बड़ी कलात्मक शैली में प्रस्तुत करती हैं। शायद उर्दू नज़्म के किसी शायर ने प्रेम के भाव को इतनी तीव्रता और अपनत्व के साथ प्रस्तुत नहीं किया जितनी तीव्रता और अपनत्व के साथ फ़ैज़ ने प्रस्तुत किया है। उसका प्रेम केवल परंपरागत इश्क़ की दास्तान नहीं है। इसमें शारीरिक सामीप्य और इसके फलस्वरूप भावनात्मक तूफ़ान के प्रमाण भी मिलते हैं। उससे फ़ैज़ की शायरी के नैपथ्य में शेर कहने की असाधारण तीव्रता और ऊष्मा का भी कुछ अनुमान होता है। उदाहरणार्थ, ये कुछ टुकड़े देखिये :

ख़ुदा वो वक़्त न लाये कि सोगवार हो तो
सुकूं की नींद तुझे भी हराम हो जाये
तेरी मसर्रते-पैहम तमाम हो जाये
तेरी हयात तुझे तलख़ जाम हो जाये
ग़मों से आईन-ए-दिल गुदाज़ हो तेरा

'ख़ुदा वो वक़्त न लाये'

सो रही है घने दरख़्तों पर
चांदनी की थकी हुई आवाज़
कहकशां नीमवा निगाहों से
कह रही है हदीसे-शौक़े-नियाज़
साज़े-दिल के ख़मोश तारों से
छन रहा है ख़ुमार कैफ़ आगीं
आरज़ू, ख़्वाब, तेरा रूए हसीं!

'सुरूदे-शबाना'

बहारे-हुस्न ये पाबंदि-ए-जफ़ा कब तक?
ये आज़माइशे-सब्रे-गुरेज़पा कब तक?
क़सम तुम्हारी बहुत ग़म उठा चुका हूं मैं
ग़लत था दावए-सब्रे-शकेब आ जाओ
क़रारे-ख़ातिरे-बेताब थक गया हूं मैं

'इंतज़ार'

फ़ैज़ की काव्य रचना का यह दौर शायर की आगामी विजयों के लिए एक आधार की हैसियत रखता है और इस आधार की जड़ें संवेदना और भावों की गहराइयों तक उतरती चली गयी हैं। कुछ दूसरे शायरों की तरह फ़ैज़ ने बुद्धि के चूने गारे से शेर की आधारशिला नहीं रखी। इसी में फ़ैज़ की जीत है और इसी से *नक़्शे-फ़रियादी* के दूसरे हिस्से में धुरी बदलने के बावजूद संवेदना की तीव्रता और अपनत्व वैसे ही दृष्टिगोचर होता है।

प्रेम की पीड़ा और सौंदर्य के चमत्कारों के इस युग के बाद फ़ैज़ बक़ौल ख़ुद अपने आप को ब्रह्मांड समझना छोड़ कर परिवेश पर एक दृष्टि डालते हैं और उनकी संवेदना में एक त्वरित परिवर्तन उद्‌भूत हो जाता है। वैसे भी यह सारी प्रक्रिया संभवतः एक क्रमिक विकास ही के अधीन है क्योंकि सूफ़ीमत में भी इश्क़े-मजाज़ी के बाद ही इश्क़े-हक़ीक़ी का दर्जा आता है। फ़ैज़ की मुहब्बत भी ऊंचाई पाकर वैश्विक रूप धारण करती है और उनका ग़मे-जानां उत्तरोत्तर ग़मे-दौरां में परिवर्तित होता चला जाता है। अब फ़ैज़ ज़िंदगी की ठोस सच्चाइयों को देखते हैं तथा विषमता, जुल्म, बाज़ारवाद, सामूहिक सरोकार और व्यक्ति के लालच का जायज़ा लेते हैं। वे प्रेक्षक को एक नये सामाजिक बोध से परिचित कराने के लिए उन्हें आंदोलित करने, पुरातन विचार रूपी मूर्तियों को तोड़ने और ज़िंदगी की घृणास्पद असमानता को समाप्त करने की शिक्षा देने लगते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान उनकी निगाहें उस लक्ष्य पर केंद्रित रहती हैं जहां पहुंच कर सारे दुख ख़त्म हो जायेंगे और जनता की सारी मुसीबतें मिट जायेंगी। जहां रात की सियाही पर उषाकाल का उजाला होगा और नया इनसान एक नये संकल्प के साथ ज़िंदगी के राजमार्ग पर यात्रा आरंभ कर सकेगा।

कुछ लोगों का विचार है कि अवाम को अपमान की गुफा से बाहर निकालने, उनकी रगों के जमे हुए ख़ून में आवेग पैदा करने और उनके सामाजिक बोध को जाग्रत करने की कोशिशों में फ़ैज़ की महानता छिपी है, यह बात सही नहीं है। यह काम फ़ैज़ से पहले उर्दू के दूसरे शायर भी कर चुके हैं। हाली का संबोधन सीधे-सीधे जन सामान्य से था। जोश भी राष्ट्रीय भावना के तहत क़ौम को इंक़लाब और क्रांति के लिए उकसाते रहे हैं। इक़बाल इन दोनों से आगे हैं कि वे केवल शारीरिक रूप से लोगों को आगे बढ़ने की शिक्षा नहीं देते और न उन्हें केवल सामाजिक, राजनीतिक बोध जाग्रत कर लेने पर आमादा करते हैं बल्कि उन्हें मानसिक रूप से एक क़दम आगे बढ़ने की प्रेरणा भी देते हैं। निस्संदेह फ़ैज़ का दृष्टिकोण उन सब शायरों से भिन्न है। और वास्तिविकता यह है कि हर शायर का दृष्टिकोण दूसरे से भिन्न होता है। जनता की भलाई और तरक़्क़ी का जो भाव फ़ैज़ के यहां दृष्टिगोचर होता है, कमोबेश वही भाव हाली, जोश और इक़बाल के यहां भी मौजूद है। फ़ैज़ की विशिष्टिता उसकी प्रतिक्रिया के ढंग में है। वह इस तरह कि फ़ैज़ ने दिल पर घाव खाने के बाद वैश्विक प्रेम को अपनाया है। उनका दर्द व्यक्तिगत हानि के एहसास से परिपूर्ण है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत संकीर्णता से गुज़र कर जीवन की विस्तृत चादर पर फैलने की कोशिश की है। इसीलिए उनकी प्रतिक्रिया में अपनत्व और तीव्रता तथा उनकी कार्यशैली में आधुनिकता और नवीनता है। इस दूसरे दौर में फ़ैज़ की नज़्मों का वैशिष्टय यह है कि इनमें रूमान और यथार्थ का पारस्परिक संबंध प्रकट हुआ है और इनमें व्यष्टि और समष्टि की सीमाएं मिलती हुई और एक दूसरे में विलीन होती दिखायी देती हैं। यही फ़ैज़ की सबसे बड़ी देन है। इसी में फ़ैज़ की विशिष्टता है। यह अनोखी प्रतिक्रिया 'मुझ से पहली सी मोहब्बत मेरे महबूब न मांग' से शुरू होती है और इसका प्रतिबिंब उनकी दूसरी नज़्मों विशेषतः 'रक़ीब', 'चंद रोज़ और मेरी जान',

'मौज़ूए-सुख़न', 'शाहराह' और 'मेरे हमदम मेरे दोस्त' में इस प्रकार होती है कि शायर की भावनात्मक और मानसिक कशमकश और इन स्थितियों को एक दूसरी में विलीन कर देने के प्रयास स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। आरंभ में फ़ैज़ अपनी इस कोशिश में सफल नहीं हो सके। उनकी बहुत सी नज़्मों में इन दोनों स्थितियों का मिलान बिंदु एक रूप होकर सामने आया है। ऐसा महसूस होता है जैसे शायर जान बूझ कर एक विशेष प्रकार की भावनात्मक प्रतिक्रिया से नितांत दूसरी भावनात्मक प्रतिक्रिया की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा हो या जैसे वह रूमान की भावनात्मक स्थिति का मात्र सामाजिक बोध की परिपक्वता के लिए प्रयोग करने का इच्छुक हो। इसीलिए इन नज़्मों में एक 'झोल' है जिसका पाठक को फ़ौरन एहसास हो जाता है। लेकिन अंत की कुछ नज़्मों विशेषतः 'मेरे हमदम दोस्त' में फ़ैज़ ने अपने इस प्रयास में पूरी सफलता पायी है। उनकी ये नज़्में उर्दू शायरी में एक बिल्कुल नयी आवाज़ हैं। इनमें शायर ने पहली बार रूमान और यथार्थ को न सिर्फ़ एक दूसरे के समीप किया है बल्कि उनको बहुत कलात्मक शैली से एक दूसरे में विलीन भी कर दिया है। रोचक यह है कि इन सारे प्रयासों का मूल बुद्धि और अवबोध या संकल्प पर अवस्थित नहीं। इसमें वह स्वयंभू रवानी है जो अपनत्व के भाव से उत्पन्न होती है और जिसका प्रभाव सदैव रहता है।

उर्दू नज़्म में फ़ैज़ का यह तरीक़ा कि सामाजिक या आर्थिक यथार्थ से पाठक को परिचित कराने और उसे बेहतर भौतिक जीवन की झलक दिखाने के लिए न्यूनतम समानता का ढंग स्वीकार किया जाये, उर्दू साहित्य के लिए बिल्कुल नया था। आर्थिक और राजनीतिक जागरुकता के युग में उसकी भावनात्मक अपील इतनी अधिक थी कि उसे देखते-देखते न सिर्फ़ उन्हें जनता में बेहद लोकप्रियता हासिल हुई बल्कि शायरों के एक पूरे समूह ने भी इस ख़ास मैदान में फ़ैज़ का अनुसरण शुरू कर दिया। फ़ैज़ से पहले रूमान और यथार्थ के अलग-अलग ख़ाने थे। एक दिल की आवाज़ थी और उसमें नाजुक भावनाओं और संवेदनाओं की छवियां थीं। दूसरी बुद्धि की आवाज़ थी और उसके सामने उन्नति, सुधार और जनता को जागरूक करने का संकल्प निहित था। पहली स्थिति ने शायर को जीवन के यथार्थ से हटा कर रूमान और प्रेम के दुर्ग में सीमित कर दिया था और दूसरी स्थिति ने शायर को भाव और संवेदना से विमुख करके ऐसी शायरी की ओर उन्मुख कर दिया था कि जिसमें बाहरी आंदोलन का प्रतिबिंब ही सब कुछ था और जिसकी नींव उस लालित्यपूर्ण प्रतिक्रिया पर अवस्थित नहीं थी जो शेर के लिए नितांत आवश्यक है। फ़ैज़ ने इन दोनों स्थितियों को सम्मिश्रित किया और पाठक को रूमान के सुगंधित वातावरण से गुज़ार कर यथार्थ की चट्टानों तक पहुंचाया। जब पाठक का जीवन के आरोह-अवरोह से परिचय हो गया और वह वर्तमान को एक बिल्कुल नयी रौशनी में देखने की क्षमता से परिचित हो गया तो उसने पाठक का ध्यान संधि युग की एक ऐसी मंज़िल की ओर आकर्षित किया जहां पहुंच कर बक़ौल शायर ग़म और खिन्नता के धुंधलके छट जायेंगे और मनुष्य को एक नयी ज़िंदगी हासिल हो जायेगी।

जैसा कि पहले भी ज़िक्र हुआ कि फ़ैज़ की यह आवाज़ उर्दू नज़्म के लिए बिल्कुल नयी थी और बहुत से शायरों ने उसका खुलकर अनुसरण भी किया। साहिर के यहां विशेषतः फ़ैज़ ही की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। *तल्ख़ियां* का शायर भी रूमान से अपनी यात्रा का आरंभ करता है और रूमान तथा यथार्थ के परस्पर संबंधों पर उसका समापन होता है। साहिर के अलावा मजाज़, जां निसार अख़्तर और अन्य शायरों के यहां भी लगभग यही ढंग अपनाया गया है। असंख्य उर्दू शायर हैं जो *नक़्शे-फ़रियादी* के प्रकाशन से लेकर आज तक इस विशेष कार्यशैली और बुद्धि एवं अवबोध की इस विशेष शैली का अंधाधुंध

अनुसरण करते आये हैं। लेकिन अफ़सोसनाक बात यह है कि ख़ुद फ़ैज़ भी अब रुक से गये हैं और उन्होंने सोचने के इस ख़ास अंदाज़ और दृष्टिकोण की इस ख़ास प्रवृत्ति से आगे क़दम नहीं बढ़ाया। *नक़्शे-फ़रियादी* की इस प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में भी सुनायी देती है। यही चीज़ है जिसने फ़ैज़ के काव्यात्मक विकास को हानि पहुंचायी है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि *नक़्शे-फ़रियादी* में फ़ैज़ ने एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जो तीन मुखर तत्वों से मिलकर बना है। इस दृष्टिकोण का पहला तत्व है रूमान से यथार्थ की ओर विचलन। इस विचलन में फ़ैज़ ने जिस कलात्मक अंतर्दृष्टि का प्रमाण दिया है, ऊपर उसका उल्लेख हुआ है। लेकिन ये विचलन *नक़्शे-फ़रियादी* की नज़्मों तक सीमित नहीं। *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* की बहुत सी नज़्मों में भी शायर ने उसी 'विचलन' को बार बार प्रस्तुत किया है। 'दो इश्क़', 'तुम्हारे हुस्न के नाम', *ए हबीब अंबर दोस्त*, 'मुलाक़ात' और 'हम जो तारीक राहों में मारे गये' में प्रेम और सौंदर्य का आलंबन लेकर यथार्थ के प्रकटीकरण की वही प्रवृत्ति मिलती है जिसका आरंभ *नक़्शे-फ़रियादी* में किया गया था। फ़ैज़ के दृष्टिकोण का दूसरा तत्व है वर्तमान का अवबोध। यहां फ़ैज़ ने समाज के आरोह-अवरोह अर्थात विशेष रूप से भौतिक और आर्थिक असमानता को बेनक़ाब किया है। इस तत्व का आरंभ भी *नक़्शे-फ़रियादी* से होता है और *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में उसकी प्रतिध्वनियां निरंतर सुनायी देती हैं। ये चंद टुकड़े देखिये :

इन दमकते हुए शहरों की फ़रावां मख़्लूक़
क्यों फ़क़त मरने की हसरत में जिया करती है?
ये हसीं खेत फटा पड़ता है जोबन जिनका
किस लिए इनमें फ़क़त भूक उगा करती है?

'मौज़ूए-सुख़न' (*नक़्शे-फ़रियादी*)

ये गलियों के आवारा बेकार कुत्ते
कि बख़्शा गया जिनको ज़ौक़े-गदाई
ज़माने की फटकारा सरमाया उनका
जहां भर की धुतकार उनकी कमाई

'कुत्ते' (*नक़्शे-फ़रियादी*)

जिस्म पर क़ैद है जज़्बात पे ज़ंजीरें हैं
फ़िक्र महबूस है गुफ़्तार पे ताज़ीरें हैं
अपनी हिम्मत है कि हम फिर भी जिये जाते हैं
ज़िंदगी क्या किसी मुफ़लिस की क़बा है जिसमें
हर घड़ी दर्द के पैवंद लगे जाते हैं

'चंद रोज़ और मेरी जां'

नादारी, दफ़्तर, भूक और ग़म
इन सपनों से टकराते रहे
बेरहम था चौमुख पथराओ
ये कांच में ढांचे क्या करते

'शीशों का मसीहा कोई नहीं' (*दस्ते-सबा*)

दूर नौबत हुई फिरने लगे बेज़ार क़दम
ज़र्द फ़ाक़ों के सताये हुए पहरे वाले
अहले-ज़िंदां के ग़ज़बनाक ख़रोशां नाले
जिनकी बांहों में फिरा करते हैं बांहें डाले

'ज़िंदा की एक सुब्ह' (*दस्ते-सबा*)

सब्ज़ा सब्ज़ा सूख रही है फ़ीक़ी ज़र्द दुपहर
दीवारों को चाट रहा है तन्हाई का ज़हर
दौरे-उफ़्क़ तक घटती बढ़ती उठती गिरती रहती है
कुहर की सूरत बे-रौनक़ दर्दों की गदली लहर

'रे रौशनियों के शहर' (*ज़िंदांनामा*)

फ़ैज़ के दृष्टिकोण का अंतिम तत्व है जागरूकता। उज्जवल भविष्य का आशावादी तत्व भी *नक़्शे-फ़रियादी* में पहले-पहल उभरा था और इसकी प्रतिध्वनि भी *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में साफ़-साफ़ सुनायी देती है। सामान्य सा अंतर यह है कि *नक़्शे-फ़रियादी* में फ़ैज़ ने वर्तमान के यथार्थ को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया। इस स्थिति के कारण पराजय और निराशा की भावना अपेक्षाकृत अधिक हावी हो गयी थी। लेकिन *दस्ते-सबा* और *ज़िंदानामा* में फ़ैज़ ने खुल्लम खुल्ला बग़ावत को हवा दी है और इन संकलनों में पराजित संवेदनाएं आशा की लौ से दमकती हुई दिखायी देती हैं। अंततः बग़ावत की रौ और भविष्य की ओर आंख उठाने की यह प्रवृत्ति किसी क्रमिक विकास का परिणाम नहीं बल्कि *नक़्शे-फ़रियादी* में उभरने वाले दृष्टिकोण ही का प्रतिबिंब है। ये कुछ पंक्तियां इसका प्रमाण हैं :

बेफ़िक्र धन दौलत वाले
ये आख़िर क्यों ख़ुश रहते हैं
उनका सुख आपस में बांटें
ये भी आख़िर हम जैसे हैं
हमने माना जंग कड़ी है
सर फूटेंगे ख़ून बहेगा
ख़ून में ग़म भी बह जायेंगे
हम न रहें ग़म भी न रहेगा

'सोच (*नक़्शे-फ़रियादी)*

लेकिन अब जुल्म के मीआद के दिन थोड़े हैं
इक ज़रा सब्र कि फ़रियाद के दिन थोड़े हैं

'चंद रोज़ और मेरी जान' (*नक़्शे-फ़रियादी)*

रात का गर्म लहू और भी बह जाने दो
यही तारीकी तो है ग़ाज़ाए-रुख़्सारे-सहर
सुब्ह होने को है अब ऐ दिल बेताब ठहर

'ये दिले बेताब ठहर'

नक़्शे-फ़रियादी की इन नज़्मों में सोये हुए इनसान को जगाने, उसे अत्याचार का एहसास दिलाने की कोशिश भी है और भविष्य की ओर शायर का रुझान भी स्पष्ट है। यह चिंतन दूसरे संकलनों में भी इसी तरह क़ायम रहता है :

अभी गीराई-ए-शब में कमी नहीं आयी
नजाते-दीदा-ओ-दिल की घड़ी नहीं आयी
चले चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आयी

'सुब्हे-आज़ादी' (*दस्ते-सबा*)

ये हाथ सलामत हैं जब तक, इस खूं में हरारत हैं जब तक
इस दिल में सदाक़त है जब तक, इस नुर्तक़ में ताक़त है जब तक
इन तौक़ो-सलासिल को हम तुम सिखलायेंगे शोरिशे-बरबतो-नै
वो शोरिश जिसके आगे ज़बूं हंगामए-तबले-क़ैसरू के

'दो आवाज़ें' (*दस्ते-सबा*)

गर आज तुझ से जुदा हैं तो कल बहम होंगे
ये रात भर की जुदाई तो कोई बात नहीं
गर आज औज पे है तालए-हबीब तो क्या
ये चार दिन की ख़ुदाई तो कोई बात नहीं

'निसार मैं तेरी गलियां पे' (*दस्ते-सबा*)

ये ग़म जो इस रात ने दिया है
ये ग़म सहर का यक़ीं बना है
यक़ीं जो ग़म से क़रीब तर है
सहर जो शब से अज़ीम तर है

'मुलाक़ात' (*ज़िंदांनामा*)

जो न हो अपने क़बीले का भी कोई लश्कर
मुंतज़िर होगा अंधेरे की फ़सीलों के उधर
इनको शोलों के रजज़ अपना पता तो देंगे
ख़ैर हम तक वो न पहुंचें भी सदा तो देंगे
दूर कितनी है अभी सुब्ह, बता तो देंगे

'दर्द आयेगा दबे पांव' (*ज़िंदांनामा*)

आशा की यह लौ जो *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में उभरी है, जो केवल इन संकलनों तक ही सीमित नहीं। वास्तव में फ़ैज़ का सारा कलाम एक 'इंतज़ार' की व्याख्या है। मानसिक विश्लेषणकर्ताओं के लिए यह एक विचार करने का क्षण है कि वे *नक़्शे-फ़रियादी* की शुद्ध रूमानी नज़्मों की उस प्रतिष्ठित स्थिति का अवलोकन करें जो 'इंतज़ार इंतज़ार! और मुसलसल इंतज़ार' पर आधारित है और फिर उसके इस रूप का अध्ययन करें जब यह श्रेष्ठता प्राप्त कर प्रेयसी के लिए निरंतर प्रतीक्षा के बजाय एक चमकती हुई उषा की प्रतीक्षा में बदल जाती है। यह परिवर्तन पहले पहल *नक़्शे-फ़रियादी* ही में उद्‌भूत होता है। 'हम लोग', 'तन्हाई', 'ए दिले बेताब ठहर' और अन्य नज़्में इसका प्रमाण हैं। *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में

भी यह स्थिति बराबर क़ायम रहती है। इस विशेष संदर्भ में भी फ़ैज़ की प्रयत्नशील प्रवृत्ति *नक़्शे-फ़रियादी* तक ही सीमित है।

उपर्युक्त विश्लेषणात्मक अध्ययन इस बात का प्रमाण है कि फ़ैज़ ने *नक़्शे-फ़रियादी* में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में भी वह उसी की अभिव्यक्ति और प्रसार में लगे रहे है। ऐसा नहीं है कि फ़ैज़ का यह दृष्टिकोण अनुचित है। संपूर्ण विश्व इस विचारधारा की उपादेयता को स्वीकार करता है। कौन है जो अत्याचार, गुलामी और शोषण की हिमायत करेगा। लेकिन फ़ैज़ का उत्तरदायित्व शायर का है, समाज सुधारक या राजनेता का नहीं। नेता या सुधारक के लिए एक विशेष दृष्टिकोण की लकीर पर जमे रहना अत्यावश्यक है जबकि शायर परिपक्वता, निरंतर रचनात्मक क्रियाशीलता और क्रमिक विकास की ओर उन्मुख रहता है। उसके लिए किसी स्थान विशेष पर हमेशा हमेशा के लिए रुक जाना उसकी शायरी के लिए लाभप्रद नहीं होता। *नक़्शे-फ़रियादी* के बाद फ़ैज़ के यहां जो ठहराव, एक रुकी-रुकी सी मनःस्थिति मिलती है, दृष्टिकोण के ठहराव ही का परिणाम है और इससे (कम से कम अस्थाई रूप से) फ़ैज़ के रास्ते में दीवारें खड़ी हो गयी है।

और अब उन आपत्तियों के तौर पर कुछ ऐसी बातों की चर्चा होनी चाहिए जो प्रत्यक्षतः आलोच्य विषय से संबंधित नहीं लेकिन जिनके प्रकाश में विषय की बेहतर परख संभव है।

अनुभव सिद्ध है कि सांस्कृतिक उन्नति, सामाजिक संगठन और सामूहिकता के आंदोलन के एक काल विशेष के बाद एक ऐसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया सामने आती है जिससे व्यक्ति की वैयक्तिकता स्पष्ट होती है और वह समूह की यांत्रिक प्रक्रिया से विचलित होकर नवीन कार्यशैली का प्रमाण देता है। यही संस्कृति का आरंभ है। संस्कृति का हर दौर गोताखोरी का दौर होता है। मुनष्य आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया से अपनी थमी हुई मानसिक क्षमताओं और संवेदनात्मक दक्षता का नवीनीकरण करता है ताकि सामाजिक विकास की दौड़ में अगला महत्वपूर्ण क़दम उठा सके। अतः संस्कृति भी सामाजिक संगठन ही की एक प्रक्रिया है। संस्कृति का बहाव हर बार एक उच्चतर धरातल तक पहुंच जाता है और इसके बाद जो सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन अस्तित्व में आता है, निसंदेह उसकी सतह भी पहले से उच्चतर होती है।

सभ्यता और संस्कृति की यह कशमकश और संश्लेषण ऐतिहासिक महत्व रखता है। हर सभ्यता और संस्कृति की उन्नति एक स्थान विशेष पर पहुंचने के बाद अवनति की ओर अग्रसर हो जाती है और क्रमशः अपने प्रतिष्ठित बिंदु से हटती चली जाती है और संस्कृति की एक नयी उमंग बढ़कर उसे सहारा देती है। संस्कृति स्वयं व्यक्ति के प्रयासों और उसकी गुप्त क्षमताओं की पैदावार है। वह सदैव अपने भीतर से एक बेहतर और उच्चतर संस्कृति को जन्म देती है।

संस्कृति और सभ्यता का यही संश्लेषण एक बड़े अजीब अंदाज़ से शायरी में भी दृष्टिगोचर होता है। जब शायर की ज़िंदगी में कोई ऐसी रोचक घटना घटती है कि वह सभा समारोह से विलग और विरक्त होकर अपने 'स्व' के समुद्र में उतर जाता है तो उसकी रचना में भी एक अद्‌भुत आकर्षण और क्षमता उत्पन्न हो जाती है। उसकी रचना प्रक्रिया में एक स्वनिर्मित शैली झलकने लगती है। यह कार्यशैली संस्कृति के विकास से साम्य रखती है। जब कुछ समय के बाद शायर की यह नवीन भावनात्मक और मानसिक सोच की सतह जनसामान्य तक पहुंचती है (अर्थात जब अंधानुकरण से इस नयी आवाज़ के बहुत से नोकीले किनारे भोथरे हो जाते हैं) तो यह अपना आकर्षण और क्षमता तेज़ी से खोने लगती है।

मानो सभ्यता और समाज की परिसीमाओं में आकर यह आवाज़ स्थिर होने लगती है। एक महान शायर ऐसे समय में एक नयी रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा किसी नयी अभिव्यक्ति से शेर को एक नया भावनात्मक और मानसिक आधार प्रदान करता है। अपनी इस प्रक्रिया के फलस्वरूप शायर समाज को भी एक उच्च मानसिक धरातल पर ले आता है। एक अच्छे शायर की ज़िंदगी में थोड़े-थोड़े विराम के बाद यह रचनात्मक प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। बिल्कुल वैसे ही जैसे जीवन की विस्तृत व्यवस्था में संस्कृति की नित नयी लहरें उद्‌भूत होती रहती हैं।

उपर्युक्त आपत्तियों के प्रकाश में फ़ैज़ की नज़्मनिगारी का जायज़ा इस गुत्थी को खोलता है कि आरंभ में फ़ैज़ की ज़िंदगी में रोचक घटना घटित हुई थी और शायर को जिस भावनात्मक आवेग से दो चार होना पड़ा था उसके नतीजे में फ़ैज़ के यहां एक ऐसा मानसिक धरातल उत्पन्न हुआ जो इससे पहले मौजूद नहीं था। फ़ैज़ का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि उन्होंने न सिर्फ़ यह नया धरातल पैदा किया बल्कि एक क्षण में अपने समाज को भी एक अधोगामी मानसिक धरातल से ऊपर उठा कर एक नये धरातल पर वे ले आये। *नक़्शे-फ़रियादी* फ़ैज़ के इस कारनामे का सबूत है लेकिन उसके बाद एक लंबे समय के लिए ख़ामोशी छा जाती है। ख़ुद फ़ैज़ को इन दिनों में अपनी रचनात्मक क्षमताओं पर ठहराव का एहसास होने लगा था। अतः उन्होंने *नक़्शे-फ़रियादी* की भूमिका में साफ़-साफ़ लिख दिया, 'शेर लिखना जुर्म न सही लेकिन बिना वजह शेर लिखते रहना ऐसी बुद्धिमानी भी नहीं। आज से कुछ बरस पहले एक निश्चित भाव से प्रभावित शेर स्वयं होते थे लेकिन अब लिखने के लिए सोचना पड़ता है।' यह अस्थायी ठहराव हर शायर की ज़िंदगी में कई बार आता है। लेकिन हर बार उसे जब एक नयी रचनात्मकता का पड़ाव मिलता है तो वह अस्थायी ठहराव के धरातल से ऊपर उठ आता है। लेकिन फ़ैज़ के कलाम को यह नया रचनात्मक आवेग न मिल सका। अतः *नक़्शे-फ़रियादी* और *दस्ते-सबा* के मध्यकाल में उन्होंने संभवतः केवल दो नज़्में लिखीं। इनमें से एक नज़्म 1947 के हादसे से संबंधित है। चूंकि शेर में क्षमता और प्राण हैं इसलिए नज़्म भी उच्च कोटि की है। दूसरी नज़्म 'दूसरी आवाज़ें' एक विवेकशील प्रयास है और इसमें अपनत्व की कमी है। फ़ैज़ की शायरी में इस लंबे ठहराव की समाप्ति शायर की ज़िंदगी के दूसरे बड़े हादसे पर होती है। गिरफ़्तारी और जेल के इस हादसे का अब एक ऐतिहासिक महत्व है। लेकिन ऐसा महसूस होता है कि संवेदनात्मक और भावनात्मक तौर पर यह हादसा शायर के जीवन के पहले हादसे से कहीं कम महत्वपूर्ण था। शायद इसीलिए यह हादसा शायर की रचनात्मक क्षमताओं को पूरी तरह न उकसा सका। क़ैद होने के बाद फ़ैज़ के लिखने की रफ्तार तेज़ हो जाती है। उसका एक कारण तो तहरीके-शेर है जो अगर पूरी तीव्रता की पक्षधर नहीं, तब भी एक तहरीक तो है। दूसरा कारण संभवतः यह है कि जेल के लंबे अकेलेपन और ख़ाली समय को 'कुछ न कुछ करने' की भावना का साथ देना पड़ा है और फ़ैज़ लिखते चले गये हैं। लेकिन *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में किसी नये धरातल का अस्तित्व में न आना इस बात की दलील है कि जेल यात्रा में वह भावनात्मक तीव्रता नहीं थी जो *नक़्शे-फ़रियादी* में थी। इसलिए समग्रता से इन दोनों संकलनों में *नक़्शे-फ़रियादी* में उभरने वाले दृष्टिकोण ही का प्रतिबंब दिखायी देता है। यह ठीक है कि इस दृष्टिकोण के कुछ ऐसे पक्ष जो *नक़्शे-फ़रियादी* में पूरी तरह नहीं उभरे थे, *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* में पूरी तरह उभर आये हैं। यह भी ठीक है कि कुछ पक्ष जो *नक़्शे-फ़रियादी* में स्पष्ट थे, बाद के संकलनों में अपेक्षाकृत छुपे हुए मिलते हैं। लेकिन समग्र रूप से दृष्टिकोण की सीमा में कोई परिवर्तन दिखायी नहीं पड़ता।

फ़ैज़ ने जो कुछ अपने पहले संकलन में कहा था, वही दूसरे रचना संकलनों में भी कहते चले गये हैं।

वह जिसने शायरी को 'पैग़ंबरी' के बजाय जुज़्वे-पैग़ंबरी कहा था, विनम्रता का प्रदर्शन नहीं कर रहा था। पैग़ंबरी में सिर्फ़ एक रचनात्मक कर्म होता है। यद्यपि यह कर्म तीव्रता और महानता में अपना सानी नहीं रखता लेकिन शायरी छोटे-छोटे असंख्य रचनात्मक स्फुरणों का समुच्चय है। किसी पैग़ंबर की तरह शायर का काम यह नहीं कि किसी एक विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन अर्पित कर दे बल्कि उसका काम यह है कि जीवन और ब्रह्मांड के रहस्यों से निरंतर पर्दा हटाता चला जाये। शायर के सामने ज़िंदगी की रंगबिरंगी स्थितियों, भावनाओं और अभिव्यक्तियों का एक ढेर सा लगा है। फूल की पत्ती से लेकर चमकने वाले सितारे तक ज़िंदगी के आश्चर्यों और सौंदर्यों की एक शृंखला खिंचती चली गयी है। शायर का काम इन स्थितियों और आश्चर्यों को निरंतर उद्‌घाटित करते रहना है। इसी से शायर की दूसरे कलाकारों पर श्रेष्ठता सिद्ध होती है। फ़ैज़ की नज़्मनिगारी अब तक केवल एक ही आरंभिक आवेग की उपज है। इसीलिए इसमें विचारधारा और दृष्टिकोण का एक ठहराव दिखायी देता है। एक ऐसा ठहराव जिससे फ़ैज़ की शायरी, उसके लालित्य और विकासोन्मुखता को सदमा पहुंचा है।

अनुवाद : रहमान मुसव्विर
मो. : 09871610200

नवक्लासिकीयत और तरक़्क़ीपसंदी में मिलाप बिंदु की तलाश

शमीम हनफ़ी

फ़ैज़ की शायरी के बारे में जब भी कुछ सोचना चाहा, एक सवाल ख़ामोशी से सामने आ खड़ा होता है। यह कि क्या सिर्फ़ जज़्बे और एहसास की मदद से, लंबी उम्र पाने वाली किसी शायराना अनुभूति की खोज हो सकती है? यह एक परेशान करने वाला सवाल है क्योंकि वह शायरी, जिसे हम बड़ी शायरी कहते हैं, आमतौर पर केवल संवेदनाओं और भावनात्मक घटनाओं के बयान तक सीमित नहीं रहती। इक़बाल के संदर्भ में इस मसले का जायज़ा लेते हुए, सलीम अहमद ने लिखा था कि खरी भावना और खरा ज्ञान रचनात्मक अनुभूति में किसी न किसी सतह पर एक हो जाते हैं, उनमें फ़र्क़ बाक़ी नहीं रह जाता। इसीलिए इक़बाल की शायरी में अनुभूतिविचारात्मक आधार और इससे जुड़ी संवेदनात्मक कैफ़ियतों की नींव एक दूसरे को सहारा देती हैं। उनकी शायरी को हम न तो सिर्फ़ विचारों के एक संग्रह के रूप में देखते हैं, न ही ये शायरी सिर्फ़ एहसास के दायरे में गर्दिश करती है। फ़ैज़ ख़ुद भी इक़बाल के बहुत क़ायल थे, और एक ऐसे दौर में उन्होंने इक़बाल के प्रति अपनी आस्था का इज़हार किया जो प्रगतिशील लेखकों के जज़्बाती उबाल और विचारात्मक अतिवाद का दौर कहा जा सकता है। इसलिए क्या अख़्तर हुसैन रायपुरी और मजनूं गोरखपुरी और क्या सरदारी जाफ़री, क्लासिकी शायरी पसंद करने के बावजूद उनमें से किसी भी आलोचक ने इक़बाल की शायरी का हक़ अदा नहीं किया। जबकि इक़बाल की मौत पर फ़ैज़ ने जो व्यक्तित्व आधारित 'मर्सिया' कहा है, उन पंक्तियों में इक़बाल के समग्र रचनात्मक व्यवहार, उनकी शायराना अलग पहचान की सच्ची तारीफ़ और व्याख्या के बहुत से बिंदु भी छिपे हुए हैं। इस नज़्म के कुछ मिसरों को ग़ौर से पढ़ने की ज़रूरत है। मिसाल के तौर पर पहले बंद के ये चार मिसरेः

आया हमारे देस में इक ख़ुशनवा[1] फ़कीर
आया और अपनी धुन में ग़ज़लख्वां गुज़र गया
थीं चंद ही निगाहें जो उस तक पहुंच सकीं
पर उसका गीत सबके दिलों में उतर गया

1. अच्छी आवाज़

और उसके बाद नज़्म का तीसरा बंद :

उस गीत के तमाम मोहासिन[2] हैं लाज़वाल[3]
उसका वफूर[4], उसका ख़रोश[5], उसका सोज़-ओ-साज़[6]
यह गीत मिस्ले-शोल-ए-ज्वाला[7] तुंद-ओ-तेज़[8]
उसकी लपक से बादे-फ़ना[9] का ज़िगर गुदाज़[10]
जैसे चराग़ वहशते-सर-सर[11] से बेख़तर
या शम्म-ए-बज़्मे-सुब्ह[12] की आमद[13] से बेख़बर

इस नज़्म में शायरी, ख़ास कर इक़बाल की शायरी के जिन तत्वों की अहमियत पर ज़ोर दिया गया है, उन्हें मुख़्तसर यूं बयान किया जा सकता है :

1. इक़बाल की शायरी की पहली ख़ूबी उनकी ख़ुशनवाई है यानी वह गाने लायक़ आवाज़ जिसने बयानिया शायरी को कलात्मक ऊंचाई तक पहुंचाया।
2. इक़बाल की शायरी में सूफ़ियाना और क़लंदरी का एक माहौल भी समाया हुआ है, उनकी शायरी सिर्फ़ हमारे दिमाग़ से ही रिश्ता क़ायम नहीं करती, बल्कि हमारी संवेदनाओं पर भी असर डालती है।
3. इक़बाल की शायरी की विशेषताओं तक पहुंच पाना हर एक के बस की बात नहीं है। लेकिन उनका जादू सब पर चलता है।
4. इक़बाल की शायरी की ख़ूबियों में सब से नुमायां हैसियत उसके जज़्बाती वफूर, उसके ख़रोश और उस की शो'ला सामानी की है।
5. यह शायरी अपने अंदर कभी न मिटने वाली और हमेशा ही ज़िंदा रहने के पहलू भी रखती है।
6. यह शायरी अपनी रक्षा आप करती है। इस पर वक़्त के किसी ख़ास संदर्भ की क़ैद नहीं है। शायरी की प्राथमिकताएं या रुझान की तब्दीली इस शायरी का कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

विचारों के शोर के दौर में उर्दू की क्लासिकी शायरी, और ख़ास तौर पर इक़बाल की शायरी के सिलसिले में जो आक्रामक रवैये सामने आये (अख़्तर हुसैन रायपुरी, अली सरदार जाफ़री) उन्हें देखते हुए फ़ैज़ के

---

2. ख़ूबियां
3. न मिटने वाला
4. ज़ोर
5. शोर
6. दुख और संगीत
7. आग की लपटों की तरह
8. सख़्त और तेज़
9. ख़त्म कर देने वाली हवा
10. दिल पिघला देने वाला
11. हवा का पागलपन
12. सुबह की महफ़िल का चिराग़ यानी सूरज
13. आना

रचनात्मक विवेक के साथ-साथ, उनके आलोचनात्मक विवेक का भी एक बहुत बेहतर और तरक़्क़ीयाफ़्ता नक़्शा बनता है। अपने एक लेख ('इक़बाल अपनी नज़र में') में इक़बाल की शायरी की रौशनी में फ़ैज़ ने उनकी जो छवि तलाश की है, उसमें एक विरह में डूबे हुए प्रेमी के दुःख-दर्द और उसकी ख़्वाहिशें हैं। बादशाह जैसी शान ओ शौकत, फ़क़ीरों जैसी नर्मदिली, सूफ़ियों जैसी बेनियाज़ी, भाई जैसी मुहब्बत और दोस्तों जैसी मुरव्वत है। जैसे फ़ैज़ शेरों की मदद से शायरी की जो तस्वीर पेश करते हैं, उसकी वे खूबियां नहीं हैं जिन पर उनके प्रगतिशील समकालीन ज़ोर देते थे। *मीज़ान* में फ़ैज़ के गद्य लेखों को संकलित किया गया है। उनमें जगह जगह ऐसे इशारे बिखरे हुए हैं जिनसे फ़ैज़ की प्राथमिकताएं और शायरी या शायर की शख़्सियत की तरफ़ फ़ैज़ के रवैये का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। व्याख्या के लिए कुछ मिसालें देखिए :

> हर वह चीज़ जिससे हमारी ज़िंदगी में लुत्फ़ या लताफ़त या रंगीनी पैदा हो, जिसका हुस्न हमारी इंसानियत में इज़ाफ़ा करे, जिससे कथार्सिस हो, जो हमारी रूह को गीतों से भर दे, जिसकी आवाज़ से हमारे दिमाग़ को रौशनी और चमक हासिल हो, सिर्फ़ हसीन ही नहीं, मुफ़ीद भी है। इसी वजह से तमाम गाने लायक साहित्य (बल्कि तमाम अच्छी कलाएं) हमारे लिए इज़्ज़त के क़ाबिल हैं। यह फ़ायदामंदी सिर्फ़ ऐसी रचनाओं का एकाधिकार नहीं है जिनमें किसी दौर के ख़ास राजनीतिक या आर्थिक मामलों की सीधी विवेचना की गयी हो।
>
> (मज़मून : 'शायर की क़द्रें,' *मीज़ान*, पेज नं 32)

> उपमा या रूपक मंज़िल नहीं, रास्ते हैं और रास्ते की अहमियत महज़ मंज़िल की वजह से होती है और अगर एक मंज़िल ही अहम नहीं है तो उसका रास्ता भी यक़ीन के लायक नहीं होगा। शायर या लिखने वाले की मंज़िल तो उसका विषय या ख़याल है और अगर यह मंज़िल बिलकुल बंजर है तो रास्ते की रंगीनी उसे दिलफ़रेब नहीं बना सकती।
>
> (मज़मून : 'हमारी तनक़ीदी इसतलाहात', *मीज़ान*, पेज नं 42)

> किसी तहरीर की रवानी का अल्फ़ाज़ के प्रकार से बहुत कम संबंध है। अगर ख़याल लिखने वाले के ज़ेहन में साफ़ है और उसने उसे आराम से आप तक पहुंचा दिया है तो उसकी तहरीर में फ़ारसी के बजाय लातीनी संरचनाएं हों तो भी हम उसे आसान ही कहेंगे।
>
> (संदर्भ उपर्युक्त, *मीज़ान*, पेज नं 43)

> कलात्मक रचना के सभी तत्व अहम हैं। परीक्षण भी, अनुभूति भी, जज़्बा भी, कल्पना भी और विचार भी। शिल्प और अभिव्यक्ति की क्षमता भी, लेकिन इनमें प्राथमिकता यक़ीनन कल्पनाशीलता ही को हासिल है।
>
> (मज़मून : 'फ़न्नी तख़लीक़ और तख़य्युल', *मीज़ान*, पेज नं 54)

> तख़य्युल वह रहस्यमय चीज़ है, जिससे (कलात्मक रचना के) मुर्दा तन में जान पड़ती है। इसे आप दमे-ईसा (ईसा मसीह की मुर्दे में जान डालने की सलाहियत) तसव्वुर कीजिए या कुन फ़ेकुन (ख़ुदा ने दुनिया बनाने के लिए यह शब्द कहे थे और दुनिया बन गयी थी)।
>
> (संदर्भ उपर्युक्त, *मीज़ान*, पेज नं 55)

> अच्छे साहित्य में विषय और कहने की शैली एक ही शय के दो पहलू होते हैं और उनमें दूई का तसव्वुर ग़लत है। अल्फ़ाज़ और उनके मा'नी अलग-अलग या एक के बाद दूसरा नहीं आते, एक साथ और एक वक़्त में हम तक पहुंचते हैं।
>
> (मज़मून : 'मौज़ू और तर्ज़-ए-अदा', *मीज़ान*, पेज नं 69)

हमारे ज़ाती और आम अनुभवों के बहुत से पहलू ऐसे हैं जिनके इज़हार के लिए अब भी ग़ज़ल ही सबसे असरदार और सबसे पसंदीदा सिन्फ़-ए-सुख़न है।

(मज़मून : 'जदीद फ़िक्र-ओ-ख़याल के तक़ाज़े और ग़ज़ल', *मीज़ान*, पेज नं 113)

तमाम कलाकारों और हुनरमंदों की पंक्ति में साहित्यकार की हैसियत सबसे ज़्यादा भरोसेमंद ही नहीं सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार भी है। वह एक ही समय में अपनी कल्चर की रचना भी होता है और रचनाकार भी, उसकी आयत भी और उसकी व्याख्या करने वाला भी, अपनी ही ज़ात में अपने ज़माने की तस्वीर भी और तस्वीर बनाने वाला भी।

(मज़मून : 'अदब और सक़ाफ़त', मीज़ान, पेज नं 127)

इंक़लाबी शायर पर हुस्न-ओ-इश्क़ या मय और जाम हराम नहीं और उस पर ये हुक्म नहीं लगाया जा सकता कि वो इंक़लाबी विषयों के अलावा अपने दूसरे अनुभवों और दूसरी वारदातों का ज़िक्र ही न करे।

(मज़मून : जोश शायरे-इंक़लाब की हैसियत से, मीज़ान, पेज नं 210)

चूंकि जोश ने अपने वर्गगत विचारों को व्यवस्थित नहीं किया, इसलिए उनका नज़रिया-ए-इन्क़लाब भी एक हद तक सही नहीं है। वो इन्क़लाब की कल्पना हमेशा किसान या मज़दूर की नज़र से नहीं बल्कि एक ख़ुशहाल शहरी की नज़र से करते हैं जिसका नतीजा ये है कि उनके शेर में इन्क़लाब एक हैलनाक, डरावनी और दहशतनाक घटना की सूरत इख़्तियार कर लेता है।

(संदर्भ उपर्युक्त, *मीज़ान,* पेज नं 215)

आम इंक़लाबी शायर इन्क़लाब के बारे में गरजते हैं, ललकारते हैं, सीना कूटते हैं, इन्क़लाब के बारे में गा नहीं सकते। उनके ज़हन में इंक़लाब का तसव्वुर बिजली की तूफ़ानी कड़क से बनता है। हज़ार गीतों और बहार की रंगीनी की शक्ल नहीं। वो सिर्फ़ इंक़लाब की हौलनाकी को देखते हैं, उसके हुस्न को नहीं पहचानते।

(मज़मून : 'आहंग, मजाज़ के संग्रह का ताआरुफ़', *मीज़ान*, पेज नं 236)

इन लेखों (मशरिक़ व मग़रिब के नग़मे, मीराजी) की निखरी हुई पारदर्शी सतह पर उन अस्पष्ट परछाइयों और निर्गुण परछाइयों का कोई निशान नहीं मिलता जो उनके शेर की ख़ास कैफ़ियात हैं। उनकी रचना का ये हिस्सा पूरी तरह से उसी अक़्ल की सुरक्षा और रहनुमाई में लिखा गया है जिसे वे बज़ाहिर शायरी की प्रक्रिया के क़रीब नहीं फटकने देते। इन मज़ामीन का ठहराव, बयान की रवानी और ख़याल की रवानी में उनका (मीराजी की साहित्यक ज़िन्दगी के शायद सबसे ज़्यादा और शायद सबसे सुकून भरे दौर का) सुराग़ भी मिलता है। ये दुख भरा एहसास भी होता है कि अगर हमारे अहले फ़न की उजाड़ ज़िंदगियों में अंदरूनी दर्द और दुख के अलावा जिस्म-ओ-जां के तकाज़े पर गली-गली ख़ाक छानना, दर दर आवाज़ देना न होता तो शायद आधुनिक साहित्य की तारीख़ काफ़ी अलग होती और उसके कई दिलकश अध्याय इतने अधूरे और संक्षिप्त न रह जाते।

(लेख : 'मीराजी का फ़न (*मशरिक-ओ-मग़रिब के नग़मे* की प्रस्तावना) *मीज़ान*, पेज नं. 253-54)

फ़ैज़ के आलोचनात्मक लेखों से लिये गये हर उद्धरण में कोई न कोई ऐसी बात ज़रूर कही गयी है जिससे फ़ैज़ के व्यक्तिगत विचारों का इज़हार होता है, और साफ़ पता चलता है कि फ़ैज़ आम प्रगतिशील लेखकों के विपरीत शेर-ओ-अदब के मामलात में एक ख़ास ढंग की विद्वत्ता पर ज़्यादा भरोसा करते थे। अदब में फ़ायदेमंदी का तसव्वुर उनके नज़दीक सियासी और आर्थिक मसाइल के बयान का पाबंद नहीं था।

इसी तरह फ़ैज़ शायरी में विषय वस्तु और संरचना की दूई के क़ायल नहीं थे। वे प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहने के बावजूद ग़ज़ल की विधा को बीते हुए वक़्त की बात नहीं समझते थे। इंक़लाबी शायरी का उनका तसव्वुर भी अपने हमख़याल शायरों से अलग न था। सब से खास बात यह है कि फ़ैज़ पर प्रगतिशील नज़रिया-ए-अदब से मतभेद रखने वाले और ख़ुद प्रगतिशील समूह से भी बाक़ायदा तौर पर हमले हुए। फ़ैज़, राशिद और मीराजी जैसे शायरों की अहमियत के भी मुन्किर नहीं थे। फ़ैज़ के विचारों में लचक और बहुत विस्तार था। साहित्य के प्रति उनका रवैया एकध्रुवीय नहीं था। अपने पहले की परंपरा के सिलसिले में उनका अंदाज़-ए-नज़र दुश्मनी वाला नहीं था और जैसा कि जोश मलीहाबादी, मजाज़, मीराजी, राशिद के बारे में उनके विचारों से ज़ाहिर होता है, फ़ैज़ उनसे इत्तिफ़ाक़ करते हों या इख़्तेलाफ़, किसी भी मामले में वे अतिवादी नहीं थे। एक सोचा समझा धीमापन उनके रचनात्मक व्यक्तित्व का हिस्सा बन गया था।

ज़ाहिर है कि फ़ैज़ की सुलहपसंदी ने और उसके साथ साथ गिरोही प्राथमिकताओं की सतह से ऊपर उठ कर विरोधी विचार के लोगों को भी क़ुबूल करने की वजह से फ़ैज़ ख़ुद अपने सहयोगियों में भी थोड़ा बहुत शक की नज़र देखे जाने लगे थे, और उन पर एतबार भी कम हो गया था। फ़ैज़ के शायराना रवैयों में जैसा कि पिछले पृष्ठों पर उनके गद्य लेखों के संदर्भों से अच्छी तरह से स्पष्ट है, उनमें कोई बड़ी पेचीदगी नहीं है। फ़ैज़ की आम छवि की तरह उनके कलात्मक विचार भी एक सीधी सादी तार्किकता रखते हैं। किसी हद तक सुलहपसंदी भी। न. म. राशिद ने अपने एक इंटरव्यू में कहा था कि फ़ैज की शायरी और ज़ेहन में एक क़िस्म के विचारात्मक आलसीपन ने एक आवश्यक तत्व की शक्ल अख़्तियार कर ली थी। वह किसी भी समस्या के बारे में गहराई से नहीं सोच सकते। उनकी तबीयत में विश्लेषण की शक्ति लगभग नहीं के बराबर है। हो सकता है सच्चाई यही हो, मगर इस 'खोज' पर ख़ुश होने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि सच्चाई की व्याख्या का एक रास्ता एहसास से भी होकर गुज़रता है। बुद्धिमत्ता का स्तर प्रतिक्रिया की शक्ल में भी सामने आता है। फ़ैज़ के मिज़ाज में बेशक गहराई और दूरदर्शिता की तलाश की कमी थी। इसलिए अपने गद्य और पद्य में भी फ़ैज़ किसी ग़ैर मामूली बिंदु की तलाश में फिरते नज़र नहीं आते। वे चीज़ों को देखते हैं। उनसे एक अनुभूति क़ुबूल करते हैं, उस अनुभूति को अपनी शायराना दृष्टि में समा लेते हैं, और बग़ैर किसी दांवपेंच की शैली और सुबह के उजाले की तरह धीरे धीरे फैलती हुई सुथरी, सुलझी, सोहनी भाषा में उस अनुभूति को बयान कर देते हैं। क्लासिकी शायर सौदा की तार्किक शैली की फ़ैज़ ने ख़ूब तारीफ़ की है। ख़्वाजा हाफ़िज़ शीराज़ी की हैसियत भी फ़ैज़ के लिए अपनी व्यक्तिगत शायराना दृष्टि के एक स्रोत के रूप में थी। और उनकी चेतना पर उर्दू की पुरानी क्लासिकी परंपरा और फ़ारसी परंपरा का प्रभाव पूरी उम्र क़ायम रहा। उन्होंने अपनी सामूहिक याददाश्त और सांस्कृतिक धरोहर से अलग होने का दावा कभी नहीं किया। जीलानी कामरान का ख़याल है (*उस्तान्ज़े* की प्रस्तावना में) कि शायरों की 1940 के आसपास आंखे खोलने वाली नस्ल का असल मरहला अपने आपका 'शेरुल-अजम' के प्रभाव से महफ़ूज़ रहने का था। उनका ख़याल यह भी है कि फ़ैज़ और राशिद दोनों ने अपनी तारीख़ के उस भूत से मुक़ाबिला नहीं किया, बल्कि उसके सामने आत्मसमर्पण कर दिया। दूसरी तरफ़ फ़ैज़ राशिद को तो इस मामले में ख़तावार समझते हैं और ख़ुद को साफ़ बचा ले जाते हैं। एक इंटरव्यू (ताहिर मसूद : ये सूरतगर कुछ ख़्वाबों के) के दौरान उन्होंने कहा थाः

राशिद साहब की तो ज़बान फ़ारसी है और निहायत मुश्किल फ़ारसी। जिन लोगों को दोनों (अंग्रेज़ी और फ़ारसी) ज़बानें नहीं आतीं, वे तो उन्हें समझ भी नहीं सकते। इसकी बड़ी वजह यह है कि राशिद साहब इस मुल्क (पाकिस्तान) में रहे ही नहीं। यहां के लोगों से उनका संपर्क कट गया। उनको यह मालूम करने का मौक़ा ही नहीं मिला कि उनकी बात लोगों तक पहुंची या नहीं?

(*ये सूरतगर कुछ ख़्वाबों के*, पेज 30)

प्रगतिशील दौर और आधुनिक दौर की शायरी के आम पढ़ने वाले की मुश्किल यह है कि फ़ैज़ को इनमें से किस मंज़रनामे में स्थापित करें। किसी भी एक दौर के शायर के तौर पर उन्हें स्थापित करना आसान नहीं है। दरअसल फ़ैज़ की शायरी से एक साथ तीन चेहरे झांकते हैं। एक तो नवक्लासिकीयत शायर का चेहरा है जो ख़याल और तजुर्बे की नयी आबो-हवा में सांस लेता है मगर गुज़रे हुए ज़मानों से अपना तआल्लुक़ नहीं तोड़ता। दूसरा समाजी ज़िम्मेदारी और कमिटमेन्ट का एहसास रखने वाले एक ख़ामोश इन्क़्लाबी शायर का है जो वक़्त की धुरी की तब्दीली के साथ सांस्कृतिक चेतना की तब्दीली के अमल को समझता तो है लेकिन अपने आप को बेक़ाबू नहीं होने देता और अपने हमख़याल शायरों ने भी उन पर इल्ज़ाम लगाये। (कभी कभी ये इल्ज़ाम गाली की हद तक पहुंच गये) और तीसरा चेहरा अपनी सीमित वफ़ादारियों की क़ैद को तोड़ते हुए अपनी विचारात्मक प्राथमिकताओं और पूर्वाग्रहों को पार करते हुए एक समझौता जो शायर का है, जो बदलते हुए हालात की तह से निकलने वाली संवेदनाओं का प्रवक्ता बनने से नहीं डरता। फ़ैज़ की मृत्यु पर अपनी नज़्म (*और नज़्में* में शामिल, पेज 81-82) में जीलानी कामरान ने फ़ैज़ को अपने एहसासात में शामिल ख़ुशबू की एक लहर के तौर पर याद किया है:

जा बसी अर्श[14] के क़ुरिये[15] में कहानी उसकी
एक महक दिल में है अब याद सुहानी उसकी

और इफ़्तेख़ार जालिब जैसे आवारागर्द शायर और आलोचक ने *नयी भाषाई सरंचना* की प्रस्तावना पेश करते हुए, शब्द के सामानपन (Thingness) के नमूने गद्य में मंटो की कहानियों से और शायरी में फ़ैज़ के कलाम से बरामद किये थे। (याद कीजिए, फ़ैज़ की नज़्म, मंज़र की विवेचनाः रहगुज़र, सायए-शजर, मंज़िले-दौर, हलक़ए-बाम)

बाम[16] पर सीनए महताब[17] खुला आहिस्ता
जिस तरह खोले कोई बंदे-क़बा[18] आहिस्ता
एक पल तेरा, चला, फूट गया आहिस्ता
बहुत आहिस्ता, बहुत हल्का, ख़नक रंगे शराब
मेरे शीशे में ढला आहिस्ता
शीशओ-जाम, सुराही, तेरे हाथों के गुलाब

14. आसमान
15. गांव
16. कोठा
17. चांद
18. अंगरखा के बटन

जिस तरह दूर किसी ख़्वाब का नक़्श[19]
आप ही आप बना और मिटा आहिस्ता
वग़ैरह वग़ैरह।

(लेख : 'नयी शायरी' में शामिल, संपादनः इफ़्तेख़ार जालिब)

एक दूसरे से अलग और कभी कभी तो विरोधी और आपस में लड़ने वाले समूहों में एक दूसरे से विरोधी ध्रुवों सी दूरी रखने वाले साहित्यकारों, अलग अलग ज़माने के, जगहों के, विचारों के, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रखने वाली पार्टियों के लोगों का, एक सा इरादे के साथ फ़ैज़ को कुबूल करना अजीब बात है। तो क्या इससे यह समझा जाये कि फ़ैज़ की शायरी अपना कोई तयशुदा मिज़ाज नहीं रखती या यह कि उनका अपना अलग रंग नहीं है। ये कैसा लिबास है जो हर जिस्म पर ठीक बैठ जाता है और फ़ैज़ कहीं अजनबी और बेगाने नहीं दिखायी देते। फ़ैज़ के शायराना मिज़ाज को सबसे पहले, उनके अपने क़रीबी समूह से बाहर फ़िराक़ ने पहचाना था और *उर्दू की इश्क़िया शायरी* (पहला संस्करण, जनवरी 1945) में फ़ैज़ की दो नज़्में 'रक़ीब से' और 'तनहाई' का ज़िक्र अतिशयोक्ति के साथ किया था। फ़िराक़ ने लिखा थाः

> प्रोफ़ेसर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज़्म जिसका शीर्षक 'रक़ीब से' और जो हुमायूं के फ़रवरी 1938 के नंबर में निकल चुकी है, उसका ज़िक्र ज़रूर करूंगा, मैं बहुत कम अशआर, ग़ज़लों या नज़्मों के संबंध में यह एहसास करता हूं कि मेरे दिल ओ दिमाग़ का चूर निकला। लेकिन ये नज़्म ऐसी ही नज़्म थी। उर्दू की इश्क़िया शायरी में अब तक इतनी पवित्र, इतनी चुटीली और इतनी दूरदर्शी और विचारात्मक नज़्म वजूद में नहीं आयी। नज़्म नहीं है बल्कि जन्नत और दोज़ख़ के एकत्व का राग है। शेक्सपियर, गोएटे, कालिदास और सादी भी इससे ज़्यादा रक़ीब से क्या कहते, इश्क़ और इंसानियत के ख़ूबसूरत संबंध को समझना हो तो यह नज़्म देखिए।
>
> (*उर्दू की इश्क़िया शायरी*, पेज 64-65)

और अब यह दूसरा कथन भी देखिए :

> प्रोफ़ेसर फ़ैज़ का संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* के नाम से निकला और हालांकि बहुत संक्षिप्त था लेकिन इसका बहुत ज़बरदस्त असर हमारी शायरी पर पड़ा। फ़ैज़ ने चिंतन और एहसास की एक नयी तकनीक इसमें दी जो इस दौर के प्रतिनिधित्व के लिए निहायत मुनासिब है। इसके मिसरों की लय में जो खटक या ज़मज़मा है और उनकी सूक्तियों में जो ताज़गी और रवानी है, वह उनकी शैली में एक रचनात्मक व्यक्तिगत विशेषता पैदा कर देती है। फ़ैज़ ने शायरी का एक नया स्कूल बनाया है। उन्होंने जिस बुद्धिमत्ता बढ़ाने वाली और संवेदनशील, ख़ुलूस और फ़नकाराना चाबुकदस्ती से इश्क़िया शायरी और वारदात को दूसरे अहम समाजी मसाइल से संबंधित करके पेश किया, वह उर्दू की इश्क़िया शायरी में न भूल सकने वाला कारनामा है और ये नज़्म एक ज़िंदा अमर क्लासिक है।
>
> (*उर्दू की इश्क़िया शायरी*, पेज 64-65)

इस तरह फ़ैज़ साहित्य के आसमान पर एक शर्मीले, कम बोलने वाले और बहुत सुघड़ क़िस्म के नौजवान प्रगतिशील शायर की हैसियत से उभरे थे। लेकिन उनकी पहचान एक रूमानी शायर की हैसियत से हुई। फ़ैज़ के बारे में जो बज़ाहिर तारीफ़ी लेकिन असल में किसी हद तक एतराज़ करने वाले अंदाज़

19. नक़्शा

की रायें सामने आयी हैं, मिसाल के तौर पर यह कि (अज़ीज़ अहमद के मुताबिक़) 'आशिक़ी और इन्क़लाब की सीमा रेखा जिसको वे पार करना चाहते हैं, किसी तरह पार नहीं होती', और या यह कि 'उनकी शायरी इश्क़ और इन्क़लाब के बीच में लगातार भागते रहने की प्रवृत्ति बन गयी है', या फिर राशिद की यह राय कि '*नक़्शे-फ़रियादी* एक ऐसे शायर की ग़ज़लों और नज़्मों का संग्रह है जो रूमान और हक़ीक़त के संगम पर खड़ा है' (प्रस्तावना : *नक़्शे-फ़रियादी*), तो इन रायों में फ़ैज़ की शायराना शख़्सियत पर एक छुपे हुए व्यंग के साथ साथ सच्चाई का एक तत्व भी शामिल है। प्रोफ़ेसर मुज्तबा हुसैन अपनी प्रगतिशीलता के दंभ में यह फ़ैसला सुना बैठे थे कि 'फ़ैज़ की शायरी जहां ख़त्म होती है, वहां से सरदार जाफ़री की शायरी का आग़ाज होता है।' और ख़ुद सरदार जाफ़री भी कम से कम प्रगतिशीलता के मामले में फ़ैज़ को अपने तो क्या, साम्यवादी यथार्थवाद के बहुत कमज़ोर और निचले दर्जे के प्रवक्ताओं (मिसाल के तौर पर कैफ़ी आज़मी, मंजर शाहजहांपुरी) तक के बराबर का स्थान देने को भी तैयार न थे (*तरक़्क़ीपसंद अदब*, प्रकाशन 1952)। बेशक फ़ैज़ की शायरी में दार्शनिक गहराई की कमी महसूस होती है। मगर इस कमी को वे बड़ी हद तक अपने शायराना एहसास, पकड़ में आने वाले अनुभव, गहरे जज़्बाती सरोकार, अपनी मध्यम, मुलायम, मीठे लहज़े और नग़मगी की छलकती हुई शैली और अभिव्यक्ति की मदद से अपने ऊपर हावी नहीं होने देते। ये अनुभूतियां जिन्हें हम फ़ैज़ के रचनात्मक व्यक्तित्व की बुनियादें कह सकते हैं, उनके अक्सर समकालीन की नज़र में नापसंदीदा और ऐब समझी जाती थीं और इस मामले में मैं और तू का फ़र्क़ नहीं था। फ़ैज़ के समकालीनों में राशिद ने फ़ैज़ की शायरी में सजावटी तत्वों पर जितने वार किये हैं, उससे कम वार सरदार जाफ़री ने नहीं किये और बाद के लिखने वालों में एक मशहूर आलोचक (डा. वज़ीर आग़ाः *नज़्मे-जदीद की करवटें*) ने फ़ैज़ की शायरी को 'ठहराव की मिसाल' क़रार दे कर हमेशा के लिए उस पर बुढ़ापे और मिटने की तरफ़ बढ़ रही शायरी की मुहर लगा दी थी। राशिद का ख़याल था कि फ़ैज़ की सबसे बड़ी कमज़ोरी उनकी चिंतन की सुस्ती और मेहनत की कमी है। वे बड़े दिमाग़ की ताक़त से या तो महरूम हैं या उसे अच्छी तरह काम में नहीं लाते। इसीलिए राशिद ने ये भविष्यवाणी भी की थी कि वक़्त गुज़रने के साथ साथ फ़ैज़ की शायरी में अनुभव की बाहरी चमक दमक कमज़ोर पड़ती जायेगी और ये शायरी आख़िरकार अपना आकर्षण खो बैठेगी। मैं राशिद के शेरी समझ के फैलाव और उनकी बिजली गिराने वाली कल्पनाओं की क्षमताओं का बहुत क़ायल हूं और अपनी गिनती राशिद की शायरी के अकादमिक पाठकों में नहीं करता जो राशिद की फ़ारसी भरी ज़बान और उनके रचनात्मक अनुभवों के अस्पष्ट अर्थों पर इतना ज़ोर देते हैं कि राशिद की शायरी उनके हाथ से निकल जाती है। ख़ुद फ़ैज़ भी राशिद की ज़बान पर फ़ारसी के असंतुलित प्रभाव को अच्छी नज़र से नहीं देखते थे और अख़्तरुल ईमान ने भी राशिद की आवाज़ में बुलंदी और जलाल के पहलू को उनका 'बड़बोलापन' समझा था। लेकिन फ़ैज़ की रचनात्मकता या चिंतन के जो एतराज़ प्रगतिशील और ग़ैर प्रगतिशीलों ने लगभग एक साथ किये, उसे फ़ैज़ की प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता की प्रतिक्रिया और समकालीन प्रतिद्वंदिता के तौर पर भी देखना चाहिए। फ़ैज़ की लोकप्रियता ने उनके ज़माने के बहुत से शायरों को परेशान और ख़ौफ़ज़दा भी किया। प्रगतिशील शायर, हलक़ए-अरबाबे ज़ौक़ (कलावादियों का समूह) के शायर, क्लासिकी मिज़ाज व पसंद के शायर और आलोचक (मिसाल के तौर पर असर लखनवी और रशीद हसन ख़ां), यहां तक कि कुछ ऐसे शायर और आलोचक भी जो मज़हबी रुझान रखते थे, प्रगतिशील लेखकों से जिनकी बिलकुल साफ़ दुशमनी थी, प्रगतिशील गद्य और पद्य में

जिन्हें कोई ख़ूबी नज़र ही नहीं आती थी और फ़ैज़ से जिनका बज़ाहिर विचारात्मक विरोध था। (मिसाल के तौर पर सलीम अहमद) उन सबने फ़ैज़ की विचारात्मक और भाषाई कोताहियों और कमज़ोरियों, सीमाओं की चेतना का प्रचार करने की जी तोड़ कर कोशिशें कीं। प्रगतिशीलता के परंपरागत चिंतन के लिए हमदर्दी तो बाक़र मेहदी भी नहीं रखते थे, मगर फ़ैज़ पर अपने लेख ('फ़ैज़ एक नयी विवेचना' संदर्भ शे'री आगही 2000) में उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही है कि 'फ़ैज़ ने (अपनी नज़्म) मौज़ू-ए-सुख़न में अपना जो केंद्र तलाश किया था, उससे बहुत आगे कभी न गये और इस तरह फ़ैज़ ने अपने शायराना व्यक्तित्व को टुकड़े टुकड़े होने से बचाये रखा। दूसरे लफ़्ज़ों में यह कहा जा सकता है फ़ैज़ के लिए इश्क़ के दोनों केंद्र ज़रूरी थे, दोनों से उन्हें एक सा ज़ेहनी और जज़्बाती लगाव था। ग़मे-इश्क़ और ग़मे-रोज़गार, दोनों उनके व्यक्तित्व की रचनात्मक सरंचना के भाग थे। फ़ैज़ उनमें से एक को भी छोड़ने के लिए तैयार न थे। इसलिए वे अपने इस मिज़ाज से कभी अलग न हुए कि शायर को अनुभवों के चुनने में अपने आप पर ऊपर से कोई शर्त नहीं लगानी चाहिए। हर अनुभव चाहे वह इश्क़ का हो या सियासत का, ध्यान की किसी रूमानी लहर का हो या समाजी इंसाफ़ से संबंधित मसअलों का, शायर का अनुभव है। सज्जाद ज़हीर के नाम अपनी क़ैद के दौरान उन्होंने लिखा था कि 'हमारा जी चाहेगा तो इश्क़िया शेर ज़रूर कहेंगे।' फ़ैज़ ने बाहरी हुक्म के मुताबिक़ शेर कहने से हमेशा परहेज़ किया। इसलिए इब्तिदाई दौर की नज़्म 'तनहाई' को लेकर डा. तासीर की हास्यप्रद प्रतिक्रिया या 'सुबहे-आज़ादी' पर सरदार जाफ़री के निहायत संजीदा एतराज़, हास्य और तंगनज़री के जो हालात बन गये हैं उसकी असल वजह यही है कि दोनों, फ़ैज़ की शायराना समझ की ख़ुद मुख़्तारी का एहतेराम करने के बजाय अपनी प्राथमिकताओं को उन पर लादना चाहते थे। दूसरी तरफ़ फ़ैज के रचनात्मक आत्मविश्वास का यह हाल था कि न तो वे किसी एतराज़ का जवाब देते थे, न एतराज़ करने वालों के बारे में बात करते थे, न ही शायरी के प्रति अपने विचारों की व्याख्या करते थे। फ़ैज़ ने जवाब में अगर कुछ किया तो बस यह कि बहुत सादगी के साथ एतराज़ करने वाले की बात मान ली लेकिन अपने रास्ते से ज़रा भी न डिगे। *नक़्शे-फ़रियादी* की नज़्में संग्रह के प्रकाशन (1941) से पहले चर्चा का विषय बन चुकी थीं। मगर संग्रह की प्रस्तावना में अपने शायराना मिज़ाज और अपने रवैये के बारे में फ़ैज़ ने कुछ कहा तो सिर्फ़ इतना कि 'इस संग्रह का प्रकाशन एक तरह से अपनी हार को क़ुबूल करना है, इसमें दो चार नज़्में क़ाबिले-बर्दाश्त हैं।' इन क़ाबिले-बर्दाश्त नज़्मों में वे दो नज़्में 'तनहाई' और 'रक़ीब से' भी शामिल हैं जिन्हें फ़िराक़ साहब विश्व-साहित्य की महान रचनाओं में शामिल करने को तैयार थे। इस संग्रह की दूसरी कई नज़्में (मिसाल के तौर पर 'मौज़ू-ए-सुख़न', 'हमलोग') नयी नज़्म के विकास में आज भी एक नाक़ाबिले-फ़रामोश प्रयोग के तौर पर पर याद की जाती हैं। 'तनहाई' अपनी सरंचना के लिहाज़ से नज़्म के नये काव्यशास्त्र का नमूना कही जा सकती है। और जहां तक इस नज़्म के क़ाबू में आने वाले अनुभव, और इस नज़्म की विचारात्मक गठन की बात है तो बक़ौल राशिद 'मुजर्रिद तासीर' (अमूर्तन प्रभाव) की वजह से और डाक्टर तासीर के शब्दों में अपने सांकेतिक माहौल की वजह से इसे हमेशा नयी नज़्म में संगे-मील की हैसियत हासिल रहेगी। फ़ैज़ न तो उन अर्थों में बड़े शायर कहे जा सकते हैं जिन अर्थों में हमारी संवेदनाएं इक़बाल से संबंध स्थापित करती हैं। न ही फ़ैज़ बड़ी शान ओ शौकत वाले, महान और ख़ौफ़नाक अनुभवों वाले शायर हैं। वे न तो बड़े कैनवस पर ब्रुश चलाते हैं, न बेधड़क स्ट्रोक्स और अभिव्यक्ति से काम लेते हैं।

उनकी नाज़ुक तबीयत मीनाकारी बनाने वाले पेंटरों जैसी है जो संवेदनशील नुक़्तों, लकीरों और रेखाचित्रों की मदद से अपने अंदरूनी दृश्यों की रचना करती है और ठहर ठहर कर धीमे सोच विचार के अंदाज़ में अपने समझे जाने का तक़ाज़ा करती है। एक इंटरव्यू के दौरान फ़ैज़ ने यह व्यक्तिगत बयान दिया था कि उनकी नज़र में अपनी सबसे पसंदीदा नज़्म 'हम जो तारीक राहों में मारे गये' हैं। *ज़िंदानामा* (1956) की लोगों की ज़बानों पर चढ़ी इस नज़्म के ये मिसरे देखिए:

जब खुली तेरी राहों में शामे-सितम
हम चले आये, लाये, जहां तक क़दम
लब पे हर्फ़े-ग़ज़ल, दिल में क़ंदीले-ग़म[20]
अपना ग़म था गवाही तेरे हुस्न की
देख क़ायम रहे इस गवाही पे हम
हम जो तारीक[21] राहों में मारे गये

यह नज़्म चिंतन के स्तर पर फ़ैज़ के उन शायराना रवैयों का विस्तार कही जा सकती है जिनकी पहचान फ़ैज़ ने 'मौज़ूए-सुख़न' नाम की नज़्म के आख़िरी बंद में इस तरह की थी :

ये भी हैं ऐसे कई और भी मज़मूं[22] होंगे
लेकिन उस शोख़ के आहिस्ता से खुलते हुए होंठ
हाय उस जिस्म के कमबख़्त दिल-आवेज़[23] ख़ुतूत[24]
आप ही कहिए कहीं ऐसे भी अफ़्सूं[25] होंगे

अपना मौज़ू-ए-सुख़न[26] इनके सिवा और नहीं
तबए[27] शायर का वतन इनके सिवा और नहीं

'नयी नज़्म और पूरा आदमी' में सलीम अहमद ने 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी मेहबूब न मांग' के इन दो मिसरों, 'लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजै / अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजै' का बहुत मज़ाक़ उड़ाया है जो इस बंद के बाद आते हैं कि:

अनगिनत सदियों के तारीक बहीमाना[28] तिलिस्म
रेशम-ओ-अतलस व कमख़्वाब[29] में बुनवाये हुए

---

20. ग़म की मोमबत्ती
21. अंधेरी
22. विषय
23. दिल लुभाने वाला
24. लकीर
25. जादू
26. शायरी का विषय
27. तबीयत
28. जंगली
29. मंहगे कपड़ों के नाम

जा बजा बिकते हुए कूचा-ओ-बाज़ार में जिस्म
ख़ाक में लिथड़े हुए ख़ून में नहलाये हुए

और सलीम अहमद की परेशानी का सबब यह है कि 'अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजै' में एक मोहताजे-तफ़सील और नुक़सान न पहुंचाने वाला लफ़्ज़ 'मगर' शे'री अनुभूति की बेरहमी और संगीनी का संकेत है। यानी यह कि फ़ैज़ के लिए 'जाने के लिए कोई जगह नहीं और पैर थक चुके हैं,' दोनों कोई न कोई मुश्किल खड़ी कर देते हैं। असल में शायरी का अध्ययन करने वाला अपनी शर्तों, आदतों, ज़रूरतों और फ़ायदे के हिसाब से करेगा तो इसी तरह के मसअले पैदा होते रहेंगे। अनुभव की गतिशीलता फ़ैज़ को अगर अपने केंद्र से आगे ले जाये तो ग़लत और अगर वह एक जगह पर ठहर जाये तो अनुभूतियों में ठहराव का इल्ज़ाम सामने है, सच्चाई यह है कि फ़ैज़ की शायरी के साथ 'किसी जगह पर ठहरने की कोई जगह नहीं है' वाला मामला है। उनका बेसब्र दिल एक केंद्र पर उन्हें ठहरने नहीं देता। फ़ैज़ एहसासात की आती जाती लहरों के शायर हैं, एक अंदरूनी बेचैनी की मारी हुई भटकती हुई आत्मा, जिसकी सुरक्षा का केंद्र कभी अपनी मोहब्बत बनती है, तो कभी आसपास की दुनिया में बसे हुए जानदारों की मोहब्बत। हालात या रुझान के इस दोरुखेपन से फ़ैज़ को तो कोई परेशानी नहीं थी लेकिन एक केंद्रीयता पसंद एतराज़ करने वालों के लिए डाइलेमा बन गयी। विचारात्मक आलोचना के उसूलों या अपनी व्यक्तिगत पसंद और नापसंद के मुताबिक़ शे'र और साहित्य के अध्ययन में पढ़ने वाले को असली दिलचस्पी रचनात्मक अनुभूति से नहीं बल्कि अपने आप से होती है और वह सिर्फ़ अपनी हिमायत या अपने बिंब की तलाश की तमन्ना रखते हैं।

प्रगतिशील शायरी की परंपरा का जायज़ा लेते हुए जीलानी कामरान ने (*उस्तान्ज़े की प्रस्तावना* : 1957) में लिखा था कि साम्यवादी समाज में दिल की वीरानी का ज़िक्र मुमकिन नहीं और सिर्फ़ ज़मीनी दुख की कहानी एक अधूरी कहानी है। फ़ैज़ की शायरी में ग़म और अफ़सोस के तत्व तसल्ली और ख़ुशी पर भारी पड़ते हैं। ऐसा शायद इसीलिए है कि फ़ैज़ सामूहिक दुख दर्द का वर्णन करने के बावजूद, मूल रूप से रचनात्मक तन्हाई की अनुभूतियों से आम तौर पर अलग नहीं होते। उनका प्रतिरोध जिसके लिए वह इनसानों के एक समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं और सिर्फ़ अपनी ज़िंदगी के पाबंद नहीं रह जाते, बड़ी हद तक एक दबे हुए बल्कि ख़ामोश प्रतिरोध की हैसियत रखता है। वह ऊंची और खुली आवाज़ में बहुत कम बात करते हैं। जिन नज़्मों में उनकी आवाज़ काफ़ी ऊंची महसूस होती है, मिसाल के तौर पर 'आ जाओ अफ़रीक़ा' या ज़िंदगी के आख़िरी दौर की नज़्म 'हम देखेंगे, लाज़िम है कि हम भी देखेंगे' तो इस तरह की नज़्मों में भी उदासी की एक लहर जोशीले जज़्बात के साथ चलती हुई महसूस होती है:

आ जाओ, मैंने धूल से माथा उठा लिया
आ जाओ, मैंने छील दी आंखों से ग़म की छाल
आ जाओ, मैंने दर्द से बाज़ू छुड़ा लिया
आ जाओ, मैंने नोच दिया बेकसी का जाल
'आ जाओ अफ़रीक़ा'
पंजे में हथकड़ी की कड़ी बन गयी है गुर्ज़
गरदन का तौक़ तोड़ के ढाली है मैंने ढाल

'आ जाओ अफ़रीक़ा'
जलते हैं हर कछार में भालू के मृग नैन
दुश्मन लहू से रात की कालिख़ हुई है लाल
'आ जाओ अफ़रीक़ा'

फ़ैज़ के यहां नज़्म चाहे जितनी बुलंद आवाज़ में हो और इंक़लाबी हो, आहिस्तापन और नरमी का असर बरक़रार रहता है। नारा नग़मे में ढल जाता है और नाराज़गी सरगोशी बन जाती है। यह दरअसल फ़ैज़ की अपनी तबीयत का जब्र है; उनका एक मिसरा है : 'इक कड़ा दर्द कि जो गीत में ढलता ही नहीं!' मगर फ़ैज़ की शायरी में नग़मगी के तत्व सख़्त और तल्ख़ अनुभवों और ज्वालामुखी से एहसासात में भी नरमी और धीमापन पैदा कर देते हैं। फ़ैज़ हंगामा बरपा करने वाले मानसिक अनुभवों को भी अक्सर चित्रों में बदल देते हैं। और ये चित्र, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मध्यम और हलके रंगों से बनते हैं। उनमें तेज़ी, नुकीलापन, बेपर्दगी की कैफ़ियत नहीं मिलती है। 'एक मंज़र', 'यहां से शहर को देखो', 'ज़िंदां की एक सुबह', 'ईरानी तुल्बा के नाम', 'सरे-वादिए सीना' और 'ख़्वाब बसेरा' लफ़्ज़ों और आवाज़ों में ढली हुई तस्वीरें हैं जिनका बहता फैलता हुआ रंग आंखों के रास्ते दिल में उतरने के बाद हमारी चेतना का हिस्सा बनता है। इसीलिए फ़ैज़ की शायरी में लंबी नज़्मों के सिर्फ़ इक्का दुक्का नमूने मिलते हैं। मिसाल के तौर पर 'शीशों का मसीहा कोई नहीं।' मगर इस तरह की नज़्मों में फ़ैज़ रचनात्मक थकान से पैदाशुदा गद्यात्मकता के शिकार नज़र आते हैं। उनका हुनर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छोटे पैमानों में और छोटे कैनवस पर अपनी बहार दिखाता है, फ़ैज़ की शायरी अपने पाठकों से जो रिश्ता क़ायम करती है, उसका संबंध चिंतन से ज़्यादा एहसास से है। इसीलिए विचारात्मक सतह पर राशिद फ़ैज़ से आगे हैं और राशिद के यहां बहुत स्पष्ट रूप से अपनी विचारों का साया गहरा दिखायी देता है। सरोकारों की वह शर्मीली और सुसंस्कृत हालत जो फ़ैज़ की नर्म मिज़ाजी पर निर्भर है, उनके किसी भी दूसरे समकालीन के यहां इस हद तक नहीं उभर सकी है। इसलिए फ़ैज़ के समकालीन शायरी की पृष्ठभूमि पर नज़र डालते समय, मैं, अपने, आपको जैसी प्रतिक्रिया से अलग नहीं कर सकता। इस दौर के बाकमाल शायरों में मीरा जी, राशिद, अख़्तरुल ईमान, सरदार जाफ़री में तक़रीबन हर एक का रंग मुख़्तलिफ़ है और उनकी आपस में तुलना करना और एक दूसरे के हिसाब से उनके दर्जे तय करना अच्छी बात नहीं है। एक ही समय के परिदृश्य में सांस लेने वाले शायर मुक़ाबले की दौड़ में शामिल खिलाड़ी नहीं होते, ख़ास तौर से उस वक़्त जबकि उनका रचनात्मक व्यवहार अलग अलग हो और उनकी समझ और अभिव्यक्ति की हुनरमंदी एक दूसरे से मिलती-जुलती न हों। फिर अगर फ़ैज़ की शायरी के परिदृश्य का समग्र रेखाचित्र तैयार किया जाये तो उसके दायरे में कई हिंदुस्तानी (पाकिस्तानी?) ज़बानों का साहित्य और दुनिया का वह साहित्य भी आ जायेगा जो विचार के स्तर पर समाजी सरोकारों का एहसास रखने वाले तमाम साहित्यकारों की सामूहिक विरासत है। लोर्का, लुई आरागां, मायकोव्स्की, पाब्लो नेरुदा, नाज़िम हिकमत, युव्तेशेंको, मुक्तिबोध किसी न किसी लिहाज़ से एक ही मंज़िल की तलाश में सरगर्म हैं, और एक दूसरे के हमसफ़र भी कहे जा सकते हैं। फ़ैज़ के ज़माने के उर्दू शायरों में एक विशेषता यह भी है कि नेरुदा की तरह उनकी शायरी में भी जादुई स्पर्श मात्र से ही जैसे कोई मायावी ताक़त सी पैदा हो जाती है। वह ठहरी हुई और बेजान सी महसूस होने वाली वस्तु या दृश्य या प्रदर्शन और कैफ़ियत को हाथ लगाते हैं तो उसमें जान सी पड़ जाती है।

शख़्सियत का परिदृश्य चाहे बहुत छोटा हो, लेकिन अगर उसमें सच्चाई है तो अपना असर क़ायम करने के लिए वह बाहरी सहारों की मोहताज नहीं होगी। सच्ची शख़्सियत की तरह सच्ची शायरी का भी अपना एक जादू होता है। फ़ैज़ बड़े शायर उन अर्थों में नहीं कहे जा सकते जिस तरह हम कालिदास, फ़िरदौसी, रूमी, ग़ालिब और इक़बाल का जायज़ा लेते हैं, लेकिन उस सतह तक तो हमारे ज़माने का कोई दूसरा शायर भी नहीं पहुंचता। हां यह ज़रूर कहा जा सकता है कि फ़ैज़ की शायरी सच्ची शायरी की एक नुमाइंदा मिसाल है और उसका यह कारनामा क्या कम अहम है कि उसने प्रगतिशील शायरी को नाक़ाबिले-एतबार नहीं होने दिया, और उसे बहुत सी ख़राबियों से बचा लिया। इस तरह, फ़ैज़ की शायरी ने एक अहम ऐतिहासिक कारनामा भी अंजाम दिया जिसकी अहमियत हर ज़माने में क़ुबूल की जायेगी।

शमीम हनफ़ी
मो. : 09818524803

उर्दू से अनुवाद : रिज़वानुल हक़
09977006995

फ़ैज़ की काव्य शैली

ज़ुबैर रज़वी

यह बात दिलचस्प और जानने योग्य है कि फ़ैज़ ने अपने शेरों के पहले काव्य संग्रह की शुरुआत अपनी किसी मज़बूत नज़्म या ग़ज़ल से नहीं की। *नक़्शे-फ़रियादी* में सब से पहले दो-दो शेर 'अशआर'[1] शीर्षक से पढ़ने को मिलते हैं। इनमें ये दो शेर तो फ़ैज़ के मुरीदों पर छा गये हैं :

रात यूं दिल में तेरी खोई हुई याद आयी
जैसे वीराने में चुपके से बहार आ जाये।
जैसे सहराओं[2] में हौले से चले बाद-ए-नसीम[3]
जैसे बीमार को बेवजह क़रार आ जाये

इसके बाद के ये दो शेर प्रसिद्ध नहीं हो सके :

दिल रहीने-ग़मे-जहां[4] है आज
हर नफ़स[5] तश्न-ए-फ़ुग़ां[6] है आज
सख़्त वीरां है महफ़िल-ए-हस्ती
ऐ ग़मे दोस्त तू कहां है आज

इन शेरों के बाद संग्रह की पहली नज़्म 'ख़ुदा वो वक्त न लाये' है। इसके बाद ग़ालिब के असर वाली ग़ज़ल है :

हुस्न मरहूने-जोशे-बादा-ए नाज़[7]
इश्क़ मिन्नते कशे-जुनूने-नियाज़[8]

सवाल पैदा हो सकता है कि क्या *नक़्शे-फ़रियादी* की यह तरतीब ग़ैर-इरादतन थी? क्या उपर्युक्त शेर को जानबूझ कर पहले पृष्ठ पर जगह दी गयी है? यह सवाल इसलिए पूछा जा रहा है कि ज़्यादातर ऐसे शेर किसी भी संग्रह के आख़िरी पृष्ठों पर जगह पाते रहे हैं। मेरा विचार है कि फ़ैज़ ने ऐसा जानबूझ कर किया है। याद रहे कि जब *नक़्शे-फ़रियादी* का दूसरा एडिशन प्रकाशित हुआ और फ़ैज़ ने इसकी एक मुख़्तसर सी भूमिका लिखी तो यह संकेत भी किया था कि

---

1. शेर का बहुवचन 2. रेगिस्तानों 3. ठंठी हवा 4. गिरवी 5. सांस 6. रोना, रुदन 7. शराब और सौंदर्य के उमंग में डूबा हुआ 8. दर्शन के जादू का अभिलाषी

मैं चाहता हूं कि दूसरा एडिशन उस समय तक रोके रखूं जब तक पहले एडिशन में काफ़ी काट-छांट की गुंजाइश न निकल सके।

फ़ैज़ *नक़्शे-फ़रियादी* के दूसरे एडिशन में बस इतनी ही काट-छांट कर सके थे कि, उन्हीं के शब्दों में, वो चार पांच नज़्में जिन पर ज़्यादा एतराज़ था, निकालनी पड़ीं। और इतनी ही नयी नज़्मों का इज़ाफ़ा भी कर सके। लेकिन *नक़्शे-फ़रियादी* के शुरुआती पृष्ठों में उन्होंने कोई बदलाव नहीं किया। संग्रह के बिल्कुल शुरू में भिन्न-भिन्न स्वर वाले दो-दो शेर देने का कारण मेरी नज़र में यह है कि फ़ैज़ शुरुआती कलाम में ही अपनी शायरी के विषय 'निजी व दुनियावी दुख' और अपने 'पैरायः बयान (काव्य शैली) की कुंजी पढ़ने वाले को सौंप देना चाहते थे ताकि *नक़्शे-फ़रियादी* के भूमिका लेखक, नून मीम राशिद का पहला वाक्य ही पाठक के ज़ेहन में उनकी काव्य शैली की एक छवि बना ले। राशिद ने लिखा था : *'नक़्शे-फ़रियादी* एक ऐसे शायर की ग़ज़लों और नज़्मों का पहला संग्रह है जो रूमान और हकीक़त के संगम पर खड़ा है।'

अगले पृष्ठों पर *नक़्शे-फ़रियादी* की नज़्में, ग़ज़लें इन्हीं शुरुआती चार शेरों की बड़ी ख़ूबसूरत व्याख्या बन जाती हैं। जब दुनिया के जुल्मो-सितम में सब कुछ नष्ट हो जाता है तो फिर ग़मे दोस्त की याद आती है। ऊर्फ़ी के शब्दों में जब प्रेमी के ग़म में जिस्म-ओ-जान पिघलने लगते हैं तो अपने अंदर का चंदन महकने लगाता है :

जैसे सहराओं में हौले से चले बाद-ए-नसीम

फ़ैज़ की शायरी का स्ट्रक्चर देखें तो पता चलता है कि वह जवानी के जज़्बों पर केंद्रित थी। जवानी के ये ख़ास जज़्बे कभी दिल में यादों के अलाव जलाते हैं, तो कभी किसी के क़दमों की ख़्वाबनाक आहटें सुनने के लिए जागते रहते हैं। फ़ैज़ की इन शुरुआती नज़्मों में इश्क़ बेहिसाब भी है और बेशुमार भी। महबूब की जो काल्पनिक तस्वीर उनकी नज़्मों में उभर कर आती है वह इस से पहले की इश्क़िया शायरी के लिए अनजानी है। फ़ैज़ उन दोनों तरह के लोगों के क़ायल हैं जो इश्क़ को दुनिया से छुपाते हैं और वो जो दुनिया के सामने अपने इश्क़ का इज़हार करते हैं। पर ख़ुद फ़ैज़ अपने महबूब से मिलने के बजाय ज़्यादा उसके दीदार की चाहत रखते हैं। अपने समकालीन आशिक़ शायरों के बरअक्स फ़ैज़ इश्क़ के बयान के परंपरागत तरीक़ों को अपनाते ही नहीं बल्कि उसे व्यर्थ भी मानते हैं। उनके लिए महबूब उनकी ज़िंदगी में ख़ुशी का एक स्रोत है। इश्क़ एक धुन, लय, तरन्नुम और तबस्सुम बन कर फ़ैज़ की शायरी में समाया हुआ है। वे अपने इश्क़ के बेशुमार रंगों में हुस्न की आकर्षक तस्वीरें बनाते नहीं थकते :

खुमारे-ख़्वाब से लबरेज़ अहमरी[9] आंखें
सफ़ेद रुख़ पे परेशान अंबरी[10] आंखें
छलक रही है जवानी हर इक बुने-मू[11] से
रवां हो बर्गे[12] -गुले-तर से जैसे सैले[13] शमीम[14]
ज़िया-ए-मह[15] में दमकता है रंगे-पैराहन
अदा-ए-इज्ज़[16] से आंचल उड़ा रही है नसीम

9. लाल 10. रसीली 11. रोम-रोम 12. पत्ता 13. बहाव 14. ठंडी हवा का झोंका 15. चांद की रौशनी 16. कोमलता

फ़ैज़ के शायरी कैनवस पर रंगों के हलके पड़ जाने का कोई कमज़ोर रचनात्मक लम्हा नहीं आता। फ़ैज़ शब्द और अर्थ को उनके परंपरागत रूपों में इस्तेमाल नहीं करते। उनकी शायरी विषय प्रतिपादन से कहीं ज़्यादा फ़िज़ासाज़ी (वर्णन, चित्रण) की क़ायल है और यह फ़िज़ासाज़ी ज़िंदगी से ऐसी जुड़ी हुई है कि पाठक ख़ुद को भी इस पूरी फ़िज़ा से घुला-मिला महसूस करता है।

फ़ैज़ की शुरुआती इश्क़िया शायरी में अनुभवों की विविधता की कमी है; लेकिन उनके बाद के संग्रहों में उनका यह इश्क़िया अनुभव कई अनुभवों की छाया में मिल जाता है।

फ़ैज़ *नक़्शे-फ़रियादी* के शुरुआती शेरों में अपनी काव्य शैली की पहचान कराते हैं और पूरे संग्रह में उन्हीं शेरों की रौशनी में सफ़र करते हुए अपनी आवाज़ व लहजे की ख़ास पहचान बनाने की कोशिश में मसरूफ़ नज़र आते हैं। इस विशिष्ट लहजे की पहली झलक 'सरोदे-शबाना' नज़्म के इन मिसरों में मिलती है :

सो रही है घने दरख़्तों पर
चांदनी की थकी हुई आवाज़

फ़ैज़ अपनी इस अनोखी काव्य शैली को अपनी बाद की नज़्मों में ख़ूब चमकाते हैं जो अंततः उनके डिक्शन की दिलकशी की बुनियाद बन जाती है। जाने-पहचाने इश्क़िया अनुभव से गुरेज़ और नून मीम राशिद की कही हुई बात की पहली गवाही *नक़्शे-फ़रियादी* की नज़्म 'मुझ से पहले सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' से मिलती है। फ़ैज़ की यह पहली नज़्म विषय के नयेपन और उसके काव्यात्मक रचाव की बिना पर प्रगतिशील नज़्मों की सिरमौर बन जाती है। महबूब के ग़म में ऐसा 'मुहब्बत-आमेज़ गुरेज़;[17] उर्दू नज़्म के लिए अनजाना था। यह पहला मौक़ा था जब शायर अपनी निगाह का केंद्र बदलने की कोशिश करता है और एक नये केंद्र की पहचान करते हुए यह कह कर महबूब को हैरत में डाल देता है :

और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल[18] की राहत के सिवा
मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग

यह नज़्म ग़म-ए-यार और ग़म-ए-रोज़गार दोनों की तकलीफ़ों से जुड़ी होने कारण पूरी प्रगतिशील नज़्म के लिए एक मिसाल बन जाती है। अज़ीज़ अहमद के शब्दों में इस नज़्म को इश्क़ और इंक़लाब के दरम्यान एक सिलसिलेवार भूमिका भी कहा जा सकता है। *नक़्शे-फ़रियादी* में फ़ैज़ की शायरी इसी जुड़ाव के बिंदु के आस-पास पड़ाव डाले रहती है और बड़ी हद तक फ़ैज़ की काव्य शैली की पहचान बन जाती है। 'रक़ीब से', 'सोच', 'चंद रोज़ और मेरी जान' वाली नज़्मों में फ़ैज़ अपने जाने पहचाने इश्क़िया दुख दर्द की तरफ़ वापिस लौट आते हैं। फ़ैज़ के आलोचकों ने इसे प्रगतिशील नज़्म के लिए पूर्व रचित काव्य शैली का ही अनुसरण क़रार दिया है। और वज़ीर आग़ा ने फ़ैज़ के इस शेरी रवैये को अवरोध बतलाया; इस तरह की क़यास आराई की कल्पना दूसरे तरक़्क़ी पसंद शायरों के लिए तो दुरुस्त हो सकती है लेकिन

17. गुरेज़ उर्दू नज़्म में क़सीदे का एक प्रकार है। पहले इश्क़िया शायरी में गुरेज़ की तकनीक का इस्तेमाल नहीं होता था, 18. मिलन

जहां तक फ़ैज़ की बात है, विषय की यह कोशिश एक वास्तविकता है। इसका एक सबूत आज़ादी के सिलसिले में फ़ैज़ की नज़्म से मिलता है :

यह दाग़-दाग़ उजाला, यह शबगज़ीदा[19] सहर
वो इंतज़ार था जिसका, यह वो सहर तो नहीं

विषय के साथ परंपरागत प्रगतिशील बर्ताव करने के बावजूद यह उर्दू की एक बड़ी राजनीतिक नज़्म बन गयी है। बिल्कुल उसी तरह जिस तरह समसामयिक विषय पर लिखा हुआ मंटो का अफ़साना 'नया क़ानून'। आज़ादी के विषय पर सरदार जाफ़री ने अपनी पहली नज़्म में आज़ादी के जश्न का स्वागत किया लेकिन जब नये राजनीतिक हालात आये तो फिर उन्होंने दूसरी नज़्म 'फ़रेब' लिखी और साहिर ने 'मफ़ाहमत'। इसका असर किसी हद तक अख्तर-उल-ईमान ने भी क़बूल किया है :

मुझे ऐसा महसूस होता है यह मेरी मेहनत का हासिल नहीं है
अभी तो वही रंग-ए-महफ़िल वही जब्र[20] है हर तरफ़ जख़्म ख़ुर्दा[21] सा इनसान
जहां तुम मुझे ले के आये हो यह वादिए-रंग भी मेरी मंज़िल नहीं है।

लेकिन अख्तर-उल-ईमान यह कह कर चुप नहीं हो जाते, वे अपनी नज़्म 'पंद्रह अगस्त' को आगे बढ़ाते हैं और दो नज़्में और लिखते हैं : 'आज़ादी के बाद' और 'ग़ुलाम रूहों का कारवां'।

बाक़ी प्रगतिशील शायरों के मुक़ाबले में फ़ैज़ परंपरागत नज़रियों पर विचार करने से इंकार करते है। वे यक़ीनी तौर से इनसानी दुख दर्द पर संजीदा होते हैं और चाहते हैं कि इसका इलाज जल्दी हो। वे इस इनसानी दुख दर्द को अपनी ही आंख से देखते हैं और इसके चारासाज़ (वैद्य) बन कर अपने हाथ से बनाये हुए फ़ाहे इस पर रखते हैं :

जब कभी बिकता है बाज़ार में मज़दूर का गोश्त
शाहराहों[22] पे ग़रीबों का लहू बहता है।
आग सी सीने में रह-रह के उबलती है न पूछ
अपने दिल पर मुझे क़ाबू ही नहीं रहता है। ('रक़ीब से')

फ़ैज़ के ज़्यादातर आलोचकों ने फ़ैज़ को रूमान और हक़ीक़त के मेल से शायरी करने वाला शायर कहा है। दरअसल यह फ़ैज़ के शायरी के डिक्शन को सरसरी तौर पर पढ़ने का नतीजा है। इसमें शक नहीं कि इश्क़ से इंक़लाब की तरफ़, रूमान से हक़ीक़त की तरफ़, और ग़मे-ए-यार से ग़म-ए-रोज़गार की तरफ़ फ़ैज़ की शायरी का गुरेज़[23] और वापसी उनकी शायरी के अध्ययन को दिलचस्प बनाता है। वे नज़्म 'रक़ीब से' और 'चंद रोज़ और मेरी जान' में गुरेज़ की तकनीक[24] अपनाते हुए जब अपना विषय बदलते हैं तो इसमें एक ऐसी पैबंदकारी का एहसास होता है जो भद्दा और बेमेल लगने लगता है। इसी पैबंदकारी के प्रति आलोचनात्मक होते हुए साक़ी फ़ारूक़ी 'रक़ीब से' नज़्म सुनते वक़्त फ़ैज़ को इस बंद पर रोक देते हैं और इसरार करते है कि नज़्म इस बंद पर खत्म हो गयी।

19. रात की डसी हुई 20. बलशाली, ताक़तवर 21. घायल 22. राजपथ 23. गुरेज़ की तकनीक 24. क़सीदे का एक प्रकार

हम पे मुश्तरिका[25] है एहसान ग़मे उल्फ़त के
इतने एहसान कि गिनवाऊं तो गिनवा न सकूं
हमने इस इश्क़ में क्या खोया है क्या सीखा है
जुज़[26] तेरे और को समझाऊं तो समझा न सकूं

साक़ी फ़ैज़ की नज़्मों में जिस पैबंदकारी की आलोचना करते हैं, उसका एहसास फ़ैज़ को भी था कि उनकी नज़्मों में गुरेज़ की तकनीक का कच्चापन रह जाता था। इन संगमनुमा नज़्मों में दो कोशिशों का एहसास बड़ा स्पष्ट है। यानी नज़्म इश्क़िया रूप से शुरू होकर इनसान के दुनियावी सरोकारों से जा मिलती है। पर इस नज़्म में तीसरे स्तर पर मेहनत का एहसास बाक़ी रह जाता है तो बाद में 'मौज़ूए-सुख़न' जैसी नज़्म में पहली बार उभर कर सामने आता है। महबूब और ज़माने दोनों के ग़म से जुड़ाव की और एक मिसाली सूरत इस नज़्म में पहली बार फ़ैज़ ने इस्तेमाल की है और इसमें वे बेहद कामयाब हैं। इस लिए फ़ैज़ की संगमनुमा 'नज़्मों' में 'मौज़ूए सुख़न' सब से अनोखी और भरपूर नज़्म है। इस नज़्म का आग़ाज ही बड़ी मद्धम लय से होता है :

गुल हुई जाती है अफ़सुर्दः[27] सुलगती हुई शाम
धुल के निकलेगी अभी चश्मः-ए-महताब[28] से रात
और मुश्ताक़[29] निगाहों की सुनी जायेगी
और उन हाथों से मस[30] होंगे ये तरसे हुए हाथ

नज़्म धीरे-धीरे फ़िज़ासाज़ी (चित्रण) करती हुई अनायास ही गुरेज़ की तकनीक को अपनी ऊंचाइयों पर ले जाती है :

आज तक सुर्ख़ी-सियह सदियों के साये के तले
आदम-ओ-हव्वा की औलाद पे क्या गुज़री है
मौत और ज़ीस्त की रोज़ानः सफ़आराई[31] में
हम पे क्या गुज़रेगी, अजदाद[32] पे क्या गुज़री है।

'मुझ से पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग, 'रक़ीब से', 'चंद रोज़ और मेरी जान', जैसी नज़्मों के बर-अक्स फ़ैज़ पहली बार अपनी इस नज़्म को एक दूसरे ही गुरेज़ के साथ लेते हैं और वापस अपने महबूब के ज़िक्र की तरफ़ लौट आते हैं :

ये भी हैं ऐसे कई और भी मज़मू होंगे
लेकिन उस शोख़ के आहिस्तः से खुलते हुए होंठ
हाय उस जिस्म के कमबख़्त दिल आवेज़[33] खुतूत
आप ही कहिए कहीं ऐसे भी अफ़्सू[34] होंगे
अपना मौज़ूए-सुख़न इनके सिवा और नहीं
तबए-शायर[35] का वतन इनके सिवा और नहीं

25. सम्मिलित या साझे का 26. सिवाय 27. ठिठुरती हुई 28. चांद की आंख 29. उत्सुक 30. स्पर्श 31. मोर्चाबंदी 32. पूर्वज 33. मोहक 34. जादू 35. कवि स्वभाव

नज़्म में गुरेज़ की यह दूसरी दिशा फ़ैज़ के दूसरे संग्रह *दस्ते-सबा, ज़िंदांनामा , दस्ते-तहे-संग* में नहीं मिलती है। 'मौज़ूए-सुख़न' फ़ैज़ के जाने पहचाने काव्य कौशल का आख़िरी उदाहरण है। इसके बाद ऐसी संगमनुमा नज़्में फ़ैज़ के संग्रहों में नहीं मिलतीं। जो शायर *नक़्शे-फ़रियादी* में रूमान और हक़ीक़त के संगम पर खड़ा था, वह *दस्ते-सबा* से *मेरे दिल, मेरे मुसाफ़िर* जैसे काव्यसंग्रहों में अपने पैरायः बयान को नहीं दोहराता। *दस्ते-सबा* की भूमिका में फ़ैज़ ने अपनी शायरी में ज़िंदगी से जुड़े विषयों का इस्तेमाल करने का कारण देते हुए कहा था :

> इनसानी ज़िंदगी के संगठित संघर्ष में हौसले का होना ज़िंदगी की ही मांग नहीं कला की भी मांग है। कला इस मानवीय ज़िंदगी का एक आकर्षण है और कलात्मकता की ज़रूरत इस इनसानी ज़िंदगी के संघर्ष का एक पहलू है।

फ़ैज़ ने *दस्ते-सबा* में अपने इस शेरी पक्ष को एक और नज़्म दो इश्क़ में बड़ी ख़ूबसूरती से ज़ाहिर किया है। 'दो इश्क़' एक तरह से 'मौज़ूए सुख़न' ही का विस्तार है पर 'मौज़ूए सुख़न' से कहीं ज़्यादा अच्छी और बड़ी नज़्म है। बाक़र मेहदी के शब्दों में, अब निजी और दुनियावी दुख के बीच की खाई बहुत कम हो गयी है और नज़्म 'दो इश्क़' की शुरुआत भी 'मौज़ूए सुख़न' की तरह बड़े स्वप्नदर्शी लहज़े में होती है। एक मायने में उसका यहां मिलन हो गया है :

ताज़ा हैं अभी याद में ऐ साक़ी-ए-गुलफ़ाम[36]
वो अक्से-रुख़े-यार से महके हुए अय्याम[37]
वो फूल-सी-खिलती हुई दीदार की साअत[38]
वो दिल-सा धड़कता हुआ उम्मीद का हंगाम

इस नज़्म में फ़िज़ासाज़ी भी 'मौज़ूए सुख़न' जैसी है। 'मौज़ूए सुख़न' का यह बंद देखिए :

आज फिर हुस्ने-दिलआरा[39] की वही धज[40] होगी
वही ख़्वाबीदः सी आंखें, वही काजल की लकीर
रंगे-रुख़सार[41] पे हल्क़ा सा वो ग़ाज़े[42] का गुबार[43]
संदली हाथ पे धुंधली सी हिना की तहरीर[44]

और यह बंद है 'दो इश्क़' का :

इस बाम से निकलेगा मेरे हुस्न का ख़ुर्शीद
उस कुंज से फूटेगी किरन रंगे हिना की
इस दर से बहेगा तेरी रफ़्तार का सीमाब[45]
उस राह पे फूलेगी शफ़क़[46] तेरी क़बा की

नज़्म 'दो इश्क़' में लैला-ए-वतन के ज़िक्र की तरफ़ गुरेज़ की तकनीक का इस्तेमाल 'मौज़ूए सुख़न' से कहीं ज़्यादा गुंथा हुआ और असरदार है :

---

36. फूल जैसा साक़ी 37. दिन 38. लम्हा 39. मनमोहक रूप 40. रीत, ढंग 41. गाल 42. उबटन 43. रंग 44. मेंहदी के बेलबूटे 45. पारा 46. लालिमा सूर्यास्त की

चाहा है इसी रंग में लैला-ए-वतन को
तड़पा है इसी तौर से दिल उसकी लगन में
ढूंढ़ी है यूं ही शौक़ ने आसाइशे-मंज़िल
रुख़सार के ख़म[47] में कभी काकुल[48] की शिकन में

'मौज़ूए-सुख़न' में फ़ैज़ ने इस दुनिया में मरने की चाह में जीनेवाले ज़्यादातर प्राणियों के साथ अपने जज़्बात के साथ एकमेव होने का ऐलान किया था। ग़रीबी और पिछड़ेपन की शिकार आदम और हव्वा की औलाद पर जो कुछ गुज़रती रही है, फ़ैज़ ने उसे अपनी शेरो-शायरी का सरमाया क़रार दिया है। 'दो इश्क़' में निजी और दुनियावी इश्क़ के साथ अब तीसरा इश्क़ भी बयान में शामिल हो जाता है। यह तीसरा इश्क़ है लैला-ए-वतन का।' *नक़्शे-फ़रियादी* के बाद की शायरी अब दो के बजाय तीन इश्क़ या तीन आवाज़ें बन कर उभरती है। लेकिन कुछ इस तरह कि उनके धागों को अलग-अलग करके उनकी ढेरियां बनाना मुमकिन नहीं। अब शायर को मानवता के इस संगठित संघर्ष में अपनी कला की समझ को शामिल करने की सफ़ाई देने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। 1940 के बरसों के साहित्यिक मंज़रनामे पर प्रगतिशील शायरी की मांग का जो दबाव था उस से फ़ैज़ भी प्रभावित थे। लेकिन फ़ैज़ चूंकि किसी भी नक़्शे क़दम पर चलने वाला शायरी मिज़ाज रखते ही नहीं थे इसलिए उन्होंने अपनी रचनात्मक समझ के आधार पर *नक़्शे-फ़रियादी* वाली शायरी के आख़िरी दौर में निजी और दुनियावी ग़मों को तो ख़ूब निभाया, मगर बाद के अपने संग्रहों में अपने विषय की विविधता से नया रचना-संसार निर्मित किया और इस तरह अपनी शायरी के मूल ढांचे को लगातार सींचते हुए *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर* तक आते आते पाठकों के आगे ख़ासे सुर्ख़रू हो गये।

ज़ुबैर रज़वी
फो. : 011-26983804

उर्दू से अनुवाद : बलवंत कौर
मो. : 09968281417

47. गाल पर पड़नेवाला गढ़ा 48. बाल

जिस धज से कोई मक़तल में गया*

कांतिमोहन

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ चल बसे। लाहौर में 20 नवंबर 1984 को दिल का दौरा पड़ा और तत्काल ही उनकी मृत्यु हो गयी। इस मौत के सदमे से उबरने में काफ़ी वक़्त लगेगा, फिर भी यह सोचकर हैरानी होती है कि हर तरह के शोषण से मानव मुक्ति के लिए ज़िंदगी भर संघर्ष करने वाला यह दुर्द्धर्ष योद्धा लोकतंत्र को फ़ौजी बूटों से लगातार कुचले जा रहे उस घुटन भरे माहौल में दो साल ज़िंदा कैसे रह लिया। कोई दो साल पहले जब वह भारत आये थे तो उनके मित्रों और शुभचिंतकों की इच्छा थी कि वह पाकिस्तान न लौटें, भारत में ही रहें। प. बंगाल की वाम मोर्चा सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में इक़बाल चेयर की स्थापना प्रस्तावित की थी और उनकी ख़्वाहिश थी कि फ़ैज़ इक़बाल प्रोफेसर के रूप में यहीं बने रहें। लेकिन, उनकी पारिवारिक विवशताएं थीं जो उन्हें लेबनान से पाकिस्तान खींच लायी थीं। इन परिस्थितियों ने उन्हें भारत रहने की इज़ाज़त नहीं दी और वो 'कूए-यार' से निकलर सीधे 'सूए-दार' चले गये।

फ़ैज़ पिछले पचास बरस से लिख रहे थे। अपने घटना प्रधान और कर्मसंकुल जीवन में उन्होंने लिखना कभी नहीं छोड़ा। फिर भी, इस प्रदीर्घ रचना-काल में उन्होंने अपनी कविताओं की केवल सात नन्हीं पुस्तिकाएं प्रकाशित करायीं। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो रचनाओं का यह परिमाण बहुत कम है, लेकिन उनकी कविता की गुणवत्ता ऐसी थी कि अपने काव्य-शैशव में ही फ़ैज़ जनता के विभिन्न तबक़ों के बीच बेहद लोकप्रिय हो गये और पिछले चालीस वर्षों के दौरान एक कवि के रूप में वह जिस तरह इस उपमहाद्वीप की काव्य रसिक जनता के मानसिक क्षितिज पर छाये रहे हैं, उसे देखते हुए इस काव्य युग को अगर फ़ैज़ युग कहा जाय तो बहुत कम लोगों को इस पर आपत्ति होगी। उनकी मृत्यु से इस युग का अंत हो गया।

फ़ैज़ की असाधारणता और अद्वितीयता को समझने के लिए हमें इस युग की उन परिस्थितियों को समझना होगा जिन्होंने फ़ैज़ को सजाया-संवारा, उनकी शायरी को परवान चढ़ाया, उन्हें फ़ैज़ बनाया। चार दशकों के इस युग में चार महती और शक्तिमती धाराएं विलोड़ित हो रही थीं और फ़ैज़ के संवेदनशील मन को मथ-मथकर उसे संस्कारित और अनुप्राणित कर रही थीं।

उन्होंने एक ऐसे दौर में होश संभाला और क़लम उठायी जबकि इस देश में साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय

---

* 'फ़ैज़ और हम' शीर्षक से यह लेख 1984 में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-उर्दू विभागों की एक संयुक्त गोष्ठी में पढ़ा गया था।

मुक्ति संग्राम तरंगायित हो रहा था। यह संग्राम जाति, क्षेत्रीयता, भाषा, धर्म और सेक्स की संकरी दीवारों को तोड़कर इस उपमहाद्वीप की विराट भौगोलिक इकाई को एक जीवंत और स्पंदित राष्ट्र का रूप प्रदान कर रहा था। 1930 के बाद मज़दूर वर्ग एक स्वतंत्र वर्ग के रूप में सक्रिय हो चुका था और जनता के विभिन्न तबकों के बीच व्यापक और टिकाऊ एकता क़ायम करने वाली शक्ति के रूप में काम कर रहा था। यह एक ऐसा दौर था जिसमें कला और संस्कृति के क्षेत्र में हर तरह की संकीर्णताओं, सामाजिक रूढ़ियों और प्रगति की राह में बाधा बने हुए अंकुशों पर प्रहार किया जा रहा था तथा साहित्य को जनता के व्यापक संघर्ष और प्रतिरोध की शक्तियों से जोड़ा जा रहा था। फ़ैज़ और उनके कई सहकर्मी इन दिनों इश्क़ और रूमान की कविताएं लिख रहे थे। इन रूमानी कविताओं को लेकर रूपवादी आलोचक जब फ़ैज़ को इश्क़ो-मोहब्बत का शायर साबित करने की कोशिश करते हैं तो हमारे कुछ प्रगतिशील साथी पेसोपेश में पड़ जाते हैं। कई बार हम यह भूल जाते हैं कि उस दौर में प्रेम की अभिव्यक्ति एक सकारात्मक और प्रगतिशील अभिव्यक्ति थी और ऐसी कविताओं को लेकर हमें क्षमायाचना करने की क़तई ज़रूरत नहीं है। फ़ैज़ जैसे कवियों ने प्रेम के इस सकारात्मक रूप को ही आगे चलकर देश-प्रेम और मानव-प्रेम का रूप प्रदान किया। उनके इस विकास को रेखांकित करना हमारी ज़िम्मेदारी है।

फ़ैज़ के बचपन में ही रूस में महान अक्टूबर क्रांति संपन्न हो चुकी थी। लेनिन के नेतृत्व में समाजवादी सोवियत संघ ने सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद की अपनी ज़िम्मेदारियां निभानी शुरू कीं तो उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की साम्राज्यविरोधी अंतर्वस्तु दृढ़ हुई और इनमें से कुछ देशों के अपने-अपने मज़दूर आंदोलनों ने उसे दृढ़तर बनाया। रूस में समाजवाद की स्थापना के बाद उपनिवेशों की ग़ुलाम जनता सिर्फ़ राजनीतिक आज़ादी से संतुष्ट हो जाने के लिए तैयार नहीं रह गयी थी। वह हर तरह की दासता, शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति पाने के सपने देखने लगी थी। इस दौर में, सोवियत संघ न केवल सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद का केंद्र था बल्कि हर प्रकार के आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध मानवमुक्ति का एक जीवंत प्रतीक बन गया था। समाजवादी आंदोलन की इस प्रचंड धारा ने देखते-देखते अगर प्रेमचंद से लेकर फ़ैज़ तक कई पीढ़ियों के प्रबुद्ध साहित्यकारों को अपनी ओर खींच लिया तो इसमें हैरानी की कोई बात नहीं थी। समाजवाद और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की दो सशक्त धाराएं मिलकर एक हो गयी थीं और एशियाई-अफ़्रीकी देशों के असंख्य देशभक्त साहित्यकार और बुद्धिजीवी इनसे प्रेरणा ले रहे थे। कुछ आलोचक इस दौर की परिस्थितियों को नज़र अंदाज़ करते हुए प्रगतिशीलता को विदेशी और अभारतीय सिद्ध करने की कोशिश करते रहते हैं। वे भूल जाते हैं कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसे दौर में विकसित हुआ है जिसमें एक ओर साम्राज्यवाद और बाक़ी तमाम दुनिया के बीच अंतर्विरोध पनप रहा था तथा दूसरी ओर समाजवाद संपूर्ण विश्व के मुक्ति आंदोलन का खुला और निर्भीक समर्थन कर रहा था। ऐसे में, समाजवादी विचारधारा के प्रति ग़ुलाम देशों के स्वतंत्र बुद्धिजीवियों की आसक्ति न केवल स्वाभाविक और पूरी तरह देशभक्तिपूर्ण थी, बल्कि अनिवार्य और अपरिहार्य थी। हैरानी की बात नहीं कि 1935 तक आते-आते हम देखते हैं कि फ़ैज़ ने न सिर्फ़ समाजवादी विचारधारा ही अपना ली बल्कि अमृतसर के एक प्रतिष्ठित कॉलेज में पढ़ाने वाला यह सफ़ेदपोश बुद्धिजीवी मज़दूरों के सुख-दुःख का भागीदार बन गया, उनकी ट्रेड यूनियनों में काम करने लगा; उसकी शायरी में 'ग़मे-यारां' 'ग़मे-दौरां की शक्ल में ढलने लगा।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। शुरू में ऐसा लगा था कि यह कोई स्वतंत्र धारा

नहीं है बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और समाजवादी आंदोलन का संगम मात्र है, लेकिन बाद की घटनाओं ने शीघ्र ही प्रगतिवादी साहित्यांदोलन को एक स्वतंत्र धारा का रूप दे दिया और इसने बहुत बड़े पैमाने पर साहित्यकर्मियों और कलाकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया। यूरोप में पतनशील पूंजीवाद अपने सबसे घिनौने, मानवघाती और प्रतिक्रियावादी रूप नाज़ीवाद और फ़ासीवाद में सर उठा रहा था; बाक़ी तमाम दुनिया से साम्राज्यवाद का अलगाव लगभग संपूर्ण हो चला था और दुनिया भर की शांतिप्रिय और मुक्तिकामी जनता इस उभरते हुए ख़तरे का मुक़ाबिला करने के लिए तैयार हो रही थी। सोवियत संघ इसका नेतृत्व कर रहा था। इन परिस्थितियों ने प्रगतिशील साहित्यांदोलन को बहुत जल्द ही एक शक्तिशाली आंदोलन बना दिया और देश की लगभग तमाम भाषाओं के समर्थ रचनाकार इसकी ओर आकृष्ट हुए। प्रगतिवादी आंदोलन इसलिए इतनी जल्दी और इतना ज़्यादा लोकप्रिय नहीं हो गया कि देश में पहली बार एक राजनीतिक पार्टी ने उसे प्रवर्तित किया था जैसा कि कुछ आलोचक सोचते हैं बल्कि उसके लोकप्रिय और सर्वग्राह्य होने की वजह यह थी कि वह एक साथ साम्राज्यविरोध, युद्ध विरोध और शांति-मुक्ति-प्रगति की पक्षधरता का प्रतीक था। फ़ैज़ और उनकी सी मानसिकता वाले असंख्य साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों का इस धार में आ मिलना ऐसा ही स्वाभाविक था जैसे नदी में मछलियों का आ जाना। इसे 'प्रेम की डगर छोड़कर क्रांति का झंडा उठा लेने' जैसी उलटबांसियों से नहीं समझा जा सकता।

बहरहाल, दूसरा विश्वयुद्ध होकर रहा। लाल सेना ने दुर्दांत दस्यु फ़ासीवाद को धूल चटायी। पहले विश्वयुद्ध के कराल गर्भ से समाजवाद की एक कोंपल फूटी थी जो दूसरे विश्वयुद्ध तक एक अभयदाता अक्षयवट की शक्ल ले चुकी थी। दूसरे विश्वयुद्ध की विकराल कोख से एक सशक्त वल्लरी निकली जो लगातार मढ़े चढ़ती जा रही थी और अपना विस्तार कर रही थी। दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति पर समाजवादी शिविर अस्तित्व में आया। ग़ुलामी की कड़ियां तोड़कर पहले उत्तरी कोरिया तथा वियतनाम, बाद में भारत और चीन आज़ाद हुए। 1945 से जिस नये युग का सूत्रपात हुआ वह साम्राज्यवाद की लगातार पराजयों, समाजवाद की सतत सफलताओं और दुनिया के पैमाने पर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की निरंतर प्रगति का युग है। आज भी कुल मिलाकर घटना-विकास इसी दिशा में हो रहा है।

तो भी, दूसरे विश्वयुद्ध में साम्राज्यवाद मर नहीं गया। अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में उसने नयी रणनीति और नये पैंतरे विकसित किये और उन्हें आज़माना शुरू कर दिया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशों को प्राप्त स्वतंत्रता में एक ओर औपनिवेशक जनता के साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की शक्ति मूर्तिमंत है तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद की बदली हुई रणनीति जिसे आम तौर पर नव-उपनिवेशवाद के नाम से पुकारा जाता है भी परिलक्षित होती है। इन देशों में सत्ता का हस्तांतरण उन शक्तियों को करना जो स्वाभाविक रूप से साम्राज्यवाद की शत्रु नहीं हैं, इन देशों के आर्थिक विकास के लिए 'सहायता' के नाम पर उनकी सरकारों को तरह-तरह के बंधनों में बांधना और उन्हें अपने ऊपर निर्भर बनाना, बहुराष्ट्रीय निगमों और कंपनियों की पूंजी वहां लगाकर उनकी अर्थव्यवस्था में साम्राज्यवादी हितों का विस्तार करना, विचारधारात्मक प्रचार के ज़रिये इन देशों के प्रचार-तंत्र को प्रभावित करना, पतनशील साम्राज्यवादी संस्कृति का निर्यात, प्रलोभन, दबाव और धमकी द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति से उन्हें विचलित करना, फ़ौजी और जनविरोधी निज़ामों को पनाह देना और इन निरंकुश शासकों से रणनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान अपने सैनिक अड्डों के लिए झटक लेना, अविकसित देशों में फूटपरस्त

और अलहदगीपरस्त ताक़तों की सरपरस्ती और सी.आई.ए. जैसी ख़ुफ़िया एजेंसियों की उनमें घुसपैठ की मदद से वहां अस्थिरता पैदा कर देना, धार्मिक संकीर्णता, तत्ववाद तथा हर के प्रतिक्रियावाद की ताक़तों को शह देना नवउपनिवेशवाद की रणनीति के प्रमुख घटक हैं। ज़ाहिर है कि इस रणनीति के विरोध में भी एक रणनीति विकसित की गयी जिसमें साम्राज्यविरोध, गुटनिरपेक्षता का समर्थन, आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता, समाजवादी देशों से सहयोग और विघटनकारी-पृथकतावादी तथा धार्मिक तत्ववाद के विरोध पर विशिष्ट बल दिया गया। यही वह चौथी धारा थी जिसने फ़ैज़ के कवि-मानस को प्रभावित किया और उनकी रचनाओं से बल प्राप्त किया। यह, उपनिवेशवाद और उसके विरुद्ध लगातार व्यापक होता हुआ जनांदोलन भारतीय कवियों की तुलना में फ़ैज़ के बारे में कहीं ज़्यादा प्रासंगिक है।

भारत की तरह ही पाकिस्तान में भी सत्ता का हस्तांतरण वहां के पूंजीपति-भूस्वामी शासक वर्गों को किया गया। फ़ैज़ ने पाक आज़ादी के चरित्र को समझने में भूल नहीं की। 1947 पर उनकी कविता इसका प्रमाण है। कविता की अंतिम पंक्तियां उनकी समझ को स्पष्ट कर देती है :

अभी गिरानि-ए-शब में कमी नहीं आयी
नजाते-दीदा-ओ-दिल की घड़ी नहीं आयी
चले चलो कि मो मंज़िल अभी नहीं आयी।

ग़ौरतलब है कि फ़ैज़, हमारे उपमहाद्वीप के अनेक कवियों की तरह, राजनीतिक आज़ादी को अंतिम लक्ष्य मानने की भूल नहीं करते। वह समझते हैं कि अनगिनत क़ुर्बानियां देने के बाद इस उपमहाद्वीप की जनता ने जो आज़ादी हासिल की है वह आंखों और दिल पर लगी हुई तमाम पाबंदियों से, मानव को हर कोण से कसे हुए तमाम बंधनों और चुभने वाले अंकुशों से, हर तरह के शोषण और सामाजिक उत्पीड़न से, मुक्ति कराने वाली शक्ति नहीं है। यह मात्र एक पड़ाव है जहां दम लेकर देश की जनता को वास्तविक मुक्ति के संघर्ष की राह पर आगे बढ़ जाना है। उस युग के अधिकांश नहीं तो अनेक साहित्यकारों की समझ यह नहीं थी। वे इस आज़ादी को ही मुक्ति मान बैठे थे और संघर्ष की नयी मंज़िल की ओर रवाना होने से इंकार कर रहे थे। ऐसे ही लोगों की पस्तहिम्मती और अवसरवादिता के चलते प्रगतिशील लेखक संघ का विघटन हुआ। इस विघटन में बहुत से ऐसे प्रगतिशील लेखकों की समझ ने भी योग दिया जो राजनीतिक आज़ादी को अंतर्वस्तु को, और उसके द्वारा प्रदत्त संघर्ष के नये सुअवसरों की संभावना को पहचानने से पूरी तरह इनक़ार कर रहे थे। उनसे हटकर, फ़ैज़ इस आज़ादी को 'नजाते-दीदा-ओ-दिल की घड़ी' में तब्दील करने में जी-जान से जुटे रहे और उन्हें इसकी क़ीमत चुकानी पड़ी।

1951 में उन्हें रावलपिंडी षड्यंत्र केस में गिरफ़्तार करके जेल में ठूंस दिया गया। चार वर्षों तक वह सींखचों में क़ैद रहे और फांसी का फंदा लगातार उनके सर पर झूलता रहा। इतिहास की विडंबना देखिये कि नवउपनिवेशवादी ताक़तों की शह पर जिस सरकार ने फ़ैज़ पर सितम ढाये, उसी के प्रमुख लियाक़त अली ख़ां को नवउपनिवेशवाद की सुनियोजित हिंसा का, इस उपमहाद्वीप में, पहला शिकार बनना पड़ा। इसके बाद से पाकिस्तान पर नवउपनिवेशवाद का शिकंजा लगातार कसता ही गया। आज वह उस पर बुरी तरह हावी है। फ़ैज़ ने पाकिस्तान में अपनी आंखों से उन मूल्यों और आदर्शों को मासूम बच्चों की तरह क़त्ल होते हुए देखा जिन्हें इस उपमहाद्वीप के अवाम ने बेशुमार क़ुर्बानियां देकर हासिल किया था एकता, स्वतंत्रता, समानता, प्रेम, शांति, जनवाद और धर्मनिरपेक्षता। ये मूल्य और आदर्श उन्हें

जान से प्यारे थे। यह सोचकर तकलीफ़ होती है कि जो कवि मानव मात्र की अखंडता और मुक्ति का सपना अपनी आंखों में संजोये रहा उसे दो-दो बार अपनी मातृभूमि के टुकड़े होते हुए देखना पड़ा और एक बार नहीं बल्कि बार-बार उस जम्हूरियत को कटते-पिटते और लहू-लुहान होते देखने की पीड़ा भोगनी पड़ी जिस पर वह सौ जान निछावर करता था। धर्म के विधि-निषेध का ज़िंदगी भर मज़ाक उड़ाने वाले फ़ैज़ को ख़ुद अपने ही मुल्क में जमाते-इस्लामी की दरिंदगी झेलनी पड़ी और जिस जनवादी आंदोलन को मज़बूत बनाने में वह तमाम ज़िंदगी लगा रहा वह इतना आंतकित हो उठा कि उसकी रक्षा करने के लिए आगे नहीं आ सका। फ़ैज़ को बार-बार पाकिस्तान जिसमें उनकी रूह बसती थी छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा।

इन चार-चार शक्तिशाली धाराओं के आलोड़न और घात-प्रतिघात ने फ़ैज़ को एक असाधारण कवि बनाया। इन शक्तिमती धाराओं से प्रेरणा लेकर, इनकी शक्ति को अपने कवि-व्यक्ति में समो लेना फ़ैज़ की एक ऐसी विशेषता है जो उनके समकालीन अन्य कवियों में इतनी प्रचुरता से नहीं पायी जाती। हम देखते हैं कि फ़ैज़ की कविता अपनी समग्रता में एक ओर पाकिस्तान का 37 साला इतिहास प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर वह मानव मुक्ति की कविता है जो दुनिया भर के उन तमाम लोगों से मुख़ातिब होती है जो ज़ुल्म के ख़िलाफ लड़ रहे हैं। दूसरे शब्दों, फ़ैज़ की कविता एक साथ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों है। फ़ैज़ विश्व राजनीति से बहुत गहरे जुड़े हुए थे। उनकी कई कविताएं सीधे-सीधे अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर, एशियाई-अफ़्रीकी देशों में चल रहे मुक्ति आंदोलनों पर लिखी गयी हैं। लेकिन, फ़ैज़ की असाधारणता इस बात में नहीं है। फ़ैज़ की असाधारणता इस बात में है कि उन्होंने जो कविताएं पाकिस्तान की ठोस परिस्थितियों पर लिखी हैं, और जो पहली नज़र में उनकी नितांत आत्मगत अभिव्यक्तियां लगती हैं, दरअसल इतना व्यापक प्रभाव रखती हैं कि दुनिया के किसी भी कोने में पढ़ी, समझी और सराही जा सकती हैं। फ़ैज़ का यही जादू उन्हें हिंदी-उर्दू के उन कवियों से अलग करता है जो फ़ैज़ के युग में पैदा हुए और फ़ैज़ की ही तरह चार-चार शक्तिशाली धाराओं में संस्कारित होने के बाद भी असाधारण कवि नहीं बन पाये। फ़ैज़ की कविता को समझना उनके इसी जादू को समझना है।

फ़ैज़ ने उर्दू साहित्य की परंपरा को उसकी संपूर्णता में आत्मसात किया था। इस उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक परंपरा को भी उन्होंने बहुत ध्यान से देखा और परखा था। जब जनरल अय्यूब ने पाक संस्कृति पर रिपोर्ट लिखने का काम फ़ैज़ को सौंपा था तब कुछ तरक़्क़ीपसंदों को बहुत बुरा लगा था। लेकिन, जब फ़ैज़ ने रिपोर्ट पेश की तो अय्यूब ने उसे छापने से इनक़ार कर दिया। फ़ैज़ की मान्यता थी कि पाक संस्कृति की जड़ें भारतीय उपमहाद्वीप में हैं। इसका मतलब इस तथ्य को रेखांकित करना था कि भारतीय उपमहाद्वीप में हज़ारों साल से विभिन्न और परस्पर विरोधी धर्मों और नस्लों के लोग साथ-साथ रहते आये हैं। उनके खान-पान, रहन-सहन और पूजा-पाठ के तौर-तरीक़े अलग रहे हैं। लेकिन इसके बावजूद, भारत उन सबका देश है। इस उपमहाद्वीप की यही सांस्कृतिक परंपरा है जो पाकिस्तान को भी विरासत में मिली है। अगर पाकिस्तान को एक रखना है तो स्थायी एकता मज़हब की बुनियाद पर नहीं बल्कि उस देश में रहने वाली तमाम क़ौमियतों की निजी पहचान को समझकर, अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षित रखते हुए, उनकी भाषाओं और बोलियों को विकास के समान अवसर प्रदान करते हुए और आर्थिक प्रगति के लाभों का जनता के बीच न्यायसंगत वितरण करने की नीति पर चलकर ही क़ायम की जा सकती है। ज़ाहिर है कि फ़ैज़ की यह मान्यता न तो जनरल अय्यूब को रास आ सकती थी और

न जमाते-इस्लामी को, जो धर्मोन्माद की राह पर चलते हुए उस देश के और ज़्यादा टुकड़े करने के सामराजी मनोरथ सफल करने पर आमादा थी। लिहाज़ा, फ़ैज़ को अपनी रिपोर्ट ख़ुद प्रकाशित करानी पड़ी। भुट्टो के ज़माने में बयान की आज़ादी का इस्तेमाल करते हुए जब फ़ैज़ ने अपनी सांस्कृतिक अवधारणा का खुलासा करना शुरू किया तो उन्हें जमाते-इस्लामी के धर्मोन्मत्त आक्रमण का सामना करना पड़ा।

फ़ैज़ उर्दू साहित्य के गंभीर अध्येता थे। उन्होंने अपने साहित्य की परंपरा का भी अध्ययन और विश्लेषण किया और अपनी रचनाओं से उसे आगे बढ़ाया। हमें उनकी शायरी इसीलिए इतनी अपनी और अज़ीज़ लगती है क्योंकि वह उर्दू साहित्य की परंपरा से उच्छिन्न नहीं है, उसके विरोध में नहीं खड़ी है बल्कि उसकी धारा का अभिन्न अंग है, उसे आगे बढ़ाती है। उर्दू के अधिकांश आधुनिकतावादी, यहां तक कि कुछ प्रगतिशील, कवियों की कविता के बारे में यह बात इतने यक़ीन से नहीं कही जा सकती। इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने नये प्रयोग नहीं किये, कविता में नये और सामयिक विषयों का समावेश नहीं किया या उनका अपना अलग रंग नहीं है। फ़ैज़ के ज़्यादातर शेरों पर उनकी अपनी मोहर लगी हुई है। उर्दू की साहित्यिक परंपरा का अंग होते हुए भी हमें यह तय करने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगता कि यह शेर फ़ैज़ का है। हुआ यह है कि उर्दू साहित्य की परंपरा का अध्ययन करते हुए फ़ैज़ ने पाया कि इस सशक्त परंपरा में आज के ज़माने का चित्रण करने की पूरी-पूरी गुंजाइश है और उन्होंने इसका भरपूर फ़ायदा उठाया।

फ़ैज़ की शायरी के ज़्यादातर प्रतीक पारंपरिक हैं। उनके यहां ज़ाहिद और रिंद हैं, साग़रो-मीना हैं, गुलो-बुलबुल हैं, शमा और परवाना हैं, आशियां और क़फ़स हैं, मस्जिद और बुतख़ाना है, जुल्फ़ो-रुख़सार हैं, दोरा-रसन और मक़तल हैं, क़ातिल और बिस्मिल हैं, ख़िजां और बहार हैं, धूप और शबनम है, चांद और ख़ुर्शीद हैं गोया उर्दू परंपरा की सारी महफ़िल अपने पूरे ठाट-बाट और रख-रखाव के साथ उनके यहां मौजूद है और इसके बावजूद उनकी शायरी ख़ास उनकी अपनी, औरों से अलग और आधुनिक है। इसकी वजह यह है कि फ़ैज़ का सोच उनके अपने ज़माने का सोच है, अपने से पहले कवियों के मुक़ाबले शायरी का उनका मक़सद जुदा है, फ़ैज़ के दिल और दिमाग़ पर पड़ने वाले असरात जुदा हैं, उनकी समस्याएं अलग क़िस्म की हैं और उनका समाधान भी अलग है। फ़ैज़ जानते थे कि परंपरा से चले आये प्रतीकों में नये अर्थ भरना, उन्हें नये भावों और विचारों का संवाहक बनाना कोई खेल नहीं बल्कि एक जोखिम भरी चुनौती है। तो भी, उन्होंने आगे बढ़कर यह चुनौती क़बूल की। वजह यह है कि अगर आप अपनी परंपरा को सिर्फ़ पहचान लेते हैं, उसे अपने दौर से जोड़कर नहीं देख पाते, अपने युग की अपेक्षाओं के अनुसार उसका विकास नहीं कर पाते, तो परंपरा को लेकर इतनी सर-मग़ज़ी करना बेकार है। फ़ैज़ ने न सिर्फ़ यह मोर्चा दिलेरी से संभाला बल्कि उसे फ़तेह करके दिखाया।

मन में फ़ैज़ की प्रतीक योजना पर विस्तार से लिखने की बड़ी इच्छा थी, लेकिन यह लेख पहले ही इतना लंबा हो गया है कि इसकी गुंजाइश नहीं रह गयी है। तो भी, इतना तो कहना ही होगा कि उनके प्रतीकों को सिर्फ़ पारंपरिक अर्थों में लेने से फ़ैज़ की शायरी को समझना नामुमकिन है। उनका यार या महबूब क्रांति भी है; रहगुज़र या सफ़र क्रांति का पथ भी है; दारो-रसन फांसी के अलावा अत्याचार का भी प्रतीक है, जुनूं, इश्क़ और शराब क्रांति या उसका उन्माद है; चिराग़ उत्सर्ग का प्रतीक है; रिंद, रहरौ, सौदाई, बिस्मिल आदि प्रतीकों का इस्तेमाल क्रांति के पथिक के लिए हुआ है; नासेह या ज़ाहिद अपने

उन पारंपरिक अर्थों अलावा प्रतिक्रियावादी या शंकालु लोगों के भी प्रतीक हैं जो क्रांतिकारियों को क्रांति पथ पर चलने से रोकने की कोशिश करते हैं; बज़्म या महफ़िल वस्तुगत परिस्थितियों का प्रतीक है। फ़ैज़ की प्रतीक-योजना की यह समझ हासिल किये बिना उनकी शायरी की क्रांतिकारी अंतर्वस्तु हमारी नज़रों से ओझल हो जायेगी। फ़ैज़ के कुछ आलोचकों के साथ यह हादसा हो भी चुका है। दरअसल इस समझ के बिना पारंपरिक शायरों के कलाम से फ़ैज़ की शायरी को जुदा करना कठिन है। मिसाल के तौर पर हम जिगर और फ़ैज़ के ये दो शेर ले सकते हैं जो लगभग एक ही मनःस्थिति को व्यक्त करते हुए लगते हैं, हालांकि वास्तव में दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क है :

यूं तड़पकर दिल ने तड़पाया सरे-महफ़िल मुझे
उसको क़ातिल कहने वाले कह उठे क़ातिल मुझे

- जिगर

जिस धज से कोई मक़तल में गया वो शान सलामत रहती है
ये जान तो आनी-जानी है, इस जां की तो कोई बात नहीं

- फ़ैज़

मक़तल, क़ातिल और मक़तूल का वजूद दोनों ही शेरों में मौजूद है। जिगर की महफ़िल क़ातिल की महफ़िल है जहां आशिक़ क़त्ल होने के लिए जमा हुए है : लेकिन, क़त्ल के बाद आशिक़ का दिल इस तरह तड़पता है और उसे भी तड़पाता है कि न सिर्फ़ माशूक़ पर बल्कि महफ़िल में बैठे रक़ीबों पर भी आशिक़ की सच्ची मोहब्बत का राज़ अयां हो जाता है। इश्क़ की इस सदाक़त और क़ुर्बानी को देखकर क़ातिल के लिए नादिम और शर्मसार होने के अलावा चारा ही क्या रह जाता है? क़ातिल की इस नदामत और इक़रारेजुर्म को देखकर रक़ीबों पर यह असर होता है, गोया क़ातिल मक़तूल है और मक़तूल ही अस्ल क़ातिल है। इस तरह, जिगर इस शेर में जज़्ब-ए-इश्क़ की सदाक़त और उसकी शिद्दत के असर को नुमायां करते हैं। जिगर के ज़माने में गांधीजी का हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत सिर्फ़ एक फ़लसफ़ा नहीं रह गया था बल्कि उनकी आवाज़ पर हज़ारों लोग अत्याचारी ब्रिटिश हुकूमत के सामने सीना खोलकर खड़े हो जाते थे और इन शांतिप्रिय लोगों की क़ुरबानियों का असर सिर्फ़ भारतीय जनता पर नहीं बल्कि दीगर मुल्कों के अवाम पर भी पड़ रहा था। मुमकिन है कि जिगर के इस शेर में उस दौर का यह सामाजिक यथार्थ किसी-न-किसी हद तक झलक रहा हो, लेकिन शेर की मौजूदा बुनावट में इसकी गुंजाइश कम ही दिखायी देती है। कुल मिलाकर यह शेर तड़पने-तड़पाने और क़ातिल कौन है इसकी पहचान में ही उलझकर रह जाता है। दोनों मिसरों के अंत में 'मुझे' होने के कारण पाठक का ध्यान कवि की वैयक्तिक मनोदशा पर ही केंद्रित हो जाता है और शेर कोई व्यापक अर्थ व्यक्त करने में कामयाब नहीं हो पाता।

इसके विपरीत, फ़ैज़ के शेर में व्यक्तिगत भावना का सामान्यीकरण कर दिया गया है। मक़तल में जाने से ज़्यादा महत्व इस बात का है कि जानेवाला किस धज से जाता है। जान तो 'आनी-जानी' है, वह तो किसी की भी सलामत नहीं रहेगी। सलामत रहने वाली चीज़ तो वह अदा या धज ही है जिससे मक़तूल मक़तल में जाता है। यह धज ही वह चीज़ है जो आशिक़ को दीगर मक़तूलों से अलग करती है और लोगों को हमेशा याद भी रहती है। वैयक्तिकता का अभाव धीरे-धीरे हमें शेर के सामान्यीकृत, व्यापक और उदात्त अर्थ की दुनिया में ले जाता है। पाठक का मन 'मक़तल' और 'धज' के प्रतीकों के पारंपरिक अर्थ से हटकर दूसरे अर्थ तलाश करने लगता है। आहिस्ता-आहिस्ता उस पर यह राज़ खुलता

है कि यह मक़तल सिर्फ़ उर्दू ग़ज़ल का वह पारंपरिक मक़तल नहीं जो मीर से लेकर जिगर तक की रचनाओं में मौजूद है बल्कि यह तो क्रूर और निरंकुश तानाशाही का प्रतीक है जिसके हाथों न जाने कितने जम्हूरियतपसंद और तरक़्क़ीपसंद नौजवान क़त्ल हो रहे हैं। इन क़त्ल होनेवालों की धज अलग-अलग है। कोई क्रूर सत्ता के दमन को देखकर सिहर उठता है, कोई हंसते हुए और अपने अक़ीदे को नारे की शक्ल देते हुए क्रांतिकारी उत्साह के साथ फांसी के फंदे को चूम लेता है। ऐसे में 'जां की तो कोई बात' हो ही नहीं सकती चूंकि वह तो 'आनी-जानी' है, चूंकि मरना तो उन्हें भी होगा जो इस लड़ाई में शामिल नहीं हैं। लोग हर तरह के लोग मर जायेंगे, याद रह जायगी उनकी वह 'धज' जिसे लेकर वे मक़तल में गये। इस धज की 'शान' सलामत रहेगी क्योंकि ज़ुल्म का पंजा इसे मिटा नहीं सकता। यह शान सलामत रहेगी क्योंकि इससे प्रेरणा लेकर आशिक़ों यानी योद्धाओं के काफ़िले बढ़-चढ़कर क़ुरबानी देते रहेंगे और दस्ते-क़ातिल को पशेमान और परेशान करते रहेंगे; 'और निकलेंगे उश्शाक़ के क़ाफ़िले'।

ग़ौर करने की बात है अपने ज़माने के सामाजिक यथार्थ के एक बहुत महत्वपूर्ण पहलू को जिगर ने आभ्यंतरीकृत करके उसे किस तरह ग़ज़ल के पारंपरिक शेर के चौखटे में महदूद कर दिया है, जबकि फ़ैज़ ने यथार्थ के उसी पहलू से वाबस्ता अपने ज़ाती तास्सुरात को सामान्यीकृत करके प्रेषणीय बना दिया है, और इस कोशिश में वह अपने शेर में न सिर्फ़ अपने दौर की एक अहम सचाई की तस्वीर उतारने में कामयाब हुए है बल्कि ग़ज़ल की पारंपरिक धारणा को एक नवीन और विशद आयाम देने में भी सफल रहे हैं।

असल बात यह है कि मीर से उर्दू शायरी की जो नयी परंपरा शुरू हुई, ग़ालिब ने उसे उत्कर्ष पर पहुंचाया और उनके बाद पहले इक़बाल ने और आगे चलकर ज़ोश, फ़िराक़ और फ़ैज़ ने उसे अपने दौर की ज़रूरतों के हिसाब से विकसित किया। ग़ालिब के पचासों ऐसे अशआर हैं जो फ़ैज़ की शायरी पढ़ते हुए बेसाख़्ता याद आ जाते हैं और फिर भी फ़ैज़ के अशआर की अपनी ख़ास और आज़ाद हैसियत है। इस बारे में विस्तार से लिखकर इस लेख को लंबा बनाना ठीक नहीं, इसलिए मैं सिर्फ़ दो मिसालें लेकर अपनी बात स्पष्ट करूंगा।

ग़ालिब और फ़ैज़ के इन दो शेरों पर ग़ौर कीजिए :

क़फ़स में मुझसे रूदादे-चमन कहते न डर हमदम
गिरी है जिसपे कल बिजली वो मेरा आशियां क्यों हो।

- ग़ालिब

चमन पे ग़ारते-गुलचीं से जाने क्या गुज़री
क़फ़स से आज सबा बेक़रार गुज़री है।

- फ़ैज़

दोनों शेर मिलते-जुलते नज़र आते हैं। दोनों शायर क़फ़स में हैं। दोनों को अपने आशियानों की चिंता है जो मुसीबत की ज़द में हैं। ग़ालिब का 'हमदम' शायर को 'चमन की रूदाद' सुनाते हुए डर रहा है, फ़ैज़ को सबा की बेक़रारी से चमन की चिंता हो उठती है, एक चमन पर बिजली गिरी है तो दूसरे को उसके माली ने ही ग़ारत कर दिया है। लेकिन, ग़ालिब और फ़ैज़ के ज़माने का जो फ़र्क़ है वह इन दो शेरों में साफ़ झलक रहा है। एक विराट महल की तरह भरभराकर गिरते हुए सामंती युग में सांस लेते हुए ग़ालिब अपने दिल को यह झूठी तसल्ली दे लेते हैं कि चमन में हज़ारों आशियाने हैं, कोई ज़रूरी

तो नहीं कि जिस पर बिजली गिरी है वह मेरा ही आशियाना हो, या जब बिजली गिर ही गयी तो वह 'मेरा आशियां' कहां रह गया, उसे तो अब नये सिरे से बनाना पड़ेगा और यह 'हमदम' भी कैसा है जो 'रूदादे चमन' सुनाते हुए डरता है कहीं यह हज़रत ही तो 'मेरा आशियां' नहीं फूंक आये और अब सारा कुसूर बिजली का बता रहे हों। लेकिन, फ़ैज़ की चिंता 'मेरे आशियां' तक महदूद नहीं, उन्हें सारे चमन की फ़िक्र है जिसे ख़ुद उसका ही गुलचीं ग़ारत करने पर आमादा है। 'आशियां' की जगह 'चमन' और 'बिजली' की जगह 'गुलची' कर देने और 'मेरे' को ग़ायब कर देने से न सिर्फ़ फ़ैज़ के शेर पर उनकी निज विशिष्टता की मुहर लग जाती है, बल्कि दोनों के दौर का फ़र्क भी नुमायां हो जाता है। फ़ैज़ का 'चमन' फ़ौजी तानाशाही के शिकंजे में तड़फड़ाता पाकिस्तान हो जाता है, उनकी चिंता देशभक्त की चिंता हो जाती है, 'गुलचीं' पाकिस्तान की फ़ौजी हुकूमत हो जाती है जो उस देश में लोकतंत्र, स्वतंत्रता और प्रगति की ताक़तों को नेस्त-नाबूद करने पर उतारू थी, जिसने फ़ैज़ जैसे न जाने कितने वतनपरस्तों और जम्हूरियत पसंदों को जेल की आहनी दीवारों में क़ैद कर दिया था।

ग़ालिब का एक और बहुत मशहूर शेर है :

कावि‌कावे-सख़्तजानीहाए-तनहाई न पूछ
सुबह करना शाम को लाना है जूए-शीर का

वियोग की शाम को दिन में बदलने के लिए शायर अकेला जूझ रहा है। फ़रहाद भी शीरीं को हासिल करने की शर्त के तौर पर अपने पेशे से पहाड़ को काटकर दूध की नहर निकालने के लिए इसी तरह अकेला जूझा था। लेकिन फ़रहाद ने वह नहर एक बार निकाली थी, यहां शायर को हर रोज़ रात को सुबह करना होता है, फ़रहाद की यातना झेलनी होती है। गोया, फ़रहाद के जुनून से ग़ालिब की यातना बड़ी है।

अब इस शेर की तुलना फ़ैज़ के इतने ही मशहूर शेर से कीजिए :

दिल नाउम्मीद तो नहीं नाकाम ही तो है
लंबी है ग़म की शाम मगर शाम ही तो है।

समस्या यहां भी वही है ग़म की शाम को मसर्रत की सुबह में तबदील करने की। लेकिन, यहां नाकामी नाउम्मीदी नहीं बनने दी जाती और इसके नतीज़े में मिलता है यह अदम्य विश्वास कि शाम कितनी ही लंबी क्यों न हो, अंततः सुबह में बदलकर रहेगी। यह विश्वास ही वह डोर है जिसे पकड़कर हम इस सचाई तक पहुंच सकते हैं कि यह लंबी शाम जुदाई की नहीं बल्कि इस सड़े-गले और मानव द्वारा मानव के शोषण पर आधारित निज़ाम की शाम है जिसका अंत क्रांति की सुनहरी भोर में होना एक ऐतिहासिक सच्चाई है और जो व्यक्ति इस सच्चाई को जानता है, उसका दिल कभी-कभी नाकामी के एहसास से भर तो सकता है लेकिन नाउम्मीद नहीं हो सकता। इस शेर में तनहाई का ज़िक्र नहीं है क्योंकि तनहाई नाकामी को नाउम्मीदी में तब्दीली कर देती है और शाम को सुबह करना जू-ए-शीर को लाने जैसा मुश्किल हो जाता है। 'तनहाई' के ग़ायब हो जाने से फ़ैज़ का यह शेर एक क्रांतिकारी अवधारणा को काव्यात्मक ढंग से व्यक्त करने में समर्थ हो सका है और फ़ैज़ के ज़माने के सामाजिक यथार्थ का कलात्मक चित्र प्रस्तुत करने में सक्षम भी।

फ़ैज़ को अपने विचारों के कारण जमाते-इस्लामी के हमले झेलने पड़े तो अपने कथ्य की क्रांतिकारी

अंतर्वस्तु को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने रूप या फार्म में जो परिवर्तन किये उन्हें लेकर उर्दू के उन कठमुल्ला आलोचकों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा जो भाषा, कथ्य और शिल्प के अंत-संबंधों को नहीं समझ पाते और शिल्प या रूप को एक स्वतंत्र और निरपेक्ष इकाई मानकर चलते हैं। फ़ैज़ ने अपनी नज़्मों में ग़ज़ल के और ग़ज़लों में नज़्म के गुण पैदा किये। उनकी ज़्यादातर नज़्में समकालीन इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं, लेकिन उनकी शैली ऐसी है, गोया उन नज़्मों का ताल्लुक़ उनकी अपनी ज़िंदगी के हादसों से हो। जहां फ़ैज़ इन घटनाओं पर खुली टिप्पणी करना चाहते थे वहां उन्होंने नज़्म के बजाय नग़्मों, तरानों और क़व्वालियों का फ़ार्म अपनाया और कला मूल्यों की अपनी चिंता पर इस बात को प्राथमिकता दी कि जिनके लिए ये चीज़ें लिखी जा रही हैं वे इन्हें आसानी से समझ सकें और अपने संघर्षों में इन्हें हथियार की तरह इस्तेमाल कर सकें। फ़ैज़ ने ग़ज़ल की रूमानियत बनाये रखी लेकिन उसे अपने ज़ाती दुख-दर्द का नहीं बल्कि समकालीन यथार्थ का वाहक बनाया। उन्होंने ग़ज़ल के अशआर को कवि की भिन्न-भिन्न मनोदशाओं और व्यक्तिगत संदर्भों को व्यक्त करने वाले स्वतंत्र और विशृंखल पद मानने की परिपाटी त्याग दी। उनकी ज़्यादातर ग़ज़लें ऐसी हैं जिनमें एक ग़ज़ल में शायर का एक ही मूड है और वह मूड समकालीन यथार्थ के किसी एक पहलू से जुड़ा हुआ है। इस मामले में ग़ालिब से उन्हें ज़रूर मदद मिली होगी जिनकी अनेक ग़ज़लों में शायर पर एक ही मूड तारी रहता है। ग़ालिब की एकाध ग़ज़ल की विस्तृत व्याख्या द्वारा फ़ैज़ ने ग़ज़ल में मूड की निरंतरता साबित भी की। आज भी उर्दू और हिंदी की ग़ज़ल कुल मिलाकर ग़ालिब और ख़ासकर फ़ैज़ के ही नक़्शे-क़दम पर चल रही है और फ़ैज़ ने अपने सात कविता संग्रहों में उर्दू के शायरों की परंपरा पर चलते हुए अपने बारे में जो एकाध दर्पोक्तियां शामिल की हैं उनमें से इस दर्पोक्ति को सिद्ध कर रही है :

हमने जो तर्ज़े-फ़ुग़ां की थी क़फ़स में ईज़ाद
फ़ैज़ गुलशन में वही तर्ज़ेबयां ठहरी है।

फ़ैज़ 1936 के ज़माने से ही प्रगतिशील साहित्यांदोलन और प्रगतिशील लेखक संघ की गतिविधियों से अभिन्न रूप से जुड़े रहे। इस आंदोलन से जुड़े हुए अनेक चोटी के साहित्यकारों की तुलना में उनकी विशिष्टता यह है कि सर्वहारा की विचारधारा के घोषित पक्षधर होते हुए भी उन्होंने साहित्य के मोर्चे पर कभी संकीर्णतावादी रुख़ अख़्तियार नहीं किया। उन्होंने विचारधारा और साहित्य के अंतःसंबधों को सही ढंग से समझा और एंगेल्स की यह सलाह लगातार अपने मन में रखी कि वर्ग समाज में साहित्य किसी-न-किसी वर्ग की विचारधारा का प्रतिपादन तो अवश्य करेगा लेकिन साहित्य में विचारधारा जितनी प्रछन्न होगी, कलाकृति के रूप में वह रचना उतनी ही अधिक प्रभावशाली और सार्थक होगी। यही कारण है कि फ़ैज़ की शायरी शुरू से आख़िर तक विचारधारा से ओतप्रोत है लेकिन उनका बड़े से बड़ा विरोधी भी उनकी रचनाओं को यह कहकर ख़ारिज नहीं कर सका है कि उनकी रचनाएं कलात्मक नहीं हैं, प्रचारात्मक हैं। उनकी रचनाओं में जोश, साहिर, अली सरदार जाफ़री जैसे तरक़्क़ीपसंद शायरों की घनगरज नहीं है, बड़बोलापन नहीं है, मसीहाई अंदाज़ नहीं है, पाठकों को पिछड़ा हुआ समझकर उन्हें ऐतिहासिक भौतिकवाद या सर्वहारा की भूमिका के बारे में शिक्षित करने का दंभ नहीं है, बल्कि अपनी कविता और अपने पाठकों की समझ के प्रति एक अदम्य और अखंड विश्वास है :

जान जायेंगे जाननेवाले
फ़ैज़ फ़रहादो-जम की बात करो।

आज के दौर में अगर हमारे तरक़्क़ीपसंद शायर फ़ैज़ से पाठकों के फ्रैंड-फिलासफ़र-गाइड बनने की यह कला सीखने की कोशिश नहीं करते तो फ़ैज़ का नाम लेना, एक रस्म-अदाई बनकर ही रह जायेगा।

फ़ैज़ ने सिद्धांतों के सवाल पर कभी समझौता नहीं किया। जनवाद के उस मक़तल में उनका सर हमेशा तना रहा। अपनी पूरी ज़िंदगी में उन्होंने अपनी यह कठिन प्रतिज्ञा सफलतापूर्वक निभायी जो उन्होंने अपने कवि-कर्म के प्रस्थान-बिंदु पर की थी :

हम परवरिशे-लौहो-क़लम करते रहेंगे
जो दिल पे गुज़रती है रक़म करते रहेंगे।

उन्होंने ज़िंदगी भर मज़दूरों-किसानों और अन्य मेहनतकश तबकों के लिए एक व्यक्ति और एक कवि के रूप में काम किया, उनके संघर्षों में भाग लिया, उन्हें आगे बढ़ाने में अपनी भूमिका निभायी। जब 1942 में साम्राज्यवादी युद्ध ने लोकतंत्र के लिए युद्ध का रूप लिया तो फ़ैज़, अपने फ़ासीविरोधी विश्वास को मूर्त रूप देने के लिए, फ़ौज में भरती हो गये। उन्होंने आज़ाद पाकिस्तान में हर तरह के जुल्म सहे लेकिन अपने सिद्धांत नहीं त्यागे। वह सर्वहारा क्रांति के प्रति पूरी तरह समर्पित क्रांतिकारी कवि थे और सर्वहारा की विचारधारा के मूर्तिमंत प्रतीक थे, और फिर भी विनय, मैत्री और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति, दंभातीत और सहज मानव प्रेम से ओतप्रोत। अगरचे 'फ़ैज़-अज़-फ़ैज़' शीर्षक वार्ता में कवि ने इस बारे में ख़ुद पाठकों का ध्यान इस बाबत खींचा है, तो भी इस सचाई की ओर बहुत कम आलोचकों का ध्यान गया है कि फ़ैज़ की पूरी शायरी में मैं का प्रयोग शायद ही कहीं हुआ हो, हर जगह हम है। मेरा, मुझे, मुझसे जैसे शब्द मिल जायेंगे, लेकिन 'मैं' नहीं मिलेगा। शायद इसकी वजह यह हो कि 'मैं' और 'हम' का वज़न बराबर है, लेकिन वज़न बराबर होते हुए भी 'मैं' को निकालकर 'हम' को अपना लेना, सर्वहारा की विचारधारा से प्रतिबद्ध कवियों के लिए भी आसान नहीं है; समकालीन उर्दू-हिंदी कविता इसकी गवाह है। आज हमारे लिए फ़ैज़ की सबसे बड़ी सार्थकता यही है कि हम उनसे सीखकर, अपने विश्वासों को बनाये रखकर, अपनी रचनाओं को उनकी तरह एक साथ कलात्मक, क्रांतिकारी और लोकप्रिय बनायें।

लय में सामूहिकता का एहसास

राजेश जोशी

(1)

फ़ैज़ की कविता में तनहाई और इंतज़ार, ये दो शब्द बार-बार आते हैं। जब नहीं आते हैं तब भी लगता है जैसे उनका अनुरणन उनकी कविता में सुनायी दे रहा है। यूं ये ऐसे शब्द हैं जो उर्दू कविता में पहले भी हज़ारों बार प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन फ़ैज़ की कविता में आते ही ये इतने अलग से क्यों लगते हैं? ग़ालिब की तनहाई और फ़ैज़ की तनहाई क्या एक ही है... एक ही पद का अर्थ जीवनानुभव के अंतर के साथ कैसे बदल जाता है, फ़ैज़ को पढ़ते हुए इसे महसूस किया जा सकता है। उनके पहले संग्रह का नाम *नक़्शे-फ़रियादी* है जो *दीवान-ए-ग़ालिब* की पहली ग़ज़ल के पहले शेर का पहला शब्द है। लेकिन ग़ालिब और फ़ैज़ का समय अलग है और सामाजिक राजनीतिक स्थितियां भी अलग हैं, इसलिए ग़ालिब का *नक़्शे-फ़रियादी* और फ़ैज़ का *नक़्शे-फ़रियादी* ही अलग नहीं है, पैक़रे तस्वीर के काग़ज़ी पैरहन के अभिप्राय भी बदल गये हैं। इसी तरह तनहाई और इंतज़ार जिस तरह और जिन अभिप्रायों के साथ फ़ैज़ की कविता में प्रयुक्त होते हैं, वे उर्दू की सामान्य रूमानी शायरी से न केवल फ़ैज़ की कविता को अलग करते हैं बल्कि वे उर्दू की रूमानी और पारंपरिक कविता में बार-बार इस्तेमाल होने वाले शब्दों, प्रतीकों और लगभग रूढ़ हो गये बिंबों का अर्थ एकबारगी बदल देते हैं। संभवतः पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फ़ैज़ सबसे अधिक समय और सबसे अधिक बार राजनीतिक रूप से बंदी बनाये गये और जेल में रखे गये। जेल की यातनाओं ने उन्हें इस उपमहाद्वीप प्रतिरोध का मिथक बना दिया है। उनकी कविता में प्रेम और प्रतिरोध एक दूसरे से एकमेक हो गये हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में किसी भी अन्य भाषा के कवि को वह हैसियत बीसवीं सदी में प्राप्त नहीं हुई जो फ़ैज़ को मिली है। उनकी कविता का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिस पर जेल के सींखचों की छायाओं को कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से देखा और महसूस किया जा सकता है। उसमें एक क़ैदी के सपने, उम्मीदें, इच्छाएं, ग़ुस्सा और संकल्प हैं। उनकी कविता में क़फ़स, क़ैद, सलाखें, ज़ंजीरें, दार, रसन, मक़तल... जेल से जुड़े और भी कई पदों की पुनरावृत्ति होती है। और यह आवर्तन पुनरावर्तन उनकी कविताओं के प्रभामंडल को और अधिक विस्तृत करता जाता है। ये पद प्रतिबंध का रूपक नहीं, विकट जीवनानुभव, एक महादेश की औपनिवेशिक दासताओं की तारीख़ और एक आज़ाद हुए देश में फ़ौजी तानाशाही की सच्चाइयों का विराट बिंब, बल्कि शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि एक महाकाव्यात्मक दृश्य विधान खड़ा कर देते हैं। इन कड़वी सच्चाइयों

की टीस को उसमें सुना जा सकता है। अतीकुल्लाह ने अपने लेख 'फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : एक ज़िंदा आवाज़' में लिखा है कि 'क़ैदो बंद और दरबदरी और मुल्कबदरी से उन्हें गूंनगूं तजुर्बात हासिल हुए! उन तर्ज़ुबात ने फ़ैज़ के नज़रियात को ताक़त बख्शी! उनके फ़न को भी जिला (रौशनी) मिली।' (*वसुधा* : 86) एक हद तक यह सही है कि फ़ौजी तानाशाहों द्वारा बार-बार फ़ैज़ की गिरफ़्तारी और निर्वासन ने उनके इरादों को ताक़त दी और रौशनी भी लेकिन जो दृष्टिकोण फ़ैज़ को मिला वह मात्र जेलों और निर्वासन की देन नहीं था। इब्बार रब्बी से एक छोटी सी बातचीत में रब्बी ने पूछा था कि 'मुझ से पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' ... इस नज़्म के पीछे क्या प्रेरणा थी? क्या कोई घटना या स्मृति विशेष इसके पीछे है? इस प्रश्न के उत्तर में फ़ैज़ ने कहा :

> कोई घटना नहीं, इस नज़्म के पीछे का हादसा सिर्फ़ कार्ल मार्क्स का कम्युनिस्ट मैनिफ़स्टो पढ़ना था। सिर्फ़ मैनिफेस्टो पढ़ने से लगा कि हम कहां पड़े हैं। तब वह नज़्म लिखी थी। यह रचना कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो का प्रत्यक्ष परिणाम है। व्यक्तिगत घटनाएं होती रहती हैं। इससे पहले भी होती थीं, पर समझ तभी आयीं।
> (*उत्तरगाथा*, 18. 1984)

जीवनानुभव और मार्क्सवाद जैसे जीवनदर्शन के मिलन ने उनके विज़न को तो व्यापक बनाया ही, साथ ही उन्हें जनविरोधी शक्तियों को समझने की ताक़त दी और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में चल रहे मुक्ति आंदालनों से कभी सीधे तौर पर और कभी भावनात्मक स्तर पर जोड़ दिया।

(2)

स्वतंत्रता के ज़्यादा सार्थक अर्थ को वही समझ सकता है जिसकी आज़ादी छीन ली गयी हो। जेल में रहते हुए फ़ैज़ ने एशिया में चल रहे स्वाधीनता संग्राम पर कविताएं लिखीं। अफ़्रीका और फ़िलिस्तीन पर कविताएं लिखीं। पहली गिरफ़्तारी से बहुत पहले ही फ़ैज़ ने वह दृष्टि, वह नज़रिया हासिल कर लिया था जिसके लिये फ़ैज़ जाने गये। उनकी शायरी इस बात का भी साक्ष्य है कि सामाजिक राजनीतिक स्तर पर एक्टिविज़्म एक कवि की रचना को किस तरह की ताक़त और रौशनी देता है। *दस्ते-तहे-संग* की भूमिका, 'फ़ैज़-अज़-फ़ैज़' में उन्होंने लिखा था :

> सन् 1935 में मैंने एम.ए.ओ. कॉलेज अमृतसर में मुलाज़मत कर ली। यहां से मेरी और मेरे बहुत से हम-अस्र लिखनेवालों की ज़हनी और जज़्बाती ज़िंदगी का नया दौर शुरू होता है। इस दौरान कॉलेज में अपने रूफ़क़ा साहबज़ादा महमूदुज़्ज़फ़र मरहूम और उनकी बेगम रशीद ज़हां से मुलाक़ात हुई। फिर तरक़्क़ीपसंद तहरीक की दाग़बेल पड़ी, मज़दूर तहरीकों का सिलसिला शुरू हुआ और यूं लगा कि जैसे गुलशन में एक नहीं कई दबिस्तां खुल गये हैं।

फ़ैज़ ने इन्हीं पाठशालाओं में अपने शुरुआती सबक पढ़े थे। *ज़िंदांनामा* की भूमिका, फ़ैज़ के साथ लगभग चार बरस जेल में रहे उनके दोस्त मेज़र मुहम्मद इसहाक़ ने लिखी थी। उन्होंने जेल में फ़ैज़ के मूड के कई रंग देखे थे और उनका विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि

> मेरे ज़ेहन में फ़ैज़ साहब की शायरी के चार रंग हैं (या मूड कह लीजिए) : पहला रंग सरगोधा और लायलपुर की जेलों में उनकी तीन माह की क़ैदे-तनहाई का है। वे बहुत मुश्किल दिन थे। काग़ज़- कलम, दवात, किताबें अख़बार, खुतूत, सबकी मनाही थी। उन्होंने इस तरफ़ इशारा भी किया है :

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में जबां मैंने

इस क़ैदे तनहाई का उन पर इतना असर हुआ कि हैदराबाद पहुंचने पर वे अकेला रहने से बहुत वहशत खाते। इस दौर की अधिकांश कविताएं *ज़िंदांनामा* में हैं और जो कुछ बच गयीं वे *दस्ते-सबा* में शामिल की गयी हैं। उनकी शायरी का दूसरा रंग हैदराबाद का है। यहां हमें हर तरह का जिस्मानी आराम, जो जेल में मुमकिन है, मयस्सर था। 'गोशे में क़फ़स के मुझे आराम बहुत है' की सी हालत थी कि ज़ाहिरा आराम चैन के पर्दे में हज़ारों हसरतों का ख़ून और लाखों तमन्नाओं का कब्रिस्तान था। हमारे ख़िलाफ़ कई ताज़ीरी दफ़ाएं ऐसी लगी थीं कि जिनकी सज़ा मौत थी। इसके अलावा, सफ़ाई पेश करने की सहूलियतें बहुत हद तक हमें मयस्सर नहीं थीं...।

तीसरा रंग कराची का है जहां फ़ैज़ साहब दो माह के लिए मुक़ीम रहे। मुहम्मद इसहाक़ ने लिखा है कि कराची अस्पताल में जेल की अपेक्षा ज़्यादा आज़ादी थी इसलिए फ़ैज़ को वहां आज़ादी की नेमतों का तीखा एहसास हुआ। इस तीखे एहसास के बाद जब वे मंटगोमरी आये तो क़ैद का एहसास भी तीखा हो गया और उनकी शायरी में ज़ाहिर हुआ। इस एहसास के कारण ही उन्होंने अपने संग्रह का नाम *ज़िंदांनामा* रखा था।

चौथा रंग मंटगोमरी की जेल का है।

हम अह्ले क़फ़स तनहा भी नहीं, हर रोज़ नसीमे-सुबहे-वतन
यादों से मुअत्तर आती है, अश्कों से मुनव्वर जाती है।

(3)

मुझे लगता है कि जेल के प्रत्यक्ष अनुभव के कारण ही फ़ैज़ की कविता में जेल की यातनाओं से जुड़े बिंब नहीं आये हैं। 1941 में प्रकाशित हो चुके *नक़्शे-फ़रियादी* में भी इस तरह के बिंब मौजूद हैं। यह एहसास कहीं न कहीं औपनिवेशिक दासता के एहसास से जुड़ा है। *नक़्शे-फ़रियादी* एक ऐसा संग्रह है जिसमें फ़ैज़ की कविता में तेज़ी से आ रहे परिवर्तनों को पढ़ा जा सकता है। यहां 'तनहाई' जैसी नज़्म है जहां गहरी उदासी है, निराशा है, हालांकि इसके बारे में फ़िराक़ गोरखपुरी ने लिखा है कि यह 'एक जीवंत आधुनिक क्लासिक है।' उनका मानना है कि यह कविता नहीं बल्कि 'जन्नत और दोज़ख का एकीकृत राग है'। यह चौथे दशक की कविता है। फ़ैज़ की कविता के अनुवादक और समालोचक केरनिन ने लिखा है कि यह उन नाकामियों का नौहा (मातम) है जिनसे उपमहाद्वीप का स्वतंत्रता संग्राम ग्रस्त था (फ़ैज़ का सौंदर्यबोध और अर्थ विन्यास, गोपीचंद नारंग से उद्धृत)। भारतीय समाज में बीसवीं सदी का चौथा दशक भयानक मंदी और गहरी निराशा का दशक रहा है। इसी अवधि में *गोदान* और *कामायनी* लिखी गयी थी। गहरी निराशा के बुनियादी कारण गांधी-इरविन समझौते में मौजूद थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस अवधि का ज़िक्र गहरी निराशा के साथ किया था और अंत में एलियट की पंक्तियां उद्धृत की थीं : 'इस तरह होता है दुनिया का अंत/धमाके से नहीं रिरियाहट के साथ'। केरनिन का कथन इसीलिए विचारणीय लगता है। ऊपरी तौर पर पूरी कविता निराशा में डूबी एक प्रेम कविता

लगती है लेकिन अगर चौथे दशक की निराशाओं के संदर्भ में इसे पढ़ा जाये तो यह गहरी राजनीतिक कविता लगती है। 'अजनबी ख़ाक ने धुंधला दिये क़दमों के सुराग़...' इस पद को जवाहरलाल नेहरू के गांधी-इरविन समझौते के दूसरे दिन 5 मार्च 1931 को आत्मकथा में गहरी निराशा के साथ लिखे वाक्यों के संदर्भ में देखें तो इसके कई दूसरे अर्थ सामने आते हैं :

> अब हमारी स्वाधीनता का, अर्थात हमारे उद्देश्य का महत्वपूर्ण प्रश्न बाक़ी रहा और समझौते की धारा दो से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी ख़तरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखायी? क्या हमारी बड़ी-बड़ी ज़ोरदार बातों और कामों का ख़ात्मा इसी तरह होना था? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता प्रस्ताव और 26 जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गयी थी?

जिस शून्यता के एहसास की बात नेहरू करते हैं फ़ैज़ की अंतिम दो पंक्तियां भी इसी एहसास के क़रीब लगती हैं :

अपने बेख़्वाब किवाड़ों को मुकफ़्फ़ल कर लो
अब यहां कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा

इस नज़्म के बाद ही 'चंद रोज़ और मेरी जान' जैसी नज़्म है। जेल से जुड़े पद यहां भी हैं। यह जेल जाने से पहले के दौर की नज़्म है। इस बात का अध्ययन किया जा सकता है कि *नक़्शे-फ़रियादी* में आये जेल के बिंब और *ज़िंदांनामा* या बाद के संग्रहों में आये जेल के बिंबों में क्या फ़र्क़ है। जेल जाने के बाद की नज़्मों में जेल का एहसास ज़्यादा तीखा हुआ है और उसी के अनुपात में आज़ादी की नेमतों का एहसास भी ज़्यादा तीखा होता गया है। *नक़्शे-फ़रियादी* में यह शब्दावली कुछ हद तक प्रतीकात्मक ज़्यादा है :

जिस्म पर क़ैद है, जज़्बात पर ज़ंजीरें हैं
फ़िक्र महबूस है, गुफ़्तार पे ताज़ीरें हैं

(4)

फ़ैज़ को पढ़ते हुए अक्सर यह महसूस होता है कि उनका स्वभाव ग़ज़ल के बनिस्बत नज़्म के ज़्यादा क़रीब है। शायद यह इसलिए भी हो कि उनकी ग़ज़ल में कैफ़ियत की एक यूनिटी मुसल्सल क़ायम रहती है। फ़ैज़ ख़ुद भी इस बात में यक़ीन करते हैं कि जिस ग़ज़ल में भावभूमि की यूनिटी नहीं होती वह महज़ क़ाफ़ियाबंदी है और अच्छा और संजीदा ग़ज़लिया कलाम ऐसा नहीं होता। ग़ालिब की ग़ज़ल पर अपने भाषण में उन्होंने कहा है कि अच्छी ग़ज़ल में 'विषयवस्तु या भावनाओं की इकाई नहीं होती बल्कि उस चीज़ की इकाई होती है जिसको आप मूड कह लें या एक कैफ़ियत (भावधारा) कह लें।' फ़ैज़ की ग़ज़ल में मूड की यह यूनिटी बनी रहती है, शायद इसीलिए वह नज़्म के कुछ क़रीब महसूस होती है। रशीद अहमद सिद्दीक़ी मानते हैं कि फ़ैज़ की नज़्में ऐसी हैं जो उर्दू की सर्वोत्तम नज़्मों के हम-पहलू रखी जा सकती हैं। यही कारण है कि जब वह ग़ज़ल की ओर प्रवृत्त होते हैं तो उनकी नज़्म की विशेषताएं और अधिक निखर और संवरकर उनकी ग़ज़लों में ढल जाती हैं (फ़ैज़ : शमशेरबहादुर सिंह, मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी)। एक कारण और यह भी हो सकता है कि ग़ज़ल में हम जिस तरह की मुलायमियत की उम्मीद करते हैं वह फ़ैज़ के यहां नहीं मिलती। सज्जाद ज़हीर ने अपने एक संस्मरण में जेल के एक दिलचस्प

वाक़ये का हवाला दिया है। उसमें फ़ैज़ ने कहा कि 'भई, तुम लखनऊ वालों को ख़ुश करना मेरे लिए मुश्किल है। आख़िर मैं सियालकोट का पंजाबी हूं...।' अपने कई समकालीनों की तरह फ़ैज़ में किसी क़िस्म का बोहेमियानिज़्म नहीं है। न उनके व्यक्तित्व में, न उनकी शायरी में। वे मजाज़ से एकदम दूसरे छोर पर खड़े नज़र आते हैं। शायद इसीलिए उनका रोमेंटिसिज़्म भी, रोमेंटिसिज़्म की परिचित सीमाओं से मेल नहीं खाता। उनकी सलीक़ामंदी और गहरी उदासी उनके आशावाद को किसी हवाई आशावाद में नहीं बदलने देती। आवारगी और क्रांतिकारी अतिवाद के लिए उसमें जगह नहीं। निदा फ़ाज़ली ने अपने लेख, 'जितने सुख़न तुम्हारे थे' में बताया है कि फ़ैज़ ने अपने बचपन के बारे में एक जगह लिखा है, 'हमारे घर में औरतों की भीड़ थी। हमारे भाई खेलकूद में व्यस्त थे। हम अकेले इन औरतों के साथ रहे, इसका कुछ नुक़सान भी हुआ और कुछ फ़ायदा भी। फ़ायदा तो यह हुआ कि इस संगत ने हमको इंतहाई शरीफ़ाना ज़िंदगी बसर करने पर मजबूर किया जिसकी वजह से कोई ग़ैरतहज़ीबी या बाज़ारू क़िस्म की बात उस ज़माने में हमारे मुंह से नहीं निकलती थी। अब भी नहीं निकलती।' इसी में आगे निदा ने लिखा कि फ़ैज़ की बचपन की बात पढ़कर मुझे ग़ज़ल विधा की कई परिभाषाओं में से एक परिभाषा याद आने लगी, ग़ज़ल को स्त्री से बातचीत के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस परिभाषा में ग़ज़ल की डिक्शन की सलीक़ामंदी की तरफ़ छुपा हुआ इशारा भी है। ग़ज़ल की भाषा बेनक़ाब नहीं, पर्दादार होती है। यही सलीक़ामंदी या तहज़ीब फ़ैज़ की शायरी की ख़ूबसूरती है।

(5)

फ़ैज़ की कविता में कठिन या कहें कि फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों की बहुतायत है। कई बार उनकी कविता अपनी बनक में बहुत जटिल होती है। लेकिन कठिन ज़बान और कठिन शिल्प के बावजूद आम पाठक उसके प्रति आकर्षित होता है। वे इस महाद्वीप में ही नहीं, दुनिया के कई मुल्कों में बहुत ज़्यादा पढ़े जाने वाले एक लोकप्रिय कवि हैं। ... ऐसा क्यों है? मुझे लगता है, इसका रहस्य उनकी कविता के अर्थ से ज़्यादा उसकी लय में है। उन्होंने 'मैं' शब्द का इस्तेमाल तक़रीबन नहीं किया। वह 'हम' की कविता है। उनकी लय में सामूहिकता का एहसास होता है। इसलिए वह शब्द और अर्थ का अतिक्रमण करके पाठक से अपना रिश्ता जोड़ लेती है। इस लय में उनका अपना समय धड़कता हुआ सुनायी देता है और यही लय अपने समय का अतिक्रमण करके उनकी कविता को कालजयी बना देती है।

फ़ोन : 0755-2770046

ख़्वाब का शायर

मंगलेश डबराल

सन् 1972 में फ़ैज़ को नयी दिल्ली में एफ़्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन में पहली बार देखा था, लेकिन ठीक से नहीं देखा था क्योंकि तब हम लोग इस सम्मेलन का विरोध और बहिष्कार कर रहे थे। एफ़्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन का रिश्ता भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और उसके प्रगतिशील लेखक संघ से था और हमारी निगाह में ये तीनों संशोधनवादी संगठन थे। इस सम्मेलन में शमशेर बहादुर सिंह भी मौजूद थे और कुछ समय बाद उन्होंने हम कुछ दोस्तों से कहा था, 'मुझे आप लोगों का क़दम बहुत अच्छा लगा था लेकिन उसके बाद मैं इंतज़ार करता रहा कि किसी पत्रिका में आपमें से कोई कवि लिखकर बतायेगा कि वास्तविक एफ़्रो-एशियाई लेखन क्या है। लेकिन इतने दिन बाद भी मुझे ऐसा कोई लेख दिखाई नहीं दिया।' इस सम्मेलन के बारे में इतना याद है कि फ़ैज़ अपने बहुत सकुचाते हुए और 'लो-प्रोफाइल' अंदाज़ के बावजूद सबसे अहम भूमिका में थे। उनके व्यक्तित्व में कोई शायराना तत्व नज़र नहीं आता था। वे बैरूत में रहते थे और एफ़्रो-एशियाई लेखकों की नायाब पत्रिका 'लोटस' का संपादन करते थे जिसमें छपना हिंदी-उर्दू के प्रगतिशील लेखकों का प्रिय सपना हुआ करता था।

फ़ैज़ को दूसरी और आख़िरी बार इलाहाबाद में देखा और शायरी पढ़ते हुए सुना। इलाहाबाद में कई वर्षों बाद फ़ैज़ और फ़िराक़ गोरखपुरी की ऐतिहासिक मुलाक़ात देखने को मिली। मुलाक़ात के दौरान फ़िराक़ अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को घुमाते हुए खूब चहक रहे थे, लेकिन फ़ैज़ को देखकर लगता था कि वे ख़ासे अंतर्मुखी हैं और अपने बारे में ज़्यादा कुछ नहीं बोल रहे हैं। कुछ तरक़्क़ीपसंद लेखकों की पहल पर उनके कुछ कविता पाठ भी हुए। एक जगह फ़ैज़ ने अपनी एक मशहूर ग़ज़ल सुनायी थी : 'हम परवरिशे-लौहो-क़लम करते रहेंगे/जो दिल पे गुज़रती है रक़म करते रहेंगे।' फ़ैज़ के पढ़ने का तरीक़ा क़तई आकर्षक नहीं था, वे जैसे किसी रस्म-अदायगी की तरह और ख़ासे निरासक्त तरीक़े से शायरी पढ़ते थे। लेकिन यह शेर इतना पुरअसर था कि वह मुझे तुरंत याद हो गया और अब भी मैं उसे अक्सर अपने अंदर दोहरा लेता हूं। फ़ैज़ के पढ़ने में यह भावहीनता शायद इसलिए थी कि उनकी शायरी इतनी सहज-सरल और अर्थगर्भित थी कि अपने आप श्रोता तक पहुंच जाती थी, उसे ले जाने के लिए आवाज़ का अभिनय ज़रूरी नहीं था।

हमारी पीढ़ी जिस तहज़ीबी साज़ो-सामां के साथ बड़ी हुई उसमें बहुत-सी दूसरी चीज़ों के अलावा फ़ैज़ की शायरी भी थी। तब तक फ़ैज़ भारतीय उपमहाद्वीप ही नहीं, बल्कि पूरे एशिया के शायर, उसकी काव्यात्मक आवाज़ बन चुके थे। फ़ैज़ के साथ-साथ फ़िलिस्तीनी कवि महमूद दरवीश की शायरी भी

एशिया में एक परिवर्तनकारी प्रतिध्वनि के रूप में सुनायी दे रही थी। लेकिन दरवीश अपेक्षाकृत नये थे जबकि फ़ैज़ तब तक कुछ कम्युनिस्ट होने के नाते और कुछ पाकिस्तान के फ़ौजी तानाशाहों की मेहरबानी से बहुत कुछ भुगत चुके थे। शायरी और ज़िंदगी दोनों स्तरों पर वे तुर्की के महाकवि नाज़िम हिकमत के समकालीन थे उन्हीं की तरह क़ैद, दरबदर, पलायन और जिलावतनी भुगते हुए और उन्हीं की तरह आगे आने वाले वक़्त और लोगों की तरफ़ उम्मीद से भरपूर। एक और भी बात थी : नाज़िम और फ़ैज़ दोनों की शायरी में उदासी का एक तार, एक धीमा-सा संगीत बजता हुआ सुनायी देता था एकरस और मुसलसल। वह शायरी की पृष्ठभूमि में रहता था और उसके आशावान कथ्य को दबाता या उस पर हावी नहीं होता था, बल्कि उसे एक और आयाम दे देता था।

दिल्ली में कथाकार असग़र वजाहत से पहली बार फ़ैज़ की शायरी सुनने को मिली। उन्हें फ़ैज़ की लगभग सारी कविता याद थी और फ़ैज़ की नज़्में, खासकर 'रक़ीब से' और 'तेरे होठों की चाहत में' उन्हें बहुत प्रिय थीं, जिन्हें वे चलते-चलते भी अनायास बुदबुदाने लगते जैसे ख़ुद को सुना रहे हों : 'तेरे होठों के फूलों की चाहत में हम/दार की ख़ुश्क टहनी पे वारे गये/तेरे हाथों की शम्मों की हसरत में हम/नीम तारीक राहों में मारे गये/सूलियों पर हमारे लबों से परे/ तेरे होठों की लाली लपकती रही /तेरी ज़ुल्फ़ों की मस्ती बरसती रही/तेरे हाथों की चांदी दमकती रही/जब खुली तेरी राहों में शामे-सितम/हम चले आये, लाये जहां तक क़दम/लब पे हर्फ़े-ग़ज़ल/दिल में कंदीले-ग़म/अपना ग़म था गवाही तेरे हुस्न की/देख क़ायम रहे उस गवाही पे हम/हम जो तारीक राहों में मारे गये।'

इस नज़्म में कोई जादुई चीज़ थी वह सीधे दिल जैसी जगह पर असर करती थी लेकिन वह वही नहीं रह जाती थी, बल्कि दिमाग़ में चली जाती थी। शायद इसलिए कि यह किसी एक चीज़ नहीं, बल्कि एक साथ बहुत सी चीज़ों को, ज़िंदगी के कई आयामों को संबोधित थी। वह प्रेम कविता लगती थी लेकिन उसी समय अपने वतन के लिए भी लिखी हुई लगती थी और अपने वक़्त के लिए भी, किसी स्वप्न के लिए भी और आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी। फूलों की चाहत में काठ की सूली पर चढ़ने तक का एक लंबा सफ़र जैसे इस नज़्म में 'कंडेस्ड' करके रख दिया गया हो, जैसे मनुष्य के प्रेम से लेकर उसके भविष्य तक के सारे आयाम संगुंफित कर दिये गये हों। इसी तरह 'रक़ीब से' शीर्षक नज़्म भी थी। यह एक विलक्षण कविता है और शायद ऐसी कविताएं दुनिया की तमाम ज़बानों में उंगलियों पर गिनी जाने लायक़ ही होंगी। इसकी अंर्तवस्तु का प्रारूप ही अजब है। वह ऊपरी तौर पर एक भूतपूर्व प्रेमी का आत्मकथन है जो किसी वर्तमान प्रेमी को संबोधित है उदासी और मोहभंग की धुंध में लिपटे हुए एक इनसान का बयान, जिसमें वह मौजूदा प्रेमी को अपना हाल बताने के लिए आमंत्रित करता हैः 'आ केः वाबस्ता हैं उस हुस्न की यादें तुझसे/जिसने इस दिल को परीख़ाना बना रक्खा था/जिसकी उल्फ़त में भुला रक्खी थी दुनिया हमने/दहर को दहर का अफसाना बना रक्खा था। तूने देखी है वो पेशानी, वोः रुख़सार, वोः होंठ। ज़िंदगी जिनके तसव्वुर में लुटा दी हमने/तुझपे उट्ठी हैं वो खोयी हुई साहिर आंखें/तुझको मालूम है क्यूं उम्र गंवा दी हमने।'

यह नज़्म एक बेहद नाजुक, उदास, शमशेर के शब्दों में 'खफ़ीफ़ दर्द' को हमारे सामने रखती है, बल्कि अपनी अद्‌भुत चित्रमयता के साथ उसे दिखाती है, उसकी एकालाप की लय चिंतनपरक मनःस्थिति को और भी शिद्‌दत दे देती है और अपनी एक गहरी गूंज हमारे भीतर छोड़ जाती है। आश्चर्य नहीं कि यह लय और मनोदशा शमशेर की ही एक मशहूर कविता 'टूटी हुई बिखरी हुई' के संगीत से

कुछ मिलती-जुलती है : 'हां, मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियां लहरों से करती हैं/जिनमें वे फंसने नहीं आतीं/जिनको वे गहराई तक दबा नहीं पातीं/तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूं।' नज़्म के आख़िरी हिस्सों में फ़ैज़ प्रेम के उस अनुभव का कायांतरण कर देते हैं और उस खोये हुए और टूटे हुए अनुभव के हासिल को बयान करते हैंः 'आजिज़ी सीखी ग़रीबों की हिमायत सीखी/यास-ओ-हिरमान के, दुख-ओ-दर्द के मानी सीखा/ज़ेरदस्तों के मुसाइब को समझना सीखा/सर्द आहों के, रुख़े ज़र्द के मानी सीखे'। इस तरह प्रेम का यह हासिल किसी निजी दुख में न बदलकर एक विस्तार पा लेता है और व्यापक मनुष्यता के दुख को समझने के विवेक में बदल जाता है। यह फ़ैज़ की सबसे बड़ी खूबी है कि वे व्यक्तिगत को समाजिक अनुभव तक पहुंचा देते हैं और उर्दू शायरी के अति परिचित और लगभग तैयारशुदा इश्क़ को एक उदात्तता तक ले जाते हैं।

और यह रक़ीब कौन है जिसे कवि इतनी कशिश के साथ अपनी दास्तान सुना रहा है? वह उससे नफ़रत नहीं करता, रश्क नहीं करता, बल्कि प्रेम ही करता है। क्या रक़ीब की इस कल्पना में एक नयी पीढ़ी की व्यंजना है जिसे फ़ैज़ संबोधित करते हुए एक स्वप्न का बेहद सुंदर वर्णन कर रहे हैं? क्या फ़ैज़ उस नयी पीढ़ी से सरगोशी कर रहे हैं और कह रहे हैं कि हम जिस स्वप्न को अंजाम तक नहीं ले जा सके, वह अब तुम्हारे हवाले है। इससे मिलता-जुलता एक अनुभव जर्मनी के महान कवि और नाटककार बर्तोल्त ब्रेश्ट की कविता 'अगली पीढ़ी से' में मिलता हैः 'तुम जो कि इस बाढ़ से उबरोगे/जिसमें हम डूब गये/जब हमारी कमजोरियों की बात करो/तो उस अंधेरे के बारे में भी सोचना/जिससे तुम बचे रहे/जूतों से ज़्यादा देश बदलते हुए/हम बेचैनी के साथ वर्ग संघर्षों से गुज़रते रहे/जब सिर्फ़ अन्याय था और प्रतिरोध कहीं नहीं था।'

उर्दू शायरी अपनी ज़बान से जानी जाती है। यानी कही गयी बात से अहम बात यह है कि उसे किस तरह कहा गया है। बड़े शायर अपनी ज़बान की ऊंचाई के लिए भी जाने जाते हैं। मीर, सौदा, ग़ालिब, मोमिन और इक़बाल का अंदाज़े-बयां बहुत अलग-अलग है और ये सभी ज़बान के लिहाज से भी महान हैं। ज़बान की अहमियत इस क़दर है कि बहुत से शायर ज़बान की उस्तादाना हिकमत के कारण भी बड़े मान लिये गये और कई बड़े शायर ऐसे भी थे जो ज़बान की तराश के लिए उन उस्तादों से सलाह लेते थे जो शायर के तौर पर अहम नहीं थे। फ़ैज़ ने कोई नयी ज़बान ईजाद नहीं की, बल्कि वे उपलब्ध भाषा और बिंबों से, यहां तक कि शायरी के घिसे-पिटे सिक्कों से काम चलाते रहे। शामे-ग़म, ग़मे-उल्फत, शामे-सितम, शमा और परवाने, रक्से-मय, रुख़सार, पेशानी, हिज्र और वस्ल, मैख़ाना, कारवां, कफ़स और परवाज़ जैसे अल्फ़ाज उनकी शायरी में बहुतायत से हैं, लेकिन फ़ैज़ का कारनामा यह है कि उन्होंने इन पुराने शब्दों, बिंबों और प्रतीकों को एकदम नयी व्यंजनाओं से भर दिया और उनमें अर्थों के कई स्तर और विस्तार पैदा कर दिये। इससे ज़बान में बौद्धिकता भले न पैदा हुई हो, लेकिन एक बेजोड़ पारदर्शिता तामीर हुई जिसमें कोई धुंध नहीं थी, कोई गुबार नहीं था। उर्दू की व्यक्तिपरक उस्तादी के बरक्स यह शायरी की ज़बान को लोकतांत्रिक बनाने का काम था। शायद इसी से फ़ैज़ की शायरी में एक अद्भुत दृश्यात्मकता और चित्रमयता आयी। मसलन 'जब तुझे याद कर लिया, सुबह महक-महक उठी/जब तेरा ग़म जगा लिया, रात मचल-मचल गयी' या 'दर्द का चांद बुझ गया, हिज्र की रात ढल गयी' जैसी इन पंक्तियों में हम दर्द के चांद को बुझते हुए और वियोग की रात को ढलते हुए 'देख' सकते हैं। लेकिन यह सिर्फ़ दृश्यात्मकता नहीं है, सिर्फ़ बिंब नहीं है, बल्कि ये पंक्तियां सहसा फ्रांस के उत्तर-संरचनावादी

दार्शनिक जाक देरिदा की एक उक्ति की याद दिलाती हैं कि 'शब्द सिर्फ़ अर्थ नहीं होते, बल्कि वे वही वस्तु होते हैं जिसे वे अभिव्यक्त करते हैं।' उर्दू में शायद अकेले फ़ैज़ ही हैं जो शायरी की शमा को तैयारशुदा मैखानों और महफ़िलों से बाहर एक बड़े समाज के बीच ले गये और उसे उन्होंने एक नयी रौशनी से भर दिया। फ़ैज़ का मैखाना भी मजलूमों, महरूमों और ख़ाकनशीनों का समाज है : 'रक्से-मय तेज करो, साज़ की लय तेज करो/सूए-मैखाना सफ़ीराने हरम आते हैं।'

इसमें कोई शक नहीं कि फ़ैज़ एक बहुत लंबे समय तक एशिया महाद्वीप की सबसे लोकप्रिय शायराना शख़्सियत बने रहे। पाकिस्तान के फ़ौजी तानाशाहों को अपने अदीबों और उनकी आवाज़ से बहुत डर लगता रहा है और वहां के अदीबों ने भी अपनी प्रतिबद्धता पर, अवाम के प्रति अपनी जिम्मेदारी पर क़ायम रहते हुए ऐसे जोख़िम उठाये हैं और ऐसी तकलीफ़ें सही हैं जो हिंदी के लेखकों- कवियों को नहीं सहनी पड़ी। पाकिस्तान के अदीब और शायर अपने प्रतिरोध और आज़ादख़याली के लिए भी दुनिया में जाने गये। फ़ैज़ के इर्द-गिर्द भी ऐसी ही कई घटनाएं हैं जिनमें एक यह है कि किस तरह जब मशहूर गायिका इक़बाल बानो ने हज़ारों श्रोताओं के सामने करीब दो घंटे तक फ़ैज़ को गाया तो एक बड़ी हलचल और थरथराहट फैल गयी। उनके कैसेट को सुननेवाले जानते हैं कि जब इक़बाल बानो ने फ़ैज़ की वह मशहूर नज़्म 'लाज़िम है कि हम भी देखेंगे' को गाना शुरू किया तो श्रोता भी पूरे आवेग के साथ गाने लगे और इसके बाद फ़ौजी शासक ज़ियाउल-हक ने फ़ैज़ और इक़बाल बानो दोनों पर पाबंदी लगा दी। भारत और पाकिस्तान में ऐसा कोई गज़ल गायक नहीं है जिसने फ़ैज़ की रचनाएं न गायी हों और नैयारा नूर जैसी गायिका ने तो फ़ैज़ को इस तरह धीमे गायन के साथ पढ़ा है कि वह एक यादगार अदायगी बन गयी है।

फ़ैज़ हिंदुस्तान और पाकिस्तान के अवाम के सबसे ज़्यादा काम आने वाले शायरों में से रहे हैं। उनकी शायरी बहुत अधिक इस्तेमाल में आयी है। बर्तोल्त ब्रेश्ट ने अपनी एक कविता में कहा था कि 'मैं अपनी क़ब्र पर कोई समाधि लेख नहीं चाहता हूं लेकिन अगर कुछ लिखना ही हो तो यह लिखा जाये कि उसने सुझाव दिये और हमने उनका इस्तेमाल किया।' फ़ैज़ पर यही बात लागू होती है। कवि की इस भूमिका के बारे में ख़ुद फ़ैज़ ने ही लिखा था : 'हमने जो तर्ज़े-फ़ुग़ां की थी क़फ़स में ईजाद, फ़ैज़ गुलशन में वही तर्ज़े-बयां ठहरी है।' फ़ैज़ ने दुख की जो भाषा ईजाद की, वह एक बड़े समाज की अभिव्यक्ति में बदल गयी। यही एक बड़े कवि का काम होता है कि वह अपने दर्द और अपने ख़्वाब को सबका दर्द और ख़्वाब बना देता है। कभी-कभी लगता है कि अगर लोगों में अब भी 'एक नयी सहर' का इनसानी जज़्बा बचा हुआ है तो यह बहुत कुछ इस वजह से भी है कि फ़ैज़ को बहुत पढ़ा गया है, बहुत गाया गया है और बहुत इस्तेमाल किया गया है।

मो. : 09910402459

इज़हारे-अक़ीदत और वक़्त की कैफ़ियत

असद ज़ैदी

हिंदी-उर्दू और अंग्रेज़ी में साधिकार समानरूप से लिखने-पढ़ने वाले असद ज़ैदी समकालीन कविता के एक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। फ़ैज़ पर गंभीरता से विचार करने वालों में उनका ख़ास स्थान है। यह टिप्पणी 'फ़ैज़ पर कुछ नोट्स' के शीर्षक से तैयार की गयी है। इसमें उर्दू के काव्य-परंपरा से फ़ैज़ के जटिल रिश्ते और ग़ज़ल की ज़मीन पर उनके योगदान की विशिष्टताओं को रेखांकित किया गया है। सं.

1941 में प्रकाशित अपने पहले संकलन का नाम फ़ैज़ ने *नक़्शे-फ़रियादी* रखा। ये *दीवाने ग़ालिब* के पहले दो शब्द हैं। क़रीब एक चौथाई सदी बाद सन 1965 में अपने चौथे संकलन का नाम फिर उन्होंने ग़ालिब ही से लिया *दस्ते-तहे-संग* (चट्टान के नीचे दबा हाथ)। यह कोई संयोग नहीं था। पुरानी रिवायत है कि दीवान की शुरुआत हम्द (ईश-वंदना) से हो : 'नक़्शे-फ़रियादी है किस की शोख़ी-ए तहरीर का/काग़ज़ी है पैराहन हर पैकरे-तस्वीर का।' ग़ालिब पहले ही शेर में ऐसी कैफ़ियत सामने रख देते हैं कि पता नहीं चलता वे शरारत भरे अंदाज़ में आत्म-स्तुति कर रहे हैं, या अल्लाह की तारीफ़। अब ज़रा दस्ते-तहे-संग को देखें : 'मजबूरी ओ दावाए गिरफ़्तारी-ए-उल्फ़त/दस्ते-तहे-संग आमदः पैमाने वफ़ा है।' हाथ एक भारी पत्थर के नीचे दबा हुआ है, और हम कह रहे हैं कि जन्म-जन्मांतर तक तुम्हारे प्यार के क़ैदी रहने की क़सम खाये हुए हैं।

q

फ़ैज़ ने अपनी सारी ज़िंदगी ग़ालिब के साये में गुज़ारी। वे जब भी अपने से थक जाते हैं तो ग़ालिब की ज़मीन पर लौट आते हैं। उनकी तबीअत और मिज़ाज ग़ालिब से अलग हैं : ग़ालिब की ज़राफ़त, विडंबना-बोध, कड़वाहट, खुद पर हंसने की आदत और अनासक्ति फ़ैज़ के यहां कम ही नज़र आती है। पर ग़ालिब के बिना उनको अपनी अस्मिता ख़तरे में लगती है। बिना ग़ालिब को याद किये वे ग़ज़ल तो लिख नहीं सकते। अपनी अंतिम ग़ज़ल में भी फ़ैज़ बिलकुल उस्ताद के पहलू में बैठे दिखायी देते हैं : 'हम एक उम्र से वाक़िफ़ हैं अब न समझाओ/कि लुत्फ़ क्या है, मेरे मेहरबां सितम क्या है/करे न जग में अलाव तो शेर किस मक़सद/करे न शहर में जल थल तो चश्मे नम क्या है//अज़ल के हाथ कोई आ रहा है परवाना/न जाने आज की फ़ेहरिस्त में रक़म क्या है।'

मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' के बाद ग़ालिब की केंद्रीयता को पहचानने और फिर उसे कविता में लाज़िम करने की ज़िम्मेदारी जिन लोगों ने उठायी उनमें फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ सर्वोपरि हैं। हालांकि जितना ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए दिया नहीं गया है।

q

इक़बाल के निधन के वक़्त फ़ैज़ 27 साल के थे और इक़बाल का असर पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में वैसा ही सघन था जैसा बंगाल में रवींद्रनाथ का। इक़बाल की तरह फ़ैज़ की पैदाइश भी सियालकोट ही की है। फ़ैज़ इक़बाल के दबदबे और मार से कैसे बचे रह सके यह भी एक गौरतलब चीज़ है। फ़ैज़ ने खुद इक़बाल के महत्त्व से इनकार नहीं किया, और उनको अक़ीदत पेश करते हुए दो नज़्में भी लिखीं, लेकिन 'इक़बालियत' के काले बादल से खुद दूर रहे। फ़ैज़ की भावी महानता और उर्दू शायरी के विकास में उनकी ऐतिहासिक भूमिका की चाबी शायद यहीं पर है। फ़ैज़ ने उर्दू शायरी के रिवायती साज़ो-सामान और तरीक़े-कार को फिर से सम्हाला, इक़बाल-युग में जो ढांचागत टूट-फूट हुई उसकी मरम्मत की और बड़े इत्मीनान से उसी पुरानी बुनियाद पर फिर से वही दरो-दीवार खड़े किये। उन्होंने नये से पुराने का काम लेने के बजाय पुराने से नये का काम लिया। उन्होंने उर्दू शायरी को इक़बाल के परवर्ती अतिमानववादी फ़लसफ़े और नये अस्मितावाद से बचाया। उन्होंने इक़बालियत को सीधी चुनौती देने के बजाय उर्दू की परंपरागत प्रगतिशीलता, नॉन-कन्फर्मिज़्म और ग़ालिबियन आधुनिकता की राह पकड़ी। फ़ैज़ ने अपने उदाहरण से साबित किया कि शायरी में ग़ालिब की परंपरा ही में आगे का रास्ता है, परवर्ती इक़बाल का रास्ता एक अंधी गली है। अल्लामा इक़बाल को सफ़ाई और आत्मविश्वास के साथ बाईपास करना फ़ैज़ के बड़े कारनामों में शुमार किया जाना चाहिए।

q

राष्ट्रवाद आधुनिक इतिहास की एक केंद्रीय संचालनकारी शक्ति रही है, ख़ासकर उन देशों में जो पश्चिम के उपनिवेश रहे। हिंदुस्तान जैसे मुल्कों में राष्ट्रवाद ने अनिवार्य साम्राज्यवाद-विरोधी जागरण का रोल अदा किया। लेकिन क़ौमी जागरण हर क़ौमी बीमारी का इलाज नहीं है इस बात को फ़ैज़ से पहले प्रेमचंद और इक़बाल ने, और इनसे पहले रवींद्रनाथ ने देख लिया था। राष्ट्रवाद कई रंगों में और कई नामों से आता है और इसके अनेक प्रकार ऐसे हैं जो सुधार के नाम पर और पुराने समाजों में चली आ रही और दो-ढाई हज़ार सालों में विकसित मानववादी परंपराओं और एकताओं को नष्ट भ्रष्ट भी कर सकता है। फ़ैज़ ने बहुत जल्दी राष्ट्रवाद की इन विनाशकारी संभावनाओं को पहचाना और अपनी कविता में सार्वभौमिक मानववादी परंपराओं और प्रतिरोध की अवामी रिवायतों को बुनियादी आधार बनाया। उन्होंने जनजीवन में रची बसी रूमानी-मुक्तिकामी परंपराओं (सूफ़ी और ग़ैर-सूफ़ी) के साथ हमदर्द का रिश्ता बनाया और उनके सहारे यथास्थिति के विरोध और न्यायपूर्ण समाज के निर्माण को अपने यूटोपिया का हिस्सा बनाया। फ़ैज़ हमेशा यूटोपिया पर बल देते हैं। व्यवस्थाएं बनती बिगड़ती रहती हैं, लेकिन यूटोपिया कभी नष्ट नहीं होते, बुनियादी क़द्रों के लिए इनसान की लड़ाई जारी रहती है। उनके काव्य में वतन से प्यार झलकता है लेकिन कहीं भी 'परबत वो सबसे ऊंचा' जैसा घमंड या उग्र राष्ट्रवाद नहीं

है। दूसरी तरफ़ वे राष्ट्रीय दुखांतों के प्रतिनिधि कवि हैं : 'निसार मैं तेरी गलियों पे ए वतन कि जहां/चली है रस्म कि कोई न सर उठा के चले' या कि 'ये दाग़ दाग़ उजाला ये शब-गज़ीदा सहर'।

q

दुनिया में बंदी-जीवन और निर्वासन या वतन-बदरी के फ़ैज़ जैसे शायर कम ही हुए हैं। इस तरह के दो शायरों, नाज़िम हिकमत और महमूद दरवीश, से अक्सर उनकी तुलना की जाती है। फ़ैज़ से इन दोनों की दोस्ती भी थी और नाज़िम हिकमत का तो उन्होंने अनुवाद भी किया था। क़ैद और निर्वासन पर इन सभी का काम लगता है एक बहुत लंबी, बहुभाषीय आलमी कविता का हिस्सा है।

q

'निसार मैं तेरी गलियों पे ए वतन...' में फ़ैज़ अपने प्रतिनिधि रूप में मौजूद हैं : 'बहुत हैं ज़ुल्म के दस्ते-बहाना-जू के लिए/जो चंद अहले-जुनूं तेरे नामलेवा हैं//बने हैं अहले-हवस मुद्दई भी मुंसिफ़ भी/किसे वकील करें किससे मुंसिफ़ी चाहें//मगर गुज़ारने वालों के दिन गुज़रते हैं/तेरे फ़िराक़ में यूं सुबहो-शाम करते हैं... ग़रज़ तसव्वुरे-शामो-शहर में जीते हैं/गिरफ़्ते-साया-ए-दीवारो-दर में जीते हैं... यूं ही हमेशा उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क़/न उनकी रस्म नयी है न अपनी रीत नयी/यूं ही हमेशा खिलाये हैं हमने आग में फूल/न उनकी हार नयी है न अपनी जीत नयी... जो तुझसे अहदे-वफ़ा उस्तवार रखते हैं/इलाजे-गर्दिशे-लैलो-निहार रखते हैं।'

यहां शायर की अपने वतन के लागों से मुहब्बत और देशभक्ति के नाम पर वतन पर क़ाबिज़ ज़ालिमाना जमातों से नफ़रत एक साथ मौजूद है। उसका यह अंदाज़ उसे बीसवीं सदी की कविता की मशहूर बाग़ी आवाज़ों की उस सफ़ में खड़ा कर देता है जिसमें ब्लोक, लोर्का, नाज़िम हिकमत, नेरूदा, ब्रेख़्त, पासोलिनी, महमूद दरवीश, मीगेल एर्नान्देज़ और अर्नेस्तो कार्देनाल मौजूद हैं। इन आवाज़ों में उदासी और उम्मीद और विषमताओं के निरंतर, स्थायी प्रतिरोध की प्रतिज्ञा' है।

फ़ैज़ पराजय के बाद की पस्ती और चुप्पी को भी इंतिज़ार के एक वक़्फ़े, प्रतिरोध की एक मुद्रा, और शाश्वत इंतिज़ार की निरंतरता में देखते हैं। यह बात उर्दू नज़्म के लिबास में और विरह-मिलन, क़फ़स और सैयाद, शामो-शहर, बहारों-खिज़ां की ज़बान में आती है तो सुनने वाले को इससे ऐसी तसल्ली और ताक़त मिलती है जो इक़बाल की ओजपूर्ण, ग़ैरत को ललकारती आवाज़ से नहीं मिलती। फ़ैज़ कहते नज़र आते हैं : लड़ाई बुरी नहीं थी, और शिकस्त भी बुरी नहीं है। वे हताशा की गोद से उम्मीद उठा लाते हैं। जैसा ग़ालिब कहते हैं : 'वफ़ादारी बशर्ते-उस्तवारी अस्ले-ईमां है'।

वह वर्तमान को धिक्कारते नहीं, उसे गुलशन के कारोबार का हिस्सा मानते हैं। यह कौन सा कारोबार है, और यह किसका इंतिज़ार है? बीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते फ़ैज़ उर्दू ग़ज़ल और नज़्म के बाह्य रूप, बुनियादी उपकरणों, केंद्रीय रूपकों और तरकीबों को छेड़े बग़ैर एक अंदरूनी इंक़िलाब ला देते हैं। वे उर्दू शायरी के पुराने श्रोता वर्ग को खोये बग़ैर प्रेम और विरह के कवि नहीं रहते, उनका माशूक़ कोई मानवीय या आध्यात्मिक शै नहीं रहता, उनका गुलशन कोई गुलशन नहीं रहता वे अपनी शायरी को सामाजिक क्रांति, इंसाफ़ और आज़ादी की मुस्तकिल तशवीश और उम्मीद की शायरी बना देते हैं,

और छिछली इश्क़िया शायरी का रास्ता लगभग बंद कर देते हैं। उनका आशिक़ हस्बे-मामूल कू-ए यार से निकलकर सू-ए दार की तरफ़ जाता है, लेकिन इस आमदो-रफ़्त के मानी स्थायी तौर पर बदल चुके हैं। वह सूफ़ियाना मज़मून के धागों से समाजी और सियासी इंक़िलाब का नया मिथक बुन देते हैं, और यह मिथक उर्दू में जदीदियत और उत्तर-आधुनिकतावाद के शोर, धूल और धुएं के बीच अपनी जगह या चमक नहीं खोता। वाम-विरोधी समूह भी फ़ैज़ से अदब से ही मुख़ातिब होते हैं, लेकिन फ़रियादियों वाला 'काग़ज़ी पैराहन' पहनकर।

इस तरह फ़ैज़ बीसवीं सदी में ग़ज़ल को फिर से (और उसके साथ युवतर विधा नज़्म को) प्रासंगिक बनाते हैं। ग़ज़ल अठरहवीं और उन्नीसवीं सदी की प्रधान विधा रही। उन्नीसवीं सदी ग़ालिब की सदी थी। पर इसे बीसवीं सदी में जिलाये रखने में भी ग़ालिब के लोगों ही का योगदान सबसे ज़्यादा है उन लोगों में फ़ैज़ सबसे आगे हैं। फ़ैज़ की शायरी में ग़ालिब से इज़हारे-अक़ीदत और जिरह भरी हुई है। दोनों को एक दूसरे से काम पड़ता है।

q

फ़ैज़ अपने उस्ताद के साथ शतरंज खेलना नहीं भूलते। बल्कि यह भी उनका प्रिय व्यसन है। ग़ालिब कहते हैं : 'बुलबुल के कारोबार पे है खंदा-हाए गुल/कहते हैं जिसे इश्क़ ख़लल है दिमाग़ का'। फ़ैज़ की बाज़ी कुछ और है : 'गुलों में रंग भरे बादे-नौबहार चले/चले भी आओ कि गुलशन का कारोबार चले।' ऐसी मिसालें बेशुमार हैं।

फ़ैज़ ग़ालिब के मज़मून पर इस तरह काम करते हैं और उसमें से ऐसी सूरतें निकालते रहते हैं जैसी कि सूरत मिक्लोश यांचो ने एलेक्त्रा के यूनानी मिथक पर काम करते हुए अपनी अमर फ़िल्म 'एलेक्त्रा माई लव' में निकाली थी।

q

उर्दू में यह बात रही है कि ग़ज़ल के श्रोता और पाठक हमेशा दौरे हाज़िर के शायरों पर ही तवज्जो देते रहे हैं, पुरानों की तरफ़ उनका ख़याल ज़्यादा नहीं रहता। इसकी वजह शायद यह होगी कि ग़ज़ल परफ़ोर्मिंग ट्रेडीशन की तरह ज़्यादा लोकप्रिय रही। मसलन ज़ौक़, ग़ालिब और और मोमिन के दौर में उनकी धूम थी। लखनऊ में अनीसो-दबीर का शोहरा था, फिर दाग़ की धूम हुई, एक दौर इक़बाल का आया, जिगर और हसरत और फ़िराक़ का ज़माना आया। एक मीर ही थे जिन्हें हर दौर में याद किया गया। ग़रज़ यह कि तरक़्क़ीपसंद तहरीक (प्रगतिशील आंदोलन) के ज़माने में ही यह संभव हो पाया कि ग़ालिब या मीर या नज़ीर को पुरानों की तरह देखने के बजाय प्रासंगिक समकालीनों की तरह देखा जाये और उनसे सीधा संवाद स्थापित किया जाये।

फ़ैज़ को अपने आरंभिक दौर में ग़ालिब की कड़ी ज़रूरत पड़ी और यह रिश्ता जीवन-पर्यंत चला। फ़ैज़ के यहां मीर तक़रीबन ग़ायब हैं। सिर्फ़ 1954 में जब फ़ैज़ मंटगोमरी जेल में क़ैद थे उन्हें कुछ मीर की याद आयी। दो ही ग़ज़लें ऐसी हैं जहां मीर की सोहबत झलकती है ('कब याद में तेरा साथ नहीं कब हाथ में तेरा हाथ नहीं' , और 'कुछ मुहतसिबों की खिल्वत में कुछ वाइज़ के घर जाती है')। मीर

की तरफ़ इक़बाल ने भी कम ही देखा था, और ग़ौर करें तो 1947 से पहले पंजाब सूबे में मीर की ज़्यादा पूछ नहीं रही। उपमहाद्वीप के बंटवारे के बाद सबको मीर याद आये और बुरी तरह छा गये। नासिर काज़मी और इब्ने इंशा जैसे दो अलग-अलग मिज़ाज के शायर मीर की ही मजलिस में रहे।

उर्दू जैसी भी बदक़िस्मत ज़बान हो उसे जिलाये रखने में पुराने बड़े मददगार रहते हैं। वे अपनी समकालीनता खोते नहीं दीखते। आज फ़ैज़ भी उन्हीं पुरानों में शामिल हैं।

q

उर्दू शायरी में निस्वानी आवाज़ (स्त्री स्वर) के लिए जगह बनाने और उसे स्थापित करने में प्रगतिशीलों का, उनमें भी सबसे ज़्यादा फ़ैज़ का रोल है, इसमें मुझे कोई शक नहीं है। इसके लिए फ़ैज़ ने अलहदा से कुछ नहीं किया, उनकी उपस्थिति मात्र से ही यह राह खुल गयी। फ़ैज़ ने परंपरा का जो ख़ामोश लेकिन मूलगामी आधुनिकीकरण किया उसी में स्वरों के एक वास्तविक और लोकतांत्रिक विस्तार और सह-अस्तित्व की ज़मीन मौजूद थी। ग़ज़ल और नज़्म में कवयित्रियां पता नहीं कब से लगभग मर्दाने लिबास में मर्दानी बोली बोलते हुए पेश होती रही हैं! जैसे पुराने नाटकों में, जहां औरतों की भूमिकाएं पुरुष ही निभाया करते थे, शायरी में भी 'स्त्री-स्वर' पर शायर का ही एकाधिकार था, शायरा के लिए वह वर्जित ही था। हिंद-फ़ारसी काव्य परंपरा की यह एक पुरानी समस्या है और तसव्वुफ़ की कुछ 'ख़ूबियों' में एक यह ख़ूबी ग़ौर करने लायक़ है। कथा साहित्य में भले ही रशीद जहां, इस्मत, कुर्रतुल ऐन हैदर के लिए (या दूसरी तरह के लेखन में सफ़िया अख़्तर और अनीस किदवई जैसे रचनाकारों के लिए) यह समस्या नहीं रही हो, पर शायरी का रास्ता पकड़ने वाली औरत की बड़ी मुश्किल रही है। कुछ-कुछ हाली के दौर से, पर ख़ास तौर पर फ़ैज़ की आमद के बाद से यह संभव हो सका कि उर्दू शायरी में स्त्री स्त्री की तरह पेश होने लगी और कवयित्रियां प्रथम पुरुष स्त्रीलिंग का बेधड़क इस्तेमाल करने लगीं। यही वजह होगी कि सारा शिगुफ़्ता, परवीन शाकिर, फ़हमीदा रियाज़ और किश्वर नाहीद जैसी कवयित्रियों को पढ़ते हुए फ़ैज़ और मजाज़ तो याद आते हैं, नून मीन राशिद, मीराजी, अहमद नदीम क़ासिमी, नासिर काज़मी और अख़्तरुल ईमान याद नहीं आते, जोश-ओ-फ़िराक़ की तो बात ही छोड़िए।

q

फ़ैज़ जैसा प्रतिबद्ध और नैचुरल अंतर्राष्ट्रीयतावाद आज उर्दू कविता में दुर्लभ है। हिंदी में मुक्तिबोध और शमशेर को छोड़ दें तो वह कम-कम ही था और ये भी उसी पीढ़ी के नुमाइंदे हैं। आज के शायर/कवि की आफ़ाक़ियत निस्वतन अप्रतिबद्ध, अमूर्त और हल्की मालूम होती है वह अक्सर प्रगतिशील अंतर्राष्ट्रीय और वर्तमान दौर के प्रतिक्रियावादी भूमंडलीकरण के बीच तमीज़ करना भूल जाता है। यह आफ़ाक़ियत कम, आफ़ाक़ियत का दावा ज़्यादा है असल में यह अपने यहां की हक़ीक़त से फ़रार का ही एक रूप है।

यहीं यह ख़याल भी आता है कि दुश्चक्रों में फंसे, अपेक्षाकृत छोटे देशों का आदमी ही सबसे ज़्यादा अंतर्राष्ट्रीयतावादी हो सकता हैं। उसे वैश्विक परिदृश्य, उसमें अपने समाज की लोकेशन और सामाजिक-राजनीतिक दुर्दशा से इन चीज़ों के ताल्लुक़ का तीव्र एहसास होता है। उसके लिए देश का

बदल विदेश नहीं हो सकता जो बैरूनी है वही अंदरूनी को निर्धारित या प्रभावित करता है। हिंदुस्तान जैसे बड़े देश में सच्चा अंतर्राष्ट्रीयतावादी होना इसीलिए मुश्किल और चुनौती भरा है कि देश ही पूरी दुनिया नज़र आता है। अंदरूनी का इतना विस्तार है कि बैरून बहुत दूर की चीज़ लगती है। भारत से बाहर जो है विदेश है। पाकिस्तान या क्यूबा या अफ़गानिस्तान के बाहर जो भी है न सिर्फ़ बहुत पास है बल्कि बुरी तरह ग़ालिब है। एक अच्छा पाकिस्तानी बुद्धिजीवी सिर्फ़ पाकिस्तान या पाकिस्तानी नियति के बारे में सोचता नहीं रह सकता। उरुग्वे, चीले, आर्जेंतीना, पेरू या निकारागुआ के लेखक अपने-अपने देशों से कहीं ज़्यादा पूरे लातीनी अमरीकी लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही बात वहां के क्रांतिकारियों पर लागू होती है। लगभग यही बात अरब दुनिया के बारे में सही है।

यही वजह है कि पाकिस्तान ने पिछले पचास साल में इक़बाल अहमद, हमज़ा अलवी, तारिक़ अली और फ़ैज़ जैसी आलमी शख़्सियतें पैदा कीं (भले ही पाकिस्तानी सत्ता प्रतिष्ठान में उनकी कोई क़द्र न हो) पर हमारे पास बताने के लिए बमुश्किल अमर्त्य सेन जैसा ग़ैर-रैडिकल नाम है जो अंतर्राष्ट्रीयतावादी कम, उदारवादी मानवतावाद के प्रवक्ता ज़्यादा लगते हैं।

q

फ़ैज़ के बाद : फ़ैज़ के बाद गुलशन का कारोबार कितना बदल गया है। बाद का दौर दक्षिण एशिया में युद्ध, गृहयुद्ध, सांप्रदायिक हिंसा, धर्मांधता, साम्राज्यवादी लूट, समाज और अर्थव्यवस्थाओं पर नव-उदारवादी हमलों और लोकतंत्र के पीछे हटने का दौर है। राज्य द्वारा हर तरह के प्रतिरोध का दमन, जनक्षेत्र पर निजी पूंजी का नियंत्रण हमारे दौर की सचाइयां हैं। पाकिस्तान का हाल हिंदुस्तान से भी ख़राब हुआ है। वहां जल्दी सुधार की कोई सूरत नज़र नहीं आती। फ़ैज़ के बाद के पाकिस्तान के बुद्धिजीवी और लेखक आज हद से हद हिंदुस्तान जैसी 'डेमोक्रेसी' और हिंदुस्तान जैसी 'आज़ादी' चाहते हैं फ़ैज़ के वंशजों के सपने अब बहुत छोटे सपने हैं। फ़ैज़ की धरोहर अब बस भारत-पाक सुलह, सिविलियन सरकार और नारी-अधिकार के अभियान में काम आती है। पाकिस्तान में समानतावादी समाज की परियोजना का कोई ज़िक्र नहीं जिससे फ़ैज़ की कविता इतनी प्रेरित थी, जिसकी वजह से फ़ैज़ ने कोई सात-आठ साल जेल में और कई साल निर्वासन में गुज़ारे।

q

फ़ैज़ के यहां इस्लाम के आरंभिक इतिहास और कुरानी आयतों की अनुगूंजें मिलती हैं। वे इन 'इस्लामी' संदर्भों का हमेशा बा-मक़सद, सेकुलर और पारदर्शी इस्तेमाल करते हैं। उनकी आवाज़ थियोलोजी में रंगी, धार्मिकता में भीगी हुई कंपित आवाज़ नहीं है। वे किसी मज़हबी चाशनी में डूबे हुए कवि नहीं हैं। वे न हिंदी के उन प्रोग्रेसिवों की तरह हैं जिनकी दो या तीन पीढ़ियां ऐसी तुलसी-मय रहती आयी हैं कि कोई और रंग उनपर चढ़ता ही नहीं, न वे उर्दू के उन जदीदियों (आधुनिकतावादियों) की तरह हैं जो जवानी में अराजकतावाद की हदों से गुज़रकर अब तसबीह हाथ में लिये रहते हैं। उनकी मशहूर नज़्म 'हम देखेंगे' लगभग पूरी की पूरी कुरान, तसव्वुफ़, और इस्लाम के कुछ ऐतिहासिक प्रसंगों पर टिकी हुई है, लेकिन उसका किसी भी तरह का धार्मिक दुरुपयोग नहीं किया जा सकता। पहले वह जनरल ज़ियाउल हक़ के

फ़ौजी शासन के ख़िलाफ़ पाकिस्तान में अवामी बग़ावत का मुख्य प्रतीक बनती है। फिर इक़बाल बानो की आवाज़ में एक इंकिलाबी तराने का रूप ले लेती है एक ऐसे वक़्त में जब सभी धार्मिक रूढ़िवादी तत्व ज़िया शासन का खुला समर्थन करते थे।

कुरान में ईश्वरीय प्रकोप की चेतावनी और देवी गर्जना यहां सामाजिक क्रांति का महान यूटोपियन आह्वान बन जाती है 'वो दिन कि जिसका वादा है/जो लौहे-अज़ल पे लिक्खा है।' 'फ़ैसले का दिन' इंकिलाबी सत्तापलट का दिन हो जाता है, जब जुल्मो-सितम के भारी पहाड़ 'रूई की तरह' उड़ जायेंगे, जब 'तख्तो-ताज़' उछाले जायेंगे, जब शासितों के 'पांव-तले यह धरती धड़-धड़ धड़केगी, जब 'अनल हक़' का नारा बुलंद होगा, जब 'खल्क़े-खुदा' राज करेगी, 'जो तुम भी हो और मैं भी हूं।' मैं अक्सर सोचता हूं कि कौन सा इस्लामी प्रतिष्ठान इन नज़्म को अपने साहित्य में दाखिल करेगा, कौन वाइज़ इसे अपने वाज़ का हिस्सा बनायेगा! क्या यह कभी जुमे के रोज़ किसी मस्जिद के मेंबर से पढ़ी जायेगी? अभी तक तो ऐसा हुआ नहीं है, और मुझे नहीं लगता कि ऐसा कभी होगा।

इस पर कभी ग़ौर नहीं किया गया कि फ़ैज़ तसव्वुफ़ (सूफ़ी दर्शन) को इस्लामी परंपरा के नैरंतर्य में देखते हैं, उसके विरोध या प्रतिरोध में नहीं। जो बात इस्लाम के संदर्भ से नहीं कही जा सकती है, वह तसव्वुफ़ के संदर्भ से बहुत सफलता से कही जा सकती है, ऐसा फ़ैज़ नहीं समझते। उनके लिए सूफ़ीमत इस्लाम का विकल्प नहीं है। अव्वल तो फ़ैज़ के यहां तसव्वुफ़ भी कोई विकल्प नहीं है। वह उनके लिए विचारधारा या जीवन दर्शन का रूप नहीं ले सकता। तसव्वुफ़ उनके लिए एक उपलब्ध मुहावरा और ज़बान है, जैसे वह ग़ालिब के लिए भी था। फ़ैज़ उतने ही 'आध्यात्मिक' हैं जितने महमूद दरवीश या एडवर्ड सईद।

मो. : 09868126587

रूमानियत का एक ख़ास अंदाज़

अरुण कमल

यह लेख दरअसल पुस्तक रिव्यू के रूप में लिखा गया था किंतु इसमें फ़ैज़ के संपूर्ण कवि-व्यक्तित्व का आकलन और रेखांकन भी प्रस्तुत किया गया है। 'मेरे दिल, मेरे मुसाफिर' नामक फ़ैज़ के कविता संग्रह की कविताओं को नये सिरे पढ़ते हुए अरुण कमल इस निष्कर्ष पर अपनी मुहर लगाते हैं कि ये कविताएं हमारे वक़्त की ज़रूरतों को पूरा करते हुए पर्याप्त संयम और तलख़ी का सहारा लेती है। सं.

कुछ दिन पहले बातचीत के दौरान एक मित्र ने कहा था कि फ़ैज़ की कविता में रूमानियत है, जो उन्हें यथार्थ के तल तक पहुंचने से रोकती है। उसने यह भी कहा था कि हमारी अभी की हिंदी कविता फ़ैज़ की शायरी के मुक़ाबले बहुत आगे जा चुकी है, यानी अभी की हिंदी कविता जिस बेबाक़ी से ज़िंदगी के विभिन्न हिस्सों का चित्रण करती है, वह बेबाक़ी फ़ैज़ में नहीं है।

एक रूमानियत होती है जो चीज़ों की पहचान को धुंधला कर देती है; उनके तीखे किनारों को भी बहुत मुलायम और चिकना कर देती है। यह रूमानियत तब पैदा होती है जब वस्तु से जितना लगाव हमारा होता है उससे ज़्यादा दिखलाने की हम कोशिश करते हैं। इस स्थिति में उस वस्तुस्थिति या चरित्र की गहराई तक न पहुंचकर हम उस कमी को रूमानियत द्वारा पूरा करते हैं। लेकिन एक रूमानियत ऐसी भी होती है जो चीज़ों के प्रति गहरे लगाव से पैदा होती है और पाठकों के मन में भी वैसा ही गहरा लगाव पैदा कर देती है। फ़ैज़ की रूमानियत ऐसी ही है, जिसमें हल्की 'आवारगी' भी है, दोस्तों की-सी नज़दीकी भी है, और उर्दू शायरी का वह ख़ास मिज़ाज भी है, जिसके चलते बहुत ही संगीन मौक़ों पर भी वे साकी, मय, मयकदे और इश्क़ की मार्फ़त ही बात करते हैं। 'लाओ तो क़त्लनामा मेरा' में इश्क़, साकी, मय और मयकदे सब मौजूद हैं, लेकिन ये सब अपने वास्तविक अर्थों को छोड़कर अपना तात्कालिक अर्थ व्यक्त करते हैं। अजीब बीजगणित है फ़ैज़ की शायरी का :

तोहमत तुम्हारे इश्क़ की हम पर लगी हुई
रिंदों के दम से आतश-ए-मय के वग़ैर भी
है मयकदे में आग बराबर लगी हुई
... ...
लाओ तो क़त्लनामा मेरा, मैं भी देख लूं
किस किसकी मुहर है सर-ए-महज़र लगी हुई

क़त्लनामे की वजह अभी भी इश्क़ ही है। फ़ैज़ उर्दू के चले-चलाये सुपरिचित सांचे से नयी मूर्ति गढ़ते हैं और जब वे घोषणा करते हैं कि 'लाओ तो क़त्लनामा मेरा मैं भी देख लूं। किस किसकी मुहर है सर-ए-महज़र लगी हुई', तो सारे पुराने सांचे टूट जाते हैं, शब्दों के पुराने अर्थ समाप्त हो जाते हैं मानो पुराने बीजों से नये पौधे उगे हों। इस तरह उनकी शायरी शक्ल अख़्तियार करती है। 'इश्क़ के तोहमत' के रूमानी वादे से शुरू करके फ़ैज़ उसे 'क़त्लनामे' तक ले जाते हैं और यह अपने वक़्त की क्रांतिकारी कविता साबित होती है। लेकिन यह सब कुछ होता है एक रूमानियत के अंतर्गत ही।

रूमानियत तो यहां भी है *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर* यानी पुस्तक के नाम में ही। दिल को मुसाफ़िर कहना और उससे इस तरह मुख़ातिब होना घनघोर इश्क़िया शायरी का एक ख़ास अंदाज़ है। लेकिन दूसरी ही पंक्ति जैसे रोओं के दस्ताने को उलट देती है और बहुत ही कड़ा चर्म-आवरण हमें मिलता है

हुआ फिर से हुक्म सादिर
कि वतन-बदर हों हम तुम

और अपने घर के पते की तलाश करता आदमी हमें मिलता है। यहां फिर **मुसाफ़िर** शब्द जो पहली ही पंक्ति में मिला था, धीरे-धीरे नये अर्थ ग्रहण करता जाता है और गोकि पहली पंक्ति फिर दुहरायी नहीं गयी, **मुसाफ़िर** शब्द शुरू से आख़िर तक मौजूद रहता है बे-वतन, बेघर आदमी के पूरे दर्द को व्यक्त करता हुआ। एक दूसरी कविता में फ़ैज़ कहते हैं

हम मुसाफ़िर यूं ही मसरूफ़े-ए-सफ़र जायेंगे
बेनिशां हो गये जब शहर तो घर जायेंगे

यहां फ़ैज़ की व्यक्तिगत ज़िंदग़ी का दर्द तो है ही, उन सब लोगों का दर्द भी है, जो पूरी ज़िंदगी मुसाफ़िर बने रहेंगे और शायद आख़िर तक अपने घर, अपने मुक़ाम को न पहुंच पायेंगे। इन सब लोगों में फ़िलिस्तीनी भी हो सकते हैं, हम और आप भी। 'नेमत-ए-ज़ीस्त' (जीवन का वरदान) से क़र्ज़ जिस किसी को चुकाना है, उसे तो 'रह-ए-इश्क़' के 'हर सख़्त मुक़ाम' से गुज़रना ही होगा

आनेवालों से कहो हम तो गुज़र जायेंगे

सारी कठिनाइयों, दुःखों और यातनाओं के बाद भी फ़ैज़ की शायरी ज़िंदगी में हमारे विश्वास को मज़बूत करती जाती है। 'नेमत-ए-ज़ीस्त' जिस किसी को मिली है उसे तो क़र्ज़ भी चुकाना ही होगा। 'वाक़िफ़ थे हर एक रंग की झंकार से हम'। इसी 'नेमत-ए-ज़ीस्त' के लिए तो सारा संघर्ष, सारी मुसीबतें और जंग है 'तुझको कितनों का लहू चाहिए ए अर्ज़-ए-वतन/जो तेरे आरिज़-ए-बेरंग को गुलनार करें'। फ़ैज़ की कविता एक तरफ़ तो ज़िंदगी में हमारे विश्वास को पुख़्ता करती है और दूसरी तरफ़ अपने उसूलों के लिए, आदमी की पूरी इज़्ज़त के लिए हमें जान को हथेली पर ले चलने की नेक सलाह भी देती है 'जान देते रहे ज़िंदगी के लिए'। फ़ैज़ की शायरी बहुत ही ऊंचे भावों और आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। आदमी का जो चरित्र हमारे सामने उभरता है, वह है हर जुल्म के विरुद्ध लड़ता हुआ, जान देता हुआ आदमी; आदमियत की ख़ातिर मरता हुआ आदमी। फ़ैज़ मनुष्य के संघर्षशील, कभी न झुकनेवाले रूप के कवि हैं। यही उनकी समूची कविता की धुरी है।

रसन-दर-गुलू, पा-ब-जौलां हमें
इसी क़ाफ़िले में कशां ले चला

यह क़ाफ़िला है ज़िंदगी से इश्क़ करनेवालों का। फ़ैज़ ने फ़ारसी का एक टुकड़ा अपनी कविता 'नज़्रे-हाफ़िज' में उद्धृत किया है, जिसका अर्थ है मेरे नसीहत करनेवाले ने यह कहा कि इश्क़ में सिवा दुःख के और क्या रखा है। ऐ अक़्लमंद, ज़रा यह बताओ कि भला इससे बड़ी अच्छाई और क्या है?

फ़ैज़ की कविता जहां एक ओर समूची दुनिया में ग़मों-दुखों के बारे में बतलाती है, वहीं राजनीतिक मामलों से पैदा हुआ आदमी का जो नितांत व्यक्तिगत, निजी दुख-दर्द है, वह भी व्यक्त करती है। सभी राजनीतिक या सामाजिक घटनाओं की अंतिम परिणति अंततः आदमी के व्यक्तिगत जीवन में ही होती है। राजनीति और व्यक्ति के निजी जीवन का इतना गहरा ताल्लुक़ आज हो गया है कि एक राजनीतिक निर्णय फ़ैज़ को 'वतन-बदर' करता है और उन तमाम मुश्किलों, दुखों को पैदा करता है जो आख़िरकार एक आदमी को ही सहने पड़ते हैं। शायद यही कारण है कि फ़ैज़ की शायरी राजनीतिक होते हुए भी व्यक्तिगत है और व्यक्तिगत होते हुए भी राजनीतिक है। फ़ैज़ राजनीतिक घटनाओं के मानवीय अर्थों को व्यक्त करते हैं। फ़ैज़ के शेर हम बहुत ही एकांत के क्षणों में भी गा सकते हैं और ऐसे मौक़ों पर भी, जब पूरा हुजूम संसद की ओर कूच कर रहा हो। यह शायरी का काफ़ी आगे बढ़ा हुआ रूप है। अभी की कविता, ख़ासकर हिंदी की, न तो हमारी व्यक्तिगत, निजी ज़रूरतों को दूर तक पूरा कर पाती है, न ही इस लायक होती है कि पूरा का पूरा जुलूस उसे तराने के तौर पर गाते हुए 'दरबारे-वतन' तक जाय।

फ़ैज़ की शायरी हमारी कुछ ऐसी ज़रूरतों को पूरा करती है, जो अभी हमारी अपनी कविता से पूरा नहीं हो पाती या कम हो पाती है। एक ख़ास ज़रूरत होती है। जब फ़ैज़ कहते हैं

जो न आया उसे कोई ज़ंजीर-ए-दर
हर सदा पर बुलाती रही रात भर

तो एक नामालूम आदमी के लिए अनजाने ही हमारे दिल में बहुत प्यार और सहानुभूति पैदा हो जाती है। वह कौन था, जो नहीं आया या नहीं आ सका? और वह कौन है, जो इंतज़ार करता रहा? फ़ैज़ की मशहूर नज़्म 'तन्हाई' ('अपने-बे-ख़्वाब़ किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल कर लो/अब यहां कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा') जिस भाव को व्यक्त करती है, उसी की ज़्यादा गहन, लेकिन बहुत ही शांत अभिव्यक्ति इस शेर में हुई है। इंतज़ार के उस क्षण की पूरी बेचैनी और भावी आगंतुक के न आने से उत्पन्न भय और आशंका को पूरा-पूरा यहां रख दिया गया है। यहां कर्त्ता है दरवाज़े की ज़ंजीर। लेकिन हम इतना कुछ समझते नहीं, फूल देखने के पहले ही उसकी ख़ुशबू हम तक आती है और एक गहरे दुख का एहसास हमें होता है। कविता की यह जो शक्ति होती है हमें अपने इशारे पर नचाने की, वह फ़ैज़ की ख़ासियत है। इसी तरह

कुछ पहले इन आंखों आगे क्या-क्या न नज़ारा गुज़रे था
क्या रौशन हो जाती थी गली जब यार हमारा गुज़रे था

में कुछ ऐसा है जिसकी व्याख्या शायद संभव नहीं। यह पूरी ग़ज़ल अपने भाव और वस्तु में अवसाद से

भरी है और एक तरह की नॉस्टेल्जिया से भी, लेकिन इसकी लय में एक मस्ती है, और कहीं न कहीं सुख की अनुभूति भी। इसी की आख़िरी पंक्ति है 'आंख उठते ही एक नज़र में आलम सारा गुज़रे था'। इस ग़ज़ल की लय में अजब जादू है, जो फ़ैज़ में हर जगह है शब्दों का जादू, लय का जादू, जो अभी भी कविता मात्र की एक ख़ास ख़ूबी है।

फ़ैज़ की दुनिया में क़दम रखते ही लगता है, 'कितने हाथों से हम-आगोश मेरा हाथ रहा'। फ़ैज की शायरी को पढ़ते हुए हमेशा यह इच्छा होती है कि कुछ दोस्त-मुहिम भी साथ होते। फ़ैज़ की शायरी लोगों से मिलने की इच्छा पैदा कर देती है।

मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर की इन कविताओं में ज़्यादा संयम है और इसीलिए ज़्यादा तलख़ी है। 'लाओ तो क़त्लनामा मेरा मैं भी देख लूं, किस किसकी मुहर है सर-ए-महज़र लगी हुई' की जड़ शायद यहां भी हो 'कौन क़ातिल बचा है शहर में फ़ैज़/जिससे यारों ने रस्मो-राह न की' ('शीशों का मसीहा')। लेकिन अब तलख़ी ज़्यादा है, वज़न भी ज़्यादा है और अर्थ भी काफ़ी विस्तृत हो चुका है। फ़ैज़ इन कविताओं में बहुत कम शब्द बोलते हैं। सारे फालतू शब्द छांट दिये जाते हैं और उतना ही बाक़ी रह जाता है जितना बेहद ज़रूरी था। कभी-कभी तो फ़ैज़ अपने अनुभवों को पूर्ववर्ती कवियों के अनुभवों से जोड़कर उन्हीं के अल्फ़ाज़ से अपना काम चला लेते हैं

हमें क्या बुरा था मरना
अगर एक बार होता

और शायद यह भी उसी काव्य-कौशल की देन है जिससे पुराने प्रतीक नये अर्थ व्यंजित करते हैं। इसी तरह मख़्दूम साहब की एक ग़ज़ल की दो पंक्तियों की ताना-भरनी पर फ़ैज़ पूरी ग़ज़ल बुन लेते हैं, जो मख़्दूम की ग़ज़ल से जुड़ी होने के बावजूद उससे भिन्न अर्थ भी व्यंजित करती है 'आपकी याद आती रही रात भर/ चांदनी दिल दुखाती रही रात भर', या फिर दूसरी कविता में 'उसी अंदाज़ से चल बाद-ए-सबा आख़िर-ए-शब'।

फ़ैज़ के इस संग्रह में अनेक रूपों, शिल्पों की कविताएं हैं। ग़ज़ल तो है ही, एक दखनी ग़ज़ल भी है 'सब पूछे थे अहवाल जो कोई दर्द का मारा गुज़रे था'; क़व्वाली भी है 'फ़ज़ा में बिजलियां लहरायीं फिर से ताज़यानों की/ क़लम होने लगी गर्दन क़लम के पासबानों की'। इसी तरह गीत भी हैं और गद्य-कविताएं भी। फ़ैज़ ने, जो पाकिस्तान के नागरिक हैं, इनमें से कई कविताएं बैरूत, पेरिस और मास्को में लिखी हैं, जो वहां की ज़िंदगी से संबंधित हैं, लेकिन वस्तुतः जो समूचे इनसान की ज़िंदगी के बारे में हैं। यह भी फ़ैज़ की शायरी का एक दिलचस्प पहलू है। विश्ववादी शायरी के मुक़ाबले यह है अंतर्राष्ट्रीय शायरी। इस संग्रह में दो कविताएं पंजाबी में भी हैं। फ़ैज़ कठिन शब्दों अरबी-फ़ारसी के शब्दों और लंबे शब्द-समुदायों के लिए मशहूर हैं, लेकिन इस संग्रह में यह चीज़ कम होती गयी है। यहां फ़ैज़ ज़्यादा सहल हैं। कविता को वे ज़्यादा से ज़्यादा सुगम बनाते गये हैं। इसी से वे पंजाबी किसानों को संबोधित करते हैं

उठ उत्तां नू जट्टा

फ़ैज़ की शायरी में आदमी पूरी गरिमा और शान के साथ मौजूद है। मक़तल की ओर जाते हुए भी उसका माथा नहीं झुकता। आदमी की खुद्दारी की इतनी जबर्दस्त अभिव्यक्ति आधुनिक कविता में बहुत कम

हुई है। यहां 'लघुमानवों' की बेचारगी नहीं है। 'मालवाले हिक़ारत से तकते रहे/तान करते रहे, हाथ मलते रहे।'

ज़हर से धो लिये हैं होंठ अपने
लुत्फ़-ए-साक़ी ने जब कमी की है
तेरे कूचे में बादशाही की
जब से निकले गदागरी की है

यह उस वक़्त की शायरी है, जब

अब के बरस दस्तूर-ए-सितम में क्या क्या बाब ईज़ाद हुए
जो क़ातिल थे मक़तूल हुए, जो सैद थे अब सय्याद हुए

फ़ैज़ ने अपने वक़्त की इस खासियत को व्यक्त किया है। इस पूरी किताब को पढ़ने के बाद यही लगता है

जो गुज़रते थे दाग़ पर सदमे
अब वही कैफ़ियत सभी की है।

मो. : 09931443866

कपास में आग

कृष्ण कल्पित

प्रतीयमानं पुनरन्यरेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य मिवाङ्गनासु।। 4।।

(महाकवियों के वचनों में अर्थवान कुछ और ही वस्तु है, जैसे स्त्रियों में उनके प्रसिद्ध अंगों के अतिरिक्त लावण्य भासित होता है।)

9वीं शताब्दी में आनंदवर्धन रचित *ध्वन्यालोक* में इसी लावण्य को काव्यार्थ बताया गया है। स्त्रियों का लावण्य और मुक्तावलियों की आब या आभा की तरह ही महाकाव्यों की कविताओं में उनका अर्थ विभासित होता है इसी लावण्य को आनंदवर्धन अपने अमर-अप्रतिम काव्यशास्त्र-ग्रंथ का आधार बनाते हैं, जिसे वे ध्वन्यर्थ के रूप में विकसित करते हैं और 'रस' पर आकर रूढ़ हो गयी संस्कृत काव्यशास्त्र परंपरा को एक नयी राह दिखाते हैं।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविता पर लिखते हुए *ध्वन्यालोक* को याद करना अटपटा ज़रूर लग सकता है लेकिन असंगत नहीं। फ़ैज़ की समूची शायरी में यह लावण्य-आब-आभा झिलमिलाती रहती है। यही कारण है कि फ़ैज़ की कविता के अर्थ का अंत नहीं होता।

वह नित्य-नवीन ध्वनियों की अर्थच्छाया से जगमगाता है। वहां मानी मरते नहीं बल्कि शेर सर्वथा नये रूप से मानीख़ेज होता रहता है। इसी अर्थ में कोई कविता काल को जीतने अर्थात कालजयी होने का दावा पेश करती है। इसी तरह अक्षर अपनी अर्थ-छवियों-ध्वनियों से मृत्यु को परास्त करते हैं यही कारण है कि फ़ैज़ की मृत्यु के चौथाई दशक बाद भी उनकी मृत्यु का आभास हमें नहीं होता। अपने जीवनकाल में फ़ैज़ जिस तरह अपनी कविता के ज़रिए हमारे साथ थे आज भी हर घड़ी, हर समय, हर आफ़त-संघर्ष-उल्लास में फ़ैज़ हमारे साथ खड़े नज़र आते हैं। हर महान कवि की मृत्यु अंततः मिथक में बदल जाती है कालिदास-भर्तृहरि-तुलसीदास-मीर-ग़ालिब सब आज भी अपनी मृत्यु से परे अपने काव्यार्थ में झिलमिलाते रहते हैं और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ भी।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ अपने युवाकाल में ही एक शायर के रूप में मशहूर हो गये थे और प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कुछ बरस पहले ही अपनी अनेक नज़्मों के कारण उर्दू शायरी के एक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित कवि मान लिये गये थे। उनकी पहली कविता-संकलन *नक़्शे-फ़रियादी* 1941 में प्रकाशित हुआ।

दोनों जहान तेरी मुहब्बत में हार के
वो जा रहा है कोई शबे-ग़म गुज़ार के
दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझसे भी दिलफ़रेब है ग़म रोज़गार के

जैसी पंक्तियां काव्य प्रेमियों की ज़बान पर चढ़ गयी थीं। ग़मे जानां और ग़मे-दौरां के बीच विचरण करने वाली उनकी शायरी ने इस उपमहाद्वीप के लोगों का दिल जीत लिया। मीर के बाद ग़ालिब ने उर्दू ग़ज़ल विधा को मुनष्य की अंतरआत्मा की आवाज़ बनाकर, दरअसल ग़ज़ल के मैदान को बहुत विस्तृत और मुश्किल कर दिया था। ग़ालिब की मृत्यु के कोई साठ बरस बाद ख़ास तौर से तीन युवा शायरों फ़ैज़, मजाज़ और मख़्दूम ने उसकी रूमानियत बरकरार रखते हुए अपने समय-समाज और नये ज़माने की हक़ीक़तों को पिरो कर, मीर और ग़ालिब जैसे महाकवियों द्वारा अंतिम बूंद की तरह निचोड़ ली गयी इस विधा में नयी जान फूंकी। इस तरह फ़ैज़, मजाज़ और मख़्दूम की एक त्रयी बनती है, जिसने जीवन समाज, सियासत, प्रेम, क्रांति और प्रतिरोध के तत्वों से ग़ज़ल का एक नया असरदार कीमिया तैयार किया जिसने बाद में साहिर लुधियानवी जैसे शायरों की राह आसान की।

इन तीनों के अलावा जज़्बी, जांनिसार अख़्तर, नून-मीम-राशिद आदि को जोड़कर उस समय के बाग़ी शायरों का एक पूरा गोल भी बनता है। अली सरदार जाफ़री अपनी पुस्तक 'लखनऊ की पांच रातें' में इस दौर का नक़्शा इस तरह खींचते हैं 'ये इस अहद के बाग़ी हैं, सरफिरे, ऐशो-निशात के दिलदार मगर कफ़न-बरोश। ये अभी अज़ीम नहीं है, लेकिन इनके नाम के अफ़साने बन चुके हैं, उर्दू शेरो-अदब के नये धारे अब उनके नाम पर बहेंगे। ये नया जज़्बा, नया एहसास, नयी ज़ुबान लेकर आये हैं, माज़ी का सारा विरसा इनके पास है, जदीद तालीम की आलातरीन डिग्रियां इनके पास हैं, इसलिए क़दीम व जदीद का इम्तज़ाज इनके यहां ख़ुद-ब-ख़ुद पैदा हो गया है। ये पुराने हीरों को नयी तरह तराश रहे हैं। हिज्रो-विसाल की दास्तानें इनको आती हैं। महबूब के वादा-ए-फ़र्दा की लज़्ज़त से वाक़िफ़ हैं। लेकिन हिंदुस्तान की आज़ादी इनकी सबसे बड़ी महबूबा है और इस महबूब के सामने नयी शायरी पर एतराज़ करने वालों की गरदन झुक जाती है।

संस्मरणों की इसी पुस्तक में सरदार जाफ़री फ़ैज का ख़ाका इस तरह खींचते हैं 'और यह फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ हैं, लाहौर के गली-कूचों की तख़लीक। चेहरे की मुस्कुराहट उदास है, लेकिन आंखें नर्म और मुहब्बत भरी, आवाज़ में हल्का-सा गुदाज़ और शेरों में दिल की धीमी-धीमी आंच जो लफ़्ज़ों के संगीत को पिघलाकर रंग बना देती है और हर एक मिसरा पेंटिंग बन जाता है। एक हसीन व जमील तस्वीर जो दिल में आवेज़ा हो जाती है, तशबीहें व हस्तआरे नर्म-रौ शेरों के अंदर बिजलियों की तरह कौंधते हैं, और आंखें चकाचौंध हो जाती हैं, मगर ये वो बिजलियां हैं, जो सिर्फ़, फ़ैज़ नन्हे-नन्हे शरारे से बना सकता है

गुल हुई जाती है अफ़सुर्दा सुलगती हुई शाम
घुल के निकलेगी अभी चश्म-ए-मेहताब से रात
और मुश्ताक़ निगाहों की सुनी जायेगी
और उन हाथों से मस होंगे ये तरसे हुए हाथ।

(मौज़ू-सुख़न से)

आगे सरदार जाफ़री फ़ैज़ की शख़्सियत-शायरी का वर्णन करते हुए लिखते हैं 'यह आहंग फ़ैज़ की रूह के लिए नया बांगे-जरस था जो आख़िरी उम्र में फ़ैज़ को फ़िलस्तीनी मुज़ाहिदों के ख़ेमों में ले गया। कुछ यही सूरते-हाल बैरूत में फ़ैज़ के साथ थी, जिसके हाथ में रायफल नहीं थी, सिर्फ़ शायरी का गिटार था।'

फ़ैज़-मज़ाज-मख़्दूम की त्रयी भले ही आगे चलकर बिखर गयी लेकिन इन्होंने उर्दू में तरक़्क़ीपसंद शायरी का रास्ता खोल दिया। मख़्दूम दकन में राजशाही से लोहा लेते रहे, मजाज़ जैसे मर्मस्पर्शी शायर को शराब की नागन ने डस लिया और फ़ैज़ पाकिस्तान में तानाशाही का मुक़ाबिला करते हुए गिरफ़्तार होते रहे बाहर आते रहे। तानाशाही हुकूमतों के दमन-चक्र भी फ़ैज़ को डिगा नहीं सके। मनुष्यता के पक्ष में और मानवीय मूल्यों को कुचलने वाली शक्तियों के विरुद्ध कविता से कैसे काम लिया जाये फ़ैज़ की शायरी इसका जीवंत उदाहरण है। मार्क्सवाद में अपनी अडिग आस्था और कविता-कला में गहरे विश्वास के कारण फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ सिर्फ़ पाकिस्तान या उर्दू के शायर ही नहीं रहे बल्कि वे अपने जीवनकाल में ही इस उपमहाद्वीप की आवाज़ बन गये। हिंदी के लिए उर्दू के उत्कृष्ट शायर कभी अज़नबी नहीं रहे लेकिन फ़ैज़ अपने जीवनकाल में हिंदी और हिंदुस्तान के संभवतः सर्वाधिक प्रिय शायर बने रहे। यही कारण था कि सातवें दशक के अंत में विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले हम जैसे युवाओं को फ़ैज़ का कलाम कंठस्थ था और उसे हम आंदोलनों-जलसों-पोस्टरों में इस्तेमाल करते थे। यह वह दौर था जब हमारे एक हाथ में मुक्तिबोध और दूसरे में फ़ैज़ की किताब हुआ करती थी।

तब तक फ़ैज़ की ग़ज़लों-नज़्मों को मेंहदी हसन, बेगम अख़्तर और नूरजहां ने अपने सुरीले सुरों में गाकर समूची दुनिया में और ग़ैर-अदबी लोगों तक मशहूर कर दिया था। फ़ैज़ मुशायरों में अपना कलाम तरन्नुम में नहीं पढ़ते थे। वे जिगर मुरादाबादी की तरह अपनी बेगम अख़्तर ख़ुद नहीं थे। मुझे दिल्ली में और जयपुर में दो बार उनकी कविताएं सुनने का अवसर मिला। वे बेहद संजीदा आवाज़ में थम-थम कर अपना कलाम पढ़ते थे, जैसे आपसे बातचीत कर रहे हों। लोकप्रियता से नाक-भौं सिकोड़ते हिंदी-आधुनिकों को फ़ैज़ के उदाहरण से यह सीखना चाहिए कि उच्च कोटि के अदबी मेयार वाली शायरी भी लोकप्रिय हो सकती है। 1980 में पाकिस्तान के अख़बारों में इस बात का सर्वेक्षण किया गया था कि फ़ैज़ और फ़राज़ में से अधिक लोकप्रिय कौन है? उस सर्वेक्षण में ग़ज़ल-गायकों के प्रिय रूमानी-लोकप्रिय शायर अहदम फराज़ से अधिक लोकप्रिय फ़ैज़ पाए गये। सर्वेक्षण के इस चौंकाने वाले नतीजे पर मैंने उस वक़्त *राजस्थान पत्रिका* में और *प्रभात ख़बर* में विस्तृत लेख लिखा था। वह लेख भी मेरी गुमशुदा प्रिय चीज़ों में शामिल हैं।

उर्दू कविता और आलोचना को समझने का मेरा कोई दावा नहीं है। फ़ैज़ शताब्दी वर्ष में फ़ैज़ पर कुछ लिखने का साहस केवल इस आधार पर कर रहा हूं कि उर्दू शायरी भी हमारी साझा परंपरा का हिस्सा रही है और फ़ैज़ की शायरी ने भी हमें उसी तरह मुत्तास्सर किया है जैसे निराला और मुक्तिबोध की कविता ने। उर्दू की गंभीर आलोचना में पता नहीं नज़्म और ग़ज़ल के भेद या किस तरह लिया गया है लेकिन आपसी बातचीत और अदबी-बहसों में यह बात बहुत कही जाती है कि कोई बड़ा कवि ग़ज़ल का बड़ा शायर है या नज़्म का। फ़िराक़, फ़ैज़ और मजाज़ को लेकर बार-बार इस तरह की बात की जाती रही है। मेरा इस बारे में सोचना यह है कि बात इस पर होनी चाहिए कि कोई बड़ा शायर है या नहीं? मीर अनीस और दबीर मर्सिए के बड़े शायर हैं। यहां तक तो ठीक है, क्योंकि मर्सिया एक भिन्न विधा है। हिंदी में ऐसी बहस कभी नहीं हुई कि कबीर दोहे का बड़ा कवि है या साखी या रमैनी का या तुलसी

चौपाई के बड़े कवि हैं या दोहे के या निराला छंद के बड़े कवि हैं या मुक्त छंद के या मुक्तिबोध लंबी कविताओं के बड़े कवि हैं या छोटी कविताओं के या त्रिलोचन सॉनेट के बड़े कवि हैं या मुक्त कविता के इत्यादि। कोई कवि अपनी संपूर्ण-सर्जना से ही बड़ा कवि बनता है। मुझे लगता है कि उर्दू में भी इस बहस को अकादमिक दर्जा प्राप्त नहीं होगा बल्कि एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए ही ऐसे जुमले इस्तेमाल किये जाते होंगे। जबकि यह तय है कि फ़िराक़, फ़ैज़ और मजाज़ ने नज़्म और ग़ज़ल दोनों ही शिल्पों में उत्कृष्ट काव्य रचना की है।

ऐसा नहीं है कि फ़ैज़ को अपने वक़्त में आलोचनाओं का सामना नहीं करना पड़ा। बार-बार जेल की सलाखों के पीछे धकेले जाने के बावजूद उन पर एलीट जीवनशैली, बीच-बीच में सत्ताधारियों से नज़दीकी का और अपने अंतिम दिनों में इस्लाम में आस्था का आरोप उन पर लगता रहा। उनकी कविता भी आलोचना से परे नहीं रही। अहमद नदीम क़ासिमी फ़ैज़ के बारे में लिखे संस्मरण के अंत में लिखते हैं 'फ़न और शख़्सियत के फ़ैज़ नंबर में मैंने जहां फ़ैज़ की मीठी-रसीली शायरी का ज़िक्र किया, वहां ये भी कहा है कि फ़ैज़ फ़िक्र व हिकमत की गहराइयों में जाने से जान कर गुरेज़ करते थे, वर्ना जिस तरह उन्होंने अपनी शायरी में 'इंक़िलाब के मौज़ूं' को बरता, उसी तरह वो फ़िक्री शायरी को भी कलात्मक सौंदर्य का एक हिस्सा बना सकते थे। उनके यहां अगर फ़िक्री गहराई नहीं है तो नक्क़ाद हज़रात ही इसकी वजहें बता सकते हैं कि एक निहायत पढ़े-लिखे और उर्दू, पंजाबी के इलावा अंग्रेज़ी, अरबी और फ़ारसी ज़बानों के जानकार शख़्स ने फ़िक्री शायरी को अमलन क्यों रोके रखा, जबकि ग़ालिब, फिर इक़बाल और दौरे-हाज़िर में नून मीम राशिद की शायरी ने फ़िक्र को शेर में ढालने का काम आसान बना दिया था।'

अहमद नदीम क़ासमी की फ़ैज़ की शायरी से यह मांग और यह आलोचना कहां तक उचित है? क्योंकि कोई भी बड़ी शायरी बग़ैर फ़िक्र, बिना चिंतन, बिना सोच के कैसे संभव हो सकती है? अगर अहमद नदीम क़ासमी का फ़िक्र से ताल्लुक़ किसी अध्यात्मिक चिंतन से नहीं है तो!

दिल ना उम्मीद तो नहीं, नाकाम ही तो है
लंबी है ग़म की शाम मगर शाम ही तो है
भीगी है रात 'फ़ैज़' ग़ज़ल इब्तिदा करो
वक़्ते-सरोद, दर्द का हंगाम ही तो है

दरअसल फ़ैज़ की शायरी में फ़िक्र की कमी का रोना रोने वालों के लिए मैं फ़िक्र ही कर सकता हूं, क़ासमी साहेब!

जब-जब भी फ़ैज़ को पढ़ता हूं, मुझे शमशेर की बेतरह याद आती है पता नहीं क्यूं? उर्दू के लिए? नहीं। शमशेर ने अपने समकालीन कवियों पर जितनी मर्मस्पर्शी कविताएं लिखी हैं फ़ैज़ भी उसी तरह अपने समकालीन कवि मित्रों के बारे में तन्मय होकर लिखते हैं। मख़्दूम के बारे में, नाज़िम हिकमत के बारे में, नाज़िम हिकमत की प्रेमिका-पत्नी के बारे में, वाज्नेसेंस्की के बारे में, रमूल हमजातोव के बारे में वे अपनी कविता के ज़रिये एशियाई कविता का पूरा परिदृश्य बुनते हैं। और परंपरा में वे किसको अपनी कविता में याद करते हैं ग़ालिब को, सौदा को, ज़ौक़ को, और फ़ारसी कविता में उनके प्रिय कवि हाफ़िज़ ठहरते हैं। फ़ैज़ की शायरी 'डॉक्यूमेंटेड' कविता है। 15 अगस्त 1947 का ऐसा दस्तावेज ('सुब्हे आज़ादी') फ़ैज़ के अलावे और कौन कहेगा?

ये दाग़-दाग़ उज़ाला, ये शब गज़ीदा सहर
वो इंतिज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं।

फ़ैज़ की शायरी में तारीख़ें बहुत महत्वपूर्ण है यह अक्समात नहीं है कि फ़ैज़ की अधिकतर शायरी में हमें लिखने की तारीख़ और उस जगह का नाम मिलता है जहां वह लिखी गयी।

अपने पूर्वज कवियों में ग़ालिब फ़ैज़ के सर्वाधिक निकट ठहरते हैं। ग़ालिब की अपने समय से संघर्ष करती आधुनिक दृष्टि को ही फ़ैज़ अपनी तरक़्क़ीपसंद विचारधारा में ढालते हैं। ग़ालिब को ज़ाहिरा तौर पर तो फ़ैज़ याद करते ही हैं इसके आगे जाकर वह फ़ैज़ की कविता-चेतना का हिस्सा बन जाते हैं। मीर की शायरी के बियाबान वन के बीचोंबीच ग़ालिब अपनी आधुनिक कैंचियों से जिस दिलफरेब बग़ीचे का निर्माण करते हैं फ़ैज़ उसे ही नये शिल्प, नयी विचारधारा में ढालते हैं। फ़ैज़ 1968 में पाकिस्तान में 'इदारए-यादग़ारे-ग़ालिब' की स्थापना करते हैं और 1969 में ग़ालिब की मृत्यु शताब्दी का आयोजन करते हैं। 1973 में फ़ैज़ ग़ालिब की इस ग़ज़ल को निबंध लिखने के लिए चुनते हैं :

मुद्दत हुई है यार को मेहमां किये हुए
जोश-ए-क़दह से बज़्म चराग़ां किये हुए
मांगे है फिर किसी को लब-ए-बाम पर हवस
ज़ुल्फ़े-सियाह रुख़ पे परीशां किये हुए

ग़ालिब की इस ग़ज़ल पर फ़ैज़ साहब का निबंध आपकी नज़रों से गुज़रा होगा, नहीं तो कोशिश करके गुज़ारियेगा, पाठ-आधारित आलोचना का यह दुर्लभ नमूना है। जहां अपने समय का एक कवि अपने पूर्वज कवि के काव्यार्थ को एक नये अनूठे अंदाज़ में खोलता है। वह मीर के बियावान-बेहद-वन में बने ग़ालिब के आधुनिक बग़ीचे में अपनी कतरब्योंत करता है ग़ालिब की पद-रचना पर वे बार-बार चलते दिखाई देते हैं और अंत में तो वे ग़ालिब के यहां समर्पण करते हुए से लगते हैं

बहुत मिला न मिला ज़िंदगी से ग़म क्या है
मता-ए-दर्द बहम है तो बेशो-कम क्या है
सजाओ बज़्म ग़ज़ल गाओ जाम ताज़ा करो
बहुत सही ग़मे गेती, शराब कम क्या है

'जो आंख ही से न टपके तो फिर लहू क्या है' की ज़मीन की याद दिलाती हुई फ़ैज़ की यह ग़ज़ल 'सारे सुख़न हमारे' में उनकी अंतिम ग़ज़ल के बतौर प्रकाशित है हालांकि उसके बाद तीन-चार और रचनाएं भी उनकी अंतिम कविता की तरह प्रचारित की गयीं जिनमें उनकी इस्लाम के प्रति आस्था को स्थापित करने की कोशिश की गयी। सच तो ये है कि फ़ैज़ ने एक सच्चे कम्युनिस्ट और प्रतिबद्ध कवि का जीवन जिया।

फ़ैज़ एक ऐसी शख़्सियत थे, जिनके हर क़दम को बहुत गौर से देखा जाता था। अहमद नदीम क़ासमी कहते हैं '...मगर आपने किस ख़ुशी में अपनी तारीख़ के घिनौने किरदार ... अंग्रेज़ ... की फ़ौजी मुलाज़मत ग़ुलामी ही के दिनों में क़बूल फ़र्मा ली थी!' शुरुआती दौर के इस काम के लिए फ़ैज़ साहब पर अक्सर छीटाकशी की गयी। मजाज़ लखनवी का यह हिजो तो बहुत मशहूर है

शायर हूं और अमीं हूं उरूसे-सुख़न का मैं
कर्नल नहीं हूं, खान बहादुर नहीं हूं मैं।

लेकिन फ़ैज़ अपनी आलोचनाओं का उत्तर अपनी शायरी की नैतिक ताक़त से देते रहे। 93 पृष्ठ की छोटी-सी किताब *नक़्शे-फ़रियादी* प्रकाशित होते ही फ़ैज़ मशहूर हो गये और एक सार्वजनिक शख़्सियत बन गये थे। इस बारे में यह आकलन देखिए 'इस छोटी सी कृति के कारण जो प्रतिष्ठा एवं ख्याति फ़ैज़ को प्राप्त हुई, इससे पूर्व किसी भी उर्दू शायर को इतनी अल्प कविता-निधि पर और इतनी शीघ्र प्रसिद्धि नसीब नहीं हो पाई। मिर्ज़ा ग़ालिब का दीवान भी अन्य शायरों की तुलना में बहुत संक्षिप्त है और उनका स्थान शायरों में सर्वोपरि समझा जाता है, किंतु यह प्राथमिकता एवं यश उन्हें अपने जीवनकाल में न मिलकर 30-40 वर्ष के बाद प्राप्त हुआ।'

इसके बाद फ़ैज़ का जीवन और शायरी एक हो गयी। यह अजब बात है कि फ़ैज़ की शायरी को उनकी आत्मकथा की तरह भी पढ़ा जा सकता है। फ़ैज़ के साथ रावलपिंडी अभियोग में बंदी मेजर मुहम्मद इस्हाक़ लिखते हैं : 'सरगोधा और लायलपुर की जेलों में तीन महीनों की क़ैदे-तनहाई के दिन बहुत मुश्किल दिन थे। काग़ज़-क़लम, दावात-किताबें, अख़बार-ख़तूत सब चीज़ें वर्जित थीं...'

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो ग़म क्या है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में जबां मैंने

फ़ैज़ साहब पर लिखते हुए मैंने इस बात का ध्यान रखना चाहा है कि आलेख में उनकी कविता के उद्धरण कम से कम दिये जायें, अन्यथा मुश्किल है कि उनके 'सारे सुख़न' लिखने पड़ेंगे। फ़ैज़ की कविता पर विचार करते हुए सब कुछ कहा गया है कि यह उच्च कोटि की नैतिक शायरी है, प्रतिबद्ध-प्रगतिशील शायरी है, मुहब्बत और इंक़लाब की शायरी है, लेकिन उनकी शायरी की इस ख़ूबी की तरफ़ इशारा कम किया गया है कि फ़ैज़ की शायरी सच्चे और अलग अर्थों में पूरब की शायरी है। फ़ैज़ की तमाम शायरी में जो रूपक, उपमान, प्रतीक सब उर्दू-फ़ारसी की पारंपरिक शायरी से लिए गये हैं फ़ैज़ ने बड़ी ख़ूबी से उसकी अंतर्वस्तु बदल दी है। यह अकारण नहीं है कि फ़ारसी-महाकवि हाफ़िज फ़ैज़ के प्रिय कवियों में शुमार हैं। उर्दू के एक उत्साही नक्काद ने एक बार 'चले भी आओ कि गुलशन का कारोबार चले' के हवाले से यह स्थापित करने की कोशिश की थी कि फ़ैज़ साहब ने कारोबार जैसे ग़ैर-शायराना और बाज़ार के शब्द को किस सलाहियत के साथ अपनी कविता में इस्तेमाल किया...इत्यादि। अति उत्साह में ये नक्क़ाद मीर तक़ी मीर को भूल गये जहां हर मोड़ पर शायरी का 'कारोबार' है।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने अपनी शायरी में अपने समकालीन कवियों के अलावा हाफ़िज़, ग़ालिब, सौदा, ज़ौक़, दाग़ आदि अपने पूर्ववर्ती कवियों को याद किया है, लेकिन यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि वे मीर तक़ी मीर को कहीं भी याद नहीं करते। दो-तीन दक्खिनी रंग की ग़ज़लों को छोड़कर उनके यहां रेख़ते का प्रयोग भी कम देखने में मिलता है। यह सही है कि फ़ैज़ के समय तक उर्दू का परिष्कृत स्वरूप बन चुका था उनकी समूची शायरी इसी परिष्कृत उर्दू में है। पंजाबी फ़ैज़ की मातृभाषा थी जिसमें उन्होंने कविता भी लिखी है। अगर पूर्व में युक्त रूपक का सहारा लेकर कहूं तो फ़ैज़ ग़ालिब के तराशे

हुए, उत्कृष्ट, कलात्मक बागीचे तक ही ख़ुद को महदूद रखते हैं और ग़ालिब के इस दिल-फरेब-बग़ीचे के बाहर मीर तक़ी मीर का जो बीहड़ बन फैला हुआ है वे उधर का रुख़ कभी नहीं करते। मुझे यह कहने दिया जाये कि ग़ालिब के बग़ीचे का स्तब्ध कर देने वाला सौंदर्य सिर्फ़ इसलिए तो नहीं है कि वह मीर की शायरी के बीहड़ वन के बीचोबीच बना हुआ है। मीर के जंगल ने ग़ालिब के बागीचे के सौंदर्य, उसकी प्राण-वायु को बचा रखा है।

फ़ैज़ के जीवनकाल में भी मीर के इस उजाड़ जंगल की जंगली, ख़ुशनुमा, सादा-सरल बेलें नासिर क़ाज़मी के रूप में उगती रहीं। फ़ैज़ ने जहां ग़ालिब की आधुनिकता को मार्क्सवादी विचार से जोड़कर उर्दू कविता में एक नयी वैचारिकता और कलात्मकता पैदा की वहीं नासिर क़ाज़मी ने मीर तक़ी मीर के बीहड़-सुनसान और मनुष्य को सर्वोपरि मानने वाली शायरी में नये अध्याय जोड़े। नासिर क़ाज़मी फ़ैज़ का विपक्ष नहीं है बल्कि फ़ैज़ की अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि जब-जब मामूली, अपने आसपास की, धूल-मिट्टी-गर्दो-गुबार को भूलती है, तब नासिर उन छूटी हुई जगहों को अपनी उदासी, सन्नाटे और ख़ास हिंदुस्तानी-पाकिस्तानी परिंदों की आवाज़ से उसे भरते हैं। इस तरह आज़ादी के बाद पचास बरसों की उर्दू-शायरी का चित्र मुकम्मल होता है।

अपने आख़िरी दौर में फ़ैज़ सचमुच अंतर्राष्ट्रीय शख़्सियत बन चुके थे। लेनिन शांति पुरस्कार तो फ़ैज़ को 1962 में ही मिल चुका था। 1973 के बाद वे अफ़्रो-एशियाई लेखक संगठन में सक्रिय हुए। फ़ैज़ ने अफ़्रो-एशियाई लेखक संघ की पत्रिका *लोटस* का भी एक अरसे तक संपादन किया। इस दौर में फ़ैज़ ने एशिया-अफ़्रीका के प्रगतिशील लेखकों-कवियों की एक नयी बिरादरी क़ायम की। इस दौर में वे कभी ताशक़ंद, बीज़िंग, काहिरा, लेबनान, टर्की, लंदन, पेरिस घूमते रहे। हिंदुस्तान तो उनका दूसरा घर था ही। जिन शहरों में फ़ैज़ का मुक़ाम रहा उन पर फ़ैज़ ने यादगार नज़्में लिखी हैं। पूरब के शायर होते हुए भी उनमें एक विश्व-चेतना बसी हुई थी। इसी चेतना ने उनसे 'पेरिस' पर वह यादगार नज़्म लिखवाई, जो मेरी प्रिय कविताओं में शामिल है। पेरिस पर, जो कि यूरोपीय बौद्धिकता का मरकज़ कहलाता है, दुनिया भर के लेखकों-कवियों ने कथा-कहानी, गद्य-कविता, उपन्यास आदि लिखे हैं लेकिन फ़ैज़ की 'पेरिस' कविता बेजोड़ है। पेरिस की यातना-रौशनी-अंधरे-बेसरोकारी और उसकी समूची आत्मा को फ़ैज़ ने जैसे इस छोटी सी नज़्म में निचोड़ लिया है।

...किसी साया-ए-दीवार से लिपटा हुआ साया कोई
दूसरे साए की धुंधली सी उम्मीद लिए
ज़ेरे-लब शामे-गुजिस्तां की तरह
शरहे बेदरदी-ए-अय्याम की तमहीद लिए
और कोई अजनबी
इन रौशनियों के सायों से कतराता हुआ
अपने बेख़्वाब शबिस्तां की तरफ़ जाता हुआ।

'ध्वन्यालोक' में आनंदवर्धन जिसे ध्वनि या लावण्य कहते हैं, उसे ही शायद अरबी-फ़ारसी-उर्दू काव्यशास्त्र में फ़िक्र कहते होंगे। जो हो, फ़ैज़ की समूची शायरी फ़िक्र में लिपटी हुई शायरी है, जिसके हर शब्द में से लावण्य झिलमिला रहा है, रहेगा। जैसे मुक्ता-मालाओं में आब-आभा दिपदिपाती रहती है। हर बार एक नयी कौंध, नया रंग, नया उजाला और नया अर्थ!

तीन तारीख़ : तीन संदेश

मुरली बाबू उस दिन दूरदर्शन आये थे पुष्पराज के साथ। उन्होंने हरीश भादानी पर लिखने को कहा। तब तक हरीश भादानी पर बहुत सारे अच्छे-ख़राब संस्मरण-लेख इधर-उधर छप चुके थे। वह काम अभी बाक़ी है। अब उन तीन तारीख़ों को फ़ैज़-शताब्दी के अवसर पर जारी उन तीन संदेश-कविता को यहां लिखता हूं, जिन्हें पढ़कर ही संपादक (*नया पथ*) को लगा होगा कि मैं फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ पर कुछ लिख सकता हूं

बात है ये गये जमाने की।
फ़ैज़ साहब को गुनगुनाने की।
बात फिर छेड़ उस दिवाने की।
उसको सुनने की और सुनाने की।
आहटें ख़ूब ध्यान से सुनियो,
इसके आने की उसके जाने की।
जल गयी जो अदब की बस्ती थी,
राख बिखरी है उस घराने की।
'अब कहां रस्म घर लुटाने की।
बरकतें थीं शराबखाने की।'

फ़ैज़, 100-1
27 मई, 2010

तुम चाक-गरेबां कहते हो,
तब कपड़े तक फट जाते थे।
जब यूनिवर्सिटी के रस्तों पर,
हम फ़ैज़ के नग़मे गाते थे।
सिगरेट का धुआं उठता था,
तब बादल झूम के आते थे।
तुम सुनते सुनते सुनते थे,
हम गाते गाते गाते थे।
मैं फ़ैज़ की नज़्मों के ज़रिए ही,
तेरे दिल में उतरा था।
मैं सुबह से बैठा रहता था,
तुम आते आते आते थे।

फ़ैज़, 100-2
28 मई, 2010

तांबे सा सुतवां जिस्म सफ़ारी लिबास में।
सिगरेट हाथ में थी ओ' व्हिस्की गिलास में।

आना वो उसका झूम के शुअरा-ए-ख़ास में।
जैसे किसी ने आग लगा दी कपास में।
दिल्ली-दयार था
ये अठत्तर की बात है।
मैं भी वहां पे था
ये मुक़द्दर की बात है!

फ़ैज़, 100-3
29 मई, 2010

एक यादग़ार-ए-फ़ैज़

जयपुर। सांगानेरी गेट। मुस्लिम-मुसाफ़िर-ख़ाना। शमीम जयपुरी गर्मियों की उस जलती दोपहर में भी शेरवानी डाले हुए। शमीम जब भी जयपुर आते, अपनी हेवेली में कम और मुसाफ़िरखाना में अधिक रहते। वे मुशायरों में भटकते रहते मुंबई-फ़िल्म दुनिया से अपनी ब्रीफ़केस में नोट भरकर लाते। ख़त्म होने पर फिर चले जाते। हम उन दिनों उनकी संगत में थे। सुबह से मयनोशी का दौर चलता, कुछ तो इस लालच में और कुछ उनकी सुरीली आवाज़ और क्लासिकी शायरी के जादू में बंधे हुए उनकी सेवा-टहल करते। वे जदीद-शायरों को ऐसी-ऐसी गालियां सुनाते कि तबियत हरी हो जाती। उस दिन वो कुछ उधेड़-बुन में थे। किसी का इंतिज़ार कर रहे थे, घड़ी देख रहे थे। दोहपर जल रही थी वे टुन्न थे और हम मदहोश। उन्होंने पहली मंज़िल के कमरे से नीचे देखा। मुसाफ़िरखाना के दालान में एक सफ़ेद एंबेसडर टैक्सी रुकी। वे नीचे दौड़ पड़े। हम पीछे-पीछे। टैक्सी से फ़ैज़ साहब उतरे। शमीम ने उन्हें अपने से लिपटा लिया। फ़ैज़ साहब और शमीम। शमीम मुशायरों और सिनेमा के लोकप्रिय शायर थे ज़िगर मुरादाबादी की परंपरा के। हम रोमांचित थे। आधा घंटा बमुश्किल फ़ैज़ साहब वहां रुके। मैं नीचे से केतली में उनके लिए चाय लाया और फिर विल्स नेवी कट सिगरेट का पैकेट। वे लड़खड़ाते हुए शमीम को संभाले हुए सीढ़ियों से उतरे और उसी सफ़ेद एंबेसडर टैक्सी में शमीम के साथ अजमेर के लिए रवाना हो गये। ख्वाज़ा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह में मत्था टेकने। शमीम साहब अर्द्ध-बेहोश थे और फ़ैज़ साहब पूर्ण होश में। यह उनकी प्राइवेट-विज़िट थी। मैंने फ़ैज़ साहब से हाथ मिलाया। उनकी गुदाज़ हथेली का नरम स्पर्श मैं भला कैसे भूल सकता हूं।

टैक्सी धूल उड़ाती हुई अजमेर की ओर रवाना हो गयी। हम हतप्रभ हाथ हिलाते खड़े रहे।

जो हाथ फ़ैज़ साहब से मिलाया था मैं आज भी उसी हाथ से क़लम थाम कर कागज़ पर लिखता हूं जैसा भी लिखता हूं।

लावण्य या फ़िक्र उनकी शायरी में ही नहीं, उनके व्यक्तित्व में भी झिलमिलाता था।

मो. : 09968295303

ग़ुरूरे इश्क़ का बांकपन

मनमोहन

फ़ैज़ पर हिंदी के रचनाकारों, खासकर कवियों ने बहुत कम लिखा है। लेकिन फ़ैज़ के रचनाकर्म, उनके मिज़ाज, तेवर और प्रगीतात्मक संवेदन से हिंदी-उर्दू क्षेत्र के रचनाकारों का जो रिश्ता रहा है, उसे पूरे ऐतिहासिक परिदृश्य में मनमोहन ने प्रस्तुत किया है। सं.

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और उनकी शायरी की ज़गह और उसका मूल्य ठीक-ठीक वही बता सकते हैं जो उर्दू ज़ुबान और अदब के अच्छे जानकार और अधिकारी विद्वान हैं। मेरी समाई तो सिर्फ़ इतनी है कि अपने कुछ 'इंप्रेशन्स' (या इस कवि के साथ अपने लगाव की कुछ तफ़सीलें) रख दूं, सो यहां मैं इन्हीं को रखने की कोशिश करता हूं।

7वीं दहाई के जनवादी उभार के वर्षों में ख़ास तौर पर, और उसके बाद लगातार, हमारी पीढ़ी की हिंदी रचनाशीलता को हमारे जिन बुज़ुर्ग उस्तादों का ख़ामोश लेकिन मजबूत साथ और सहारा मिला; उनमें जर्मनी के बर्तोल्त ब्रेख़्त, तुर्की के नाज़िम हिकमत और हमारी उर्दू ज़बान के फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ शायद सबसे अहम थे। शायद इस पूरे दौर में नयी रचनाशीलता को ब्रेख़्त की कठोर आलोचनाशीलता और द्वंद्वात्मकता ने देखना सिखाया है और फ़ैज़ या नाज़िम हिकमत की खरी क्रांतिकारी रूमानियत ने मौजूदा रणक्षेत्र में अपने पक्ष के साथ खड़े रहने का हौसला दिया है और पराजय और अलगाव के कठिन क्षणों में अपनी स्वप्नशीलता और स्वाभिमान की हिफ़ाज़त करना सिखाया है।

यह बात भी ग़ौर करने लायक है कि पुराने प्रगतिशील आंदोलन की अत्यंत संपन्न विरासत में भी क्यों फ़ैज़ की उपस्थिति हमें सबसे जीवित और दमदार लगती रही है। वे आज भी लगभग हर तरह से हमारे समकालीन हैं। बल्कि मैं सोचता हूं, 1990 के बाद नव-साम्राज्यवादी बर्बरता के नये आलम में फ़ैज़ की शायरी में हमारे दिलों की धड़कन और ज़्यादा साफ़ सुनायी देने लगी है।

मुझे याद है कि इमरजैंसी के ख़ौफ़नाक दिनों में जब सव्यसाची द्वारा संपादित 'उत्तरार्द्ध' का पहला अंक (वैसे अंक-11) छपा और पत्रिका की पीठ पर फ़ैज़ की नज़्म 'लहू का सुराग़' ('कहीं नहीं है, कहीं भी नहीं लहू का सुराग़') छपी तो कितना बुरा-भला सुनना पड़ा। एकाध क्रांतिकारी दोस्तों ने यहां तक कहा कि फ़ैज़ 'भुट्टो के एंबेसडर' के सिवा क्या हैं। इनकी कविता आपने क्यूं छापी और 'दस्ते-नाखुने-क़ातिल' या 'खूंबहा' जैसे लफ़्ज़ों को कितने लोग समझते हैं? लेकिन मेरा ख़याल है कि यह नज़्म और इसके अलावा उन दिनों इसी पत्रिका में छपीं 'बोल के लब आज़ाद हैं तेरे' और 'निसार मैं तेरी गलियों पे' नज़्में न सिर्फ़ समझी गयीं, बल्कि इन्होंने उस कठिन समय में अजीब सी ताक़त दी और हमारे नैतिक-भावनात्मक

विक्षोभ को स्वर दिया।

यह मेरी ख़ुशनसीबी है कि मुझे फ़ैज़ साहब को सुनने का और उनसे छोटी सी मुलाक़ात का मौक़ा मिला। शायद यह 1978-79 के बीच की बात है। एक दिन सुनायी दिया कि फ़ैज़ हिंदुस्तान ही में हैं और (शायद 'विजिटिंग प्रोफेसर' हो कर?) कुछ दिन के लिए जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में ही चले आये हैं। हम लोग बड़े खुश थे। फिर एक दिन उनका काव्य-पाठ हुआ। शायद उस वक़्त के 'डाउन कैंपस' की क्लब बिल्डिंग के पास की खुली ज़गह में कुछ क़नातें खड़ी की गयीं थीं और मंच भी बांधा गया था। उस धूप वाले दिन का खुला नीला आसमान अभी भी याद है। फ़ैज़ साहब ने जम कर अपनी ढेर सारी नज़्में, ग़ज़लें कही थीं। जब वे खड़े हुए और उन्हें पहली बार देखा तो थोड़ा अजीब सा लगा। सिर्फ़ उन्हें देख कर एक बार उस छवि को कुछ धक्का सा लगता था जो उनका पढ़ते-सुनते हुए मन ही मन बन गयी थी। सफ़ारी सूट पहने (शायद एकाध अंगूठी भी), कुछ भारी-भारी सा डील-डौल लिये यह गंजे से सर वाला लंबा-चौड़ा शख़्स देखने में कतई स्टेट बैंक या जीवन बीमा निगम का 'टिपीकल' अफ़सर या मैनेजर लगता था। लेकिन जब फ़ैज़ साहब ने सुनाना शुरू किया तो उनकी आवाज़ ने दिल को छू लिया, बल्कि सीधे पकड़ लिया।

हालांकि हमने मुशायरे की परंपरागत धज़ में तरन्नुम के साथ 'जलद-मंद्र-स्वर' में किया हुआ मज़रूह सुल्तानपुरी का प्रभावशाली पाठ सुना है; धारावाहिक वक्तृता की शैली में क़ैफी आज़मी या सरदार ज़ाफरी का नज़्में पढ़ना देखा है; बाबा नागार्जुन की बांध लेने वाली 'थियेटरीकल' प्रस्तुतियां देखी हैं; आलोक धन्वा का अविस्मरणीय काव्य-पाठ सुना है; और तो और जे.एन.यू. के 'स्पेनिश सेंटर' की मेहरबानी से 'रिकॅर्डेड' आवाज़ में नेरूदा के स्पेनिश पाठ की एक बानगी देखने और आरोह-अवरोह के साथ उनकी नाद-गुण संपन्न गहिर गंभीर वाग्मिता की स्पंदित स्वर लिपि को सुनने का सौभाग्य भी मिला है। लेकिन फ़ैज़ का अंदाज़ इन सबसे अलग था। यह किसी भी तरह की 'परफोरमेंस' से कोसों दूर था। फिर भी उनकी आवाज़ में एक जादुई छुअन थी, जिसमें अपने कमाये हुए गहरे दर्द के एहसास के साथ एक ठहरी थकान और अनमनेपन में लिपटी विलक्षण कोमलता और आत्मीयता का मेल था। यह एक दुख उठाये हुए, अनुभव संपन्न, उम्रज़दा शख़्स की दिलासा और भरोसा दिलाती हुई आवाज़ थी। ऐसी आवाज़ शायद अब कुछ पुरानी बूढ़ी, घरेलू स्त्रियों के पास ही बची मिलगी। फ़ैज़ इतने बेबनाव और सादे तरीके से कविताएं कहते थे कि कोई भी काव्य-रसिक उसे ख़राब तरीके का काव्य-पाठ भी कह सकता था, लेकिन यह शायद ज़्यादा अच्छा तरीक़ा था। उनके अलावा यह चीज़ रघुवीर सहाय के काव्य-पाठ में भी मिलती थी, बल्कि वे तो इसका उपयोग एक सचेत युक्ति की तरह करते थे। शमशेर का कहने का अंदाज़ भी गुफ़्तगू ही का अंदाज़ था जो उनकी कविताओं के मिज़ाज में ढ़ला हुआ था और ग़ज़ल तो अपनी परिभाषा में ही दिल से दिल की गुफ़्तगू है।

ख़ैर, फ़ैज़ साहब ने जम कर सुनाया। वह नज़्म भी - 'कुछ इश्क़ किया, कुछ काम किया'। फरमाइशें भी खूब हुईं। जो किसी ने कहा 'फ़ैज़ साहब, 'गुलों में रंग भरे' भी सुनाइये', तो फ़ैज़ साहब ने हंस कर कहा 'कौन सी सुनाऊं, नूरजहां वाली सुनाऊं कि मेहंदी हसन वाली सुनाऊं' और सब हंस पड़े।

इस बात का कम महत्त्व नहीं है कि फ़ैज़ की शायरी को नूरजहां, बेगम अख़्तर, अमानत अली खान, मलिका पुखराज, इक़बाल बानो, अली बख़्श ज़हूर, फ़रीदा ख़ानम, फ़िरदौसी बेगम, बरक़त अली खान, शांति हीरानंद और मेहदी हसन जैसी अद्‌भुत आवाज़ें नसीब हुईं। ग़ालिब की शायरी के बाद इतनी तादाद

में अव्वल दर्ज़े के गायकों ने, किसी और शायर की चीज़ें शायद ही गायी हों। यक़ीनन इससे फ़ैज़ की शायरी का दायरा विस्तृत हुआ है। उनकी शायरी के गूढ़ार्थ और अनेक अर्थछटाएं उद्घाटित हुई हैं। फ़ैज़ को पढ़कर हमने जितना जाना है, हिंदुस्तान और पाकिस्तान के महान गायकों से सुनकर कम नहीं जाना। गायक भी आख़िरकार अपने गाने से 'टैक्स्ट' की अपनी व्याख्या पेश करता है और एक प्रकार से कृति की पुनर्रचना करता है लेकिन शायद इसकी गुंजाइशें 'टैक्स्ट' में पहले से छिपी होती हैं।

एक दिन रूसी भाषा केंद्र के ऑडीटोरियम में फ़ैज़ ने अल्लामा इक़बाल पर अपना पर्चा पढ़ा, शायद अंग्रेज़ी में। यह विद्वत्तापूर्ण और जानकारी से भरा हुआ पर्चा उनकी शायरी के मिज़ाज से मेल नहीं खाता था। वैसे अंग्रेज़ी में उपलब्ध उनके ज़्यादातर गद्य में कई बार नवशास्त्रीय क़िस्म की अकादमिकता हावी दिखायी देती है। इक़बाल की शख़्सियत और उनकी शायरी में फ़ैज़ साहब की कुछ ख़ास और बुनियादी क़िस्म की दिलचस्पी लगती थी। कुछ-कुछ वैसा ही रिश्ता था जैसा रवींद्रनाथ और निराला का या प्रसाद और मुक्तिबोध का। बाद में यह भी पता चला कि इक़बाल भी सियालकोट के ही थे और इक़बाल के प्रभाव की सघन छाया में ही एक नवोदित कवि के रूप में फ़ैज़ का विकास हुआ था।

1978 में मैं रोहतक आ गया था। लेकिन इसके बाद भी लगभग दो साल तक मेरा रिश्ता जे.एन.यू. के भारतीय भाषा केंद्र से बना रहा। रोहतक में डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल अंग्रेज़ी विभाग में प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने और डॉ. भीम सिंह दहिया (जो उस वक्त विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार भी थे) ने मुझ से कहा कि मैं किसी तरह फ़ैज़ साहब को रोहतक लाऊं। मैंने डॉ. मुहम्मद हसन (जो एम.ए. में मेरे शिक्षक भी रहे थे) से कहा कि फ़ैज़ साहब को मुझे रोहतक ले जाना है। उन्होंने कहा कि मैं अगले दिन 11 बजे सेंटर में उनके कमरे में आ कर फ़ैज़ साहब से ख़ुद ही बात कर लूं।

शुरू में मुहम्मद हसन साहब से मेरा रिश्ता क़तई औपचारिक और नपा-तुला था, लेकिन गहरा था। यों वे बात करने में सख़्त, कंजूस और बेहद चौकन्ने शख़्स लगते थे लेकिन उनके अंदर बंटवारे का सच्चा दर्द और एक तरह का सात्विक विक्षोभ था। नामवर जी और मुहम्मद हसन के जे.एन.यू. में आने के बाद हिंदी-उर्दू के पाठ्यक्रमों को लेकर, खास तौर से हिंदी विद्यार्थियों को उर्दू का क्रेडिट कोर्स करने या पाठ्यक्रम के एक हिस्से को दोनों भाषाओं के लिए समावेशी ढंग से तैयार करने को लेकर पहली स्टूडैंट फैकल्टी कमेटी में जो बहस हुई उसमें हसन साहब और हमारा एक ही पक्ष था। 'प्रगतिशील लेखक महासंघ' (जो उन्हीं दिनों नयी शक़्ल में खड़ा किया गया संगठन था) के आपातकाल के समर्थन में निकले प्रपत्र पर छपे अपने नाम को लेकर उनके मन में घोर ग्लानि थी। उन्हीं दिनों आपातकाल को लेकर उन्होंने अपना बेहद अच्छा नाटक 'ज़ेहाक़' हमें सुनाया था।

ख़ैर, अगले दिन जब मैं 11 बजे मुहम्मद हसन साहब के कमरे में दाखिल हुआ तो फ़ैज़ साहब उनकी 'अध्यक्षीय' कुर्सी के सामने की कुर्सी पर बैठे थे। हसन साब ने मुझे देखते ही उनसे कहा , 'जनाब यही हैं, जिनका ज़िक्र मैं कल आपसे कर रहा था। मनमोहन साब हमारे शागिर्द हैं। इन दिनों रोहतक यूनीवर्सिटी में हैं और आपको रोहतक ले जाना चाहते हैं।' फ़ैज़ साहब ने, जो अब तक खड़े हो गये थे, तपाक से हाथ मिलाया जैसे गले मिल रहे हों। उनकी आंखें झिलमिला रही थीं, बोले, 'रोहतक! अरे भाई रोहतक तो हमारा वतन है, ज़रूर चलेंगे। वैसे मैं अभी कुछ दिन पहले ही चंडीगढ़ (या शायद कुरुक्षेत्र?) हो कर आया हूं, लेकिन रोहतक ज़रूर चलना है। अभी तो बाहर (विदेश, फ्रांस या शायद सोवियत यूनियन?) जाना है, लौट कर प्रोग्राम बनाते हैं।' मैं सोचता रह गया रोहतक और इनका वतन!

कुछ दिनों बाद समझ में आया कि उनके दिमाग़ में संयुक्त पंजाब का पुराना नक़्शा था, जिसका एक अहम शहरी केंद्र शायद रोहतक भी रहा होगा। ज़िया-उल-हक़ के पतन से पहले दसियों हज़ार लोगों की रैली में बुलंद आवाज़ में फ़ैज़ का वो अविस्मरणीय तराना 'हम देखेंगे, लाज़िम है कि हम भी देखेंगे' की अद्‌भुत प्रस्तुति करने वाली प्रख़्यात पाकिस्तानी गायिका इक़बाल बानो मूलतः रोहतक की ही रहने वाली थीं। ख़ैर हम लोग कुछ देर उनके साथ बैठे और उन्हें बाहर टैक्सी तक छोड़ा। बाहर जो विदेशी मूल की महिला उनका इंतज़ार कर रही थीं शायद उनकी बीवी एलिस ही रही होंगी। अफ़सोस है कि फ़ैज़ साहब से फिर कभी मुलाक़ात नहीं हो पायी और उन्हें रोहतक लाने का हमारा ख़्वाब जिसमें शायद उनका भी कोई ख़्वाब छिपा था, अधूरा ही रह गया।

इस बात पर जब ग़ौर करते हैं कि क्यों हमारे वक़्त में फ़ैज़ की उपस्थिति दिनोंदिन इतनी प्रबल, इतनी वास्तविक और इतनी अनिवार्य होती चली गयी है तो सबसे पहले यही ख़याल आता है कि उनकी शायरी हमारे इस बैचेनी भरे ऐतिहासिक दौर में न्याय के कठिन संघर्ष में उलझी ताक़तों के भावनात्मक और नैतिक उद्वेगों को; उनकी व्याकुलता और आंतरिक विक्षोभ को; अपमान और पराजय के बीच भी उनकी उद्दीप्त आत्मगरिमा, अकूत धैर्य, साहस और सुंदरता को बेमिसाल ढंग से उद्‌घाटित करती है, सचाई और पूरेपन के साथ। यही एक चीज़ है जो फ़ैज़ को फ़ैज़ बनाती है और उन्हें हमारी 'आत्मा का मित्र' बना देती है।

मीर और ग़ालिब के बाद उर्दू ज़ुबान में शायद फ़ैज़ हमारी स्मृति में सबसे गहरे उतरने वाले शायरों में हैं। पिछली तीन शताब्दी में दूसरी भारतीय भाषाओं की कविता में भी इन तीनों जितनी पुख़्तगी कितने कवियों में मिलेगी, कहना कठिन है। इसकी वजह जो समझ में आती है वो ये कि ये तीनों कवि गहरे अर्थों में अपने-अपने वक़्तों की भीषण उथल-पुथल की उपज हैं। यह उथल-पुथल कोरा 'ऐतिहासिक संदर्भ' ही नहीं है, यह इनके भीतर से, इनके निजी जीवन और दिल-दिमाग़ के बीचों-बीच से इन्हें चल-विचल करते हुए कुछ इस तरह से गुज़री है कि इनके व्यक्तित्वों की अंदरूनी बनावट में रच-बस गयी है। इससे भी ज़्यादा अहम यह है कि तीनों अपने-अपने ढंग से घोर अवमूल्यनकारी, अपमानजनक और हृदयहीन परिस्थितियों में मनुष्य की गरिमा की प्रतिष्ठा करते हैं; भीषण आंतरिक यातना और विक्षोभ से गुज़र कर इसकी पूरी क़ीमत चुकाते हैं लेकिन इसका पूरा दावा रखते हैं। इस तरह तीनों ही मनुष्य को तुच्छ बनाने वाली और कुचलने वाली परिस्थिति को मानने से इंकार करते हैं। यही इनका प्रतिरोध है। यह प्रतिरोध फक़त इनके अपने सचेत चुनाव या पक्षधरता की वजह से पैदा हुआ हो, ऐसा भी नहीं है। यह इनके लिए लगभग एक 'बुलफाइट' में उलझे, घिरे और आत्मरक्षा की कोशिश में लगे हुए शख़्स की मजबूरी की तरह निर्विकल्प और अनिवार्य था।

दिलचस्प तथ्य यह है कि तीनों ग़ज़ल के शायर हैं। ग़ज़ल एक किस्म का 'लिरिक' ही मान लिया गया है (हालांकि यह धारणा पूरी तरह सही नहीं है)। लेकिन इन्होंने ग़ज़ल के आत्मपरक ढांचे में एक 'क्लासिकी' अंदाज़ पैदा किया। यह क्लासिकी क़िस्म की महाकाव्यात्मकता 'फिनोमिनल' कोण पैदा करने वाली उस विद्युत्धर्मिता और बुनियादी नज़र की मांग करती है जो महान त्रासदियों में हमें अक़्सर दिखायी देती है (मिर्ज़ा ग़ालिब के यहां शायद यह चीज़ सबसे ज़्यादा है)। इस ख़ूबी के बाद ग़ज़ल सिर्फ़ एक आत्मपरक उच्छ्वास या कोरा 'लिरिक' नहीं रह जाती। वह चाहे एहसास के पर्दे पर ही सही अपने युग के महानाटक की अंदरूनी कशमकश के जहां-तहां कौंदने वाले अक़्स फेंकती चलती है।

ख़ुद फ़ैज़ ने ग़ज़ल के काव्यरूप की इस विलक्षणता और चमत्कारिक लचीलेपन के बारे में कहीं लिखा है कि प्रतीक-व्यवस्था के सीमित प्रारूपों और एक रिवायत में बंधी-बंधायी पदावली और भंगिमाओं के दायरों के अंदर ग़ज़ल कैसे नये-नये अर्थ और एक साथ अनेक स्तरीय अर्थछटाएं पैदा करती और खोलती है और नये अवकाश रच लेती है। कैसे इसमें अर्थ की नयी अनुगूंजें पैदा होती हैं और सुनायी देती हैं। फ़ैज़ ने यह भी बताया है कि शायद इसीलिये यह नाज़ुक काव्यरूप उठाईगीरी, फरेब और तरह-तरह के दुरुपयोग के लिए भी ज़्यादा खुला हुआ है। एक जैसी लगने वाली भंगिमाओं और पदावली की वजह से अच्छी ग़ज़ल और ख़राब ग़ज़ल के बीच फर्क़ की तमीज़ पैदा करना थोड़ा मुश्किल हो सकता है।

कुल मिलाकर यह कि मीर, ग़ालिब और फ़ैज़ इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे अपनी शायरी के ज़रिये न सिर्फ़ अपने निजी एहसास की बल्कि अपने-अपने बदलते वक़्तों की तर्ज़ुमानी करते हैं और उनकी नुमाइंदगी करने वाली प्रामाणिक आवाज़ बन जाते हैं। मानव स्थितियों की इसी बुनियादी और अस्तित्वमूलक पकड़ की वजह से उनकी अनुगूंजें उनके वक़्तों के बाहर भी जब-तब सुनायी देती हैं।

मीर का ज़माना एक बस्ती के उखड़ने का ज़माना है ('कैसी-कैसी सोहबतें उखड़ गयीं!')। अंतःस्फोटों के बीच अपने ही मलबे में धंसते ह्रासग्रस्त सामंतवाद के उन दिनों में तमाम लूटपाट, अफरा-तफरी और बदहवास आपाधापी के बीच शाही अभिजात वर्ग के एक नुमाइंदे के तौर पर मीर (किसी हद तक अपने उदार सूफ़ियाना मिज़ाज की वजह से भी) अपने युग की ज़लालत और क्रूरता के तीखे एहसास से गुज़रते हैं। उनकी शोकमग्न आत्मा इस हानि का बोझ उठाती है और इसे बताती है। यह भी एक प्रत्याख्यान ही है। अगली सदी में, औपनिवेशिक विजय के युग में, इसी पिटेपिटाये शाही आभिजात्य के आख़िरी अवशेष की तरह मिर्ज़ा ग़ालिब एक ज़्यादा विडंबनामय ज़मीन पर खड़े हुए इसी तरह की आत्मपीड़ा, लांछना, नैतिकत्रास और sense of loss से गुज़रते हैं और तुच्छताओं में घिर कर घिसटते अपने अस्तित्व के साथ मनुष्य की उद्दीप्त आत्मगरिमा की लौ को बचाते और प्रतिभासित करते चलते हैं।

फ़ैज़ का वक़्त और फ़ैज़ का जीवन क़तई अलग था। उनका रंगमंच और उस रंगमंच के क़िरदार अलग थे। कुल मिलाकर फ़ैज़ का युग इतिहास की ऊर्ध्वगति और भविष्यवादी प्रेरणाओं की क्रियाशीलता का युग है। फिर भी फ़ैज़ का आयुष्यक्रम कभी-कभी ग़ालिब के विरोधाभासी जीवन की याद दिलाता है।

पैतृक रूप से एक भूमिहीन परिवार में जन्मे फ़ैज़ के पिता ने भी अपनी ज़िंदगी की शुरुआत चरवाहे और कुली की तरह की थी, लेकिन किसी संयोग से उनके दिन फिरे और वे नाटकीय ढंग से अफगानिस्तान के बादशाह के यहां ऊंचे नौकरशाह बन गये। फ़ैज़ के ही लफ़्ज़ों में उन्होंने काफ़ी 'रंगीन' जीवन बिताया। फिर एक दिन सांप-सीढ़ी के इस खेल में वापिस अपनी जगह पहुंच गये। मामूली देहाती मां के बेटे फ़ैज़ के हिस्से में ज़्यादा से ज़्यादा पिता के रुतबे की 'जली हुई रस्सी' के कुछ बल ही आये होंगे।

प्रथम महायुद्ध के बाद साम्राज्यवाद विरोध की उत्ताल तरंगों से आंदोलित दुनिया में फ़ैज़ ने होश संभाला। उनका बचपन और किशोरावस्था काल सोवियत क्रांति की विजय और असहयोग और ख़िलाफ़त आंदोलनों की हलचलों के साक्षी बने और राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के लोकव्यापीकरण के गहरे प्रभावों और ऊर्जाओं को जज़्ब करते हुए गुज़रे। 1930 के 'ग्रेट डिप्रेशन' का अपने संदर्भ में फ़ैज़ ने ख़ास तौर पर ज़िक्र किया है। वे तब 20-21 साल के नौजवान थे। इस सर्वग्रासी मंदी ने जहां एक तरफ़ उनके अपने परिवार को भुखमरी के कगार पर पहुंचा दिया और उनके सामने जीवनयापन का प्रश्न उपस्थित किया,

वहीं दुनिया में इसने फ़ासीवाद के उभार के लिए ईंधन का काम किया। देश में आज़ादी की दिनों-दिन तेज़ होती जंग और योरप में युद्ध के ख़िलाफ़ और अमन के हक़ में उठी प्रबल हिलोर के गहरे असर में फ़ैज़ इन्हीं दिनों आये। इसी बीच कम्युनिस्ट आंदोलन और मार्क्सवाद से भी उनका रिश्ता जुड़ा। यह फ़ैज़ के आत्मनिरूपण (Self-formulation) के महत्वपूर्ण वर्ष थे। भारत में प्रगतिशील साहित्यिक-सांस्कृतिक आंदोलन और प्रगतिशील लेखक संघ की प्रतिष्ठा करने वाली अग्रणी शख़्सियतों में से एक फ़ैज़ भी थे। इस शुरुआती दौर की प्रेरणा, लक्ष्य और स्वप्न ही फ़ैज़ के अंतर्व्यक्तित्व की धुरी बन गये। फ़ैज़ की शायरी इस बात की गवाही देती है कि ये चीज़ें उनसे कभी दूर नहीं हुईं और उनके लिए कभी झूठी नहीं पड़ीं। इनके स्रोत उनके यहां कभी सूखे नहीं, कठिन से कठिन वक़्त में भी नहीं।

1941 में जब फ़ैज़ का पहला संकलन *नक़्शे-फ़रियादी* प्रकाशित हुआ तो उसमें उनके अंतर्जगत के मानचित्र की शुरुआती निशानदेही हो गयी। इस संग्रह में उनकी 1928 के बाद की प्रारंभिक रचनाओं से लेकर, प्रगतिशील आंदोलन की प्रेरणाओं से उनके रिश्ता बनाने तक की विकास यात्रा संचित है। सद्यःजात उच्छ्वसित रूमानी संवेगों की शुरुआती बेकली और तीव्रता इनमें से पहले दौर की अनेक रचनाओं की संचालिका शक्ति है जो ज़्यादातर निजी क़िस्म की है और तेज़ी से चढ़ती और गिरती है। इनमें लगता है कि कवि की एक उम्र है और 'बाहर' अभी ज़्यादातर बाहर ही है, 'अंदर' नहीं आया है। निजी अभी तक निजी ही बना हुआ है। हालांकि अपने दौर की मुख्य दिशा के मुताबिक कवि ने बाहर की दुनिया की कठोर हक़ीकत और नैतिक तक़ाज़ों से अपने भाव-संसार का मेल करना शुरू कर दिया है। लेकिन इस प्रक्रिया में कवि को खुद को बार-बार समझाना बुझाना पड़ता है 'मेरा दिल ग़मगीं है तो क्या, ग़मगीं ये दुनिया है सारी' और 'ये दुख तेरा है ना मेरा हम सबकी जागीर है प्यारी' इसलिए 'क्यूं न जहां का ग़म अपना लें, बाद में सब तदबीरें सोचें'। एक तरफ़ 'अपनाने' की यह ज़द्दोज़हद चलती है तो दूसरी तरफ़ एक और ही निजी उधेड़बुन चलती रहती है जो कभी भी कह उठती है, 'हो चुका ख़त्म अहदे-हिज्रो-विसाल ज़िंदगी में मज़ा नहीं बाक़ी' या 'अपने बेख़्वाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल कर लो, अब यहां कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा'।

नक़्शे-फ़रियादी में ही फ़ैज़ की बेहद लोकप्रिय नज़्म 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मिरे महबूब न मांग' संकलित है। यह नज़्म प्रगतिशील आंदोलन की तत्कालीन मुख्यधारा की उन ढेर सारी रचनाओं के नमूने में ही ढली हुई है जिनमें कई बार भावनात्मक अनुरोध अपनी जांच किये बग़ैर अति नाटक की मदद से और नैतिकीकरण की युक्ति का सहारा लेकर सहानुभूति का नया ढांचा खडा करना चाहते हैं और 'न्याय-चेतना' के अनुरूप स्थित होना चाहते हैं। *नक़्शे-फ़रियादी* में ही फ़ैज़ ने एक नये कवि की इस स्वाभाविक लड़खड़ाहट को पार कर लिया था। 'बोल के लब आज़ाद हैं तेरे' जैसे तराने या 'दोनों जहान तेरी मुहब्बत में हार के' जैसी मर्मस्पर्शी ग़ज़लें इसी संकलन में शामिल थीं।

नक़्शे-फ़रियादी की एक ग़ज़ल में फ़ैज़ का यह शेर है :

फ़ैज़ तक़मीले ग़म भी हो न सकी
इश्क़ को आजमा के देख लिया

लेकिन हम जानते हैं कि इश्क़ की मुश्किल आजमाइश अभी शुरू ही हुई थी और ताज़िंदगी जारी रही। इसे अभी कई बीहड़ रास्तों से गुज़रना था। तक़मीले ग़म भी ख़ूब हुई लेकिन फिर भी कम ही ठहरी।

आज़ादी के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के बिखराव के वर्षों में, ख़ासकर 50 के दशक में प्रगतिशील आंदोलन की स्वतः स्फूर्त ऊर्जा ख़त्म होने लगी और धीरे-धीरे कम से कम एक बार पूरा आंदोलन ही बिखर कर विसर्जित हो गया। 'आख़िरी शब के हमसफ़र' अपना-अपना सफ़र ख़त्म करके सुस्ताने के अपने ठिकाने ढूंढ़ रहे थे। कोई किसी किनारे लगा, कोई किसी और किनारे। धीरे-धीरे अच्छी ख़ासी तादाद में लोग प्रलोभनों या पराये वैचारिक दबावों और प्रभावों में आये और ख़ामोशी से कहीं और चले गये। उर्दू-हिंदी के कितने ही तरक़्क़ीपसंद, 'इप्टा' और 'पृथ्वी थियेटर्स' की कितनी ही प्रतिभाएं जो कभी इस तहरीक़ का परचम उठाये गांवों-क़स्बों की ख़ाक छानती फिरती थीं, एक दूसरी ही दुनिया में जा बसीं। न जाने कितने कलाकार संस्कृति के व्यावसायिक ढांचों में जज़्ब हो गये या फिर फ़िल्म उद्योग के विशाल उदर में ठीक-ठीक समा गये। क्रांति का ख़याल अब कोई ख़ास ख़लल पैदा न करता था। इन प्रतिभाओं ने इन नयी ज़गहों को भी कुछ वक़्त के लिए अपनी जल्वागरी से रौशन ज़रूर किया, लेकिन एक आंदोलन जिसकी जड़ें मामूली लोगों की ठोस ज़िंदगी में, उनके दुखदर्द में, उनके सपनों और दैनिक संघर्षों में थीं, एकबारगी ख़त्म हो गया।

लेकिन फ़ैज़ साहब का मामला कुछ अलग था। उनका दर्दभरा लंबा और मुश्किल सफ़र अभी बचा हुआ था जिसे उन्हें लगभग अकेले ही तय करना था। अलग पाकिस्तान के ख़याल को फ़ैज़ ने क़ुबूल कर लिया था और जनवरी '47 में ही *पाकिस्तान टाइम्स* का संपादन करने लाहौर आ चुके थे। हालांकि अगस्त 1947 में फ़ैज़ लिख रहे थे, 'ये दाग़-दाग़ उजाला, ये शबगज़ीदा सहर, वो इंतिज़ार था जिसका ये वो सहर तो नहीं'। लेकिन शायद तब उन्हें भी इस बात का इल्म न रहा होगा कि आने वाले दिन इस क़दर काले होंगे। फ़ैज़ की ज़िंदगी का एक बहुत ही अहम और पेचीदा पहलू यह है कि बंटवारे के बाद वे पाकिस्तान ही में रहे। लिहाज़ा आज़ादी की वे ख़ुशफहमियां और झूठी तसल्लियां उनके हिस्से में नहीं आयी थीं जो प्रगतिशील आंदोलन से निकले उनके किसी ज़माने के संगी-साथियों को हिंदुस्तान में आसानी से नसीब थीं। ज़्यादातर वक्त उन्होंने पाकिस्तान में जनवाद को कुचल कर रखने वाले अमरीकापरस्त ज़ालिम भूस्वामी-सैनिक गठजोड़ की दमघोंट सुरंगों में घोर आत्मविच्छिन्नता से गुज़रते हुए या एक निर्वासित की ज़िंदगी जीते हुए बिताया। आज़ादी उनके लिए अभी भी एक सपना थी। सेना में शामिल होकर फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ने वाले फ़ैज़ के लिए फासिज़्म लगभग तमाम उम्र एक ज़िंदा हक़ीक़त रहा, लेकिन बड़ी बात यह थी कि घोर अलगाव और अकेलेपन की इन मुश्किल परिस्थितियों में फ़ैज़ ने अपने निरूपण (Self-formulation) काल की लौ की हिफ़ाज़त अपनी आबरू की तरह की, उसे न सिर्फ़ जिलाये रक्खा बल्कि इस पूरे दौर में उनके अंतःकरण में उसकी दीप्ति और भी ज़्यादा स्वच्छ, उदग्र और प्राणवंत हो गयी। 'ग़ुरुरे इश्क़ का बांकपन' कम न हुआ, उल्टा बढ़ता गया। यह नहीं भूलना चाहिए कि न्याय के लिए लड़ने वाले लोग वर्गारोहण और बूर्ज्वा सुखभ्रांतियों की भूलभुलैयों में ही गुम नहीं होते, दमनकारी परिस्थितियों में नृशंसीकरण और हताशा के सामने भी अलग-थलग और लाचार होकर टूट जाते हैं और समर्पण कर देते हैं। ख़ासकर तब जबकि परिदृश्य में संगठित प्रतिरोध के कोई विश्वसनीय लक्षण दिखायी न देते हों। इसलिए फ़ैज़ को ही इस बात का पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए कि वे इश्क़ के इस कठिन इम्तहान में सुर्ख़रू हो कर निकले।

नक़्शे-फ़रियादी के बाद फ़ैज़ की शायरी को जैसे अपना आपा मिल गया। कवि जैसे अपने असल मैदान में आ पहुंचा हो। जेल की ज़िंदगी ने मंच को ठीक-ठीक बांध दिया और उन्हें अपने वक़्त के नाटक

के बीचोंबीच उस केंद्रीय ज़गह ला खड़ा किया जहां से वे अपने भीषण आंतरिक संघर्ष के ज़रिये भी बीसवीं सदी के अल्पविकसित नवस्वतंत्र देशों के मुख्य संघर्ष की रूपरेखा को संकेतित कर सकते थे और आज़ादी और जनवाद के ज्वलंत प्रश्न की त्रासद विडंबना को ज़्यादा से ज़्यादा उद्घाटित कर सकते थे।

दस्ते-सबा (1952) और *ज़िंदांनामा* (1956) और उसके बाद *दस्ते-तहे-संग* (1964) में फ़ैज़ की शायरी की तमाम खूबियां एक रचनात्मक संश्लेषण में ढल कर अपनी मौलिकता और उत्कर्ष के साथ उभर कर आती हैं और अपनी पूरी आज़माइश करते हुए उनके कवि व्यक्तित्व को तमाम पहलुओं को समग्रता में सामने लाती हैं। यह चीज़ बाद तक आने वाले दूसरे संग्रहों में भी हम देखते हैं।

इस पूरे लंबे दौर को एक साथ देखें तो फ़ैज़ की ताक़त इस बात में छिपी लगती है कि वे न्याय के बीहड़ संघर्ष की सच्चाई, सुंदरता और जटिलता को पूरी गहराई से समझते हैं, उसका सरलीकरण नहीं करते। इस इश्क़ के गुरूर, इसकी आबरू और शान को वे दिल से जानते और समझते हैं, इसके तमाम बोझ और जानलेवा तक़ाज़ों के साथ। इस दर्द का सौदा उन्होंने अपनी इनसानी गरिमा की हिफ़ाज़त की ज़्यादा गहरी खुशी के लिए किया है, यह जानते हुए कि इस लड़ाई में कामयाबी की या मंज़िल पा लेने की कोई गारंटी नहीं। इसमें बार-बार की नाक़ामी कोई ख़ास मानी नहीं रखती यह मश्क़ ही ख़ुद में कामयाब है। फ़ैज़ ही कह सकते थे 'फ़ैज़ की राह सर-ब-सर मंज़िल, हम जहां पहुंचे कामयाब आये'। इस कठिन रास्ते का तमाम अधूरापन इसके तमाम पेच-ओ-ख़म के साथ उन्हें मंजूर है। बेग़ानगी, उदासी, अकेलेपन, विकलता और बेबसी के भयानक रेगिस्तान को वे जिस बड़प्पन, धीरज और साहस से पार करते हैं और जिस संलग्नता और आत्मगर्व के साथ अपने स्वप्न की स्वच्छता और अपनी आशिक़ी की उत्कटता को हर क़ीमत पर बचाना चाहते हैं वह फ़ैज़ के कवि व्यक्तित्व की पुख़्तगी की ही एक मिसाल है।

अपनी एक नज़्म में फ़ैज़ ने कवि के अंतःकरण को 'अत्याचार और न्याय का रणक्षेत्र' ('तबअ-ए-शायर है जंगाह-ए-अद्लोसितम') कहा है। कहना ग़ैरज़रूरी है कि सबसे ज़्यादा ये फ़ैज़ के अपने भावजगत का ही बखान है। प्रामाणिक ढंग से वही कह सकते थे 'दुख भरी ख़ल्क का दुखभरा दिल हैं हम'। हम आगे की उनकी तमाम शायरी में 'अत्याचार' और 'न्याय' के इस भीषण संग्राम की बदलती शक़्लों के साथ कवि की दुर्द्धर्षता की अनेक सुंदर और शानदार छवियां देखते हैं। बार-बार हार कर भी इस 'बदी हुई बाजी' में कवि हारता नहीं; अपने शोक और एकाकीपन को एक 'ट्रेजिक हीरो' की शान, आत्मगरिमा और बड़प्पन के साथ धारण करता है, अपनी सज़ा को कुबूल करता है और समर्पण से इंकार करता है। दरअसल फ़ैज़ एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने मंसूर और फरहाद की पुरानी परंपराओं से लेकर कुर्बानियों से भरी प्रतिरोध की तमाम साम्राज्यवाद विरोधी, फ़ासीवाद विरोधी मुक्तिकामी आधुनिक परंपराओं को आत्मसात किया और उनकी क़ीमत समझते और चुकाते हुए उनके संवाहक बने। हम जानते हैं कि एशिया, अफ़्रीका, लातीनी अमरीका और तमाम दुनिया के मुक्तिकामी जनगण के संघर्षों के साथ कैसे उनके दिल की धड़कनें पैबस्त थीं। वे सबसे अच्छी तरह यह जानते थे कि अंदर से यह एक ही लड़ाई है। यह बात अलग है कि अपने इस सफ़र में फ़ैज़ को कभी यह लगा कि 'उठेगा जब जम्म-ए-सरफरोशां/पड़ेंगे दार-ओ-रसन के लाले/कोई न होगा के जो बचा ले' तो कभी ऐसा भी वक़्त रहा और ज़्यादातर रहा, कि लगा, 'न रहा जुनूने-रुखे-वफ़ा/ये रसन ये दार करोगे क्या'। लेकिन फ़ैज़ इन सब स्थितियों के बीच अपनी ख़ुदी को बचाना जानते हैं। उनकी खूबसूरत नज़्म 'आज बाज़ार में पा-ब-जौलां चलो' ज़ालिमों के निज़ाम में अपने लांछित और अपमानित प्रेम की सुंदरता, शान और आत्मगर्व को जिस तरह पूरे क़द में सामने

लाती है और उसका ज़श्न मनाती है, उससे फ़ैज़ की आशिक़ी की गहराई और नैतिक तड़प का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यह कविता अत्याचार और न्याय के बीच के रणक्षेत्र को उसी तरह एक ऐतिहासिक थियेटर में बदलती है, जैसे मुक्तिबोध की कविता 'भूलग़लती'।

फ़ैज़ सच्चे वतनपरस्त और सच्चे अंतर्राष्ट्रीयतावादी थे। दुनिया भर के जनसंघर्षों के साथ एकजुटता व्यक्त करके अंतर्राष्ट्रीयतावादी हो जाना आसान है लेकिन अंतर्राष्ट्रीयतावाद की असल परख तब होती है जब आपका मुल्क एक अविवेकपूर्ण युद्ध में झोंक दिया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि 1965 में भारत के साथ अनावश्यक जंग का और 1971 में बांग्लादेश पर आधिपत्य बरकरार रखने के लिए फ़ौज़ी हुक्मरानों के द्वारा की गयी क़त्लोग़ारत का फ़ैज़ ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रतिकार किया और अपने मुल्क की अंधराष्ट्रवादी धारा का विरोध मोल लिया जबकि 1962 में चीन के साथ भारत के युद्ध के हक़ में प्रगतिशील आंदोलन के उनके हिंदुस्तानी दोस्तों का एक अच्छा खासा तबका अंधराष्ट्रवादी मुहिम का शिकार हुआ।

एक बात जो ख़ास तौर पर समझने की है, वो ये कि फ़ैज़ का ख़ुद के सरोकारों से रिश्ता कोरा वैचारिक, नैतिक या कोई रस्मी रिश्ता नहीं है। वे उनके ख़ुद के सरोकार हैं, ख़ुद कमाये हुए, 'ऑर्गेनिक' और अपरिहार्य। इनमें उनके वास्तविक और निजी 'स्टेक्स' थे। सामाजिक सरोकार और निजी सरोकारों में, ऐतिहासिक कार्यसूची और निजी कार्यसूची में उनके लिए कोई अंतर न था। इसीलिए 'रेटरिक' का सहारा लेने की ज़रूरत उन्हें कभी महसूस नहीं हुई जबकि उनके निरूपण (formulation) काल में इसका चलन आम था। एक अमूर्त क्रांतिकारी रूमान, अमूर्त देशप्रेम या अमूर्त आवारगी और दीवानगी की अनुष्ठानिक भंगिमाएं उकेरने के लिए यह काफ़ी मुफ़ीद है। 'रेटरिक' कई बार एक कर्मकांड के खोल या परिधान की तरह होता है जिसे पहन कर दिये हुए 'पार्ट' को अदा करने की सहूलियत काफ़ी मिल जाती है लेकिन उस कवि का काम कोरे 'परफारमेंस' से कैसे चल सकता है जिसका अपना अनुभव और बोध एक बाध्यकारी और निर्विकल्प अस्तित्वमूलक संघर्ष के ज़रिए परिभाषित हो रहा हो और इसी को चलाने के लिए उसे भाषा की ज़रूरत पड़ती हो। फ़ैज़ के शब्द अगर बजने के बजाय गूंजते हैं, सच्चे लगते हैं और दिल में उतरते हैं तो उसकी बड़ी वजह यही है कि वे असल की ताक़त लेकर आते हैं। उनमें वही उत्कटता और मार्मिकता है जो फ़ैज़ की अपनी जद्दोज़हद में थी।

जिस चुनौती से फ़ैज़ का सामना था, वह आज और भी विकराल हो कर सामने है। उनका सपना चाहे ऊपर-ऊपर टूट गया लगता हो, किंतु इसके बावजूद वह इतिहास के गर्भ में फिर से स्पंदित और जीवित है। इस समय का संघर्ष ज़्यादा भीषण और जटिल है, लेकिन उसी अनुपात में प्रतिरोध की संभावनाएं ज़्यादा सघन, व्यापक और मूलगामी हुई हैं। इस लज्जित और पराजित युग में भी तमाम थकन, उदासी, विछोह और व्यथापूर्ण अकेलेपन के बीच फ़ैज़ का अंतःसंघर्ष, उनका जीवट, धैर्य, उनकी हठी पक्षधरता और उनका अप्रतिहत प्रतिरोध हमारी स्मृति में अपनी सच्चाई और प्राणमयता के साथ तब तक जीवित है, जब तक यह लड़ाई जारी है। कठिन आशिक़ी की फ़ैज़ की यह परंपरा आने वाले लंबे दौर में हमारे साथ चलेगी।

फो. : 0212-273759

निर्वासन के दर्द का एहसास

चंचल चौहान

मशहूर उत्तरउपनिवेशवादी चिंतक एडवर्ड सईद ने कई अन्य पाश्चात्य चिंतकों की तरह निर्वासन के शिकार या विस्थापित अदीबों और अवाम के बारे में विस्तार से लिखा है। अपने इसी सैद्धांतिक चिंतन के बीच उन्होंने महमूद दरवीश और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का भी उल्लेख किया है। वे फ़ैज़ से बैरूत में उन दिनों मिले थे जब पाकिस्तान में ज़ियाउल हक़ की फ़ौजी तानाशाही फ़ैज़ जैसे जम्हूरियतपसंद अदीबों और दानिशिवरों पर किसी भी तरह का कहर बरपा कर सकती थी। फ़ैज़ से अपनी मुलाक़ात का ज़िक्र करते हुए एडवर्ड सईद ने अपने एक लेख, 'निर्वासन पर कुछ चिंतन' में लिखा :

> कई बरस पहले मैंने अपने ज़माने के उर्दू के अज़ीमतर शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के साथ कुछ वक़्त बिताया था। वे अपने वतन पाकिस्तान में ज़िया के फ़ौजी शासन के चलते निर्वासित हो कर बैरूत आ गये थे जहां उनका एक तरह से स्वागत हुआ। फ़िलिस्तीनी उनके स्वाभाविक तौर से जिगरी दोस्त थे। मैंने महसूस किया कि उन में आपस में बड़ी गहरी आत्मीयता थी जब कि उनकी न तो ज़बान या शेरी रवायत या ज़िंदगी की तारीख़ ही उनसे मिलती जुलती थी। सिर्फ़ एक बार मैंने फ़ैज़ को अपने निर्वासन के दर्द से उबरते हुए देखा था जब उनके एक पाकिस्तानी दोस्त, इक़बाल अहमद बैरूत आये थे जो खुद भी निर्वासित थे। हम तीनों एक गंदे से रेस्त्रां में देर रात तक जमे रहे, फ़ैज़ अपनी नज़्में सुनाते रहे। कुछ देर बाद इक़बाल और उन्होंने हमारे लिए नज़्मों का तर्जुमा करना बंद कर दिया। जैसे रात गुज़रती गयी, इससे कोई दुश्वारी पेश नहीं हुई। जो मैं देख रहा था, उसके लिए किसी तर्जुमे की दरकार नहीं थी। यह नज़ारा एक तरह से प्रतिरोध के स्वर से भरी घरवापसी जैसा था, मानो वे कह रहे हों, 'ऐ ज़िया, ले हम आ गये, लाज़िम है, हम भी देखेंगे।' ज़िया तो असलियत में अपने मुल्क में ही था, वह उनके प्रतिरोध की आवाज़ नहीं सुन रहा था।

एडवर्ड सईद ने फ़ैज़ के साथ अपना वक़्त गुज़ारने की इतनी भर दास्तान लिखी लेकिन इतने से ही निर्वासन के उस दर्द का एहसास हमें ज़रूर करा दिया जिसे फ़ैज़ साहब ने अपनी ज़िदगी के कई बरसों तक या तो जेलों में रह कर झेला था या फिर दूसरे मुल्कों में रह कर। उनके इस दर्द को अब इस हक़ीक़त में भी देखा जा सकता है जो फ़ैज़ साहब के नज़्म सुनाने के अंदाज़ में छिपी हुई रहती थी और जिससे सुनने वालों को शिकायत रहती थी। मुझे भी उन्हें सुनने का मौक़ा मिला था। नयी दिल्ली के फ़िक्की आडीटोरियम में उनका जलसा था जिसमें उन्होंने नज़्में और ग़ज़लें सुनायीं, उसी ग़ैरनाटकीय तरीक़े से जिसका ज़िक्र अक्सर लोग करते थे। उमा शर्मा ने उनकी ग़ज़लों पर एक नृत्यनाटिका तैयार की थी

जिससे जलसे में एक नया ही रंग आ गया था, फिर भी वह गायकी सुनने को नहीं मिली जो इक़बाल बानो की 'लाज़िम है कि हम भी देखेंगे' की चुनौतीभरी आवाज़ में उन दिनों सुहैल हाशमी के पास के एक कैसेट से सुनी थी और उसकी प्रतिलिपि अपने पास भी मैंने रखी थी। अब तो इसे इंटरनेट पर आसानी से इक़बाल बानो की वीडियो रिकार्डिंग में सुना जा सकता है।

फ़ैज़ की शायरी में 'दर्द' और 'तनहाई' शब्द बार बार आये हैं, लेकिन ये शब्द आधुनिकतावादियों की तरह ओढ़े हुए 'अकेलेपन' या 'दुख सबको मांजता है' के सूत्रबद्ध 'दर्द' का आख्यान नहीं हैं। ये तो एक अलग तरह की अनुभूति से उपजे शब्द हैं। सज्जाद ज़हीर ने इस तरह के अकेलेपन को फ़ैशन के तौर पर अपनाया हुआ अकेलापन बताया था। हिंदी में अज्ञेय ने इसी तरह का 'अकेलापन' ओढ़ा हुआ था और लिखा था कि 'ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं / ये अकेलापन...'। यह तो एक आम कहावत है कि 'जाके पैर न फटी बिवाई/सो का जाने पीर पराई'। एडवर्ड सईद ने भी निर्वासन के दर्द का फ़लसफ़ाई जायज़ा लेते हुए इस सत्य को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि 'बीसवीं सदी के पैमाने पर, निर्वासन की घटनाओं को न तो सौंदर्यशास्त्रीय तरीक़े से और न ही मानवतावादी नज़रिये से ठीक से समझा जा सकता है। निर्वासन के बारे में रचा गया साहित्य तो सिर्फ़ उस दर्द और नियति को एक वस्तु में बदल भर देता है जिस दर्द से होकर ज़्यादातर लोग ख़ुद नहीं गुज़रे हैं।' यह सच्चाई है कि निर्वासन ख़ुद जिसने झेला है, वह उसका जिस गहरी अनुभूति के साथ बयान कर सकता है, वह दूसरा कोई नहीं कर सकता । फ़ैज़ अपने इस एहसास को यों कहते हैः

कहीं तो कारवां-ए-दर्द की मंज़िल ठहर जाये
किनारे आ लगे उम्र-ए-रवां या दिल ठहर जाये

अमां कैसी कि मौज-ए-ख़ूं अभी सर से नहीं गुज़री
गुज़र जाये तो शायद बाजू-ए-क़ातिल ठहर जाये

फ़ैज़ की शायरी के वाचक मुक्ति का इंतज़ार करते हैं, यह मुक्तिकामना उनकी अपनी किसी जेल से रिहाई या अपने वतन से दूर रहने के दर्द से निजी मुक्ति से जुड़ी हुई नहीं है। इसीलिए वह निजी या लिरिकल लगती हुई भी एक नाटकीय या वस्तुपरक आख्यान बन जाती है, क्योंकि इसमें तो उस सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति का इंतज़ार है जो अभी हासिल नहीं हुई। मुक्ति की उस सुबह का इंतज़ार है जिसमें आदमी द्वारा आदमी का शोषण नहीं होगा, जिसमें सामराजी मुल्क तीसरी दुनिया के मुल्कों पर अपना कब्ज़ा बनाये रखने में कामयाब न हो पायेंगे और सामराजी ताक़तें पूरी दुनिया को किसी आलमी जंग में न झोंक पायेंगी। समाजवाद का सपना देखने वाले तमाम राजनीतिक और विचारधारात्मक संगठनों और रचनाकारों, कलाकारों को उसी मुक्ति की सुबह का इंतज़ार आज भी है। भारत जब आज़ाद हुआ तो उस आज़ादी की सुबह ने कवियों और कलाकारों के जागरूक हिस्सों को उस तरह की ख़ुशी नहीं दी जो आज़ादी उनके सपनों में बसी मुक्ति हासिल होने पर होती। उन्हें इसका गहरा एहसास था कि राजनीतिक सत्ता विदेशी पूंजीपतियों के हाथ से देशी इज़ारेदार घरानों के तबक़े के हाथ आयी है, उसने बड़े भूस्वामियों से गठबंधन कर लिया है और विदेशी पूंजी से भी समझौता किया हुआ है, इसलिए नयी व्यवस्था में भी शोषण की तेग़ ग़रीबों पर चलती रहेगी। उर्दू के कई शायरों ने अपने इस एहसास को वाणी दी, फ़ैज़ ने भी बेख़ौफ़ तरीक़े से अपनी मशहूर नज़्म, 'सुबहे आज़ादी' में इस एहसास को कहा :

ये दाग़ दाग़ उजाला, ये शबगज़ीदा सहर / वो इंतज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं।

पाकिस्तान के शासकवर्गों ने बार बार वहां के अवाम को सैनिक तानाशाहों के माध्यम से जुल्म और शोषण का शिकार बनाया तो वहां के वामपंथी और जम्हूरियतपसंद शायरों और अदीबों ने बहुत तकलीफ़ें झेलीं, फ़ैज़ और हबीब जालिब जैसे शायरों को जेलों में बंद रहना पड़ा, फ़हमीदा रियाज़ को भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी। इन हालात पर नज़र डालने से यह समझ में आता है कि फ़ैज़ की कविता में 'दर्द', 'दुख', 'ग़म','तनहाई' जैसे बार बार आने वाले शब्दों का क्या सामाजिक संदर्भ है। इसी तरह के एक संदर्भ का हवाला एडवर्ड सईद ने थ्योडोर एडोर्नो की निर्वासन के दौरान लिखी उनकी आत्मकथा, *क्षत-विक्षत ज़िंदगी पर विचार (Reflections from a Mutilated Life)* के बारे में दिया है। 'निर्वासन में रह रहा बुद्धिजीवी ख़ुद को एक वस्तु में तब्दील होने से इनकार करता है।' फ़ैज़ के साथ भी यही होता है कि वे ख़ुद को एक कमोडिटी में तब्दील नहीं होने देते, तानाशाहों को उनसे यही तो शिकायत थी। ऐसी ही स्थिति तो हमारे यहां एमर्जेंसी के दौर में थी जब बहुत से बुद्धिजीवियों ने ख़ुद को वस्तु में या मिट्टी का माधो बनने से इनकार कर दिया था और निर्वासन की यातना झेली थी।

फ़ैज़ ने अपने निर्वासन का दर्द जिस तरह सहा, वह भी एक मिसाल ही है, क्योंकि उसे उन्होंने दुनियाभर के दुखी, ग़रीब, मज़लूमों के ग़म के साथ घुलामिला दिया। ऐसा ही मशविरा उन्हें रशीद जहां से मिला था जिसका हवाला फ़ैज़ ने बी बी सी को दिये अपने एक इंटरव्यू में दिया था कि अपने ग़मों के बजाय दुनिया भर के ग़रीबों और वंचितों के ग़मों को महसूस करो और उन दुखों को वाणी दो। फ़ैज़ ने फिर वही किया। अपनी महबूबा को भी कह दिया कि पहले जैसी मुहब्बत की मांग पूरी करना मुमकिन नहीं। यहां फ़ैज़ ने अपने 'स्व' के विस्तार की बात कही है जिसे मुक्तिबोध ने अपनी कई कविताओं में बयान किया था। अपने निज के दर्द से ऊपर उठने की प्रक्रिया आसान नहीं होती, मगर महान कविता के लिए वह ज़रूरी तो होती ही है:

बात बस से निकल चली है
दिल की हालत संभल चली है
अब जुनूं हद से बढ़ चला है
अब तबीअत बहल चली है
अश्क ख़ूंनाब हो चले हैं
ग़म की रंगत बदल चली है

ग़म की इस बदलती रंगत ने उनकी शायरी में एक नया ही रंग ला दिया। फ़ैज़ ने दुनिया के शोषितों को वे गीत और तराने दिये जो उनकी ज़बान पर नारे बन कर सभी जगह गूंजने लगे। उन्हें अपनी संगठित शक्ति का एहसास कराया, ज़ालिमों के अंत की आशा दी, अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी बनाये रखने का हौसला दिया, उन्होंने ही हमें सिखाया, 'बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे'। उन्होंने अपने निर्वासन में अभिव्यक्ति की जो शैली ईजाद की वही सारी जनवादी कविता की शैली बन गयी, 'हमने जो तर्ज़े-फ़ुग़ां की है क़फ़स में ईजाद / फ़ैज़ गुलशन में वही तर्ज़े-बयां ठहरी है'।

निर्वासन के दर्द को सहने और उसे रचनात्मकता के जुनून में भुलाये रहने की आदत ने फ़ैज़ में क्रांतिकारी आशावाद ज़िंदा रखा। अगर निर्वासन से टूट जाते तो सर्वहारावर्ग के दुश्मनों की ही जीत होती।

जिनपे आंसू बहाने को कोई न था
अपनी आंख उनके ग़म में बरसती रही
सबसे ओझल हुए हुक्मे हाकिम पे हम
क़ैदखाने सहे ताज़याने सहे
लोग सुनते रहे साज़े-दिल की सदा
अपने नग़्मे सलाख़ों से छनते रहे

फ़ैज़ की कविताओं में निर्वासन या क़ैद के जो बिंब और प्रतीक आये हैं, या जो नग़्मे सलाख़ों से छनते रहे, उन्हें कुछ आलोचकों ने रूपवादी संरचनावादी नज़रिये से देखने की कोशिश करते हुए उनके अर्थों और उनके अंतर्निहित रुझान को विकृत भी किया है। ऐसी ही एक कोशिश गोपीचंद नारंग की भी मुझे दिखायी पड़ी जिन्होंने फ़ैज़ की एक मशहूर नज़्म, 'दस्ते तहे संग आम्दा' (जिस पर फ़ैज़ ने अपने एक संकलन का नाम भी रखा) की संरचनावादी व्याख्या करके यह बताया कि यह क़ैदख़ाना विचारधारा का भी हो सकता है जिससे मुक्ति की कोशिश शायर कर रहा था। ऐसा अर्थ निकालते हुए उन्होंने प्रगतिशील आंदोलन पर भी लगे हाथ चोट कर दी, और फ़ैज़ को अली सरदार जाफ़री के मुक़ाबले विचारधारा की जकड़बंदी से मुक्त तथा इंडोपर्शियन सौंदर्यशास्त्र का पालन करने वाला शायर बताया और यह भी कहा कि मार्क्सवादी इस सौंदर्यशास्त्र को 'बूर्जुआ' कहते हैं। वे मानते हैं कि फ़ैज़ की कविता में 'मौन' और 'अंतराल' ही उन्हें विचारधारा को अतिक्रमित करने में मदद पहुंचाते हैं। गोपीचंद नारंग को यह नहीं मालूम कि विचारधारा को परोक्ष रखने की सलाह रचनाकारों को सबसे पहले एंगेल्स ने ही दी थी जो मार्क्सवाद के प्रणेता थे। अपनी काव्य परंपरा ही नहीं, पूरे अतीत की संस्कृति का वाहक सर्वहारावर्ग को ही होना है और यह संदेश लेनिन ने और माओ ने भी प्रगतिशील रचनाकारों और संस्कृतिकर्मियों को अपने अपने समय में दिया था जो आज भी प्रासंगिक है। इसलिए अगर फ़ैज़ और मुक्तिबोध अपनी कविताओं के लिए इंडोपर्शियन सौंदर्यशास्त्र से काम ले रहे थे या समूचे विश्व के बेहतरीन अदब और कला की रवायत को आगे बढ़ा रहे थे, इससे उनकी विचारधारा का कोई विचलन नहीं था और न किसी मार्क्सवादी ने इस सौंदर्यशास्त्र को 'बूर्जुआ' या 'सामंती' कहा। यह तो नारंग की अपनी ही ख़ामख़याली है, बक़ौल फ़ैज़, 'वो बात, सारे फ़साने में जिसका ज़िक्र न था / वो बात उनको बहुत नागवार गुज़री है।' फ़ैज़ के *ज़िंदांनामा* में कविताओं से पहले सज्जाद ज़हीर की एक छोटी टिप्पणी उस संकलन में शामिल है, जिसमें इस शायर और अपने हमदम, अपने दोस्त और क़ैद के संगी साथी की कविताओं में परंपरा से लिये गये सौंदर्यबोध की तारीफ़ की गयी है। उन्होंने तो इस बोध को 'बूर्जुआ' या 'सामंती' नहीं कहा जबकि वे तो प्रगतिशील लेखक संघ की बुनियाद रखने वाले वाले अदीब थे। उन्होंने लिखा :

> जहां तक उन इक़दार (मूल्यों) का तआलुक़ है जिनको शायर ने उन में पेश किया है वो तो वही हैं जो उस ज़माने में तमाम तरक़्क़ीपसंद इंसानियत की इक़दार हैं, लेकिन फ़ैज़ ने उनको इतनी ख़ूबी से अपनाया है कि वो न तो हमारी तहज़ीबो तमद्दुन की बेहतरीन रवायत से अलग नज़र आते हैं और न शायर की अनफ़रादियत, उसका नर्म, शीरीं और मतरन्नुम अंदाज़-ए-कलाम कहीं भी उनसे जुदा हुआ है।

नारंग जैसे बहुत से आलोचक पश्चिम से उधार ली गयी या चोरी की हुई आलोचना पद्धतियों का इस्तेमाल अक्सर प्रगतिशील जनवादी विचार परंपरा पर हमला बोलने के लिए करते हैं और ज़्यादा मग़ज़पच्ची संरचनावाद पर करते हुए वे पाठकों को यह सीख देते हैं कि 'फ़ैज़ को किस तरह नहीं पढ़ना चाहिए'

(उनके लेख का यही शीर्षक है) और कैसे पढ़ना चाहिए इसके लिए उन्होंने उनकी एक नज़्म 'दस्ते तहे संग आम्दा' (चट्टान के नीचे दबा हाथ) की संरचनावादी व्याख्या की है। यह बिंब कवि ने ग़ालिब से लिया है। ग़ालिब के वक़्त उपनिवेशवादी ईस्ट इंडिया कंपनी की चट्टान के नीचे कलाकार का हाथ दबा था। 1857 के उस वक़्त के वहशी दमन और उत्पीड़न को ग़ालिब ने अपनी आंखों देखा था। फ़ैज़ ने मार्शल लॉ की चट्टान के नीचे दबे हुए तख़्लीक़ी हाथ को देखा था। उन्होंने रचनाकारों की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगी पाबंदी ही नहीं, दुनिया के कई देशों पर सामराजी दमन के वहशीपन को भी देखा और तमाम वंचितों, वतन बदर किये गये अवाम और निर्वासन में जी रहे इनसानों का दर्द भी तल्ख़ी से महसूस किया था। लुदमिला वेसिलेवा की फ़ैज़ पर लिखी किताब का रिव्यू करते हुए अदीब ख़ालिद ने इस बात को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि फ़ैज़ साहब ने 1982 के एक वक्तव्य में ख़ुद यह कहा थाः

> एक मुसन्निफ़ की हैसियत से हालांकि मैं किसी मुल्क का कामकाज नहीं संभालता हूं और न ही मेरे पास कोई प्रशासनिक ताक़त है, मुझे यह एहसास करने का हक़ ज़रूर है कि मैं अपने भाई बंधुओं का अभिभावक हूं और मेरे भाई बंधु पूरी दुनिया के अवाम हैं। मेरे तईं अमन, आज़ादी, युद्धबंदी, और एटमी होड़ की मुख़ालिफ़त ही प्रासंगिक हैं। इस विशाल भाईचारे में से मेरे और मेरे दिल के सबसे नज़दीक वे अवाम हैं जो अपमानित, निष्कासित और वंचित हैं, जो ग़रीब, भूखे और परेशान हैं। इसी वजह से मेरा लगाव फ़िलिस्तीन, दक्षिण अफ़्रीका, नामीबिया, चिले के अवाम और अपने मुल्क के अवाम और मुझ जैसे लोगों से है।

जिस तरह वे खुद निर्वासन का दर्द झेल रहे थे, उसी तरह वतन बदर हुए अनेक फ़िलिस्तीनी अवाम और दुनिया के कई मुल्कों में दमन और उत्पीड़न के शिकार भोले भाले लोग उनके स्वाभाविक तौर पर हमराही थे, उनका दर्द भी वे अपनी शायरी में व्यक्त कर रहे थे, कहीं कहीं वह दर्द सीधे सीधे सीधे कहा गया है तो कहीं वह प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से आया है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि वे पस्तहिम्मती नहीं दिखाते, एक उम्मीद हर जगह जताते हैं, ज़ुल्मोसितम के अंधेरे छंटेंगे और बेहतर भविष्य की सुबह आयेगी। इसलिए चट्टान के नीचे दबे हाथ के बावजूद वे अपनी कल्पना में उस सुबह को भी कई बार जीते हैं। उदाहरण के तौर पर 'दस्ते तहे संग आम्दा' नज़्म को देखा जा सकता है जिसकी तथाकथित 'संरचनावादी व्याख्या' करने की नाकाम कसरत गोपीचंद नारंग ने की है। नज़्म की पहली दो पंक्तियां मायूसी दर्शाती हैं मगर, उनके बाद दो पंक्तियां उस मायूसी को छांट देती हैं और 'चले चलो' की प्रेरणा जो उनकी कई नज़्मों से ध्वनित होती है, उनमें लक्षित होती है :

बेज़ार फ़ज़ा है, दरपये आज़ार सबा है
यूं है कि हर इक हमदम-ए-देरीना ख़फ़ा है
हां बादाकशो, आया है अब रंग पे मौसम
अब सैर के क़ाबिल रविशे आबोहवा है

गोपीचंद नारंग इस पूरी नज़्म का एक संरचनावादी पाठ पेश करने का दम भरते हैं और यह घोषणा करते हैं कि यह कविता 'न तो प्रेम कविता है और न राजनीतिक कविता'। मगर जब इस नज़्म के मेटाफ़र व्याख्यायित करने लगते हैं तो उनके सामाजिक-राजनीतिक पक्ष ही उजागर करने पर मजबूर होते हैं।

इस पूरी कविता में 'इल्ज़ाम की बरसात', 'ज़हर हलाहल', 'ज़ुल्म', 'जेल', 'ज़ंजीर', 'सज़ा', 'हथकड़ियां' और अंत में ग़ालिब से लिये हुए बिंब, 'गिरफ़्तारी','चट्टान के नीचे दबा हाथ' क्या उस राजनीतिक चेतना के बग़ैर व्याख्यायित किये जा सकते हैं जिसकी वजह से शायर अपने 'वतन की गलियों पे निसार' होता है और दुनिया की उस जनशक्ति को अपनी महबूबा की तरह देखता है जिसकी मुक्ति के लिए वह तड़पता है, इसलिए यह कविता एक प्रेमकविता भी है और राजनीतिक तो है ही। संरचनावाद का जप करने से या अल्थ्यूसर और रोलां बार्थ का नाम स्मरण कर लेने से संरचनावादी व्याख्या नहीं होती और की जायेगी तो निहायत फूहड़ क़िस्म की ही होगी।

फ़ैज़ साहब की शायरी की यही तो ख़ूबी है कि वे इश्क़, वतन से मुहब्बत, अपनी इंक़लाबी विचारधारा और दुनिया के मेहनतकशों और वंचितों व मज़लूमों के साथ हमदर्दी और अपने निर्वासन के दर्द को इस तरह अपनी शायरी में घुलामिला देते हैं कि उसमें यथार्थ की बहुत सारी परतें कलात्मकता की नयी झलक देती हैं। 'क़ैद-ए-तनहाई' शीर्षक नज़्म की आख़िरी तीन पंक्तियां देखें तो यह जादू साफ़ दिखायी देगाः

हसरते रोज़े मुलाक़ात रक़म की मैंने
देस परदेस के याराने क़दहख़्वार के नाम
हुस्ने आफ़ाक़, जमाले लब ओ रुख़्सार के नाम

उनकी विचारधारा के विरोधी भी उनकी इस कलात्मक संश्लिष्टता पर मोहित हैं और उन्हें अपनी घटिया आलोचना का शिकार नहीं बना पाते। हम लोगों का प्यारा यह शायर उर्दू में ही नहीं, पूरी दुनिया के अदब में हमेशा हमेशा एक चमकता सितारा रहेगा।

मो. : 09811119391

आशा भरे अवसाद के विश्व-कवि

प्रणय कृष्ण

नेरुदा की कविताओं के अब तक के सबसे बेहतर अनुवाद हिंदी में लानेवाले कवि नीलाभ ने नेरुदा की लंबी कविता 'वह लकड़हारा जागे' के बारे में लिखा है, 'इस कविता का अंत उस आशा भरे अवसाद में होता है, जो नेरुदा की अपनी ख़ासियत है।' दरअसल, यह नेरुदा की ही नहीं, बल्कि 20वीं सदी में रचनारत ऐसे विश्वकवियों की एक ख़ास विशेषता है जो तीसरी दुनिया के मुल्कों से आते थे और बेह्तर दुनिया के संघर्ष और स्वप्न को जीवित रखने के लिए अपनी मातृभाषाओं में कविताएं लिखते रहे। चूंकि वे जनसंघर्षों से जुड़े कवि थे, लिहाज़ा उन संघर्षों के उतार-चढ़ाव, आशा-निराशा, सफलता-असफलता का उनकी कविता पर प्रभाव लाज़िमी था। ये कवि ऐसे थे जिन्हें बहुधा अपने वतन से बेदख़ल होना पड़ा, जेल की सज़ा काटनी पड़ी, यातनाएं सहनी पड़ीं और अपनों का बिछोह सहना पड़ा। वतनबदरी ने उन्हें दुनिया भर में साम्राज्यवाद, औपनिवेशिक उत्पीड़न, फ़ासीवाद और तानाशाही के ख़िलाफ़ चलने वाली लड़ाइयों के साझेपन, बहिनापे और दर्द के आपसी रिश्ते की चेतना दी। वे ख़ुद जिन देशों से आते थे, उनकी भौतिक, ऐतिहासिक, भू-राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में समानता के भी तत्व थे, भिन्नता के भी। वे जिन जातीय काव्य-परंपराओं के वारिस थे, वे भी अलग-अलग थीं। लेकिन उनकी कविता में 'आशा भरे अवसाद' के स्वर की समानता का सीधा संबंध उनकी जनांदोलनों से गहरी संलग्नता और बेहतर, सुंदर, आज़ाद दुनिया तथा मानव नियति के सरोकारों से है। जिन भौतिक और आध्यात्मिक सवालों से उनकी कविता रू-ब-रू है, उनका समाधान 20वीं सदी न दे सकी। वे सवाल भी ऐसे नहीं हैं जिनका हल आसान या समय के निश्चित दायरे में अपरिवर्तनीय ढंग से संभव हो। इसी वजह से उनकी इतिहास-चेतना भी एक-रेखीय, परिणामवादी और निर्धारणवादी नहीं है। इन कवियों में अवसाद मिलेगा, लेकिन निराशा नहीं। आज 21वीं सदी में हम 'आशा भरे अवसाद' की इनकी स्वर-भंगिमा से और भी ज़्यादा निकटता महसूस करते हैं क्योंकि आज के संघर्ष और ज़्यादा पेचीदा हैं, साम्राज्यवाद के पक्ष में झुके विश्व शक्ति-संतुलन का कोई प्रति-संतुलन मौजूद नहीं है, इसलिए कोई आसान हल भी हमारे सामने मौजूद नहीं हैं। ये कवि इतिहास की गति के बीच अपनी कविता को रखते हैं, इसलिए वे वर्तमान के संघर्षों के गर्भ में पल रही उम्मीदों के रचनाकार हैं, ज़िंदगी की रोज़-ब-रोज़ की जद्दोजहद से कटे किसी यूटोपिया के सर्जक नहीं हैं। वे आसान समाधानों और नुस्खों के कवि नहीं हैं। उन्हें एहसास है कि जिन संघर्षों में उनकी जनता और कविता मुब्तिला है, वे लंबे चलनेवाले हैं, वे पस्तहिम्मती भी ला सकते हैं, लिहाज़ा उनकी कविता इस

से आगाह करती है और नयी उम्मीद भरने के कर्तव्य का निर्वाह भी करती चलती है। नाज़िम हिक़मत की एक मशहूर कविता का यह टुकड़ा देखें :

'मान लीजिए हम मोर्चे पर हैं
लड़ने लायक किसी चीज़ के लिए।
वहां पहले ही हमले में,उसी दिन
हम औंधे गिर सकते हैं, मुंह के बल, मुर्दा।
हम जानते होंगे इसे एक अजीब गुस्से के साथ
फिर भी हम सोचते सोचते हलक़ान कर लेंगे ख़ुद को
उस युद्ध के नतीजे की बाबत जो बरसों चल सकता है।
मान लीजिए हम जेल में हैं
और पचास की उम्र की लपेट में,
और लगाइए कि अभी अट्ठारह बरस बाक़ी हैं
लौह फाटकों के खुलने में।
हम फिर भी जियेंगे बाहर की दुनिया के साथ
इसके लोगों, पशुओं, संघर्षों और हवा के-
मेरा मतलब कि दीवारों के पार की दुनिया के साथ
मेरा मतलब, कैसे भी कहीं भी हों हम
हमें यों जीना चाहिए जैसे हम कभी मरेंगे ही नहीं।'

(अनु. वीरेन डंगवाल, *पहल पुस्तिका,* जनवरी-फरवरी, 1994, सं. ज्ञानरंजन)

फ़ैज़ साहब का आख़िरी कलाम जो हिंदीभाषियों को एक ग़ज़ल के रूप में उपलब्ध है, उसमें भी वे कहना नहीं भूलते कि उन्हें मालूम है कि ज़िंदगी की लड़ाइयों में, ख़ुशी और ग़म, उत्थान-पतन, जय-पराजय क्या है। लिहाज़ा सब सोच-समझ कर ही उन्होंने एक शायर के रूप में उन्हें क्या करना है, इसका चुनाव किया है। वे लिखते हैं :

हम एक उम्र से वाक़िफ़ हैं अब न समझाओ
कि लुत्फ़ क्या है मेरे मेह्रबां सितम क्या है
करे न जग में अलाओ तो शेर किस मक़सद
करे न शह्र में जल-थल तो चश्मे-नम क्या है।

इतिहास की गहरी समझ, ज़िंदगी के संघर्षों में पराजय और धक्कों के एहसास के बीच भी संघर्ष की अपरिहार्यता, उम्मीद का सृजन और अपने काम की, जनता के कवि के काम की अहमियत में यक़ीन इन कवियों को एक ख़ास तरह के रिश्ते में बांधती है। फ़ैज़ के समकालीन ऐसे विश्व-कवियों में नेरुदा (1904-1973), हिक़मत (1902-1963) और महमूद दरवीश (1941-2008) का नाम सबसे ऊपर लिखा हुआ है। फ़ैज़ साहब का इन सबसे व्यक्तिगत ज़िंदगी में भी आत्मीयता का रिश्ता रहा। इन कवियों की एक विशेषता यह भी रही कि इन्होंने अपनी कविताओं का जो देश और काल रचा, वह साभ्यतिक था, एक पूरे महाद्वीप या उप-महाद्वीप की स्मृतियां और यथार्थ इनकी शायरी में मुखरित हुए। ये कवि किसी राष्ट्र-राज्य की चौहद्दी में बंधे कवि न थे क्योंकि राष्ट्र-राज्यों का उदय पूंजीवाद के साथ हुआ, जबकि

ये कवि हक़, इंसाफ़, बराबरी और शांति के पक्ष में लिखते हुए पूंजी के युग में पैदा किये गये राज्य, समाज और संस्कृति के संस्थानों से पहले के ऐतिहासिक जन-जीवन, मिथकीय भाव-जगत, साभ्यतिक अनुभूति की संरचनाओं को वर्तमान के मुक्ति-संग्राम के दृष्टिकोण और मानव-मुक्ति की भविष्य-दृष्टि के साथ काव्य में रूपांतरित और संप्रेषित करते हैं। काव्य-दृष्टि की इस विराटता के चलते ही वे विशिष्ट सभ्यताओं और काव्य-परंपराओं से आने के बाद भी विश्व-मानव की आकांक्षाओं और संवेदनाओं के वाहक हुए। आज बहुप्रचारित और साम्राज्यवादियों द्वारा अमल में लाये जा रहे 'सभ्यताओं के संघर्ष' का सिद्धांत इनकी कविताओं के सामने बालू की भीत सा लगता है, क्योंकि इनमें से हर कवि अपनी विशिष्ट सभ्यता की अनुभूतियों की जटिल बुनावट के भीतर से सामान्य मानव-मुक्ति के स्वप्न और यथार्थ को उभार देता है। उपनिवेशवाद-विरोधी संस्कृति-कर्म की एक ख़ास भंगिमा यह भी थी कि न केवल वर्तमान को, बल्कि इतिहास और स्मृति को भी साम्राज्य के कब्ज़े से छुड़ा लाया जाये। यह काम इन सभी उपनिवेशवाद-विरोधी शाायरों ने बख़ूबी अंजाम दिया। फ़ैज़ न केवल पूरे उप-महाद्वीप के शायर हैं, बल्कि इंडो-परशियन काव्य-परंपरा के वाारिस होने के चलते एक बड़ा सभ्यतागत घेरा अपने काव्य में बनाते हैं। हिक़मत को आटोमन साम्राज्य के भीतर समाहित शताब्दियों में विकसित अनेक क़ौमों की साझा संस्कृतिक विरासत मिली थी जो उनके काव्य में अपनी ख़ास छटा लेकर आती है। हिक़मत के पुरखों में तुर्की, पोलिश, जर्मन और काकेशस की आडिग जनजाति से आनेवाले लोग थे, लिहाज़ा पारिवारिक विरासत के लिहाज़ से भी वे कास्मोपालिटन थे। महमूद दरवीश महज फ़िलिस्तीनी राष्ट्र के नहीं, बल्कि उदात्त अरब अस्मिता के कवि थे और कविता भी उन्होंने अरबी भाषा में ही लिखी। नेरुदा इसीलिए महज़ अपने देश चिले के कवि नहीं, बल्कि सारा लैटिन अमरीका उनके काव्य की रंगस्थली है। 1943 में नेरुदा ने पेरू की यात्रा की और शताब्दियों पहले लुप्त हो चुकी इंका सभ्यता के खंडहरों में घूमे। दो ऊंची पहाड़ियों के बीच स्थित इंका सभ्यता के प्रमुख नगर-केंद्र 'माच्चू पिच्चू' को उन्होंने देखा और अपनी महान कविता 'माच्चू-पिच्चू के शिखर' लिखी। इस खोये हुए पहाड़ी नगर की चढ़ाई का वृतांत कविता में ऐसे ढलता है कि वह लैटिन अमरीका के खोये हुए अतीत, उसके संघर्षों, उसके प्राकृतिक और मानवीय सौंदर्य तथा उसकी स्मृतियों के संधान में तब्दील हो जाता है। कविता के अंत में नेरुदा शताब्दियों के मृतकों का अपनी वाणी में फिर से जन्म लेने का आह्वान करते हैं :

'उठो जन्म लो, मेरे साथ, मेरे सहजात
... ...
देखो मेरी ओर धरती की गहराइयों से
हरवाहे, जुलाहे, ख़ामोश चरवाहे
विघ्नहर्ता ऊंटों के पालक
ख़तरनाक पहाड़ों पर चढ़े हुए राजगीर
एंडीज़ के आंसुओं के कहार
कुचली उंगलियों वाले मणिकार
अंखुवाते बिरवों में लरजते किसान
अपनी माटी में बिखरे कुम्हार
इस नयी ज़िंदगी के प्याले तक लाओ

अपने पुराने दबे पड़े दुख।
... ...
मैं आया हूं तुम्हारे निस्पंद मुखों की ओर से बोलने।'

(पाब्लो नेरुदा, अनु. नीलाभ, *माच्चू पिच्चू के शिखर*,
सदानीरा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.68-69)

इन कवियों का काव्य रूमानी, आदर्शवादी, मानवतावादी कवियों की तरह अमूर्त नहीं, बल्कि यथार्थ में गहरे धंस कर, गहरे अर्थ में राजनीतिक और प्रतिबद्ध है। ये सभी कवि अपनी काव्य-यात्रा की शुरुआत से ही कम्युनिस्ट न थे, बल्कि अपने काव्य की जो भूमिका इन्होंने चुनी, वह इन्हें कम्युनिस्ट बनाने तक ले गयी। इन कवियों ने कविता की ज़रूरत, उसकी ताक़त और भूमिका को भी एक नयी ज़मीन दी है। वास्तविक दुनिया की विभीषिकाओं के बरख़िलाफ़ कविता की काल्पनिक दुनिया में ज़िंदगी के अर्थ को, उम्मीद को फिर से जगाना और पाना इन कवियों की ख़ास भंगिमा है। इनकी जीवनगत परिस्थितियों ने भी कविता की इस ख़ास भूमिका की खोज के लिए उन्हें प्रेरित किया। महमूद दरवीश ने अपनी मृत्यु से एक साल पहले दिये गये एक साक्षात्कार में डालिया कार्पेल नामक पत्रकार के एक सवाल के जवाब में कहा था, 'जब उम्मीद न भी हो, हमारा फ़र्ज़ बनता है कि हम उसका आविष्कार और उसकी रचना करें। उम्मीद के बिना हम हार जायेंगे। उम्मीद से सादगीभरी चीज़ों से उभरना चाहिए। प्रकृति की महिमा से, जीवन के सौंदर्य से, उनकी नज़ाक़त से। केवल अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रखने की ख़ातिर आप कभी कभी ज़रूरी चीज़ों को भूल ही सकते हैं। इस समय उम्मीद के बारे में बात करना मुश्किल है। यह ऐसा लगेगा जैसे हम इतिहास और वर्तमान की अनदेखी कर रहे हैं। जैसे कि हम भविष्य को फ़िलहाल हो रही घटनाओं से काट कर देख रहे हैं। लेकिन जीवित रहने के लिए हमें बलपूर्वक उम्मीद का आविष्कार करना होगा।'(*कबाड़ख़ाना* ब्लाग से साभार)

जिस फ़िलिस्तीन के महमूद दरवीश राष्ट्र-कवि जैसे हैं, वह आजतक एक राष्ट्र बन नहीं पाया है। निहत्थी फ़िलिस्तीनी जनता, अपनी अधिकांश ज़मीन से पूरी तरह बेदख़ल, अपने ही देश में शरणार्थी, महज़ जीवित रहने के लिए पूरी तरह से विदेशी सहायता पर निर्भर होने के बावजूद अपने अधिकार, इज़्ज़त और संप्रभुता के लिए एक असंभव सा युद्ध लड़ रही है। पिछले चार दशकों में फ़िलिस्तीनी संघर्ष आगे कम बढ़ा है, उसे झटके ही ज़्यादा लगे हैं और शेष दुनिया मूक दर्शक बनी रही है। फ़िलिस्तीनी मुक्ति-संघर्ष 1967 से ही जारी है। इस बीच फ़िलिस्तीनी अपनी लगभग सारी ही ज़मीनें इस्राइल को हार चुके हैं और अब वे अलग-थलग, कटे-फटे ज़मीन के उन टुकड़ों पर जीवन बसर करते हैं जो चारों ओर से इस्राइली कब्ज़े वाले इलाकों से घिरे हुए हैं। इस पूरे इलाक़े पर अमरीका के समर्थन और शह पर इस्राइल ने जिस प्रकार के हमले, कब्ज़े और जनसंहार को अंजाम दिया है, उसकी तुलना अतीत की सिर्फ़ एक ही घटना से हो सकती है वह है कोलंबस के अमरीकी तट पर पहुंचने के बाद वहां चलाया गया कब्ज़ा और हत्या अभियान। ऐसे लहूलुहान मुल्क के कवि के पास उम्मीद की भला क्या वजह हो सकती थी? फ़िलस्तीनी आबादी न केवल विभाजित है, बल्कि इन स्थितियों के बीच वहां लोकतंत्र और मानवाधिकार भी गिरावट पर है। बाहरी हमला और कब्ज़े तथा घेरेबंदी की स्थितियां भीतरी कलह को भी जन्म देती हैं और महमूद दरवीश ने अपने जीते जी गाज़ा में अल-फ़तह और हमास के बीच ख़ूनी संघर्ष को देखा था। बहुत पहले फ्रैंज़ फ़ैनन ने औपनिवेशिक घेरेबंदी में जीनेवालों के आपसी कलह के बारे में स्थापना

देते हुए लिखा था, 'अपनी पूरी ताक़त के साथ जब देशी लोग एक दूसरे के प्रति घृणा में कूद पड़ते हैं तो वे स्वयं को समझा रहे होते हैं कि उपनिवेशवाद अस्तित्व में नहीं है, कि सब कुछ पहले जैसा ही है, कि इतिहास जारी है। सामुदायिक संगठनों के स्तर पर हम परिवर्जन (या बचने) के सुपरिचित व्यवहार को देखते हैं, मानो आपसी ख़ूनी लड़ाइयों ने उन्हें (वास्तविक बाधाओं) को नज़रअंदाज़ करने और उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ अपरिहार्य सशस्त्र संघर्ष के चुनाव को टाल देने का मौक़ा दे दिया हो। इस प्रकार सामूहिक आत्मविनाश उन तरीक़ों में से एक है जिनसे देशियों की मांसपेशियों का तनाव मुक्त होता है। इस तरह के व्यवहार ख़तरे की स्थिति में मृत्यु की प्रतिक्रिया है, एक आत्मघाती व्यवहार...।'

ज़रा सोचिए, कहां और कैसे आये ऐसी स्थितियों में उम्मीद? लेकिन यहीं एक कवि अपनी कविता की ताक़त पर भरोसा करता है, अपनी लहूलुहान मातृभूमि को कविता में निर्मित करता है और महज़ यथार्थ के नहीं, बल्कि कल्पना के तत्वों से उसकी कविता जनता के मुक्ति-संघर्ष में अपनी भूमिका निभाती है, एक पराजित जाति के लोग उस कविता में अपनी उम्मीद और सपनों को महफूज़ पाते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने ख़ुद दिल्ली में वतनबदरी की हालत में रह रहे फ़िलिस्तीनी नौजवानों के कमरों में दरवीश की कविताओं के पोस्टर और किताबें देखी हैं। अपने पूर्वोक्त साक्षात्कार में दरवीश कहते हैं, 'मैं उपमाओं का कर्मचारी हूं, प्रतीकों का नहीं। मैं कविता की ताक़त पर भरोसा करता हूं, जो मुझे भविष्य को देखने और रौशनी की झलक को पहचानने की वजहें देती है। कविता एक असल हरामज़ादी हो सकती है। वह विकृति पैदा करती है। इस के पास अवास्तविक को वास्तविक में और वास्तविक को काल्पनिक में बदल देने की ताक़त होती है। इसके पास एक ऐसा संसार खड़ा कर सकने की ताक़त होती है जो उस संसार के बरख़िलाफ़ होता है जिसमें हम जीवित रहते हैं। मैं कविता को एक आध्यात्मिक ओषधि की तरह देखता हूं। मैं शब्दों से वह रच सकता हूं जो मुझे वास्तविकता में नज़र नहीं आता। यह एक विराट भ्रम होती है लेकिन एक पाज़िटिव भ्रम। मेरे पास अपनी या अपने मुल्क की ज़िंदगी के अर्थ खोजने के लिए और कोई उपकरण नहीं। यह मेरी क्षमता के भीतर होता है कि मैं शब्दों के माध्यम से उन्हें सुंदरता प्रदान कर सकूं और एक सुंदर संसार का चित्र खींचूं और उनकी परिस्थिति को भी अभिव्यक्त कर सकूं। मैंने एक बार कहा था कि मैंने शब्दों की मदद से अपने देश और अपने लिए एक मातृभूमि का निर्माण किया था।'

जिन्हें 'आशा भरे अवसाद' के इस द्वंद्वात्मक सौंदर्य-विधान का अभ्यास नहीं है, वे या तो आशा देखते हैं या अवसाद और दोनों को अलगाकर अलग-अलग दिशाओं के निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसी ही स्थिति में फ़ैज़ की जीवनीकार रूस की उर्दू विदुषी लुदमिला वासिलेवा ख़ुद को पाती हैं। उनके द्वारा रूसी भाषा में लिखी फ़ैज़ की बेहतरीन जीवनी 2002 में प्रकाशित हुई। फिर 2007 में उसका परिवर्धित उर्दू संस्करण 'परवरिश-ए-लौहो-क़लमः फ़ैज़, हयात और तख़लीक़ात' नाम से प्रकाशित हुई। अदीब ख़ालिद ने इसकी समीक्षा 'ऐनुअल आफ़ उर्दू स्टडीज़' (खंड 23, 2008) में की है। उनके लिखे के मुताबिक जीवनीकार वासिलेवा यह मानती हैं कि 'वे राजनीतिक और सामाजिक मूल्य जो फ़ैज़ के लिए प्राथमिक महत्व के थे,समय की कसौटी पर खरे नहीं उतरे'। ज़ाहिर है कि वासिलेवा रूस की हैं और सोवियत विघटन से उन्होंने बहुत से लोगों की तरह यह निष्कर्ष निकाला हो कि समाजवाद के पहले प्रयोग की विफलता समाजवाद मात्र की विफलता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मुश्किल तब आती है जब वे अपनी समझ को फ़ैज़ की शायरी पर थोपती हैं। फ़ैज़ सोवियत विघटन देखने को जीवित न थे। अदीब ख़ालिद

के साक्ष्य पर हमें ज्ञात होता है कि वासिलेवा फ़ैज़ के आखीरी काव्य-संग्रहों *मेरे दिल, मेरे मुसाफिर* और *ग़ुबारे-अय्याम* में व्यक्त अवसाद की न केवल फ़ैज़ के सोवियत संघ के प्रति संदेह के बतौर व्याख्या करती हैं, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर वे इसमें उन उद्देश्यों और आदर्शों से भी फ़ैज़ के मोहभंग को लक्षित करती हैं, जो उन्हें जीवनभर प्रिय रहे। फ़ैज़ के इन दोनों संग्रहों में अवसाद वैसा ही है जैसा उनके पिछले संग्रहों में भी दिखायी पड़ता है, लेकिन एक उम्मीद बराबर साथ लगी रही है। लुदमिला वासिलेवा को आख़िरी संग्रहों में जो नाउम्मीदी और शुब्हा दिखायी पड़ता है, उसमें अफ़ग़ानिस्तान पर सोवियत हमले की छाया देखना तो शायद उतनी दूर की कौड़ी नहीं है, लेकिन उदासी का यह गाढ़ापन क्या सचमुच उन मूल्यों से फ़ैज़ का मोहभंग है जो फ़ैज़ को जीवनपर्यंत प्रिय रहे? आइए देखें कि इन संग्रहों में व्याप्त उदासी के बीच कौन से मूल्य व्यक्त होते हैं। *मेरे, दिल, मेरे मुसाफिर* में एक नज़्म है 'मंज़र'। यह दृश्य है आसमान का जिसमें समुद्र जैसा शोर है। बादलों के गड़गड़ाते हुए जहाज़ हैं, नील में नहाती हुई अबाबील है, तो कहीं चील गोते लगा रही है। हरकतों से भरा आसमान है और 'एक बाज़ी में मसरूफ़ है हर कोई'। लेकिन इस शोरगुल में कहीं ताक़त की ज़ोर-आज़माइश नहीं है :

कोई ताक़त नहीं इसमें ज़ोर-आज़मा
कोई बेड़ा नहीं है किसी मुल्क का
इसकी तह में कोई आबदोज़ें नहीं
कोई राकट नहीं कोई तोपें नहीं
यां तो सारे अनासिर हैं यां ज़ोर में
अम्न कितना है इस बहरे-पुरशोर में।

हरकतों से भरे, शोरगुल से भरे आसमान का चित्र यहां दुनिया में दो महाशक्तियों के बीच चल रही हथियारों की होड़, युद्ध की विभीषिका के भयानक चित्र के साथ जक्स्टापोज़ किया गया है। दोनों जगह शोरगुल है, प्रकृति के दृश्य में पंचतत्वों का शोर है, जबकि महाशक्तियों की हथियारों की स्पर्धा में जहाज़ी बेड़ों, पनडुब्बियों, राकेटों और तोपों का। प्रकृति के दृश्य में शोर तो है, लेकिन शांति है और सौंदर्य भी, कोई किसी के ख़िलाफ़ युद्धरत नहीं है जबकि मानवीय दृश्य के शोरगुल में न शांति है न सौंदर्य, बल्कि विनाश का ऐलान ही है सब ओर। जैसे बादलों से गड़गड़ाते आसमान का दृश्य है, वैसे ही अनेक दृश्य और भी हमें मिलते है जहां शोर तो होता है, लेकिन वह ताक़तवरों का विनाशकारी शोर नहीं होता, जैसे कि खेल-कूद करते बच्चों का शोर। पहले हमने उद्धृत किया है महमूद दरवीश को जहां वे कहते हैं कि हमें नाउम्मीद समय में भी प्रकृति की महिमा से और जीवन के सौंदर्य से उम्मीद रचनी चाहिए। फ़ैज़ ने इस कविता में यही किया है। यह कविता विश्व-शांति के पक्ष में, मुल्कों के बीच आपसी युद्धों और हथियारों की होड़ के ख़िलाफ़ प्रकृति का एक दृश्य खड़ा करके पैदा की गयी है। क्या विश्व-शांति वह मूल्य नहीं जो फ़ैज़ को जीवन भर प्यारा रहा और जिसके पक्ष में वे शुरू से लिखते रहे? इसी संग्रह की एक कविता है 'शायर लोग' जहां फ़ैज़ एक बार फिर अपनी शायरी के सबसे बड़े मूल्य 'ऐहतिजाज़' का, हाकिमों के ख़िलाफ़ मज़लूमों का पक्ष लेने के एवज़ में क़ुर्बानियां देने की शायराना रस्म की याद दिलाते हैं :

'जो भी रस्ता चुना उस पे चलते रहे
माल वाले हिकारत से तकते रहे
तान करते रहे हाथ मलते रहे
हमने उन पर किया हर्फ़े-हक़ संगज़न
जिन की हैबत से दुनिया लरजती रही
जिन पे आंसू बहाने को कोई न था
अपनी आंख उनके ग़म में बरसती रही
सबसे ओझल हुए हुक्मे हाकिम पे हम
क़ैदखाने सहे ताज़याने सहे
लोग सुनते रहे साज़े-दिल की सदा
अपने नग़में सलाखों से छनते रहे...'

क्या ये उस शायर का कलाम है जिसका अपने उद्देश्यों और आदर्शों से मोहभंग हो गया है, जैसा लुदमिला चाहती हैं कि हम समझें? ज़रा देखिए कि 'ग़ुबारे-अय्याम' में वे मौलाना हसरत मोहानी को कैसे याद करते हैं :

मर जायेंगे ज़ालिम कि हिमायत न करेंगे
अहरार कभी तर्के-रवायत न करेंगे

ज़ाहिर है कि आज़ादी, बराबरी और भाईचारे के इस शायर ने आख़िर तक उस रवायत को तर्क नहीं किया जो इन मूल्यों के लिए प्राण न्यौछावर कर देनेवालों की रही है। याद आती है फ़ैज़ की ही *दस्ते-तहे-संग* में संकलित वह महान गज़ल जिसका एक शेर यों है :

करो कज ज़बीं पे सरे कफ़न, मेरे क़ातिलों को गुमां न हो
कि गुरूरे-इश्क़ का बांकपन पसे-मर्ग हमने भुला दिया

क्या यह पर्याप्त चेतावनी नहीं है उन तमाम समीक्षकों के लिए जो फ़ैज़ के न रहने के बाद उन्हें उनके आदर्शों और मूल्यों से काट कर पढ़ना चाहते हैं, ख़ासकर आख़िरी दिनों की शायरी में। 'शोपेन का नग़मा बजता है' जैसी बेहद उदास नज़्म में भी आज़ादी के लिए प्राण देनेवालों का गर्वमय ज़िक्र आता है :

कुछ आज़ादी के मतवाले, जां कफ पे लिये मैदां में गये
हर सू दुश्मन का नर्गा था, कुछ बच निकले, कुछ खेत रहे
आलम में उनका शोहरा है
शोपेन का नग़मा बजता है।

इन आख़िर के संग्रहों में भी महज़ उदासी या फिर 'आशा भरे अवसाद' की ही शायरी नहीं है, बल्कि जोशीले आह्वान की भी नज़्में हैं। 'आवाज़ें' शीर्षक नज़्म का आख़िरी हिस्सा है 'निदा-ए-गैब' जो कि क्रमशः 'ज़ालिम' और 'मज़लूम' शीर्षक दो हिस्सों के बाद आता है। पहले दो हिस्सों में क्रमशः ज़ालिम की गर्वोक्तियां और मज़लूम के दर्द और गुस्से के बयान के बाद इस आख़िरी हिस्से में ज़ालिमों को सीधी सीधी चेतावनी दी गयी है और क्रांतिकारी शक्तियों द्वारा इंसाफ का भय दिखाया गया है :

हर इक उलुल-अम्र को सदा दो
कि अपनी फ़र्दे-अमल संभाले
उठेगा जब ज़म्मे-सरफ़रोशां
पड़ेंगे दारो-रसन के लाले
कोई ना होगा कि जो बचा ले
जज़ा सज़ा सब यहीं पे होगी
यहीं अज़ाबो-सवाब होगा
यहीं से उट्ठेगा शोरे-महशर
यहीं पे रोज़े हिसाब होगा।

उसी *ग़ुबारे-अय्याम* में 'एक तराना मुजाहिदीने-फ़लिस्तीन के लिए' भी है, लड़ाकों को जोश दिलाता हुआ :

हम जीतेंगे
हक़्का हम इक दिन जीतेंगे
बिल आख़िर इक दिन जीतेंगे...

अगर इससे भी इत्मीनान न हो तो *ग़ुबारे-अय्याम* का वह अमर तराना तो ज़रूर ही उन लोगों को याद दिलाना होगा जो फ़ैज़ के आख़िरी संग्रहों में उनके जीवनपर्यंत प्रिय उद्देश्यों और आदर्शों से उनके मोहभंग का सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं। 'तराना-2' की इस उम्मीद को वे कैसे परिभाषित करेंगे, जहां शायर को यक़ीन है उस दिन का जब 'सब ताज उछाले जायेंगे, सब तख़्त गिराये जायेंगे' :

उट्ठेगा 'अनहलक' का नारा
जो मैं भी हूं और तुम भी हो
और राज करेगी ख़ल्के-ख़ुदा
जो मैं भी हूं और तुम भी हो।

यूं लुदमिला अकेली सिद्धांतकार नहीं हैं इस तथाकथित 'मोहभंग' की। समीक्षक अदीब ख़ालिद भी जीवनीकार से सहमत दिखायी देते हैं और उन्हें भी लगता है कि आख़िरी दिनों के इन संग्रहों की नज़्में जो उन्होंने निर्वासन में लिखीं, उनमें समाजवादी मूल्यों से मोहभंग के साथ साथ उनका अपना वतन उनकी शायरी के केंद्र में आ जाता है। इसीलिए अपना आत्मनिर्वासन ख़त्म कर वे मौत से पहले 1983 में अपने वतन वापस लौट आये। इशारा यह है कि तीसरी दुनिया की एकता या अंतर्राष्ट्रीयतावाद, दुनिया के मज़दूरों और मज़लूमों की एकता के आदर्शों की जगह अब वे अपने वतन को ही केंद्रित करना चाहते हैं शायरी में। अगर ऐसा है तो फिर उसी *मेरे दिल, मेरे मुसाफ़िर* में फ़िलिस्तीन के लिए नज़्में क्यों हैं? फ़िलिस्तीन के जो योद्धा परदेस में शहीद हुए, उनके लिए लिखते हुए फ़ैज़ 'उत्तम पुरुष' में लिखते हैं, मानो कवि का वतन वही है जो उन शहीदों का और शायर उनका अपना हमवतन है :

मैं जहां पर भी गया अर्ज़े-वतन
तेरी तज़लील के दाग़ों की जलन दिल में लिये
तेरी हुर्मत के चराग़ों की लगन दिल में लिये
तेरी उल्फ़त, तेरी यादों की कसक साथ गयी

इन पंक्तियों का दर्द जितना फ़िलिस्तीन के परदेस में मारे गये योद्धाओं का है, उतना ही वतनबदर शायर फ़ैज़ का भी, दर्द के रिश्ते में वतनियत के आधार पर कोई तक़सीम नहीं है। बहरहाल, जहां जीवनीकार ने एक ही झटके में फ़ैज़ को समाजवाद, बराबरी, न्याय, स्वतंत्रता, विश्व-बंधुत्व जैसे उन मूल्यों से अलगाया जो फ़ैज़ को जान से ज़्यादा प्यारे थे, वहीं जीवनी के समीक्षक ने उन्हें पूरी दुनिया में सरमायादारी और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ मेहनतकशों की एकता के शायर के ओहदे से उतार कर 'राष्ट्रवाद' की तंग सरहदों में उनकी शायरी को क़ैद करने की दिशा ली। वतन कब फ़ैज़ की शायरी में नहीं रहा? क्या उनका ऐसा भी कोई संग्रह है जिसमें अपने वतन के मेहनतकशों और आम लोगों की ख़ुदमुख़्तारी, बराबरी और आज़ादी की चाहत के तराने न हों? हाकिमों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध के स्वर में एक प्रतिरोधी राष्ट्रीय भावना न हो? अवाम की बदहाली के शोकगीत न हों? फ़ैज़ अपने देश के तानाशाहों से लड़ते रहे और कभी भी उनके 'जंगजू' राष्ट्रवाद के साथ खड़े नहीं हुए। वे शुरू से उस वतन के दर्द के गीत गाते रहे जिसे ज़ालिम रौंद रहे थे। उनका राष्ट्रवाद अगर कुछ था, तो एजाज़ अहमद के शब्दों में 'गमज़दा' राष्ट्रवाद ही था, शुरू से आख़िर तक। देश की सत्ता और संपत्ति पर मेहनतकशों का कब्ज़ा हो, भविष्य के इसी राष्ट्र के वे शायर थे, जिससे उन्हें कोई देशनिकाला नहीं दे सकता था। ऐसा ही मेहनतकशों का राष्ट्र दुनिया के मेहनतकशों से एका क़ायम कर सकता है और विश्वमैत्री भी। इसीलिए फ़ैज़ प्रचलित अर्थों में जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, वैसे राष्ट्रवादी न थे। वतन तो हरदम उनकी शायरी के केंद्र में था - वह वतन जो पहले एक था और उनके जीवनकाल में ही तीन हिस्सों में बंटा। जब उन्होंने 'सुबहे-आज़ादी' लिखी थी, तब भी न उसमें अवसाद कम था और न ही उम्मीद का दामन छूटा था। उस नज़्म के आख़िर में वह कौन सी मंज़िल है जिस तक पहुंचने की उम्मीद में वे कह रहे हैं कि, 'चले चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आयी?' बांग्लादेश के अलग हो जाने के बाद 'ढाका से वापसी' शीर्षक नज़्म में भी इस बात का ही दर्द उभरा है कि कैसे जो क़ौमें एक साथ रहीं सदियों तक, वे अचानक ऐसी अजनबी हो गयीं एक दूसरे के लिए कि सारी मेहमाननवाज़ी के बाद भी, अजनबियत है कि मिटती ही नहीं। दरअसल सरमायादार और ज़मींदारी की ताक़तें जब राष्ट्र की कमान संभाल लेती हैं, तो वे बंटवारे को ही लगातार बढ़ाती जाती हैं। एक क़ौम को दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा करके, भाषा, धर्म, जाति के झगड़ों को उकसाकर वे मेहनतकशों की एकता को कमज़ोर करती हैं और ख़ुद को सत्ता में महफ़ूज़ रखती हैं। अक्सर ऐसे निज़ाम ये सब कुछ वतन, देश या राष्ट्र के नाम पर करते हैं। वे ख़ुद को देश घोषित करते हैं और अपने ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ लड़नेवालों को देश-विरोधी। हर थोड़े थोड़े वक़्त बाद उन्हें 'देश पर ख़तरे' के बादल मंडराते दिखते हैं और फिर वे देश की रक्षा में किसी न किसी क्षेत्रीय, धार्मिक, भाषाई या उप-राष्ट्रीय समुदाय पर लाव-लश्कर लेकर टूट पड़ते हैं। धीरे धीरे दिलों के घाव वतन की तक़सीम में बदल जाते हैं। फ़ैज़ ने ये सब अपने देश और पूरे उपमहाद्वीप में देखा था और इसके दर्द को अपने स्नायुओं पर झेला था। किसी अदीब ने ही मज़ाक में कहा था कि पाकिस्तान की फ़ौजें हर कुछ साल बाद अपने ही देश को फतह कर लेती हैं। 'देश पर ख़तरे' से निपटने के लिए फ़ौजी तानाशाहियां स्थापित होती हैं जिन्हें बरक़रार रखने के लिए अक्सर 'धर्म पर ख़तरे' का आविष्कार किया जाता है। फ़ैज़ ने सरमायादारों, फ़ौजी तानाशाहों और जागीरदारों की कथित वतनियत के शिकार उस लहूलुहान वतन को पुकारा है अपनी शायरी में जिसके आंसू पोंछनेवाला कोई न था। वतन ऐसे ही आता है फ़ैज़ के यहां दुख की गाथा के रूप में, इंसाफ़ की चीख़ के बतौर, प्यार के पैग़ाम के बतौर। 'हम लोग' (नक़्शे-फ़रियादी), 'निसार मैं

तेरी गलियों पे'(*दस्ते-सबा*), 'ख़ुशा ज़मानते-ग़म' (*दस्ते तहे-संग*), 'इंतिसाब', 'ऐ वतन, ऐ वतन','दुआ' (*सरे-वादिए-सीना*), 'हम तो मजबूरे वफ़ा हैं' (*मेरे दिल, मेरे मुसाफिर*) जैसी नज़्मों में ऐसा ही वतन आबाद है।

मेहनतकश अवाम से अलग वतन का कोई तसव्वुर उनके पास न था। 'तराना' (*दस्ते-सबा*) 'तराना-1' (*सरे-वादिए-सीना*) और 'तराना-2' (*ग़ुबारे-अय्याम*) मेहनतकशों और अवाम की इंक़लाबी कार्रवाइयों के गीत हैं। अपने वतन के मेहनतकशों का दर्द, आम लोगों की तकलीफ़ों और आकांक्षाओं ने ही उन्हें दुनिया भर के संघर्षरत अवाम के साथ जोड़ दिया था। दर असल उनके आख़िरी दो संग्रहों को केंद्र करके लुदमिला वासिलेवा और अदीब ख़ालिद द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को ऐहतेजाज़ की विश्व-शायरी के महान-स्तंभ के रूप में फ़ैज़ को दरकिनार कर किसी देश और भाषा की चौहद्दी में सीमित एक सौंदर्यवादी शायर के रूप में दोबारा कैननाइज़ करने के आरंभिक प्रयासों के बतौर ही समझा जाना चाहिए। हमाारे यहां गोपीचंद नारंग ने अल्थ्यूसर, मार्ले पोंटी और रोलां बार्थ के कुछ पाठीय उपकरणों/सिद्धांतों को जोड़-जाड़ कर फ़ैज़ के पाठ की एक ऐसी वैकल्पिक पद्धति का प्रस्ताव किया है जिसमें पंक्तियों/शब्दों के बीच की जगह/अंतराल और ख़ामोशियों के माध्यम से उनकी शायरी के गहरे, अचेतन, सौंदर्यात्मक अर्थों की अनेक पर्तों को खंगालने की सलाह दी गयी है, जो कि उनके अनुसार सामने की वैचारिक सतह के नीचे दब गयी है। नारंग का अभिप्राय यह है कि इस पाठ पद्धति के ज़रिये अर्थ के दबे हुए संस्तर शायर के क्रांतिकारी उद्देश्यों की बाहरी सतह को तोड़कर उभर आते हैं। ऐसा नहीं कि फ़ैज़ की शायरी का ही सौंदर्यवादी पाठ प्रस्तावित किया जा रहा है। तमाम इंक़लाबी अदीबों के साथ यह नियमित तौर पर घटनेवाली चीज़ है। अदीब ही क्यों, क्रांतिकारी योद्धाओं और यहां तक कि आंदोलनों के साथ भी ऐसा होता है। सबसे बड़ा प्रमाण तो चे-ग्वेवारा हैं, जिनकी हत्या के बाद उन्हें उत्तरी अमरीका में बाज़ार की ताक़तों ने बेपरवाह अमरीकी किशोरों और युवाओं के फ़ैशन आइकन में बदल दिया। यह प्रतीकों की राजनीति है जो संकेत-तंत्रों के भीतर वर्गीय शक्ति-संतुलन का विस्तार है। हम देखते हैं कि कैसे जन-आंदोलनों को कुचलने के बाद जनता के बीच उनकी पवित्र स्मृति की ताक़त को दुहने के लिए शासक जमातें उनके प्रतीकों, नारों वग़ैरह को उनकी अंतर्वस्तु से विरहित कर आत्मसात कर लिया करती हैं। जब व्यक्ति या आंदोलन सत्ताधारियों के लिए ख़तरे का सबब नहीं रह जाते, तो प्रतीकों में ढालकर सत्ता-प्रतिष्ठान में उनकी वापसी होती है। इस तरह सत्ता इस बात की भी गारंटी करने की कोशिश करती है कि उनकी स्मृति का ऐसा विरूपण हो जाये कि वह भविष्य के संघर्षों की प्रेरणा न बन सके, यह अलग बात है कि ऐसे हर प्रयास कामयाब ही नहीं होते। हमारे देश के साम्राज्यपरस्त हुक्मरान किसानों की आत्महत्याओं के बीच चैन की बंसी बजाते हुए उस 1857 की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ भी मना डालते हैं जिसमें लाखों किसान अंग्रेज़ों से लड़कर शहीद हुए थे। अभी पिछले साल सन 2009 में तुर्की सरकार ने नाज़िम हिकमत की मौत के 46 साल बाद उनकी नागरिकता लौटा दी। अपने जीवन काल में हिकमत जिस देश में कम्युनिस्ट होने के चलते जेल में रखे गये, अपराधी बताये गये, यातनाएं झेलते रहे, आज वहीं जनता में उनकी अपार लोकप्रियता और इज़्ज़त के जज़्बे को अपने पक्ष में मोड़ने की ख़ातिर हुक्मरान उनकी नागरिकता वापस कर रहे हैं।

यह सच है कि *मेरे दिल, मेरे मुसाफिर* में उदासी का रंग गाढ़ा है, लेकिन उसका सबब भी उसी में बयान होता है। पाकिस्तान में फ़ौजी हुकूमत के चलते वतनबदर होना, फ़िलिस्तीन के मुक्ति-संघर्ष

की तमाम शहादतों के बावजूद जीत न मिलना, मध्यपूर्व का जलते रहना, दुनिया में युद्धों का सिलसिला ख़त्म न होना, अणुबमों से लैस महाशक्तियों की अंतहीन स्पर्धा और जिस उपमहाद्वीप के वे शायर थे वहां परिवर्तन की रफ़्तार का बेहद कम होना और बार बार ज़ुल्म और तानाशही के निज़ाम की ओर प्रत्यावर्तन, ऐसे तमाम कारण थे। *मेरे दिल, मेरे मुसाफ़िर* की पहली ही नज़्म 'दिले-मन मुसाफ़िरे-मन' बार बार वतनबदर होने के गहरे अवसाद में लिखी गयी है :

मेरे दिल, मेरे मुसाफ़िर
हुआ फिर से हुक्म सादिर
कि वतन बदर हों हम तुम
दें गली गली सदाएं
करें रुख़ नगर नगर का
कि सुराग़ कोई पायें
किसी यार-ए-नामा-बर का
हर एक अजनबी से पूछें
जो पता था अपने घर का...

यह पूरी नज़्म ग़ालिब के रंग में ही नहीं, बल्कि उनके अंदाज़े-बयां, उनकी दर-बदर भटकती आत्मा के गहरे अवसाद की शायरी से एक उपमहाद्वीपीय, शायराना रवायत का संबंध बनाकर लिखी गयी है :

तुम्हें क्या कहूं कि क्या है
शब-ए-ग़म बुरी बला है
हमें ये भी था गनीमत
जो कोई शुमार होता
हमें क्या बुरा था मरना
अगर एक बार होता

दरअसल वतन से अलग होना फ़ैज़ के लिए अपनी हस्ती से, अपने वजूद से अलग होना है, वर्ना ग़ालिब क्यों याद आते? वे तो वतन से बदर न हुए थे। ग़ालिब अलग हुए थे उस दुनिया से जो उनके वजूद को अर्थ देती थी, जिसमें उनकी मुहब्बत थी, जिसमें वह सब कुछ था जो वे ख़ुद थे। नामाबर की तलाश ग़ालिब को रहा करती थी ताकि वे उससे संपर्क कर सकें जो अपना था, पर छूट चुका है। वतन का छूटना, कू-ए-यार का छूटना, अपनी हस्ती को अर्थ देनेवाली तमाम चीज़ों, परिस्थितियों और इनसानों का छूटना एक ही तरह की दर्द की तीव्रता पैदा करता है जिसके चलते फ़ैज़ अपने पुरखे ग़ालिब की आवाज़ में अपनी आवाज़ मिला देते हैं। एलियट मानते थे कि किसी शायर के कलाम में उसके पुरखों की आवाज़ भी मिली होती है, यह अलग बात है कि ऐसा जदीद शायरी में कम, तरक़्क़ीपसंदों में ज़्यादा देखने में आता है। 'आज शब कोई नहीं' या 'मेरे मिलने वाले' जैसी नज़्मों की उदासी को लक्ष्य करके जो लोग फ़ैज़ के मोहभंग का मिथक रचते हैं, उन्हें नहीं मालूम कि वे क्या कह रहे हैं। वे फ़ैज़ को समझ नहीं पाते क्योंकि वे उस ज्ञान-मीमांसा से ही इत्तेफ़ाक नहीं रखते जो बग़ैर शामिल हुए जानने का दावा नहीं करती। फ़ैज़ 'इनसाडर' थे, वे आंदोलन के शायर थे, बाहर से बैठ कर उसपर निर्णय सुनाने वालों में नहीं थे। 'ग़ुबारे-अय्याम' की पहली नज़्म 'तुम ही कहो क्या करना है' पढ़कर बाहर बैठे लोगों को भरम

हो सकता है कि शायर को अपने उद्देश्यों और आदर्शों को लेकर शुब्हा हो गया है। लेकिन दरअसल यह शायर का वहम नहीं, बल्कि उन लोगों का है जिन्होंने अगर ज़ालिम का साथ न भी दिया हो तो भी हरदम किनारे पर बैठकर आंदोलनों की उठती गिरती मौजों पर फ़ैसले सुनाते आये हैं। 'तुम ही कहो क्या करना है' शीर्षक नज़्म में कवि मंज़िल पर पहुंच पाने की विफलता की बात करता है, उसके कारण भी बताता है, लेकिन कहीं भी यह अफ़सोस ज़ाहिर नहीं करता कि मंज़िल चुनी ही ग़लत थी या कोई और रास्ते भी मौजूद थे जिन पर न चलने की ग़लती की गयी। शायर का कहना है कि जिस मर्ज़ का इलाज किया जाना था, वह इतना पुराना था कि वैद्यों के सारे आज़माये हुए नुस्ख़े बेकार गये। इस नज़्म का अर्थ उन लोगों के लिए बिलकुल अलग है जो किसी आंदोलन का हिस्सा हैं, 'इनसाइर' हैं। नज़्म की शुरुआती पंक्तियां देखें :

जब दुख की नदिया में हमने
जीवन की नाव डाली है
था कितना कस-बल बांहों में
लोहू में कितनी लाली थी
यूं लगता था दो हाथ लगे
और नाव पूरम्पार लगी
ऐसा न हुआ, हर धारे में
कुछ अनदेखी मझधारें थीं
कुछ मांझी थे अनजान बहुत
कुछ बेपरखी पतवारें थीं
अब जो भी चाहो छान करो
अब जितने चाहो दोष धरो
नदिया तो वही है, नाव वही
अब तुम ही कहो क्या करना है
अब कैसे पार उतरना है।'

पहली छः पंक्तियों में विफलता का, संघर्ष शुरू होने के समय के उत्साह के आगे चलकर छीजने का बयान है। लेकिन इसके आगे विफलता के कारणों का बयान है जो बाहरी भी हैं और भीतरी भी। जो लोग जन-आंदोलनों के हिस्सेदार हैं, वे ही समझ सकते हैं कि कैसे 'हर धारे में कुछ अनदेखी मझधारें हुआ करती हैं', बिलकुल नयी परिस्थितियां जिनका पहले से कोई अनुमान संभव ही नहीं होता। अगर सब पहले से मालूम हो तो इतिहास और गणित में फ़र्क़ ही क्यों हो। ये तो हुईं वे भौतिक परिस्थितियां जो किसी भी आंदोलन या संघर्ष के दौरान बड़ी रुकावट बन कर खड़ी हो जाती हैं, जिनका पहले से अनुमान लगाना मुश्किल हुआ करता है। (क्या रूसी क्रांति के बाद या आज भी 21वीं सदी में लैटिन अमरीकी देशों और पड़ोसी नेपाल के क्रांतिकारियों का अनुभव 'हर धारे में, अनदेखी मझधारों' की तस्दीक़ नहीं करता?) दूसरी ओर आत्मगत परिस्थितियां हैं संघर्ष चला रहे लोगों की कमज़ोरियां, अदूरदर्शिता (कुछ मांझी थे अनजान बहुत) और काम-काज के तरीक़ों, लड़ाई के अस्त्रों की गड़बड़ियां (कुछ बेपरखी पतवारें थीं)। इन्हें रेखांकित करने के बाद, शायर ज़ोर देकर कहता है कि चाहे जितनी भी छानबीन कर

लो, चाहे जिसको दोष दे डालो, और कोई नयी बात इसमें से नहीं निकलेगी। ज़ोर देने के लिए जो शब्द शायर इस्तेमाल करता है, वह है 'भी' (अब जो *भी* चाहे छान करो)। आगे जब वह कहता है कि ' नदिया तो वही है, नाव वही' तो अपनी तरफ़ से बातों को बिलकुल साफ़ कर देता है। नदिया (लोगों के दुख, नाइंसाफी, ग़ैर-बराबरी, अशांति, भूख, ग़रीबी आदि) भी वही है और नाव (यानी ख़ुद का जीवन, उसके एहसास, तजर्बे, ज्ञान और जिसकी बदौलत संघर्ष के वैचारिक तंत्र, संगठन आदि का चुनाव किया था) वही हैं। इनमें कोई शुब्हा नहीं। 'वही' शब्द भी ज़ोर देने के अर्थ में ही लाया गया है। आगे जब वे कहते हैं कि अपनी छाती में देखे गये देश के घावों के इलाज के लिए जिन वैद्यों और नुस्ख़ों पर यक़ीन था, वे रोग की तह पाने में कामयाब नहीं हुए। वहां भी शायर न वैद्यों को दोष दे रहा है, न नुस्ख़ों को, बल्कि रोग ही इतने पुराने थे कि लाइलाज हो गये :

ऐसा न हुआ कि रोग अपने
तो सदियों ढेर पुराने थे
वैद इनकी तह को पा न सके
और टोटके सब नाकाम गये।

इस नज़्म का पाठ करते हुए एक सवाल उठता है कि ये संबोधित किसको है, ख़ुद को या उन लोगों को भी जिन्होंने दुख की नदिया में जीवन की नाव डाली ही नहीं और अब निर्लिप्त भाव से असफलता की छानबीन में लगे हैं और दोष धरने के लिए 'स्केपगोट' खोज रहे हैं। यों तो शायरी के एकदम निर्दिष्ट भौतिक संदर्भ खोजना मुश्किल और कभी कभी अतिशयता के ख़तरे से भरा होता है, लेकिन यह सोचना बहुत ग़लत न होगा कि पाकिस्तान में बार बार लोकतंत्र की ताक़तों की विफलता और सैनिक-धार्मिक तानाशाहियों की ओर उसका प्रत्यावर्तन भी इस नज़्म के असफलता बोध के पीछे सक्रिय है, ख़ासतौर पर तब जबकि शायर इसी कारण फिर से वतनबदर होकर रहने के लिए अभिशप्त है। 'सुबहे-आज़ादी' जैसी नज़्म 1947 में लिखनेवाले शायर का यह बोध काफ़ी पहले का है कि इस उप-महाद्वीप के रोग ऐतिहासिक हैं, जहां कोई नयी चीज़ जन्म लेने से पहले ही दम तोड़ दिया करती है, इतिहास अपनी प्रसव पीड़ा के बाद किसी नये को जन्म देता भी है, तो उसकी उम्र कम होती है, चीज़ें फिर अपने ढर्रे पर वापस आ जाया करती हैं। इसका सबसे तल्ख़ एहसास शायर को तब हुआ था जब इतनी कुर्बानियों के बाद आयी आज़ादी 'दाग़ दाग़ उजाले' और 'रात से डसी हुई सुबह' की तरह निकली। *दस्ते-तहे-संग* में संकलित एक नज़्म है 'शाम' जो एक ठिठकी हुई शाम का मंज़र खींचती है। लेकिन इसके बिंब एक पुरातन सभ्यता के वक़्त में क़ैद होने का, एक सनातन अवरुद्धता का रूपक होने का एहसास कराते हैं :

इस तरह है कि हर इक पेड़ कोई मंदिर है
कोई उजड़ा हुआ, बेनूर पुराना मंदिर
ढूंढ़ता है जो ख़राबी के बहाने कब से
चाक हर बाम, हर इक दर का दमे-आख़िर है
आसमां कोई पुरोहित है जो हर बाम तले
जिस्म पर राख मले, माथे पे सिंदूर मले

सरनिगूं बैठा है चुपचाप न जाने कब से
इस तरह है कि पसे-पर्दः कोई साहिर है...

.....

आसमां आस लिये है कि यह जादू टूटे
चुप की ज़ंजीर कटे, वक़्त का दामन छूटे।

फ़ैज़ की शायरी की उपमहाद्वीपीय इतिहास, साभ्यतिक स्मृति और जन-जीवन की नब्ज़ पर पकड़ गहरी है। उनके अनुभव और समझ उन्हें दुनिया भर में चलनेवाले हक, ख़ुदमुख़्तारी, जम्हूरियत और बराबरी के संघर्षों को भीतर से महसूस करने और उनके साथ होने में मदद करती है। इन संघर्षों की राह में आनेवाली बाधाओं, घिसाव-थकाव की लंबी चलनेवाली लड़ाइयों में आनेवाली उदासी, उम्मीद-नाउम्मीदी के आरोह-अवरोह में झूलती जन-चेतना, छोटी-छोटी जीतों पर अछोर खुशियों में डूब जाने की फ़ितरत से उनकी शायरी ख़ूब वाक़िफ़ है। इसीलिए उनकी शायरी ने जश्न भी मनाये, मातम भी। अवसाद से ग्रस्त भी हुई, लेकिन उम्मीद का दामन नहीं छोड़ा। कभी उसने ढांढ़स बंधाया, कभी जोश और हिम्मत को ललकारा, कभी आंसू बहाये, तो कभी पुचकारा, कभी दुआ में हाथ उठाये तो कभी इंतज़ार की लंबी घड़ियां काटीं, कभी तख़्तो-ताज गिराये तो कभी रुककर आत्मावलोकन किया, कभी बेअंत सी लगनेवाली तनहाई झेली तो कभी मुहब्बत और कुदरत की गहराइयों में डूबकर हस्ती के सरो-सामां जुटाये। उनकी शायरी ऐहतिजाज़ की एक बेमियादी शम्मा है, जो हर रंग में जलती रहेगी, सहर होने तक।

मो. : 09415637908

हिंदुस्तान का गीतात्मक इतिहास

आमिर आर. मुफ़्ती

'म्यूज़' (बाउंडरी 2, वॉल्यूम 31, नंबर 2, समर 2004) में छपे 30 पृष्ठों के इस आलेख को हम यहां अविकल रूप में प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। लेख से कुछ हिस्सों को चुन कर उनका अनुवाद इस ख़याल से दिया जा रहा है कि इस तरह की विश्लेषण-पद्धति का एक ज़ायका हमारे पाठकों को मिल पाये। सं.

> अलग किये हुए अर्द्धांशों को जोड़ कर संपूर्ण को एक साथ नहीं रखा जा सकता, लेकिन दोनों में, चाहे जितने भी दूरस्थ रूप में सही, उस संपूर्ण के बदलाव प्रकट होते हैं जो अंतर्विरोधों में ही गतिशील होता है।
>
> थ्योडोर अडोर्नो[1]

अपने सर्वोत्तम रूप में, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (1911-1984) की प्रगीतात्मक कविता पाठक को एक विक्षोभकारी भावातिरेक तक पहुंचा सकती है, आत्म के विचाराधीन बनाये जाने पर हासिल उल्लास की अनुभूति, जो पूरी तरह से सेक्यूलर पाठक को भी ऐसे भावात्मक कल्पनालोक का आस्वाद देती है जिसे धार्मिक एहसास से एकदम अलहदा दिखा पाना मुश्किल है। उनकी कविता, जिसमें संस्कृति और भाषा के लौकिकीकरण (सेक्यूलराइज़ेशन) के प्रति दिलचस्पी साफ़ दिखलायी पड़ती है, के स्पष्टतः मार्क्सवादी और मुल्लाविरोधी जुड़ावों के मद्देनज़र यह अनुभूतियों की एक विरोधाभासी संरचना है। फ़ैज़ उत्तरऔपनिवेशिक दौर के सबसे महत्वपूर्ण उर्दू शायर के रूप में व्यापक तौर पर मान्य हैं। उनकी कविता ब्रिटिश शासन से आज़ादी मिलने के समय भारत के बंटवारे के नतीजे के तौर पर आने वाले उर्दू लेखन की कुछ केंद्रीय दुविधाओं को उदाहृत करती है। वह साहित्यिक उत्पादन को दोनों उत्तरऔपनिवेशिक राज्यों की सांस्कृतिक परियोजनाओं से वियुक्त करने के एक गंभीर प्रयास को सामने लाती है; वियुक्त करने का प्रयास ऐसे दृश्यमान आशयों को रचने की गरज से, जो अभी भी राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के सांस्कृतिक तर्क के भीतर पूरी तरह से अंतर्भुक्त नहीं हो पाये हैं। पाकिस्तान के वजूद के शुरुआती अनेक दशकों तक वहां शायरी के बेताज बादशाह वाली उनकी हैसियत के बावजूद, उनके कृतित्व का विराट् पाठक वर्ग उस पूरे इलाक़े के आर-पार मिलता है जो एक समय का उत्तर भारत था उसके पाठक-ग्राहक-संसार का नक़्शा उन राष्ट्रीय सीमाओं को मिटाता प्रतीत होता है जो बंटवारे की विरासत हैं। फ़ैज़ की बहुतेरी आलोचनाओं से अलग, मैं यहां यह स्थापित करना चाहता हूं कि फ़ैज़ की शायरी की सर्वप्रमुख थीम, एक लेखन-संसार के तौर पर इसे परिभाषित करने वाली थीम, बंटवारे का आशय

और विरासत है। .....

फ़ैज़ की कविता का प्रगीतात्मक तत्व प्यार और ऐन्द्रिकता के बारे में इसका गहन व्यक्तिगत चिंतन व्याख्या की एक कुख्यात समस्या को सामने लाता है: वे स्वघोषित रूप से एक राजनीतिक कवि हैं सोवियत संघ में सम्मानित होने वाले और प्रतिक्रियावादी उत्तरऔपनिवेशिक सत्ताओं द्वारा बार-बार देशनिकाला पाने वाले पर एक ऐसा राजनीतिक कवि जिसकी सबसे गहन काव्यात्मक सिद्धियां वे हैं जिनमें आत्मगत स्थितियों की जांच-पड़ताल है। इसका प्रचलित समाधान, जिस पर मुख़्तलिफ़ राजनीतिक रुझानों वाले कई आलोचक एकमत हैं, यह है कि फ़ैज़ 'पारम्परिक' काव्यात्मक शब्दावली को परिवर्तनकारी राजनीतिक लक्ष्यों की ओर मोड़ भर देते हैं, कि हमें, मिसाल के तौर पर, दूरस्थ प्रेमिका के रूप को उम्मीदों में बसी क्रांति के रूपायन की तरह पढ़ना चाहिए।[2] मैं यहां थोड़ी अलग राह सुझाऊंगा और यह स्थापना देना चाहूंगा कि, अव्वल, फ़ैज़ की कृतियों के *राजनीतिक* तत्व को *सामाजिक* की मध्यस्थता के बग़ैर नहीं पढ़ा जा सकता। प्रेमिका के साथ वियोग और संयोग के भावों का फ़ैज़ द्वारा किया गया अन्वेषण उर्दू लेखन के आत्म, 'मैं', की जांच-पड़ताल को संभव बनाता है। यह मान लेना ग़लत होगा कि फ़ैज़ की 'प्रगतिशीलता' उस साहित्यिक संस्कृति के साथ उनका जुड़ाव जिसे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) का अनुमोदन प्राप्त था का मतलब है कि वे अस्मिता के सवाल को ख़ारिज करते हैं। भाषा, संस्कृति, राष्ट्र और समुदाय के तनाव-बंटवारे पर एक सामूहिक स्वत्व/आत्मत्व (सेल्फ़हुड) की द्वंद्वात्मकता उनकी शायरी का केंद्रीय ड्रामा है। समाज के साथ प्रगीतात्मक कविता के रिश्ते के बारे में अपनी सुविदित स्थापना में थ्योडोर अडोर्नो ने सुझाया है कि यह सामाजिक निर्धारणों (विधिनिषेधों अनु.) से प्रगीत की प्रकट दूरी ही है जो उसका सामाजिक आशय संघटित करती है। अडोर्नो इस विरोधाभासी संभावना को मानता है कि सामाजिक से प्रगीत कविता की दूरी ने ही, दरअसल, इसे सामाजिक आशयों के आलेखन का एक उदाहरणीय स्थल बना दिया है। जितना ही प्रगीत अपने आपको 'मैं' की विशुद्ध आत्मनिष्ठता में सीमित करेगा, उतना ही उसके कथ्य में सामाजिक की आमद मुकम्मिल होगी। जितना ही यह अपने आपको उस चीज़ में डुबोता है जो वैयक्तिक रूप ग्रहण करती है, उतना ही वह सार्वभौमिकता के स्तर तक उठता जाता है, पर ऐसी सार्वभौमिकता जो अपनी 'प्रकृति में सामाजिक' है।[3] इस लेख में मैं फ़ैज़ के कृतित्व में प्रगीत के स्थान और उस सामाजिक क्षितिज के साथ उसके रिश्ते पर विचार करूंगा जो बंटवारे की वजह से संकटग्रस्त हुई है। इन सामाजिक आशयों की उनके पूरे विस्तार में झलक हम निश्चित रूप से उन कविताओं में पा सकते हैं जो 'विशुद्ध' प्रगीत होने के सबसे क़रीब हैं, यानी जिनमें अंतर्मुखता सबसे पूर्ण रूप में है, बजाय 'सुब्ह-ए-आज़ादी' जैसी मुखर 'विभाजन' कविताओं के।

मैं इस संभावना को खंगालना चाहूंगा कि फ़ैज़ के प्रेमगीत जिस चीज़ को अभिव्यक्त करते हैं वह विभाजन से गुज़रता आत्म है, कि वे जिस चीज़ को दिखलाते हैं वह आत्म और अन्य की ऐसी द्वंद्वात्मकता है जिसमें हसरत का विषय (ऑब्जेक्ट) और विषयी (सब्जेक्ट) उतना एकमेक नहीं होते जितना कि वे एक ही समय में निकट आते और दूर जाते हैं, स्थानों की अदला-बदली करते हैं, संदिग्ध बना दिये गये हैं। *विसाल,* या एकता, की हसरत ख़ुद यही द्वंद्वात्मक रूप ग्रहण करती है। भारत विभाजन के बाद के सालों में, राष्ट्रीय बिखराव की समस्याग्रस्तता फ़ैज़ की शायरी के प्रगीतात्मक संसार को गहरे और सुस्पष्ट तरीक़े से अनुप्राणित करती है। लेकिन एक विभाजित आत्म की व्यापकतर समस्याग्रस्तता उनकी

विभाजन-पूर्व की कविताओं में पहले से मौजूद है, कम-से-कम एक संभावना के रूप में, जिसकी ओर ये कविताएं इशारा करती हैं या जिन्हें पूर्वाशित करती हैं। फ़ैज़ की प्रगीतात्मक कविताओं में प्रकट होने वाला सामाजिक सत्य यह है कि (आधुनिक) आत्म का उदय उसका आत्म-विभाजन भी है। आत्म का सत्य है, उसकी अंतर्विरोधी और तनावपूर्ण वास्तविकता। फ़ैज़ उन पदों में विभाजनोत्तर दक्षिण एशिया में अस्मिता के बारे में विचार करना संभव बनाते हैं जो उत्तरऔपनिवेशिक राज्यों के साझा शब्दभंडार के भीतर सामान्यीकृत हो चुके पदों से भिन्न हैं। (उनके यहां) विभाजन से निकले कथित स्वायत्त राष्ट्रीय आत्मों की असलीयत को उजागर कर दिखाया गया है कि वे क्या हैं भारतीय आधुनिकता की द्वंद्वात्मकता के भीतर के क्षण। और विभाजन अपनी सामान्य अर्थवत्ता से बहुत भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। अब वह सिर्फ़ 1947 (या यहां तक कि 1946-48) की घटनाओं का ही हवाला नहीं देता, बल्कि भारतीय आधुनिक आत्म के इतिहास के साथ-साथ विस्तृत, सामाजिक ('साम्प्रदायिक') पहचानों के इतिहास का हवाला देता है। हिंदी-उर्दू इलाक़ों में फ़ैज़ की कविता की ज़बर्दस्त लोकप्रियता एक ऐसे आत्म के अनुभव को, जो समावेशी अर्थ में साम्प्रदायिक और राष्ट्र-राज्य के विभाजनों की सीमाओं के आरपार भारतीय है, उपलब्ध कराने में इसकी सफलता का अस्पष्ट किंतु नतीजाख़ेज़ पैमाना है। लेकिन यह आत्मत्व का ऐसा मंचन है जो बंटवारे को महज़ दूसरे दर्ज़े की परिघटना मानने से इंकार करता हुआ उसे संज़ीदगी से लेता है, जैसा कि विविधता-में-एकता के भारतीय फ़ॉर्मूले में है। असल में, यह सुझाता है कि बंटवारा, अपने प्रेमपात्र से अनिश्चित काल के लिए अलगाव, वह ख़ास आधार संघटित करता है जिस पर मिलन के बारे में विचार किया जा सकता है। फ़ैज़ की आलोचना में उनकी शायरी की सारभूत विशेषता के रूप में देश या राष्ट्र के प्रति प्यार की चर्चा करना आम है।[4] फ़ैज़ ख़ुद कई मौक़ों पर इसे स्पष्ट कहते हैं, जैसे अपनी शुरुआती नज़्म 'दो इश्क' में : 'चाहा है उसी रंग में लैला-ए-वतन को / तड़पा है उसी तौर से दिल उसकी लगन में'। लेकिन यह संयोग नहीं कि न तो आलोचना और न ही ख़ुद ये नज़्म इस बारे में साफ़ है कि वतन शब्द यहां क्या संकेतित कर रहा है। यहां तक कहा जा सकता है कि फ़ैज़ के प्रसंग में वतन और क़ौम की बात करना उन चीज़ों के बारे में बहुत मानीख़ेज़ तरीक़े से चुप्पी साधे रखना है जिनकी ओर वे इशारा कर रहे हैं। वे हैं: क्या फ़ैज़ की शायरी की हब्ब-उल-वतनी (देशभक्ति) दक्षिण एशिया के किसी भी एक उत्तरऔपनिवेशिक राज्य से ख़ुद को जोड़ती है? क्या यह इन राज्यों के विलयन की उम्मीद को सामने लाती है? क्या इसमें कोई सभ्यतामूलक संदर्भ निहित है? अगर है, तो कौन-सी है वह सभ्यता हिंदुस्तानी, हिंद-फ़ारसी, या इस्लामी? दूसरे शब्दों में, शायर का घर ठीक-ठीक कहां पर है?

फ़ैज़ की शायरी का प्रतीकात्मक शब्दभंडार क्लासिकी उर्दू ग़ज़ल को हासिल पारंपरिक फ़ारसी-अरबी बिंबों के ख़ज़ाने से काफ़ी कुछ लेता है बरबत ओ नयी, लौह ओ क़लम, तौक़ ओ सलासिल, काकुल ओ लब, दश्त ओ गुलज़ार और उस 'सुबोध' भाषा को परे रखता है जो उनके कुछ समकालीनों में काफ़ी चलन में आ चुकी थी और शायरों की उस पीढ़ी में तो और ज़्यादा जो उनके बाद आयी है। फ़ैज़ की शायरी उस तटस्थ 'हिंदुस्तानी' ज़बान के आदर्श की, जिसमें से अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के प्रभावों को निकाल बाहर किया गया हो, एक जीती-जागती भर्त्सना है। ध्यान रहे कि दक्षिण एशिया में धर्मनिरपेक्षतावादी, 'साम्प्रदायिकताविरोधी' कल्पना बार-बार इस आदर्श की ओर खिंचती रही है। फ़ैज़ के अनुवादक और ताउम्र के साथी विक्टर किएर्नन ने लिखा है कि वे 'सम्मिलित 'हिंदुस्तानी' भाषा, एक

साधारण भाषा जो न हिंदी हो न उर्दू, को लेकर गांधी की उम्मीदों से ख़ासे चिढ़े हुए थे।'[5] उनका काव्यसंसार फ़ारसी, अरबी, और 'इस्लामी' स्रोतों के हवालों से भरा-पड़ा है, यद्यपि, जैसा कि किएर्नन ने लिखा है, 'हिंदू चीज़ों, यहां तक कि उनकी ठेठ धार्मिक चीज़ों, के उल्लेख के प्रति उनका लगाव छूटा नहीं है'।[6] यह एक ऐसा सवाल है जिसकी ओर मैं बाद में वापस आऊंगा। यहां मुझे कहना ये है कि सामूहिक स्वत्व/आत्मत्व 'राष्ट्र', 'जनता', 'संस्कृति', 'समुदाय' के मायने का सवाल फ़ैज़ की कविता के केंद्र में है और सिर्फ़ इस अर्थ में नहीं कि उनमें 'जनता' के प्रति राजनीतिक समर्पण भाव तथा नवसामंतवाद और औपनिवेशिक व उत्तरऔपनिवेशिक पूंजी के द्वारा उनके शोषण के प्रति घृणा है। फ़ैज़ अस्मिता और आत्मनिष्ठता तथा उनके ऐतिहासिक निर्धारण के बारे में बुनियादी सवाल उठाते हुए राष्ट्र या जनता की अवधारणा को समस्याग्रस्त करते हैं। और ठीक तरीक़े से रखें तो, फ़ैज़ की शायरी में औपनिवेशिक और उत्तरऔपनिवेशिक आधुनिकता में मानवीय जीवन की दुर्दशा शोषण और एक सामूहिक आत्मत्व का अपने-आप में समरस बने रहने से वंचित किया जाना जिसे मैं विभाजन कह रहा हूं प्रगीतात्मक विषयी (लिरिक सब्जेक्ट) की वेदना में समान अभिव्यक्ति पाते हैं।

q q q

अपनी कुछ शुरुआती कविताओं में, जिनमें से एक या दो को उनके रचना-संसार में कार्यक्रमनुमा हैसियत मिली हुई है, फ़ैज़ आधुनिक कवि की सौंदर्यात्मक दुविधाओं को सामने रखते हैं। इनमें फ़ैज़ आधुनिक जीवन में प्रगीत कविता के स्वभाव और अर्थ की पड़ताल करने की ओर बढ़ते हैं। 1930 के दशक के आख़िरी सालों में आने वाली 'मौज़ू-ए-सुख़न' और 'मेरे हमदम, मेरे दोस्त' में, लेकिन सबसे ऊपर 'मुझ से पहली सी महब्बत मेरी महबूब न मांग' में, हम काव्यपुरुष को एक ओर एकतरफ़ा प्यार की गहन मांग और दूसरी ओर व्यापक संसार तथा उसके अत्याचारों के बीच बंटा हुआ पाते हैं। फ़ैज़ ने ख़ुद इन कविताओं को अपने सौंदर्यात्मक विकास के मोड़ के रूप में बतलाया है जो उस समय के प्रभावशाली, 'रूमानी' अदबी चलन के प्रति बढ़ते हुए असंतोष को चिह्नित करते हैं।[7] सो, बाद वाली कविता में जो मूड हावी है वह अपनी माशूक़ से कहे गये वक्ता के इस कथन से निर्धारित हुआ है कि वह पहले जैसी मोहब्बत की मांग न करे। 'पहली सी महब्बत' यानी वह प्यार जो माशूक़ की खूबसूरती और क्रूरताओं के सिवा कुछ नहीं देखता। वक्ता इस मोहब्बत के उन प्रभावों की गिनती कराता है जिनमें वह पहले यक़ीन करता था और पहले हिस्से को इस स्वीकारोक्ति के साथ ख़त्म करता है: 'यूं न था, मैंने फ़क़त चाहा था यूं हो जाये'। बाहरी संसार की क्रूरताओं उसकी नाइंसाफ़ी, ग़ैरबराबरी, और अलगाव का उल्लेख करने के बाद कविता उसी बात पर ख़त्म होती है जिससे शुरू हुई थी। 'मौज़ू-ए-सुख़न' में वक्ता के मन को खींचती इन वैकल्पिक मांगों का वही तनाव दिखलायी पड़ता है। लेकिन इस तनाव तक एक दूसरी दिशा से पहुंचा गया है। माशूक़ के रहस्यों और वृहत्तर संसार के रहस्यों के बीच बारी-बारी से पहलू बदलते हुए नज़्म इस बात के साथ ख़त्म होती है कि शायर अपनी सच्ची विषयवस्तु के तौर पर पहले वाले से पार पाने की उम्मीद नहीं कर सकता :

ये भी हैं ऐसे कई और भी मज़मूं होंगे
लेकिन उस शोख़ के आहिस्ता से खुलते हुए होंठ

हाय उस जिस्म के कमबख़्त दिलआवेज़ ख़ुतूत
आप ही कहिए कहीं ऐसे भी अफ़्सूं होंगे
अपना मौजूए'-सुख़न इनके सिवा और नहीं
तबूए'-शायर का वतन इनके सिवा और नहीं।[8]

ये शुरुआती नज़्में प्रायः एक युवा शायर के राजनीतिक तौर पर जागरूक होने की निशानी के तौर पर पढ़ी गयी हैं, एक ऐसा राजनैतिकीकरण जो साहित्यिक भाषा की ईमानदारी के प्रति सरोकार को तिलांजलि देने की ओर नहीं ले जाता। ख़ुद फ़ैज़ ने इस तरह के पठन के प्रामाणिक बनने में योगदान दिया है।[9] मैं हालांकि इसे एक ग़लत व्याख्या नहीं मानता, पर इस नज़्म के प्रकट द्वैध आंतरिकता और भाव बनाम बाहरी संसार, प्रगीत कविता बनाम समाज को कुछ अलग तरीक़े से पढ़ता हूं, एक ऐसे द्वैध के रूप में जो एक ओर प्रगीतात्मक आत्म और दूसरी ओर राष्ट्र व समुदाय के आशय के ऊपर अंतर्विरोध एवं संघर्ष की 'व्यापकतर' दुनिया के बीच के रिश्ते में उर्दू शायरी की दिलचस्पी को प्रदर्शित करता है। मैं कहना चाहूंगा कि ये नज़्में, *एक साहित्यिक-ऐतिहासिक खाते में*, भारतीय आधुनिकता में एक 'मुस्लिम' आत्मत्व की दुविधाओं और जटिलताओं को पेश करती हैं। 'पहली सी महब्बत' ये वाक्यांश क्लासिकी उर्दू प्रगीतों वाले प्यार की समस्यात्मकता की ओर इशारा करता है, और नज़्म क्लासिकी रवायत के साथ (औपनिवेशिक दौर के आख़िरी दिनों के) भारत के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्पेस में स्थित आधुनिक शायर के रिश्ते पर टिप्पणी करती है। पाकिस्तान में मुल्क की ज़िंदगी के शुरुआती चालीस सालों के दौरान फ़ैज़ 'राष्ट्रकवि' के रूप में जाने जाते रहे हैं। मेरा मत है कि इस बात का वह अर्थ है नहीं जो सामान्यतः निकाला जाता है, कि अंशतः उनके कार्य की सिद्धि, उसकी भव्यता और महत्वाकांक्षा, यही है कि वह इस बारे में गंभीर संदेह व्यक्त करता है कि आधुनिक दक्षिण एशिया में राष्ट्र-राज्य वाला फ़ॉर्म संस्कृति और अस्मिता की जटिलताओं की कोई व्याख्या कर सकता है।

q q q

मैं अब फ़ैज़ की प्रेमकविता में वियोग और संयोग की थीम पर आता हूं। उनकी सबसे प्रसिद्ध प्रगीत कविता 'याद' पर विचार करते हुए इस थीम को समझें। यह उनके संकलन *दस्त-ए-सबा* में है और गायिका इक़बाल बानो के द्वारा 'दश्त-ए-तन्हाई' के रूप में इसने ज़बर्दस्त लोकप्रियता पायी हैः

1. दश्ते-तनहाई में, ऐ जाने-जहां, लरज़ां हैं
2. तेरी आवाज़ के साये, तेरे होंठों के सराब
3. दश्ते-तनहाई में, दूरी के ख़सो-ख़ाक तले
4. खिल रहे हैं तेरे पहलू के समन और गुलाब
5. उठ रही है कहीं क़ुरबत से तेरी सांस की आंच
6. अपनी ख़ुशबू में सुलगती हुई मद्धम-मद्धम
7. दूर उफ़क़ पार, चमकती हुई, क़तरा-क़तरा
8. गिर रही है तेरी दिलदार नज़र की शबनम
9. इस क़दर प्यार से, ऐ जाने-जहां, रक्खा है

10. दिल के रुख़सार पे इस वक़्त तेरी याद ने हाथ
11. यूं गुमां होता है, गरचे है अभी सुब्हे-फ़िराक़,
12. ढल गया हिज्र का दिन, आ भी गयी वस्ल की रात[10]

पहले अनुच्छेद में उजाड़ या रेगिस्तान के विस्तार के रूप में तन्हाई का बिम्ब हावी है जो कि पहली और तीसरी पंक्तियों की शुरुआत में 'दश्त-ए-तन्हाई' के दुहराव में व्यक्त हुआ है। यह रूपक दूसरे अनुच्छेद को भी संचालित करता है, क्योंकि पांचवीं पंक्ति 'उठ रही है कहीं क़ुरबत से तेरी सांस की आंच' की स्थानसूचक भाषा सातवीं पंक्ति 'दूर उफ़क़ पार' में एक भूगोलीय खाता (रेजिस्टर) हासिल कर लेती है। प्रेमपात्र के ट्रीटमेंट में, कम-से-कम पहले अनुच्छेद में, इस रेगिस्तान वाले रूपक के प्रभुत्व का निर्वाह हुआ है। वहां एकांतवासी विषयी का सामना अपनी कामना की वस्तु की 'मृगमरीचिका'-नुमा उपस्थिति से होता है 'तेरी आवाज़ के साये, तेरे होंठों के सराब'। विषयी के लिए साये और सराब, दोनों माशूक़ के संकेत हैं। लेकिन जहां सराब/मरीचिका एक अनुपस्थित, भ्रमजनित वस्तु की ओर इशारा करती है, वहीं किसी वस्तु का साया अपने-आप में अभौतिक होते हुए भी वस्तु की भौतिक उपस्थिति का संकेत है। लेकिन, एक दूसरे के साथ रखे जाकर 'साये' और 'सराब' एक दूसरे में नये अर्थ भर देते हैं। मरीचिका एक भ्रम नहीं रहती, उससे आगे बढ़ कर कुछ और हो जाती है, किसी तीव्र अनुभूत इच्छा का महज़ बहिर्मुखी प्रक्षेपण, बिल्कुल सूखी हुई ज़मीन पर पानी के एक नज़ारे की तरह; और साया भौतिक उपस्थिति का संकेत नहीं रह जाता, उससे कुछ कमतर हो जाता है। भूगोलीय रूपक यहां एक दृश्य रूपक के साथ घुलमिल गया है, और मिल कर वे प्रेमपात्र के उपस्थित होते जाने के तरीक़े को संकेतित करते हैं। यह तरीक़ा ठीक-ठीक क्या है, ये अगली दो पंक्तियों (3-4) में ज़्यादा स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यहां 'तिरे पहलू के समन और गुलाब' (तुम्हारी उपस्थिति के फूलों) को 'दूरी के ख़सो-ख़ाक तले' (दूरी की झाड़ियों और गर्द के बीच) खिलता हुआ बताया गया है। दूसरे शब्दों में, माशूक़ की निकटता या उपस्थिति इसकी दूरी को ख़ारिज नहीं करती। और इससे उलट भी सच हैः माशूक़ की दूरी उसके निकट आने की पद्धति भी है। यह थीम दूसरे अनुच्छेद में आगे बढ़ायी गयी है। पंक्ति 5-6 में माशूक़ की सांसों की आंच वक्ता विषयी (स्पीकिंग सब्जेक्ट) के कहीं नज़दीक से उठती हुई बतायी गयी है 'कहीं क़ुरबत से' इसके बावजूद, साथ-के-साथ, माशूक़ की 'दिलदार नज़र' को वक्ता ने 'दूर उफ़क़ पार' पाया है।

तीसरे और आख़िरी अनुच्छेद में भूगोलीय रूपक को त्याग दिया गया है, और हम एक आंतरिक, विशुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ स्पेस के भीतर हैं। यह अंतरंग स्पेस यहां 'दिल' के द्वारा, और अधिक ठीक तरीक़े से उसके 'रुख़सार' के द्वारा संकेतित हुआ है जो कि पारंपरिक तौर पर माशूक़ की खूबसूरती और उसके साथ (आशिक की) अंतरंगता का संकेत है, लेकिन यहां यह आशिक के अपने दिल की कोमलता को अभिव्यक्त करने के लिए आया है (पंक्ति 10)। किसी के हाथों का धड़कते हुए दिल को बहुत प्यार से स्पर्श करना, जैसे किसी आशिक के गालों को माशूक़ स्पर्श करे इस बिंब की अनिवर्चनीय सुंदरता यातना को ख़त्म कर देने की कामना का, विषयी और विषय के मिलाप की कामना का निर्वचन है। यह मिलाप की वैसी कामना की अभिव्यक्ति है जिसे अडोर्नो ने 'शांति' कहा हैः ''शांति प्रभुत्व के बिना विशिष्ट होने की स्थिति है, जिसमें सभी विशिष्ट एक दूसरे में भागीदारी करते हैं।''[11] माशूक़ की उपस्थिति इस अनुच्छेद में उसकी दूरी बन जाने तक भी जारी रहती है। कारण कि माशूक़ इस अंतरंग प्रदेश में एक छवि या याद के रूप में ही प्रवेश करती है। आख़िरी दो पंक्तियों (11-12) में कविता याद के इस

प्रेमपूर्ण स्पर्श की तीव्रता की ओर, विषयी पर उसके *प्रभाव* की ओर मुड़ती हैः यह गुमान कि 'ढल गया हिज्र का दिन, आ भी गयी वस्ल की रात'।

इसीलिए, पहले दो अनुच्छेदों की तरह तीसरा अनुच्छेद भी वियोग और संयोग की द्वंद्वात्मकता को संपादित करता है, जिसमें वियोग अनिश्चित काल के लिए विस्तारित हो गया है, और संयोग, जो कि प्रबल रूप से इच्छित और अनुभूत है, कामना के विषयी और विषय के बीच की दूरी को ख़त्म नहीं करता। यह दोनों के बीच के फ़र्क़ को अस्थिर/अनिश्चित बना देता है, पर इसके लिए नहीं कि विषय के जीवन को विषयी के हित में हथिया लिया जाये। विषय का विषयी होना भी, और (कामनायुक्त) विषयी का (किसी और की) कामना का विषय होना भी उद्घाटित होता है। एक ही समय में माशूक़ दूर, और इसीलिए अन्य, है तथा स्वयं के रूप में आत्म के सामने उपस्थित भी है। दूसरे शब्दों में, 'याद' की प्रक्रिया में जो आत्म उभरता है वह विभाजित है, अपने-आप के साथ सुकून से नहीं है, मिलाप और संपूर्णता की कामना करता है और इसके बावजूद यह जानता है कि अपने-आप से उसकी दूरी ही उसकी गति और ज़िंदगी का स्रोत है। नज़दीकी और दूरी की यह अलौकिक अंतरक्रीड़ा *सरे-वादिए-सीना* (1971) में संकलित चार पंक्तियों की कविता 'मर्सिया' में बहुत ठीक तरीक़े से निरूपित हुई हैः

दूर जाकर क़रीब हो जितने
हम से कब तुम क़रीब थे इतने
अब न आओगे तुम न जाओगे
वस्ल ओ हिज्रां वहम हुए कितने।[12]

इस प्रगीतात्मक आत्म के सामाजिक आशय को रेखांकित करने की शुरुआत हम 'याद' के आख़िरी अनुच्छेद में आये शब्द 'हिज्र' (और 'मर्सिया' में उसी से व्युत्पन्न 'हिज्रां') की अनुगूंज पर ग़ौर फ़रमाते हुए कर सकते हैं। अरबी के 'हज्र' का यह बदला हुआ रूप क्लासिकी उर्दू शायरी में 'वियोग' के लिए सबसे अधिक इस्तेमाल होने वाला लफ़्ज़ है। यह सुविदित है कि इस शब्द और इसके विलोम, 'विसाल', के अर्थ उर्दू काव्यशास्त्र की केंद्रीय और सबसे सुपरिचित समस्याओं में से एक की जड़ में हैं। ये अर्थ न सिर्फ़ एक कवि से दूसरे कवि और एक दौर से दूसरे दौर में जाकर बदल जाते हैं, बल्कि एक ही कवि के यहां एक काव्यविधा से दूसरी में जाकर भी बदल जाते हैं और कई बार तो एक ही कविता के भीतर भी ऐसा होता है। इस तरह, मिसाल के लिए, काव्य के संदर्भ के अनुसार, ये शब्द रूमानी या शृंगारिक प्रेम की गतिकी को संकेतित कर सकते हैं, या फिर धार्मिक समर्पण को। ख़ास तौर से, उर्दू (और फ़ारसी) शायरी की सूफ़ी परंपरा में 'विसाल' लोकोत्तर सत्ता के साथ रहस्यमूलक संयोग का, 'इश्क-ए-हक़ीक़ी' में फ़ना हो जाने की आत्म की इच्छा का एक संकेत/प्रतीक है। इश्क-ए-हक़ीक़ी अल्ला के प्रति 'सच्चा' प्रेम है, और इससे भिन्न इश्क-ए-मजाज़ी एक बंदे का बंदे के प्रति प्रेम है, अप्रामाणिक या 'रूपकात्मक' प्यार। यह बड़ी आम बात है कि किसी छंद को एक ही समय में कई अलग-अलग स्तरों पर, कई मुख़्तलिफ़ रजिस्टरों/खातों में व्याख्यायित किया जा सकता है।[13] इस तरह 'प्रेम' की समस्या पारलौकिक और इहलौकिक संकेततों के बीच की दुविधा या उत्पादक तनाव के इर्द-गिर्द रची गयी है। बाद के दौर में, यह काव्यभाषा निस्संदेह सूफ़ीवाद के किसी ठोस व्यवहार से काफ़ी दूर है। यह विरोधाभास है कि फ़ैज़ के यहां नये सिरे से लौकिकीकृत (सेक्यूलराइज़) होने के क्रम में यह मज़हबी तत्व दुबारा उभारा गया है।

फ़ैज़ की शायरी में 'हिज्र' का लौकिकीकरण, उनके और उनके समकालीनों के द्वारा किये जा रहे काव्यभाषा और काव्यप्रयोजन के लौकिकीकरण का हिस्सा है। इस लौकिकीकरण का एक पहलू ये रहा है कि पारंपरिक काव्यविधाओं, और ख़ास तौर से ग़ज़ल, की शब्दावली की सूफ़ीनुमा शृंगारिकता ने राजनीतिक आशय ग्रहण कर लिये हैं। यह हबीब जालिब जैसे मिलिटेंट शायरों में, जो परिवर्तकामी छात्र-राजनीति की दुनिया से जुड़े रहे हैं, सबसे मुखर रूप में हुआ है, लेकिन अधिक गंभीर शायरों में भी हुआ है, जैसे कि ख़ुद फ़ैज़ में। इस तरह, मिसाल के लिए, 'वफ़ा' और 'जुनून' क्रमशः प्रतिबद्धता के विवेकवान और विवके-इतर घटकों, राजनीतिक दृढ़ता और निःस्वार्थ त्याग का अर्थ देने लगते हैं। फ़ैज़ की कविता की इस लौकिकीकरण की प्रेरणा को सबसे स्पष्ट रूप में साठ के दशक की एक कविता, 'दुआ' में उद्घोषित किया गया हैः

आइये, हाथ उठायें हम भी
हम जिन्हें रस्मे-दुआ याद नहीं
हम जिन्हें सोजे-मोहब्बत के सिवा
कोई बुत कोई ख़ुदा याद नहीं।[14]

प्रगीतात्मक विषयी के लिए दुआ एक 'विस्मृत' रस्म हो सकती है, लेकिन इस तथ्य का उसका ज्ञान ही इसके साथ एक जीवंत संबंध की याद को झुठलाता है। सेक्यूलर विषयी अपने अंदर 'बुत' और 'ख़ुदा' के द्वारा संकेतित जीवन-जगत की निशानियों को धारण करता है। फ़ैज़ की अनेक कविताओं में लौकिकीकरण धार्मिक अनुभव की महज़ नामंजूरी नहीं, बल्कि उसके साथ प्रतिद्वंद्विता है। यह ऐसे प्रत्यक्षवादी निरीश्वरवाद की अभिव्यक्ति नहीं है जो सीधे संघर्ष और कार्रवाई राजनीतिक प्रतिबद्धता के अर्थ में 'प्रेम' की तर्कसंगत संस्कृति में धार्मिक प्रेरणा को उन्मूलित करना चाहता है। इससे उलट, फ़ैज़ की शायरी में जो प्रदर्शित किया गया है, वह आधुनिक विषयी के लिए धार्मिक विचार और अनुभव की अकूत ताक़त की स्वीकृति है। रहस्यवादी सूफ़ी परंपरा में जो ग़ैररूढ़िवादी और उल्लंघनकारी शक्तियां सदैव कम-से-कम निहित रूप में मौजूद हैं, उन्हें फ़ैज़ के छंदों में धार्मिक रूढ़िवाद तथा उत्पीड़क लौकिक सत्ता के साथ उस रूढ़िवाद के गंठजोड़ के ख़िलाफ़ मोड़ दिया गया है। मार्क्सवादी और अंतरराष्ट्रीयतावादी शायर होते हुए भी फ़ैज़ रहस्यवादी भारतीय इस्लाम की धार्मिक भाषा में मुब्तला हैं, उर्दू की काव्यपरंपरा में इसके उच्च सांस्कृतिक विस्तार में भी और उत्तर भारत में सांस्कृतिक संपर्क भाषा के तौर पर भी। फ़ैज़ की शायरी इस संस्कृति के प्रति एक गहरे आदर और *प्यार* को तथा इसके साथ शायर के बहुत जटिल संबंधों की स्वीकृति को सामने लाती है। यह एक विशिष्ट धार्मिक परंपरा सूफ़ी अभिव्यक्ति का उर्दू काव्य-विस्तार का विवादात्मक अंगीकार है, इसमें से आधुनिकता के लिए संसाधन निकाल लाने की गरज से; इसीलिए साथ-के-साथ यह स्वयं धार्मिक अनुभव के दुनियावी आधार की ओर भी इशारा करती है। लेकिन कभी भी यह समन्वयात्मक धार्मिक जीवन समझी जाने वाली चीज़ का महज़ अतीतव्यामोही अंगीकार नहीं है, और (काव्यात्मक) आधुनिकता धार्मिक तथा सेक्यूलर या लौकिक के एक प्रकार के द्वंद्व की तरह सामने आती है।

❑ ❑ ❑

फ़ैज़ के लिए विभाजन का विराट विरोधाभास ये है कि इसे उसी आत्म के पुनर्लेखन की ज़रूरत है जिसके संरक्षण के नाम पर इस (विभाजन) की मांग की गयी थी। यह विरोधाभास ऐसा है जिसे वे कभी-कभी आत्म की अलग-अलग, आंतरिक और बाह्य भाषा की टक्कर के रूप में आकार देते हैं, जैसे 1953 की एक ग़ज़ल के इस मिसरे में:

> दिल से तो हर मुआ'मला करके चले थे साफ़ हम
> कहने में उनके सामने बात बदल-बदल गयी[15]

मेरी सलाह है कि इस मिसरे की वेदना को, जो आप बताना चाहते हैं उसे कह पाने की अक्षमता के बोध को, आत्मत्व और अस्मिता की 'जन' भाषा के प्रति एक प्रतिक्रिया की तरह पढ़ना चाहिए। फ़ैज़ यहां जिस चीज़ की ओर इशारा करते हैं, वह है वो अधिशेष जो राष्ट्र-राज्य की उस सुनिर्धारित संरचना के भीतर धारण नहीं किया जा सकता, जिसके भीतर 'मुसलमान' एक घातक दुविधा की नोक पर टिका है: या तो यह 'एक अलग राष्ट्र' को संकेतित करता है या फिर 'एक भारतीय अल्पसंख्यक' को। फ़ैज़ का पूरा प्रगीतात्मक काव्यसंसार अस्मिता को यों तय कर देने की शर्तों को मानने से एक इंकार है और आत्म को गतिशील रखने की एक कोशिश। पापस्वीकृति की मंशा के साथ किसी दूसरे से रू-ब-रू होने के लिए आत्म का आगे बढ़ना लेकिन अपने ही शब्दों को पराया होते हुए पाना, जो चाहा था उससे अलग अर्थ पैदा करते हुए देखना मिसरे के इस आख्यान तत्व को, एक सामूहिक और ऐतिहासिक खाते में, राष्ट्र तथा साम्प्रदायिक अस्मिता के अर्थ को लेकर चलने वाले संघर्ष के इतिहास की एक व्याख्या के तौर पर पढ़ा जाना चाहिए, और ख़ास तौर से मुस्लिम सांस्कृतिक अलगाववाद के इतिहास की एक व्याख्या के तौर पर। फ़ैज़ निस्संदेह नयी रौशनी के उन लेखकों और बौद्धिकों की वंशपरंपरा में हैं जिन्होंने एक सदी पहले भारतीय आधुनिकता में एक 'मुस्लिम' अनुभव की विशिष्टता को माना था। लेकिन ऐतिहासिक सिंहावलोकन के साथ वे ख़ुद उस मान्यता को कारुणिकता की मंद रौशनी में नहला देते हैं, और उस समय से हमारे अपने समय तक के दौर को चिह्नित करने वाले घुमावों और मोड़ों, मार्ग-परिवर्तनों और असफलताओं की ओर इशारा करते हैं। 1953 में कही गयी ये ग़ज़ल भारत विभाजन पर उस खूनी हादसे के इस तरफ़ से की गयी टिप्पणी है। भारतीय मुस्लिम 'राष्ट्रत्व' के, राज्यत्व और 'सम्प्रभुता' की ठंडी रौशनी में, अंततः जो मायने निकल कर आते हैं, उसे लेकर असीम उदासी से भरी हुई है यह टिप्पणी। फ़ैज़ इस ऐतिहासिक कारुणिकता का निचोड़ या सार ग़ज़ल की आत्मनिष्ठ/विषयीनिष्ठ भाषा में रूपांतरित कर देते हैं। वे उस कारुणिकता को आशिक़ की उदासी का रूप दे देते हैं, वह उदासी जो माशूक़ के रू-ब-रू अपनी अभिप्रेत बात कह पाने की अक्षमता को लेकर है।

फ़ैज़ की शायरी में बारंबार आने वाला उस सदैव-दुष्प्राप्य संपूर्णता का बिंब, जो कि अपनी दुष्प्राप्यता के चलते कम वास्तविक नहीं हो जाती, अडोर्नो की उस अंतर्विरोधी संपूर्ण की अवधारणा से किसी हद तक मेल खाता है जिसकी 'गतिशीलता' सिर्फ़ खंडों के 'बदलावों' में ही दिखलायी पड़ती है।[16] द्वंद्वात्मकता की यह संकल्पना उस परवर्ती (लेट) आधुनिकता के दौर में संपूर्णता को समझने का एक प्रयास है जब, अडोर्नो के अनुसार, 'दुनिया को बदलने की कोशिशें' नाकाम हो चुकी हैं।[17] इस तरह अडोर्नो के लिए समकालीन दुनिया की परवर्तिता (लेटनेस) इस तथ्य में निहित है कि यह एक हताशा का परिणाम है, एक तरह का अंतिम परिणाम जो आधुनिक यूरोपीय इतिहास द्वारा प्रदत्त यूटोपियन उम्मीदों की अनर्थकारी

पराजय से निकला है। इसी से उपजी है समकालीन संस्कृति पर अडोर्नो द्वारा उठाये गये सवालों की वह शृंखला : क्या आउश्वित्ज़ (कुख्यात नाज़ी यातनागृहों का झुंड) के बाद कविता लिखना संभव है? क्या एक बार जब दर्शन ने इनसानी वजूद को बदल डालने में कृतकार्य होने का मौक़ा गंवा दिया है तब दर्शन संभव है? क्या जब विषयी मास कल्चर और मास डेस्ट्रक्शन (जनसंहार) की ताक़तों से चतुर्दिक घिरा है, ऐसे युग में उस विषयी का बचाव करना संभव, या काम्य भी, है? उत्तरऔपनिवेशिक संस्कृति अपने आप में यूरोपीय उन्नीसवीं सदी की सांस्कृतिक मानवनिर्मितियों के परिणाम के रूप में संघटित है और उनका देर से किया गया अर्जन इसकी विशेषता है। वे सांस्कृतिक मानवनिर्मितियां हैं: राष्ट्रीय संप्रभुता, जनता की इच्छा, लोकतंत्र की मांग। उत्तरऔपनिवेशिक दक्षिण एशिया में यह वह क्षण भी है जो उत्तर भारतीय समाज के विभाजन के तुरंत बाद आया है। फ्रांज फ़ेनन ने काफ़ी समय पहले यह स्थापना दी थी कि औपनिवेशिक परिस्थितियों में आरोपित करने के लिए 'मार्क्सवादी विश्लेषण की हमेशा थोड़ी खींच-तान करनी पड़ेगी'।[18] उत्तरऔपनिवेशिक संस्कृति की 'परवर्तिता' ख़ुद परवर्ती आधुनिकता की अवधारणा की खींचतान की, आर्थिक अतिविकास और अतिउपभोग के आख्यान से इसके अलग किये जाने की और इसके बजाय विऔपनिवेशीकरण के परिणामों के बोध के लिए इसके तैयार होने की मांग करती है। फ़ैज़ निस्संदेह उस अर्थ में 'अडोर्नियन' शायर नहीं हैं जिस अर्थ में सेलान, बैकेट, और यहां तक कि मान को अडोर्नियन लेखक कहा जा सकता है।[19] लेकिन इस चीज़ पर पुनर्विचार करना मेरा मक़सद रहा है कि सईद एवं अन्य ने अडोर्नो के विचार-पुंज में 'परवर्तिता' के जिस परिदृश्य की पहचान की है, उस में और उस पर लिखने के क्या मायने हैं।[20] फ़ैज़ परवर्ती *उत्तरऔपनिवेशिक* आधुनिकता के कवि हैं, एक कवि जो नकारात्मक सोच की अपनी ऊर्जाओं को ठोस आकार लेते उन सांस्कृतिक एवं सामाजिक रूपों की ओर मोड़ देता है जो उत्तरऔपनिवेशिक वर्तमान को संघटित करते हैं। अडोर्नो के लिए, प्रगीत काव्य की अवधारणा का एक ऐसा अर्थ है जो 'पूरी तरह आधुनिक' है और 'पहले के दौरों में विशेष्ट रूप प्रगीतात्मक मिज़ाज की वे अभिव्यक्तियां जो हमारे लिए सुपरिचित हैं, महज़ अलग-थलग पड़ी हुई झलकें हैं।'[21] लेकिन फ़ैज़ परंपरागत उर्दू प्रगीत की ओर ही मुड़ते हैं और दुनिया से आत्म के, संपूर्णता से व्यक्ति के संबंध की व्याख्या के लिए शब्दावली वहीं से निकालते हैं। वे ऐसे आधुनिक भारतीय आत्मत्व के अनुभव को विस्तार देते हैं जो विभाजन के समय आरंभ हुई राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के सांस्कृतिक तर्क से किनारा कर लेने का प्रयास करता है। सूफ़ी विचार और व्यवहार के साथ अपने गहरे संबंधों वाली, तथा उपमहाद्वीप पर आये संस्कृति और अस्मिता के संकट में अपनी लंबी सहभागिता वाली हिंद-इस्लामी काव्य-परंपरा में गहरे डूब कर वे इस काम को और आगे बढ़ाते हैं। यही फ़ैज़ होने का मतलब है, एक ऐसे उर्दू शायर के रूप में, जिसे विभाजन द्वारा थोपी गयी राजनीतिक और सांस्कृतिक सरहदों के आरपार एक विराट पाठक-श्रोता समाज मिला हुआ है।

आमिर आर. मुफ़्ती **अनुवादः संजीव कुमार**
mufti@ucla.edu

संदर्भ और टिप्पणियां

1. थ्योडोर डब्ल्यू. अडोर्नो, 'द फ़ेटिश कैरेक्टर इन म्यूज़िक ऐंड द रिग्रेशन ऑफ़ लिसनिंग', *फ़्रैंकफ़र्ट स्कूल रीडर*, सं. एंड्रिउ अरातो एवं एइक गेबहार्ड्ट (न्यूयॉर्क, कॉन्टीन्यूअम, 1982), 275.

2. देखें, आग़ा शाहिद अली, 'इंट्रोडक्शन : ट्रांसलेटिंग फ़ैज़ अहमद फ़ैज़', *द रिबेल्स सिलुए'ट : सेलेक्टेड पोएम्स*, अनु. आग़ा शाहिद अली (एम्हर्स्ट, यूनिवर्सिटी ऑफ़ मैसाचुसेट्स प्रेस, 1995), एवं वी.जी. किएर्नन, *पोएम्स बाइ फ़ैज़* की भूमिका, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, अनु. वी.जी. किएर्नन (लाहौर, वैनगार्ड बुक्स, 1971), 40.
3. थ्योडोर डब्ल्यू. अडोर्नो, 'ऑन लिरिक पोएट्री एंड सोसायटी', *नोट्स टू लिटरेचर : वॉल्यूम वन*, सं. रॉल्फ़ टिएडमैन, अनु. शिएरी वेबर निकॉल्सन (न्यूयॉर्क, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991), 42, 38.
4. मिसाल के लिए देखें, सैयद सिब्ते हसन, 'फ़ैज़ का आदर्श', *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : तनक़ीदी जायज़ा*, सं. ख़लीक़ अंजुम (नयी दिल्ली, अंजुमन-ए तरक़्क़ी-ए उर्दू, 1985), 119, 121.
5. देखें, किएर्नन, *पोएम्स बाइ फ़ैज़* की भूमिका, 38. भाषा के सवाल पर गांधी के नज़रिये के एक समकालीन संकलन के लिए देखें, मोहनदास करमचंद गांधी, *आवर लैंग्वेज प्रॉब्लम*, सं. आनंद टी. हिंगोरानी (कराची, आनंद टी. हिंगोरानी, 1942).
6. किएर्नन, *पोएम्स बाइ फ़ैज़* की भूमिका, 38.
7. देखें, 'फ़ैज़-अज़ फ़ैज़', फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, *नुस्ख़ाहा-ए वफ़ा* (लाहौर, मकतबा-ए कारवां, 1986), 308-11.
8. देखें, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, *सारे सुख़न हमारे*, सं. अब्दुल बिस्मिल्लाह (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2009), 158.
9. देखें, फ़ैज़, *नुस्ख़ाहा-ए वफ़ा*, 308-11.
10. फ़ैज़, *सारे सुख़न हमारे*, 190 .
11. थ्योडोर अडोर्नो, 'सब्जेक्ट ऐंड ऑब्जेक्ट', *द एस्सेंशियल फ़्रैंकफ़र्ट स्कूल रीडर*, सं. एंड्रिउ अरातो एवं एइक गेबहार्ड्ट (न्यूयॉर्क, कॉन्टीन्यूअम, 1988), 500.
12. देखें, फ़ैज़, *नुस्ख़ाहा-ए वफ़ा*, 438.
13. क्लासिकी उर्दू ग़ज़ल और उसके प्रतीकात्मक एवं विषयगत संसार के लिए देखें, रॉल्फ़ रसेल, *द पर्सुट ऑफ़ उर्दू लिटरेचर : ए सेलेक्ट हिस्ट्री* (दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992), अध्याय 2; तथा ऐनीमेरी स्कीमेल, *ए टू-कलर्ड ब्रॉकेड, द इमेजरी ऑफ़ पर्शियन पोएट्री* (चैपल हिल, एन.सी., यूनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, 1992).
14. फ़ैज़, *सारे सुख़न हमारे*, 240.
15. फ़ैज़, *सारे सुख़न हमारे*, 60.
16. मिसाल के लिए देखें, अडोर्नो, 'द फ़ेटिश कैरेक्टर इन म्यूज़िक ऐंड द रिग्रेशन ऑफ़ लिसनिंग', 'अलग किये हुए अर्द्धांशों को जोड़ कर सम्पूर्ण को एक साथ नहीं रखा जा सकता, लेकिन दोनों में, चाहे जितने भी दूरस्थ रूप में सही, उस सम्पूर्ण के बदलाव प्रकट होते हैं जो अंतर्विरोधों में ही गतिशील होता है।' (275)
17. थ्योडोर डब्ल्यू. अडोर्नो, *नेगेटिव डाइलेक्टिक्स*, अनु. ई. बी. ऐस्टन (न्यूयॉर्क, सीबरी प्रेस, 1973). अडोर्नो और परवर्तिता के लिए देखें, फ्रेडरिक जेमसन, *लेट मार्क्सिज़्म : अडोर्नो, ऑर द पर्सिस्टेंस ऑफ़ द डाइलेक्टिक* (लंदन, वर्सो, 1990); और एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, 'अडोर्नो ऐज़ लेटनेस इटसेल्फ़', *ऐपोकलिप्स थियरी ऐंड द एंड्स ऑफ़ द वर्ल्ड*, सं. मैलकॉम बुल (ऑक्सफ़र्ड, ब्लैकवेल, 1995), 264-81.
18. देखें, फ्रांज फ़ेनन, *द रेचेड ऑफ़ द अर्थ*, अनु. कॉन्सटैंस फ़ैरिंगटन (न्यूयॉर्क, ग्रोव प्रेस, 1963), 40.
19. इस सफ़ाई की ज़रूरत को बताने के लिए मैं स्टेथिस गोरगुरिस और एडुआर्डो कैडावा का शुक्रगुज़ार हूं.
20. मिसाल के लिए देखें, सईद, 'अडोर्नो ऐज़ लेटनेस इटसेल्फ़', 264-81; और जेमसन, *लेट मार्क्सिज़्म*.
21. अडोर्नो, 'ऑन लिरिक पोएट्री एंड सोसायटी', 40.

शायरी है कि पैग़ाम है

ज़हूर सिद्दीक़ी

इस व़क्तव्य में फ़ैज़ के पैग़ाम का खुलासा करने के साथ-साथ लेखक ने 1959-60 के दिनों में उनके दिल्ली आगमन पर एक रिपोर्ट भी पेश की है। इससे पता चलता है कि फ़ैज़ हिंदुस्तान में भी कितने लोकप्रिय हो गये थे और उन्हें चाहने वाले उनसे मिलने, उन्हें सुनने के लिए किस तरह उमड़ पड़ते थे। सं.

फ़ैज़ की शायरी ने अपनी पहचान इसलिए बनायी क्योंकि उनमें दूर-दूर तक बनावट नहीं थी; जो दिल पर गुज़री उसको 'रक़म कर' दिया[1]। हां यह भी ठीक है कि उनकी अक़्ल ने उन्हें शायद कभी 'तन्हा' नहीं छोड़ा और इसी कारण उनकी शायरी सोच और भावनाओं की एक दिलनवाज़[2] लय बन जाती है।

लोग कहते हैं कि उन्होंने कम लिखा; हम कहते हैं जितना उन्होंने लिखा उसको पहले समझ तो लो और अगर समझ में आ जाये तो फिर अपने क़दमों को आगे बढ़ाओ, कुछ कर बैठो। जहां तक हमारी बात है जब भी उनके कलाम पर हमने नज़र डाली तो ऐसा लगा कि इस शेर को या उस शेर को अपने दिल में हम वो जगह नहीं दे पाये जिसका वो मुस्तहक़ था।[3] कभी-कभी हम सोचते हैं कि कोई शायर फ़ैज़ जैसा या उससे ऊंचा बन भी पायेगा? सवाल मुश्किल है।

हमारा विचार है कि यदि फ़ैज़ कुछ नहीं लिखते, केवल 'हम जो तारीक राहों में मारे गये' की तख़लीक़[4] कर जाते तो साहित्य की दुनिया में ज़िंदा रखने के लिए काफ़ी था। हमें यह नज़्म बहुत पसंद है और बाद में मालूम हुआ कि फ़ैज़ भी इसको अपनी सबसे प्रिय रचना मानते थे।

क्या किसी को गुमान होगा कि जो नज़्म 'होठों के फूलों की चाहत' से शुरू हो; जहां 'होठों की लाली लपकती' हो और ज़ुल्फ़ों से 'मस्ती बरस' रही हो लाखों दिलों को हिलाने वाली आवाज़ बन जायेगी। एक नज़र पीछे की तरफ़ घुमाकर फिर सामने देखें तो ऐसा लगता है कि हुस्न कालिदास की शकुंतला बनकर सदियों का सफ़र तै करके उनके शेरों में नुमायां[5] हो गया है और क्या होठों की लाली को देखकर अनार का सुर्ख़ फल याद नहीं आ जाता है? लेकिन इतनी सहज सुंदर भाषा का एक दर्दनाक लेकिन ज़रूरी पहलू भी नज़र आता है, जब फ़ैज़ इस पंक्ति पर पहुंचते हैं :

1. व्यक्त कर दिया
2. मार्मिक
3. अधिकारी
4. रचना
5. प्रदर्शित

देख क़ायम रहे इस गवाही पर हम अंतिम सांस तक, जामें[6] शहादत पीते हुए।

इस जवाबाज़ जोड़े (इथल व ज्युलियस रोज़नबर्ग) ने कैसी दृढ़ता दिखायी? बेशक भावनाएं उमड़ी हैं, दिल को थामना पड़ जाता है और फिर जब हम इन शेरों को याद करते हैं :

नरसाई अगर अपनी तक़दीर थी
तेरी उल्फ़त तो अपनी ही तदबीर थी
किसको शिकवा है गर शौक़ के सिलसिले
हिज्र की क़न्लगाहों से सब जा मिले

ये रोजनबर्ग जोड़ा अपनी 'उल्फ़त' पर मोहित है, 'शर्मसार नहीं'। भले ही इस राह ने उन्हें क़त्लगाह तक पहुंचा दिया। पर इथल व ज्युलियस रोज़नबर्ग ने महिमा तथा मर्यादा की ज्याली मिसाल क़ायम की।

'दिल में क़ंदील ग़म' होना स्वभाविक है। क्योंकि दिल फिर दिल है। 'संग व ख़िश्त'[7] नहीं लेकिन फ़ैज़ की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके क़दम आगे बढ़ने से डगमगाते नहीं और गिरे हुए परचमों को लेकर ज्याले आशिक़ों के काफ़िले निकल पड़ते हैं।

यह दर्दनाक हादसा सीमित बनकर नहीं रह जाता बल्कि गूंज जाता है। दर्द के फ़सले को भी एक हद तक पाटने लगता है। दरअसल 'हम जो तारीक राहों में मारे गये' फ़ैज़ का कम्युनिस्ट घोषणापत्र बन गया है।

फ़ैज़ ने अनेक ऐसी रचनाएं पेश की हैं जो अपनी गहराई, गंभीरता तथा गहनता के कारण संसार के हर लोकप्रिय शायर को उनके सामने अपना सर झुकाने पर मजबूर कर देती हैं और आलोचक कितना भी संगदिल हो जब वह उनके शेरों को संजीदगी से पढ़ता है तो वह भी फ़ैज़ की सन्नाई[8] का क़ायल हो जाता है।

वास्तव में फ़ैज़ का दौर कुछ ऐसा था जहां एक तरफ़ ज़ुल्म का लावा फूट रहा था तो दूसरी ओर सुर्ख़ किरनें उभर आयी थीं ; एक तरफ़ दर्द की पीड़ा थी तो दूसरी ओर उसका मदावा भी था। फ़ैज़ ने दर्द को भी चूम लिया और उसके इलाज को भी।

बाज़ी है बहुत सख़्त म्याने[9] हक़[10] व बातिल[11]
वह ज़ुल्म में कामिल[12] हैं तो हम सब्र में कामिल
बाज़ी हुई अंज़ाम, मुबारक हो अज़ीज़ो[13]
बातिल हुआ नाकाम, मुबारक हो अज़ीज़ो

6. प्याला
7. पत्थर व ईंट
8. बनाने की कला
9. बीच में
10. सच्चाई
11. झूठ
12. पक्के, दक्ष
13. प्यारो

फ़ैज़ इस मरसिया में रूलाते नहीं बल्कि जगाते हैं और उनकी शायरी में मुशाहिदा[14] तो है ही साथ-साथ एक अनोखा अंदाज़ भी है : 'गुलों में रंग' भरते हुए 'सूएदार'[15] तक पहुंच जाते हैं, रूमानियत को कभी लक्ष्य पर हावी नहीं होने देते।

अगस्त के महीने में उनकी लिखी हुई 'यूमे[16] आज़ादी' के संदर्भ में लिखी गयी नज़्मों का जायज़ा भी लीजिये : आज़ादी का वह दिन उनके लिए मायूसकुन था :

यह दाग़ दाग़ उजाला यह शब गज़ीदह[17] सेहर[18]
वो इंतिज़ार था जिसका यह वह सेहर तो नहीं

अगस्त 1952 में कुछ हालात बेहतर हुए तो कह बैठे :

अब भी ख़िज़ान का राज है लेकिन कहीं कहीं
गोशे राहे चमन में ग़ज़ल ख़्वान हुए तो हैं
इनमें लहू जला हो 'हमारा' कि जान व दिल
महफ़िल में कुछ चिराग़ फ़रोज़ान[19] हुए तो हैं

लेकिन फिर अगस्त 1955 के दौर में उन्हें यह कहने में देर नहीं लगी :

चांद देखा तेरी आंखों में, न होंठों पे शफ़क़[20]
मिलती जुलती है शबे ग़म से तेरी दीद अब के

आज़ादी के उस दिन पर लिखी हुई फ़ैज़ की 14 अगस्त 1967 की नज़्म जिसका शीर्षक 'दुआ' है, अपने सुबक अंदाज़ लेकिन पुरमायने पैग़ाम के लिए उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती है। चंद पंक्तियां :

आइये हाथ उठायें हम भी
हम जिन्हें रस्मे दुआ याद नहीं
हम जिन्हें सोज़े मोहब्बत के सिवा
कोई बुत, कोई ख़ुदा याद नहीं
....
जिनकी आंखों को रुख़े सुबह का यारा भी नहीं
उनकी रातों में कोई शमा मुनव्वर कर दे
....
जिनकी दीं पैरवी-ए कज़्बे दरिया है उनको
हिम्मते कुफ़्र मिले, जुराते तहक़ीक़ मिले

14. परख
15. फांसी की ओर
16. दिन
17. विष-भरी, दंशित
18. सुबह
19. रोशन
20. लाल रौशनी जो सूरज निकलने से पहले और डूबने के बाद नमूदार होती है

(जिनका धर्म/ईमान झूठ का दरिया है, उनको कुफ़्र की हिम्मत मिले यानी ऐसे दीं को उखाड़ फेंकने की हिम्मत मिले और उनमें नये रास्ते की खोज की हिम्मत और दिलेरी हो।)

फ़ैज़ को अपने वतन से बेपनाह मोहब्बत थी और इसीलिए 'रुख़े सहर की लगन' उनके क़दमों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही : 'चले चलो कि वो मंज़िल अभी नहीं आयी।' लेकिन फ़ैज़ दूसरे मुल्क के लोगों को नीचा दिखाने को वतनपरस्ती नहीं समझते थे। चाहे कुर्सी पर बैठे हुए लोग कुछ भी तमाशे दिखाते रहें लेकिन उनका हिंदुस्तान आना नहीं रुका और जब भी वे आये लोग सैकड़ों व हज़ारों की तादाद में उनसे मिलने, उन्हें सुनने पहुंच जाते थे। 1959-60 के दौरान उनका जब दिल्ली आना हुआ तो वे डा. के. एम. अशरफ़ से मिलने करोड़ीमल कॉलेज आये। उनको यह पता नहीं था कि कॉलेज वालों ने उनको सुनने के लिए हाल में मीटिंग का प्रबंध कर लिया था; वक़्त से पहले ही हाल खचाखच भर गया था लेकिन जब वक़्त ज़्यादा हो गया तो डा. अशरफ़ हाल से बाहर आकर खड़े हो गये; उनके पीछे उनके शगिर्द अर्जुन देव और हरबंस मुखिया भी चले आये और इस इंतिज़ार की घड़ी में हमने भी उनका साथ दिया।

ख़ुदा-ख़ुदा करके फ़ैज़ की शक्ल नज़र आयी और वे आते ही डॉ. अशरफ़ के जुमले का शिकार हुए : 'हमने तो अपने माशूक़ का भी कभी इतना इंतिज़ार नहीं किया।' फ़ैज़ कुछ झेंप से गये और डा. अशरफ़ से बग़लगीर होते हुए बोले : 'बन्ने भाई (सज्जाद ज़हीर) उठने ही नहीं देते थे, बड़ी मुश्किल से आया हूं।' फिर हम सब हाल के अंदर दाख़िल हुए। हम तो समझते थे कि हाल आधा हो चुका होगा लेकिन कोई बंदा खिसका ही नहीं और जैसे ही वह मंच पर पहुंचे आवाज़ें लगने लगीं :

मुझ से पहली-सी मोहब्बत मेरी महबूब न मांग

इसके बाद अनेक बार उनका दिल्ली आना हुआ। और जे.एन.यू. में जो मीटिंग सीताराम येचुरी ने करवायी, उसमें हज़ारों की तादाद में उनके प्रेमी पहुंचे। फ़ैज़ ने अपने चाहने वालों से इंतिज़ार तो ज़रूर करवाया, लेकिन उनके कलाम ने उन्हें कभी मायूस नहीं किया। कितने भी जटिल हालात हों उनके शेरों की 'चांदी दमकती' रही।

अगर पाकिस्तान फ़ैज़ की पत्नी थी तो हिंदुस्तान उनकी महबूबा। उनके दिल में हर उस इनसान की इज़्ज़त थी जो इंसानियत का परचम लिए नेक राह पर चल रहा हो; और जब ऐसे इनसानों पर ज़ुल्म होता तो उन पर अजीब कैफ़ियत[21] तारी हो जाती और वह अपने दर्द के रिश्ते के इसरार पर क़लम चलाना शुरू कर देते।

फ़ैज़ का विश्बोध कोई थोपा हुआ लोहे का ख़ाल नहीं था ; वह उनकी बेलौस समझ का अंग था; ज़ुल्म से हर जगह टकराने के लिए तैयार।

उनकी 'दो नज़्में फ़िलिस्तीन के लिए' का जायज़ा लीजिए ; ज़रा भी तो इनमें दोहरापन प्रतीत नहीं होता ; उनकी नज़्म 'फ़िलिस्तीनी बच्चे के लिए लोरी' एक दिलफ़िगार शाहकार है। कौन सा दिल है जो इन पंक्तियों को पढ़कर तड़प न उठे :

21. भावदशा

मत रो बच्चे
अम्मी, अब्बा, बाजी, भाई
चांद और सूरज
तू गर रोयेगा तो ये सब
और भी तुझको रुलवायेंगे
तू मुस्कायेगा तो शायद
सारे एक दिन भेस बदल कर
तुझ से खेलने लौट आयेंगे

'ईरानी तुल्बा के नाम' उनकी उन नज़्मों में से है जो क्रांतिकारी साहित्य में अपनी जगह रखती है; जब इन जियालों पर गोली चली और उनमें से अनेक मारे गये तो इस दर्द को जेल की सलाख़ों के पीछे इस क़ैदी ने अपने दिल की गहराई में महससू किया :

यह कौन सख़ी हैं
जिनके लहू की
अश्रफ़ियां, छन छन, छन छन,
धर्ती के पेहम प्यासे
कशकोल में ढलती जाती हैं
कशकोल को भरती हैं

इस वक्तव्य के अंत में मैं यह कहना चाहता हूं कि :

दिल से पेहम[24] ख़याल कहता है
इतनी शीरीन[25] है ज़िंदगी इस पल
ज़ुल्म का ज़हर घोलने वाले
कामरां[26] हो सकेंगे आज न कल
जलवागाहे विसाल[27] की शम्में
वो बुझा भी चुके अगर तो क्या
चांद को गुल करें तो हम जानें

हमारा चांद कभी गुल न होगा; हम कल चले जायेंगे मगर फ़ैज़ की क्रांतिकारी शायरी आनेवाली पीढ़ियों को पैग़ाम देती रहेगी हक़ का, संघर्ष का और इनसानी दोस्ती का।

24. लगातार
25. मीठी।
26. कामयाब।
27. मिलन।

हर दौर में तारीख़ का उन्वां

अर्जुमंद आरा

फ़ैज़ का लहज़ा तो सूरज की तरह दुनिया में
कल भी ताबिंदा था, और आज भी ताबिंदा है
फ़ैज़ मर कर भी ज़माने में अभी ज़िंदा है।
मौत आ जायेगी ज़ुल्मत के परस्तारों को
पूरी दुनिया में जब इनसान फ़रोज़ां होगा
फ़ैज़ हर दौर में तारीख़ का उन्वां होगा।

डॉ. बेदिल हैदरी

गहरी अनुभूति और प्रगतिशील विचारधारा के सबसे मशहूर और मक़बूल शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ (जन्म 13, फरवरी 1911) के देहांत (20 नबंवर 1948) के मौक़े पर कही गयी उक्त पंक्तियों से अंदाज़ा होता है कि फ़ैज़ के समकालीन लेखक, रचनाकार और जागरूक पाठक किस तरह फ़ैज़ के साथ भावनात्मक रिश्तों में बंधे थे। फ़ैज़ को इतिहास के हर युग का उन्वान (शीर्षक) बताना इन अर्थों में अतिशयोक्ति नहीं होगा कि फ़ैज़ सिर्फ़ प्रगतिशील लेखन के ही बेहतरीन शायर नहीं थे बल्कि उनकी शोहरत देश, भाषा, काल को पार कर चुकी थी और है। फ़ैज़ के देहांत को 26 वर्ष गुज़र चुके हैं, लेकिन उनके प्रशंसकों के उक्त भाव और भावनात्मक रिश्ते उतने ही जोशो-जज़्बे से भरे हैं।

फ़ैज़ की शायरी में इनसानी दोस्ती और इंक़लाबी विचारधारा और एक रूमानी स्वभाव के व्यक्ति का प्रेम और वेदना का संगम एक जल तंरग में परिवर्तित होकर जिस नाज़ से बहता है उसका एतराफ़ तो वे लोग भी करते हैं जो आम तौर से प्रगतिशील लेखन से बिदकते हैं। फ़ैज़ के देहांत के बाद उन पर लिखे एक संस्मरण में मुश्ताक अहमद यूसुफ़ी ने लिखा :

> मैंने ज़हन पर बहुत ज़ोर डाला, कोई मिसाल ऐसी याद नहीं आयी जहां लोगों को शायर के सियासी रुझान या विचारधारा (विचारधारा) से ऐसा शदीद इख़्तलाफ़ रहा हो और उसकी शायरी से ऐसा टूट के प्यार। फ़ैज़ साहब का सियासी और वैचारिक रुझान हमेशा ही विवादस्पद रहा, और शायरी हमेशा हर विवाद से बुलंद।
>
> (उर्दू मासिक ***शबिस्तां***, दिल्ली, मार्च 1985, पृष्ठ, 82)

फ़ैज़ की शायरी की महत्ता को आंकते वक़्त बहुत से लोग उनके प्रगतिशील होने, रावलपिंडी साज़िश केस में लंबे समय तक जेल में रहने (1951-55) और ग़ज़ल गायकों द्वारा उनके अधिकांश कलाम के गाये

जाने को कुछ इस तरह पेश करते हैं मानो यही उनकी शायरी की भी खूबियां हैं। यह बात दुरुस्त है कि फ़ैज़ को लोकप्रिय बनाने में गायकों ने अहम भूमिका निभायी लेकिन यह भूमिका फ़ैज़ की शायरी के आकलन का पैमाना नहीं बन सकती। गायकों से पहले भी फ़ैज़ पूरे साहित्य जगत के बड़े लोकप्रिय शायर बन चुके थे तो इसका कारण उनकी शायरी और हरदिलअज़ीज शख़्सियत दोनों थे।

फ़ैज़ ने जिस परिवेश में जन्म लिया, वह ज़मींदारी व्यवस्था के मूल्यों और पूर्वागहों का परिवेश था लेकिन फ़ैज़ ने जो राजनीतिक परिस्थितियां देखीं और उनका हिस्सा बने, उन्होंने फ़ैज़ के बौद्धिक विकास में सक्रिय रचनात्मक योगदान दिया। ज़ाहिर है यह दौर पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में बड़े द्वंद्व और संघर्ष का दौर था। द्वंद्व केवल साम्राज्य के विरुद्ध नहीं था बल्कि पूरा समाज विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों, पूर्वी और पाश्चात्य संस्कृति के टकराव, जनतांत्रिक और जमींदारी व्यवस्था का द्वंद्व और समाजवादी साम्यवादी विचारधारा के उद्‌भव और प्रभाव का दौर था। मुहम्मद अली सिद्दीक़ी के शब्दों में :

> यह युग राष्ट्रवाद से अंतर्राष्ट्रीयता, व्यक्तिवाद से समाजवाद, निजी सुख से सर्वजन सुख की ओर यात्रा का युग था। यह युग नयी वास्तविक्ताओं और समानताओं की अनुभूति साथ लाया था।
>
> (मज़रूह सुल्तानपुरी के संकलन 'ग़ज़ल' के प्राक्कथन से, 1987)

फ़ैज़ की पारिवारिक पृष्ठभूमि भी बेहद दिलचस्प है। वे पारंपरिक रूप से तो ज़मींदार घराने से नहीं थे लेकिन उनके पिता अपनी मेहनत और सूझ-बूझ से अफ़ग़ानिस्तान के बादशाह के दरबार में मीर मुंशी के अहम पद पर रहे और वहां से लौटने के बाद अपनी वकालत के कारण अमीर बन गये। उनके पिता सुल्तान मुहम्मद ख़ां पंजाब के एक छोटे से गांव काला क़ादिर के बेहद ग़रीब लोगों में से थे। बचपन में गांव वालों के मवेशी चराते और बचे-खुचे वक़्त में पढ़ते थे। यही शौक उनको सियालकोट ले गया जहां वे मस्जिद में रहते और पढ़ते थे। अंग्रेज़ी अच्छी तरह सीख ली थी। उसी मस्जिद में अफ़ग़ानिस्तान का डिप्लोमेट नमाज़ पढ़ने आता था। वह उनको अपने साथ अफ़ग़ानिस्तान ले गया और उनको वहां दरबार में नौकरी मिल गयी।

सुल्तान मुहम्मद ख़ां ने कोई तेरह वर्ष अफ़गानिस्तान में नौकरी की। वहां उनकी शादी अफ़ग़ानिस्तान के हाकिम अमीर अब्दुर्रहमान की भतीजी सायर जान से हुई थी जिनका शादी के दो साल बाद देहांत हो गया। फ़ैज़ की बड़ी बहन गुल बीवी इन्हीं सायर जान की औलाद थीं। अफ़ग़ानिस्तान की सियासत से घबरा कर सुल्तान मुहम्मद ख़ां लौट आये और जेहलम में दरिया के किनारे एक बंगला किराये पर लेकर रहने लगे। सरगोधा ओर मंटगोमरी में अंग्रेज़ों ने उन्हें ज़मीनें दी थीं जहां घोड़ों के फ़ार्म थे।

क़ाबुल से लौटने के कुछ अर्से बाद सुल्तान मुहम्मद ख़ां लंदन चले गये। वहां से बैरिस्ट्री की परीक्षा पास करके जेहलम में वकालत करने लगे, फिर सियालकोट चले आये। पहली बीवी की मृत्यु के बाद दूसरी शादी एक ज़मींदार अदालत ख़ां की बेटी सुल्तान फ़ातिमा हुई। फ़ैज़ इन्हीं के बेटे थे। बड़े भाई तुफ़ैल और छोटे भाई इनायत थे।

फ़ैज़ का बचपन भरे-पूरे ख़ानदान में ज़्यादातर औरतों के बीच गुज़रा। सरदार जान ने (जो फ़ैज़ की बड़ी मां सायर जान की निजी ख़ादिमा और घर की मैनेजर थीं और अफ़ग़ानिस्तान से बहुत से नौकरों के साथ आयी थीं) फ़ैज़ की परवरिश की। सब उनको नानाजान कहते थे। वे अच्छी अरबी-फ़ारसी जानती थीं, स्वयं उनकी परवरिश शाही हरम में हुई थी। वे फ़ैज़ को तरह-तरह की कहानियां सुनाती थीं। घर

का माहौल बड़ा मज़हबी था। फ़ैज़ की बड़ी बहन गुल बीबी ने अपने एक इंटरव्यू में अख़्तर जमाल को बताया कि फ़ैज़ को शुरू में क़ुरान हिफ़्ज़ (कंटस्थ) कराया जा रहा था, दो ***सीपारों*** के बाद यह सिलसिला शुरू किया गया। फ़ैज़ का बचपन खेलकूद में गुज़रा। वे खुद लिखते हैं कि 'ख़्वातीन ने हम को निहायत शरीफ़ाना ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर किया, जिसकी वजह से कोई ग़ैर-मुहज़्ज़ब या उजड्ड क़िस्म की बात उस ज़माने में हमारे मुंह से नहीं निकलती थी। सुबह को अब्बा के साथ नमाज़ पढ़ने जाते। वहां मौलवी इब्राहीम सियालकोटी से घंटा-डेढ़ घंटा क़ुरान का सबक़ लेते, फिर स्कूल जाते। रात में अब्बा के लिए ख़त लिखते और अख़बार पढ़कर सुनाते। इस तरह अख़बार पढ़ने और ख़त लिखने की ट्रेनिंग बचपन में ही मिल गयी।

फ़ैज़ के घर के पास किताबों की एक दुकान थी। जहां किराये पर किताबें मिलती थीं। दुकानदार को सब लोग 'भाई साहब' कहते थे। भाई साहब की दुकान से दो-दो पैसे किराये पर किताब लाकर फ़ैज़ ने *तिलिस्मे होशरुबा, फ़साना-ए-आज़ाद,* शरर के नॉवेल, वग़ैरह पढ़ डाले। फिर मीर, ग़ालिब, दाग़ वग़ैरह की शायरी पढ़ी। फ़ैज़ लिखते हैं कि ग़ालिब उस वक़्त ज़्यादा समझ में तो नहीं आये लेकिन उनको पढ़ने से एक अजीब सा असर ज़रूर होता था। इस तरह धीरे-धीरे शायरी से लगाव पैदा हो गया। एक दिन अब्बा के मुंशी ने उनके उपन्यास पढ़ने की शिकायत अब्बा से कर दी। अब्बा ने डांटा तो नहीं लेकिन यह ज़रूर कहा कि नॉवेल ही पढ़ने हैं तो अंग्रेज़ी के नॉवल पढ़ा करो। उर्दू के नॉवेल अच्छे नहीं होते। इस तरह फ़ैज़ ने शहर की लायब्रेरी से लेकर अंग्रेज़ी उपन्यास पढ़ने शुरू कर दिये। फ़ैज़ लिखते हैं कि हार्डी, और डिकेंस वग़ैरह को पढ़ने का फ़ायदा यह हुआ कि नॉवेल तो पूरी तरह समझ में नहीं आये लेकिन अंग्रेज़ी अच्छी हो गयी। और नुक़सान यह हुआ कि स्कूल में वे अपने उस्तादों की अंग्रेज़ी दुरुस्त करने लगे जिससे वे प्रायः नाराज़ हो जाते थे।

> फ़ैज़ को बचपन ही से संगीत से भी लगाव था। उस्ताद तवक्कुल हुसैन ख़ां, उस्ताद आशिक़ अली ख़ां और छोटे गुलाम अली ख़ां आदि के साथ बैठते और उनको सुनते थे।
>
> (शबिस्तां, पृष्ठ 15-16)

एम.ए. के ज़माने की एक याद का दिलचस्प वर्णन फ़ैज़ ने अपने एक लेख में किया है। वे लिखते हैं कि प्रो. डिकिंसन या प्रो. हरीशचंद कटपालिया का जब पढ़ाने को दिल नहीं चाहता तो फ़ैज़ से कहते 'तुम लेक्चर दे दो, एक ही बात है।' प्रो. डिकिंसन ने क्लास के दो तीन लायक लड़कों को यह ज़िम्मेदारी सौंप दी थी कि वे उन्नीसवीं सदी के गद्य साहित्य पर दो-दो, तीन-तीन लेक्चर तैयार करलें। इस तरह के क्रियाकलापों से फ़ैज़ 'नीम उस्ताद' तो बन ही गये थे लेकिन ये बात भी दिलचस्पी से ख़ाली नहीं कि अध्यापकों की कामचोरी और न पढ़ाने की रूस्वाइयों की परंपरा भी अंग्रेज़ों के ज़माने की ही देन है। (यूनिवर्सिटी अध्यापक विशेषकर इस घटना को अच्छी तरह याद रखें ताकि वक़्त ज़रूरत सनद रहे।)

शुरू में फ़ैज़ के सामने कई रास्ते थे। उन्हें क्रिकेट खेलने का शौक़ था और चाहते थे कि क्रिकेट के खिलाड़ी बन जायें। उन्होंने क्रिकेट की भाषा में एक बड़ा मज़ेदार इंटरव्यू भी दिया है। मिसाल के तौर पर जब साक्षात्कार कर्त्ता अनवर मक़सूद ने पूछा कि आप की सबसे अच्छी इनिंग्स कौन सी है, तो फ़ैज़ का जवाब था : 'एक इनिंग्स हमने वतन को हसीन बनाने के लिए खेली थी। इसमें हम मुसीबतें झेलते रहे, खून के आंसू पीते रहे, फिर भी कोई हमें आउट नहीं कर सका। हमारा दूसरा टेस्ट था

दस्ते-सबा (दूसरा संकलन)। हमारे ख़याल में सब से अच्छी इनिंग्स *दस्ते-सबा'* थी।' अनवर मक़सूद ने पूछा आप किस साइड पर ज़्यादा बार कैच हुए तो फ़ैज़ ने कहा 'हमेशा राइट साइट पर क्योंकि हमारी लेफ़्ट साइड बहुत पॉवरफुल थी। इस वजह से हम ज़्यादातर राइट गेंद को भी लेफ़्ट पर खेलने की कोशिश करते थे और हमेशा स्लिप में हमें कोई न कोई पकड़ लेता था।') क्रिकेट के अलावा उनके दूसरे शौक़ थे रिसर्च करना और अध्यापक बनना। रिसर्चर तो नहीं बने लेकिन अध्यापक बनकर अमृतसर के एम. ए. ओ कॉलेज जा पहुंचे। अमृतसर में वे खुद में गुम रहने लगे थे। इस ज़माने में वे प्रेम कर बैठे जो नाकाम हो चुका था। उन्हीं दिनों फ़ैज़ की मुलाक़ात कामरेड महमूदुज़्ज़फ़र, रशीद जहां, दीन मुहम्मद तासीर और हाज़रा बेगम इत्यादि से हुई। इन लोगों की एक अलग ही दुनिया थी। रशीद जहां ने उनको *कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो* पढ़ने को दिया। फ़ैज़ बहुत प्रभावित हुए। शोषित सर्वहारा वर्ग के लिए उनकी हमदर्दी उस गहरी अनुभूति से जन्मी थी जो उनके पिता के बचपन के हालात जानकर उनके दिल में कहीं न कहीं छिपी बैठी थी। उन्होंने अपने कामरेडों के साथ मिलकर मज़दूरों में काम लिया, सिविल लिबर्टीज़ की संस्था में काम किया और अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन में बी.बी.सी. टेलीविजन के लिए कृष्ण गोल्ड को दिये अपने आख़िरी इंटरव्यू में फ़ैज़ ने इस बात का एतराफ़ खुल कर स्वीकार किया है कि बेगम रशीद जहां ने हमें सिखाया कि 'निजी ग़म बहुत मामूली चीज़ है। दुनिया के जो दुख हैं वे ज़्यादा संगीन क़िस्म के हैं, दुनिया भर के दुख देखो, अपने लिए, अपनी कौम और अपने मुल्क के लिए सोचो। अगर अपने लिए सोचते रहोगे तो ये खुदग़रज़ी होगी।' इस नयी सोच के साथ उन्होंने अमली ज़िंदगी में भी हिस्सा लिया और उसे अपनी शायरी का भी आधार बनाया।

उन्हीं दिनों रेडियो नया-नया शुरू हुआ था। फ़ैज़ और उनके दोस्त प्रोग्राम देने तो जाते ही थे, स्टेशन डायरेक्टर रशीद अहमद के लिए प्रोग्राम तरबीत भी देते थे। जब रशीद साहब दिल्ली ट्रांसफर हो गये तो ये लोग भी दिल्ली आने जाने लगे। वहीं फ़ैज़ की मुलक़ात मजाज़, अली सरदार जाफ़री, जां निसार अख़्तर, जज़्बी और मख़्दूम वग़ैरह से हुई।

गार्मियों की छुट्टियों में फ़ैज़ अक्सर अपनी बड़ी बहन के पास धर्मशाला चले जाते थे। वहां उनके बच्चों के साथ वक़्त बिताते ओर घूमते। उन्होंने बीवी गुल के बेटे और बेटी सआदत को मेज़ पर मुक्का मार कर कहना सिखाया, 'टोडी बच्चा हाय-हाय! विलायती माल बायकाट!' यानी घर के बच्चों की तर्बियत भी वे उसी रास्ते पर करने लगे थे जो उन्होंने अपने लिए चुन लिया था। लिखते हैं कि 'धर्मशाला में कुदरती मंज़र देखने का बहुत मौक़ा मिला, वे दिल पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं लेकिन हमें इनसानों से जितना लगाव रहता है उतना कुदरत के मनाज़िर और उसकी सुंदरता को पढ़ने से कभी नहीं रहा।' फिर उन्होंने यह भी महसूस किया कि शहर के गली मुहल्लों में भी एक हुस्न है जो दरिया और सहरा, पर्वतों और फूलों से कम नहीं है, लेकिन उसको देखने के लिए दूसरी तरह की नज़र चाहिए।' फ़ैज़ की शायरी में गलियों और शहरों का ज़िक्र बड़े पैमाने पर हुआ है। जेल के ज़माने में ख़ास तौर से उन्होंने अपने वतन के गली-मुहल्लों को बड़ी शिद्दत से याद किया है। 'ऐ रोशनियों के शहर, निसार मैं तेरी गलियों पे...' 'शाहराह', 'एक रहगुज़र पे' वग़ैरह नज़्में इसकी मिसाल हैं। विशेषत : 'निसार मैं तेरी गलियों पे...' इन पंक्तियों में जिस तरह अपनी गलियों को याद किया है, उसकी नज़ाकत किसी महबूब को याद करने जैसी गहरी अनुभूति के साथ बयान की है :

बुझा जो रोज़ने-ज़िंदां[1] तो दिल ये समझा है
कि तेरी मांग सितारों से भर गयी होगी
चमक उठे हैं सलासिल[2] तो हमने जाना है
कि अब सहर[3] तेरे रुख़[4] पर बिखर गयी होगी
ग़रज़ तसव्वुरे-शामो-सह्र में जीते हैं
गिरफ़्ते-साया-ए-दीवारो-दर में जीते हैं।

रोज़मर्रा की ज़िंदगी, इश्क़ो-मुहब्बत और सियासी समझ ये सब फ़ैज़ के लिए अलग-अलग ख़ानों में बंटे हुए नहीं थे। इसीलिए तो रूमानी शायरी में भी गहरा समाजी और सियासी शऊर मिलता है और अमली ज़िंदगी में एक बेचैनी जो हालात को बदल देने के लिए की गयी उनकी कोशिशों में नज़र आती है। कॉलेज में पढ़ाने का काम वे छः सात बरस से ज़्यादा न कर सके। 1940 में अमृतसर से लाहौर के कॉलेज चले गये और 1942 में यह नौकरी छोड़ कर फ़ौज़ में भर्ती हो गये। फ़ौज में जाने का सीधा कारण यह था कि वे यह महसूस कर रहे थे कि पहली ज़रूरत फ़ासीवाद को ख़त्म करने की है, और कोई इंक़लाबी और तरक़्क़ीपसंद ताक़त इस बात को नज़र अंदाज़ नहीं कर सकती। फ़ौज की नौकरी से फ़ैज़ ने 1947 में इस्तीफ़ा दिया और लाहौर चले गये। और पत्रकारिता और सियासी काम साथ-साथ करते रहे। ट्रेड यूनियनों और मज़दूर संगठनों को बनाने में उन्होंने बड़ी सरगर्मी से हिस्सा लिया। डाक-तार विभाग और रेलवे कर्मचारी यूनियनों के सदर रहे और विभिन्न स्तरों पर मज़दूरों की नुमाइंदगी करते रहे। उसी दौरान मियां इफ़्तख़ारुज़्ज़मां के अख़बार *पाकिस्तान टाइम्स* और *इमरोज़* के एडिटर बने। लेकिन जब अय्यूब ख़ां ने मार्शल लॉ लगाकर हुकूमत पर क़ब्ज़ा कर लिया तो इन अख़बारों को भी सरकार ने अपने क़ब्ज़े में ले लिया। कुछ अर्से बाद ही रावलपिंडी साज़िश केस में फ़ैज़ सज्जाद ज़हीर और दूसरे बहुत से लोगों को जेल भेज दिया गया। फ़ैज़ ने चार साल एक महीना, ग्यारह दिन जेल में गुज़ारे जिन में से तीन महीने उन्हें क़ैदे-तन्हाई भी झेलनी पड़ी। वे सरगोधा, मंटगोमरी, लायलपुर, और लाहौर इत्यादि की जेलों में रहे। ऐसा वक़्त भी गुज़रा जब उन्हें बीवी-बच्चों से मिलने तक की इजाज़त नहीं थी। कागज़ क़लम भी अपने पास नहीं रख सकते थे। यह बड़ी कठिनाई का ज़माना था। उनके दो संकलनों, *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* की ज़्यादातर शायरी इसी दौर की यादगार है।

जेल की यादगार सिर्फ़ फ़ैज़ की नज़्में और ग़ज़ले ही नहीं हैं, जेल के उनके अक्सर साथियों ने फ़ैज़ के बारे में अपनी याददाश्तें लिखी हैं। उनमें मेजर इसहाक़ का मज़मून *ज़िंदांनामा* में छपा। कैप्टन ज़फ़र-उल्लाह पोशनी ने जेल के शबो-रोज़ की बड़ी दिलचस्प रूदाद लिखी है जिसमें बिल्लियां पालने से लेकर कविता के हास्य सम्मेलनों तक का बड़ा सजीव बयान है। ये लोग रेडियो पर हिंदुस्तान का क्लासिकी संगीत सुनते, क़व्वालियां गाते और तरही मुशायरे करते थे। पंद्रह-सोलह क़ैदियों के इस ग्रुप में सब के लिए शायरी करना ज़रूरी था और सब को नये-नये तख़ल्लुस भी दिये गये थे। किसी को

1. जेलख़ाने की खिड़की
2. बेड़ियां, ज़ंजीरें
3. सुबह
4. चेहरा

'सारस', कोई 'गड़बड़' कोई 'जाहिल' और 'ख़बीस'। फ़ैज़ का तख़ल्लुस 'काहिल' रख गया, कैप्टिन ख़िज़्र हयात का 'पेटू' और मेजर इसहाक़ 'डेगा' (यानी टेढ़ा) कहलाए। इन्हीं महफ़िलों में फ़ैज़ ने अपनी मशहूर ग़ज़ल कही :

रंग पैराहन का ख़ुश्बू, ज़ुल्फ़ लहराने का नाम
मौसमे-गुल है तुम्हारे बाम पर अपने का नाम

यह ग़ज़ल 19 अगस्त 1952 को पढ़ी गयी। यह मुशायरा हैदराबाद सेंट्रल जेल के 'बी' क्लास वार्ड में जनरल नज़ीर अहमद 'सारस' की सदारत में हुआ था। फ़ैज़ ने अपना मशहूर तराना भी यहीं लिखा जिसके बारे में कैप्टिन पोशनी लिखते हैं कि 'यह तराना हमें इस क़दर पसंद था कि हम इसे महफ़िल में कम से कम एक बार ज़रूर गाते, और कई बार तो आधा पौन घंटे तक लगातार गाते। मुझे यक़ीन है कि यह तराना किसी रोज़ एक विशाल जन आंदोलन का नारा बनकर हमारे वतन (पाकिस्तान) के चप्पे-चप्पे पर फैल जायेगा।' (*शबिस्तां*, पृष्ठ 140)

यह बात सच साबित हुई और तराने की ये पंक्तियां आज हिंदुस्तान में भी कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों के छात्रों का प्रिय नारा हैं :

कटते भी चलो बढ़ते भी चलो
बाज़ू भी बहुत हैं, सर भी बहुत

यह पूरा तराना ही जिन तेवरों के साथ लिखा गया है वे फ़ैज़ के उस धीमे और रूमानी मिज़ाज से मेल कम खाते हैं जिसको कई रेडिकल कामरेड अदीबों ने ज़रा आलोचनात्मक विवेचन की नज़र से देखा है। पूरा तराना इस तरह है :

दरबारे-वतन में जब इकदिन सब जाने वाले जायेंगे
कुछ अपनी सज़ा को पहुंचेगे, कुछ अपनी जज़ा[5] ले जायेंगे
ऐ ख़ाक नशीनो उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ पहुंचा है
जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे।
अब टूट गिरेंगी ज़ंजीरें, अब ज़िंदानों[6] की ख़ैर नहीं
जो दरिया झूम के उट्ठे हैं, तिनकों से न टाले जायेंगे
कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो, बाज़ू भी बहुत हैं, सर भी बहुत
चलते भी चलो कि अब डेरे मंज़िल ही पे डाले जायेंगे।
ऐ-ज़ुल्म के मातो उठ बैठो, चुप रहने वालो चुप कब तक
कुछ हश्र[7] तो इनसे उट्ठेगा, कुछ दूर तो नाले[8] जायेंगे।

लेकिन इस ऊंचे स्वर के बावजूद फ़ैज़ अपनी पहचान क़ायम रखते हैं, उनकी काव्यशैली मजाज़, साहिर और मख़्दूम से भिन्न ही रहती है। इसकी वजह है कि फ़ैज़ शायरी में न केवल ग़ालिब और इक़बाल

5. पुरस्कार
6. बंदीगृहों
7. क़यामत
8. क्रंदन, विलाप

से प्रभावित हैं बल्कि उन्होंने मीर का दर्द और धीमे-धीमे जलने के एहसास को आत्मसात किया लेकिन उनकी मायूसी नहीं ली। इसके मुक़ाबले में ग़लिब का आत्मविश्वास और रिजाईयत (आशा) और इक़बाल का कमिटमेंट और दृढ़ता उनकी सोच में शामिल हुई। सिर्फ़ मिज़ाज ही नहीं, भाषा और प्रतीकों, उपमाओं और बिंबों के प्रयोग में भी उन्होंने क्लासिकी अदब की परंपरा से गहरा असर लिया है। फ़ैज़ के यहां 'मौसम' सियासी माहौल के मायनों में बहुत इस्तेमाल हुआ है। मसलन एक नज़्म की ये कुछ पंक्तियां, देखें :

बज़ार फ़ज़ा, दरपथ आज़ार[9] सबा है
यूं है कि हर इक हमदमे-दैरीना ख़फ़ा है
हां बादाकशो[10] आया है अब रंग पे मौसम
अब सैर के क़ाबिल रविशे[11] आबो-हवा है
उमड़ी है हर इक सिम्त से इल्ज़ाम की बरसात
छायी हुई हर दांग[12] मलामत की घटा है

तो मौसम को सियासी अर्थ देने की यह परंपरा उन्हें मीर से जोड़ती है :

मौसम आया तो नख़्ले-दार[13] पे मीर
सरे-मंसूर[14] ही का बार[15] आया

या जब फ़ैज़ कहते हैं :

मताए-लौहो-क़लम[16] छिन गयी तो क्या ग़म है
कि खूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे महर लगी है तो क्या कि रख दी है
हरेक हल्क़ा-ए-ज़ंजीर में ज़बां मैंने

तो खून की सुर्खी से रौशनाई और उंगलियों से कलम का काम ग़ालिब ने भी लिया है :

हाले-दिल लिखूं कब तक जाऊं उनको दिखलाऊं
उंगलियां फ़िगार[17] अपनी, ख़ामा[18] खूं चकां[19] अपना।

---

9. कष्ट देने में लगी हुई।
10. शराब पीने वालो।
11. रास्ता।
12. दिशा।
13. सूली का पेड़।
14. मंसूर जिसको फांसी पर लटकाया गया।
15. फल।
16. क़लम और तख़्ती।
17. कटी-फटी, ज़ख़्मी।
18. क़लम।
19. खून बरसाता हुआ।

या फिर ग़ालिब ही का यह शेर :

लिखते रहे जूनूं की हिकायाते-खूं चकां
हर चंद इसमें हाथ हमारे क़लम हुए

पढ़कर अंदाज़ा होता है कि फ़ैज़ ने कोई नया ख़याल पेश नहीं किया है लेकिन फ़ैज़ ने इस ख़याल को अपनी विशेष शैली में जिस तरह नज़्म का रूप दिया है उसमें उनकी अमली ज़िंदगी का तर्जुबा और दुनिया को बदल देने का वह संकल्प भी शामिल है जो उन्हें मार्क्सिज़्म के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने दिया है और तमामतर यूनिवरसिलिज़्म और इनसान दोस्ती के बावजूद जिसकी उम्मीद हम ग़ालिब से नहीं कर सकते क्योंकि ग़ालिब एक अलग ही समय और वातावरण में जन्मे थे। अपने दिल और अपने जुनून की कहानी लिखने में हाथों को क़लम बनाना या 'हाथ-क़लम रखना' (काटना) एक बात है और बड़ी बात है लेकिन यह बग़ावत कि अगर ज़बां पर ताले डाल दिये जायें तो अपनी बेड़ियों की हर कड़ी में एक ज़बान रख देना उस नाभिकीय रिएक्शन की ओर इशारा करता है जो परमाणु में निहित है और जो ऐसी प्रक्रिया है जिसे रोका नहीं जा सकता। एतराज़ किया जा सकता है कि ग़ालिब ने भी तो अपनी बेड़ियों को जले हुए बाल की तरह कमज़ोर बताया है :

बस कि हूं ग़ालिब असीरी में भी आतिश ज़ेरे-पा
मू-ए-आतिश-दीदा है हल्क़ा मेरी ज़ंजीर का

तो इन पंक्तियों से भी यह बात स्पष्ट है कि ग़ालिब अपने मिज़ाज की और जुनून की उस ताक़त की ओर इशारा कर रहे हैं जो बेड़ियों को जले बाल की तरह कमज़ोर समझता है। यह बेचैनी और दृढ़ता आज़ादी तो दिला सकती है लेकिन उसे इंक़बाल में परिवर्तित नहीं करतीं। यहीं से ग़ालिब और फ़ैज़ के मिज़ाज और माहौल का अंतर सामने आता है।

फ़ैज़ ग़ालिब की महान परंपरा से भाषा और विचार दोनों स्तरों पर फ़ायदा तो उठाते हैं, लेकिन उसको अपनी विचारधारा का हिस्सा बनाकर। उसी तरह जैसे ग़ालिब ने फ़ारसी परंपरा के अज़ीम शायरों से फ़ायदा उठाया लेकिन उसको नया मोड़ देकर अपने एक लेख, 'फ़न का तक़ाज़ा' में फ़ैज़ ने स्पष्ट शब्दों में अपना रास्ता ग़ालिब से अलग बताया है। वे कहते हैं कि शायर का काम सिर्फ़ मुशाहिदा (observation) ही नहीं, मुजाहिदा (संघर्ष) भी उस पर फ़र्ज़ हैं। गिर्दोपेश के मुज़्तरिब (बेचैन) क़तारों में ज़िंदगी के दजले का (बूंद में समुद्र का) मुशाहिदा उसकी बीनाई (दृष्टि) पर है, उसे दूसरों को दिखाना उसकी फ़न्नी दस्तरस (कला निपुणता) पर, उसके बहाव में दख़ल अंदाज़ होना उसके शौक़ की सलाबत (दृढ़ता) और लहू की हरारत पर और तीनों काम मुसलसल कशिश और जद्दोजहद (प्रयास और संघर्ष) चाहते हैं।' ('दीबाचा', *दस्ते-सबा)*

पानी की बूंद में समुद्र देखने, दिखाने और उस समुद्र में उतर जाने के तीन मरहलों में ग़ालिब पहले दो मरहलों के शायर हैं, तीसरे मरहले की बात मार्क्सवादी दृष्टिकोण रखने वाला लेखक ही कर सकता है क्योंकि वह द्वंद्व और द्वंद्वात्मक संबंधों में शायर को देश काल से अलग नहीं देखता बल्कि उसका हिस्सा समझता है। बल्कि उस द्वंद्व का हिस्सा इस तरह बनता है कि धारा के बहाव में बदलाव लाने या मोड़ने का मुसलसल प्रयास करता है। फ़ैज़ आगे कहते हैं कि कलाकारों के इस संघर्ष से कोई मुक्ति नहीं, उसकी कला एक सतत और निरंतर प्रयास है।

यह निरंतर और सतत प्रयास जिसकी तरफ़ फ़ैज़ मार्क्सवादी चेतना के सहारे पहुंचे, हमें इक़बाल की भी याद दिलाता है जो इनसान को निरंतर गति और तलाश में रहने का पैग़ाम देते हैं। फ़र्क़ यह है कि इक़बाल मानव का उत्कर्ष मुसलसल हरकतो-अमल और तलाशो-जुस्तजू में देखते हैं तो इसका कारण द्वंद्व और संघर्ष को नहीं बल्कि प्रकृति में क्षण-क्षण आते बदलाव को स्रोत मान कर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि अगर इनसान ने बदलाव के प्राकृतिक नियम का पालन नहीं किया तो वह पतन का शिकार हो जायेगा। बदलाव ऐसा ध्येय है जो फ़ैज़ और इक़बाल दोनों ज़रूरी मानते हैं लेकिन इस तक पहुंचने के लिए जितने पहलुओं से और तर्क के साथ इक़बाल ने अनथक लिखा है, फ़ैज़ नहीं लिख सके। इसके कारणों की ख़ोज शायद ज़्यादा मुश्किल न हो। दोनों शायरों के मिज़ाज में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ था। इक़बाल अपनी शायरी के प्रारंभिक दौर से ही बड़ा स्पष्ट सियासी और सामाजिक दृष्टिकोण रखते हैं, यह अलग बात है कि धीरे-धीरे उसमें बदलाव आता जाता है। लेकिन उनका दृष्टिकोण हर एतबार से स्पष्ट ही रहता है। फ़ैज़ का मामला यह था कि स्पष्ट सियासी नज़रिये में यक़ीन तो रखते लेकिन उनकी नज़र बहुत दूर तक न जा सकती थी। उनके दिल में तड़प थी शोषितों के प्रति, गुस्सा था शोषक वर्ग के प्रति, उसको भरपूर अभिव्यक्त भी किया है लेकिन अपने इस बोध, दर्द और आक्रोश को कैसे बदलाव में परिवर्तित किया जाये। इसको उन्होंने अपनी शायरी का हिस्सा बहुत ही कम बनाया है। लाहौर साज़िश केस में उनके जेल के साथी मेजर मुहमद इस्हाक़ ने बहुत सटीक शब्दों में फ़ैज़ की इस दुविधा और कमी की ओर इशारा किया है और लिखा है कि फ़ैज़ का केस ज़रा कम व्यापक है। वे कहते हैं कि फ़ैज़ ज़्वालामुखी से निकलने वाले पहले धुएं के बादल ही को सब कुछ समझ लेते हैं, जब वह बादल छंट जाता है तो उदास हो जाते हैं। अगर वे ज्वालामुखी की गर्मी में छिपी गरज के सुनें, या कुछ ही क्षणों में उबलने वाले लावे की कल्पना करें तो फिर दर्द और वेदना की जगह संघर्ष की तड़प पैदा हो जाये। (*ज़िंदांनामा*, पृष्ठ 43)

लेकिन ज़ाहिर है कि शायर फ़ैज़ से एक पूरा जीवन दर्शन देने की उम्मीद करना या किसी मार्क्सवादी से इंक़लाब की राह पर चलने के साथ विवचेन और विश्लेषण के मांग की और फिर शायरी की आशा करना फ़ैज़ के साथ ज़्यादती होगी। फ़ैज़ बुनियादी तौर पर एक ऐसे शायर थे जिनकी भावनाएं लोगों के दुख दर्द के साथ जुड़ी थीं, वे उनके साथ खड़े होते हैं, उनके दर्द में शरीक होते हैं, और अपने नर्म शब्दों और नग़मों का फ़ाहा रखकर वे उसके दर्द को कम तो करते ही हैं, दूसरे लोगों की भावनाओं को जगाकर शोषितों के हक़ में ओर अन्याय के ख़िलाफ़ पाठकों को लामबंद भी करते हैं। फ़ैज़ की शायरी का यह कमाल किसी भी तरह यह कहकर कम नहीं किया जा सकता कि उनके केनवस को और व्यापक होना चाहिए था।

फ़ैज़ की शायरी उनकी अज़मत, उनकी विचारधारा और पैग़ाम पर बहुत लिखा गया है। मेरा मक़सद उस पर व्यापक बात करना नहीं है बल्कि वे जिस माहौल में पले बढ़े, जिससे उनका एक विशेष मिज़ाज बना और उर्दू शायरी की परंपरा में वे किन शायरों से प्रभावित नज़र आते हैं, इसकी ओर इशारा करना मेरा मक़सद था। इस छोटे से लेख में मैंने यथासंभव यही इंगित किया है कि फ़ैज़ को भली भांति समझने के लिए हमें ग़ालिब और इक़बाल से भी कुछ न कुछ वाक़फ़ियत रखनी चाहिए। इसके अलावा यह देखने की भी ज़रूरत है कि फ़ैज़ की शायरी अपने समकालीन शायरों, ख़ास तौर से प्रगतिशील कवियों से किस तरह भिन्न थी या उनके साथ क्या समानताएं रखती है। मैं सिर्फ़ मज़रूह सुल्तानपुरी का ज़िक्र करना

चाहूंगी। इसका कारण यह है कि मज़रूह की ग़ज़ल भी उसी परंपरा को आगे बढ़ाती है जिसको उर्दू-फ़ारसी की सांझी धरोहर कहा जाता है। मज़रूह ने भी गुल, बुलबुल, क़फ़स, मौसम, ज़िंदां, सय्याद के पारिवारिक प्रतीकों और रूपकों को नये सियासी अर्थों में प्रयुक्त किया है, बल्कि क्लासिकी रचाव के साथ सियासी विषयों पर ग़ज़ल कहना उन्होंने फ़ैज़ से भी पहले शुरू किया था। मज़रूह को फ़ैज़ जैसी शोहरत न मिलने का कारण यह है कि एक तो उन्होंने सिर्फ़ ग़ज़लों तक स्वयं को सीमित कर लिया, ग़ज़लें भी बहुत कम कहीं (उनका एक ही संकलन है, *ग़ज़ल*), दूसरे वे सक्रिय राजनीतिक वामपंथी आंदोलन का उस तरह हिस्सा नहीं बने जैसे फ़ैज़।

नतीजा यह हुआ कि आज मज़रूह के बहुत से अशआर और ग़ज़लें फ़ैज़ के नाम से जानी जाती हैं। ख़ास तौर से ऐसे शेर :

मैं अकेला ही चला था जानिबे-मंज़िल मगर
लोग साथ आते गये और कारवां बनता गया

....

देख ज़िंदां से परे रंगे-चमन, जोशे-बहार
रक़्स करना है तो फिर पांव की ज़ंजीर न देख

....

हमारे लब न सही, वो दहाने-ज़ख़्म सही
वहीं पहुंचती है यारो, कहीं से बात चले

....

सुतूने-दार पे रखते चलो सरों के चराग़
जहां तलक ये सितम की सियाह रात चले।

लेकिन जो लोग दोनों शायरों के मिज़ाज से वाक़िफ़ हैं उन्हें दोनों का अलग-अलग रंग पहचानते देर नहीं लगती। फ़ैज़ की ग़ज़ल और मज़रूह की ग़ज़ल का फ़र्क़ मुहम्मद अली सिद्दीक़ी ने बहुत व्यवास्थित ढंग से मज़रूह पर अपने लेख में स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि मज़रूह के यहां अपने कम्युनिस्ट नज़रिये के प्रति ज़्यादा स्पष्ट इज़हार और यक़ीन मिलता है। फ़ैज़ के यहां शायराना रमज़ियत (संकेत, भेद) ज़्यादा है। दोनों की ग़ज़ल का रंग अलग है। बहरहाल, अहम बात यह है कि मज़रूह और फ़ैज़ ये दोनों ही ऐसे प्रगतिशील शायर हैं जिन्होंने तरक़्क़ीपसंदी के दौर में ग़ज़ल की गिरती हुई साख को फिर से बहाल किया।

जो बात फ़ैज़ की शायरी में सब से ज़्यादा अपील करती है वह उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, अर्थात इनसानी दोस्ती और यूनीवर्सलिज़्म है। इन मामलों में कि वे दुनिया भर में जारी जन आंदोलनों के साथ हैं। जहां-जहां साम्राज्यवादी ताक़तें विभिन्न राष्ट्रों को अपनी अत्याचारी नीतियों का निशाना बनाये हुए हैं फ़ैज़ उन सब की हिमायत में आवाज़ उठाते हैं। जन आंदोलनों की हिमायत में खड़े होने वाले लेखकों, कलाकारों के नग़मे गाते हैं और इस तरह उनके साथ अपनी एकजुटता व्यक्त करते हैं। वे ईरानी छात्रों से लेकर फ़िलस्तीनी अवाम, अफ़्रीक़ा, बैरूत इत्यादि पर दिल छूने वाली नज़्में लिखते हैं। आज़ादी और ख़ास तौर से अभिव्यक्ति की आज़ादी के लिए फ़ैज़ ने जिस अनुभूति के साथ लिखा है उसकी वजह से मुश्ताक युसफी ने उनकी नज़्म 'बोल' ('बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे) को उनकी शायरी का अहदनामा'

और Testament of the Third World कहा है।

लेकिन फ़ैज़ के इस तमाम मानवतावादी दृष्टिकोण के बावजूद जिसमें वे कमज़ोरों, शोषितों और पराधीनों की वेदना में उनके साथ हैं। औरतों की स्थिति पर उनकी ख़ामोशी या उसको समझ न पाना हैरत में डालता है। अपनी मृत्यु से चार दिन पहले, अर्थात 16 नवंबर 1984 को बेगम तासीर को दिये एक इंटरव्यू में उन्होंने कहा कि 'औरतें अपने अधिकारों को मर्दों के अधिकारों से अलग-अलग कोई चीज़ समझती हैं, और उसके लिए अलग से संघर्ष कर रही हैं, हालांकि औरतों और मर्दों की समस्याओं को अलग-अलग नहीं किया जा सकता... औरतों की हालत उस व्यवस्था के अनुसार बेहतर या बदतर होती है, जिसमें वे जीवन बिताती हैं ... पाकिस्तान, के जिन इलाक़ों में औरतों को बेहतर हैसियत मिली है उसकी वजह यह है कि वहां के मर्द भी तरक़्क़ी कर चुके हैं।' (*शबिस्तां*; : पृष्ठ 195)

ये विचार एक आम आदमी के तो महसूस होते हैं लेकिन सामाजिक विषमताओं का बोध रखने वाले व्यक्ति के बिल्कुल नहीं। क्योंकि यह बात किसी को भी आसानी से समझ में आयेगी कि हर वर्ग में चाहे वह उच्च, संभ्रांत या फिर भिन्न पिछड़े तबके की ही औरतें क्यों न हों, उन्हें दोयम दर्जा मिला है। सामाजिक अधिकारों से लेकर वोट के अधिकार तक, राजनीति में शरीक होने के अधिकार तक फ़ैज़ के दौर में बड़ी बहसें हो चुकी थीं, नारी आंदोलनों के फ़ैशन में आने से बहुत पहले लेनिन ने क्लारा ज़ेटकिन को दिये अपने इंटरव्यू में इन विषमताओं की ओर ध्यान दिलाया था और समाजी इंक़लाबी की राह में महिलाओं के रोल पर बात की थी। ऐसे में फ़ैज़ का सर सयैद अहमद खान और इक़बाल की तरह यह सोच रखना कि मर्दो की तरक़्क़ी होगी तो औरतों की स्वतः ही तरक़्क़ी है जायेगी, औरतों के प्रति एक संकीर्ण दृष्टिकोण को दिखाता है। ऐसा नहीं है कि फ़ैज़ औरतों को बराबरी का दर्जा देना नहीं चाहते थे, लेकिन यह विषमता क्या है, कैसे जन्मी, और इसे कैसे दूर किया जा सकता है इस पर उनकी कोई स्पष्ट सोच नहीं थी। कहा जा सकता है कि वे उन्हीं पितृसत्तात्मक और ज़मींदारी व्यवस्था की रूढ़ियों से ग्रसित रहे जिनमें वे पले बढ़े। उन्होंने कभी औरत को ऐसे वर्ग के तौर पर देखने की भी कोशिश नहीं कि जिसके अधिकार एक-एक करके छिनते चले गये और वह मूक तमाशाई बनी रही। फ़ैज़ की शायरी में भी औरत महबूब के रूप में ही आती है लेकिन कहीं भी एक क्रांतिकारी, एक सहयोगी के रूप में नज़र नहीं आती। वे बस उसके रूप, उसकी वफ़ा, उसके इश्क़ और हिज्र की वेदना का बयान भर करके रह जाते हैं और उसके व्यक्तित्व को इसी हद तक देखते हैं। समाज निर्माण और बदलाव लाने वाले एक कर्त्ता के रूप में उसके रोल के प्रति फ़ैज़ उदासीन हैं। लेकिन इतना ज़रूर मानते हैं कि 'औरतों को ज़हनी और समाजी तौर पर मर्दों के बराबर लाने के लिए ज़रूरी है कि सियासी और समाजी व्यवस्था में इंक़लाबी तब्दीली लायी जाये।'

जिस विषय पर फ़ैज़ ने नहीं लिखा उसकी आशा करना उनके साथ ज़्यादती है क्योंकि उनके विचारों और कला पर बात उसी हद तक होनी चाहिए जो उन्होंने लिखा, लेकिन फ़ैज़ की रौशनख़याली और पसमांदों के प्रति उनकी सहानुभूति, मानव मूल्यों और अधिकारों के लिए उनके मुखर स्वर के कारण ऐसी आशा करना अनुचित भी नहीं कि उन्होंने समाज के अन्य पिछड़े वर्गों (जाति और लिंग के आधार पर) पर भी लिखा होता तो अच्छा होता।

मो. : 09810598859

हर क़दम हमने आशिक़ी की है

वैभव सिंह

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के बारे में जोश मलीहाबादी ने कभी 1965 में लिखा था :

> मेरा साहिल अब सामने आ चुका है। मेरी कश्ती में अब बादबान लपेटे जा रहे हैं, लेकिन डूब जाने से पेश्तर यह कह देना चाहता हूं कि मैं इत्मीनान से मरूंगा और महज़ इस बिना पर कि उर्दू अदब के एक मल्लाह को पीछे छोड़े जा रहा हूं और उस मल्लाह का नाम है फ़ैज़।'

जोश ने अपना भरोसा फ़ैज़ पर जताया था, पर फ़ैज़ पर और उनकी शायरी पर भरोसा केवल शायरों ने नहीं किया बल्कि जनता ने सबसे ज़्यादा किया है। उन लोगों ने जिन्होंने अक्सर तानाशाहों, चरम उत्पीड़न और पूंजीवाद से लड़ते हुए सच्ची मानवता की स्थापना के ख़्वाब को अपने दिल में मरने नहीं दिया है। आज 2011 में फ़ैज़ की नज़्मों और शायरी का पाठ किसी तरह का होगा, इसीलिए इसे लेकर अकादमिक उलझनें सबसे कम हैं, हालांकि बहुत सारे ऐसे धुरंधर विद्वान ज़रूर हैं जो कविता के क्रांतिकारी तेवरों से कविता को मुक्त करने के नाम पर उसे फिर पुराने रहस्यवाद, अध्यात्म और आत्मकेंद्रित प्रेम की दुनिया की क़ैद में डाल देते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि ऐसा करते हुए वे किसी नयी और महान मौलिक सोच के स्थापक के रूप में भी ख़ुद को पेश करने का दावा करते हैं। पर फ़ैज़ की शायरी आशिक़ी, उदासी और मुहब्बत की धारणाओं को नयी परिस्थितियों में रूपांतरित करते हुए ही विकसित हुई थी और इसमें प्रगतिशील आंदोलन का बड़ा प्रभाव था। इस आंदोलन ने मुहब्बत, तन्हाई और आशिक़ी के वर्णन के शायर के अधिकार को छीना नहीं था, पर मुहब्बत को केवल माशूक़ा तक सीमित न रखकर दुनिया की मानवता के साथ जोड़ने का काम किया था। दुनिया की सबसे तुच्छ और कमज़ोर चीज़ों के प्रति भावुकता को नयी ऊंचाई प्रदान की थी। पुराने बदनाम विषयों को भी असाधारण रूप से भावपूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया था और इस प्रकार कविता के सौंदर्यशास्त्र को बदलकर रख दिया था। सौंदर्य को भी देखने की नयी निगाह तैयार करने की बात उठायी थी। ख़ुद फ़िराक़ ने फ़ैज़ की इस ख़ूबी को सराहा था और रक़ीब जैसे विषय पर लिखी उनकी नज़्म के बारे में लिखा था :

> 'रक़ीब का विषय उर्दू शायरी का बहुत बदनाम विषय है और रक़ीब अक्सर ही खलनायक के रूप में शायरों की गालियां पाता रहा है। लेकिन फ़ैज़ ने उसे असाधारण रूप से भावबहुल और पाकीज़ा बना दिया। इश्क़ और इंसानियत के कोमल और गंभीर संबंधों को समझना हो तो यह रचना देखिये।'

'रक़ीब से' नामक नज़्म 1941 के उनके पहले संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* में प्रकाशित हुई थी। इसमें रक़ीब

यानी प्रेम के प्रतिद्वंद्वी से भी वह लड़ाई या नफ़रत नहीं करते हैं, बल्कि उससे कहते हैं :

तुझमें खेली हैं वो महबूब हवाएं जिनमें
उसके मलबूस[1] की अफ़्सुर्दा[2] महक बाक़ी है
तुझ पे भी बरसा है उस बाम[3] से महताब[4] का नूर
जिसमें बीती हुई रातों की कसक बाक़ी है।

यह प्रेम की दुनिया की लोकतांत्रिकता है जिसमें औरत सिर्फ़ निजी ज़ायदाद नहीं बनी है कि जिस पर कोई नज़र डाल दे तो ख़ूनख़राबा हो जाये। बल्कि इश्क़, औरत और रक़ीब, सब इस दुनिया में बराबरी की जगह रखते हैं, न किसी के साथ बदसलूक़ी है और न किसी के साथ कोई प्रतिद्वंद्विता। यह प्रगतिशील आंदोलन की विशेषता थी जिसने औरत और मर्द को केवल जिस्मानी रिश्तों से ऊपर उठाकर ज़िंदगी की बड़ी लड़ाइयों के साथ जुड़ने के लिए प्रेरित किया था और इसका लाभ यह हुआ था कि औरत की अपने पति या प्रेमी के अलावा अन्य मर्दों से मिलने-जुलने को चाल-चलन की अच्छाई या बुराई से जोड़कर देखने की पुरानी तंग सोच बेमानी हो गयी थी। औरत की देह पर राष्ट्र और परंपरा की भव्यता खड़ी करने को जिस तरह पौरुषपूर्ण प्रोजेक्ट के रूप में देखा जाता था, उसका दक़ियानूसपन ज़ाहिर हो गया था। इसी से 'रक़ीब से' जैसी नज़्में भी संभव हुई थीं जिसमें रक़ीब अब मुहब्बत का दुश्मन नहीं बल्कि एक दोस्त की तरह पेश आता है। इसी नज़्म में इश्क़ से सीखी बातों को भी शायर ने बताया है और जो बातें सीखी हैं उनमें एक है ग़रीबों की हिमायत करना। इसलिए इश्क़ में डूबा प्रेमी जैसे संसार को और तीखी, साफ़ निगाहों से देखने लगता है। न सिर्फ़ देखने लगता है बल्कि उसकी कुरूपता पर क्रोधित होने लगता है। इसी नज़्म का अंत इस प्रकार होता है :

जब कभी बिकता है बाज़ार में मज़दूर का गोश्त
शाहराहों पे ग़रीबों का लहू बहता है
या कोई तोंद का बढ़ता हुआ सैलाब लिये
फ़ाक़ामस्तों को डुबोने के लिए कहता है
आग सी सीने में रह रह के उबलती है नः पूछ
अपने दिल पर मुझे क़ाबू ही नहीं रहता है

प्रेम को संकीर्णताओं, स्वार्थ से मुक्त करना और जीवन की व्यापक लड़ाइयों के बीच उसे संभव बनाना ही फ़ैज़ की शायरी का मक़सद था। इसलिए जब वह इश्क़ की बात करते हैं तो दुनिया को नहीं भुला देते और जब दुनिया के कठिन संघर्षों और आंदोलनों की भाषा का प्रयोग करते हैं तो उसमें भी इश्क़ की बात बड़े स्वाभाविक ढंग से चली आती है। फ़ैज़ की यह ख़ूबी भी है कि वे अपनी शायरी के माध्यम से इस बात को उठाते हैं कि इस दुनिया में इश्क़ के तभी मायने हैं जब अन्यायकारी व्यवस्था को पलट दिया जाये। उनकी निगाह में अन्यायकारी व्यवस्था हमेशा से प्रेमविरोधी रही है और प्रेम के लिए संघर्ष

1. कपड़ों
2. उदास
3. अटारी
4. चांद

इस विद्रूप व्यवस्था से लड़ाई से अलग नहीं हो सकता है। इसीलिए उनके यहां मनुष्य की भावभूमि को व्यापक बनाने की चिंताएं हैं और इसके लिए वह साहसिक सोच का रास्ता चुनते हैं। *नक़्शे-फ़रियादी* की ही एक और नज़्म 'चंद रोज़ और मेरी जान' में हुस्न, जवानी और सितम जैसे शब्द, जो उर्दू शायरी में बहुतायात में प्रयोग किये जाते रहे हैं, को पूरी तरह अलग संदर्भों में प्रयोग किया है। इसमें हुस्न को किस तरह दर्द घेरे है, जवानियां शिकस्त की शिकार हैं और जज़्बातों पर ज़ंजीरें चढ़ी हैं, इसका वर्णन है। यानी इश्क़िया शायरी की जो शब्दावली थी, वह मौजूद होते हुए भी इश्क़ और हुस्न के परंपरागत रूपों से बाहर निकल गयी है। पुरानी शायरी में प्रेमी का दर्द बड़ा निजी मामला सा लगता था और अक्सर ही माशूक़ा का सताया हुआ होता था। वह अपने दर्द को बड़ी अनोखी चीज़ समझता था और उसके इज़हार में भी अनोखापन देखता था। इश्क़ को वह कठिन कार्य अवश्य मानता था पर इस कठिनता से पार पाने के लिए संसार को बदलने के स्थान पर अपनी भावनाओं की शक्ति पर निर्भर रहना अधिक पसंद करता था। पर अब यह दर्द निजी नहीं रह गया है और न ही सारे दर्दों की दवा माशूक़ा के पास है। उसे समझ में आ गया है कि माशूक़ा दिल खोलकर सारी मोहब्बत लुटा देगी तो भी प्रेम का संकट समाप्त न होगा। प्रेमियों का संसार केवल उनकी इच्छाओं से बनता बिगड़ता नहीं है बल्कि बाहर के असर से वह संचालित होता है। इसीलिए फ़ैज़ जैसा शायर इश्क़ की शायरी लिखते समय भी कभी उदासी तो कभी गुस्से से भरा नज़र आता है। उसकी भाषा ललकारने वाली भाषा है, तेवरों में तलख़ी है और हुस्न के प्रति दृष्टिकोण भी बदला हुआ है। वह लिखता है :

ये तेरे हुस्न से लिपटी हुई आलाम[5] की गर्द
अपनी दो-रोज़ा जवानी की शिकस्तों का शुमार
चांदनी रात का बेकार दहकता हुआ दर्द
दिन की बेसूद[6] तड़प जिस्म की मायूस पुकार
चंद रोज़ और मेरी जान, फ़क़त चंद ही रोज़

ललकार और संघर्ष की यह भाषा ही फ़ैज़ की शायरी की जान कही जा सकती है। अपने जीवन के कटु से कटु अनुभवों के दौरान उन्हें उदासी का सामना तो करना पड़ा पर उनका मूल स्वभाव ज़्यादा नहीं परिवर्तित हुआ। अनुभव, संघर्ष और शायरी का सबसे बेहतर समन्वय फ़ैज़ के यहां मिलता है और उनकी रचनाएं शायरी के फ़ॉर्मेट के भीतर अपने समय की आलोचना का सबसे अचूक दस्तावेज़ जैसी हैं। लाहौर में जब वे पहली बार फ़ौज़ी बग़ावत के आरोप में गिरफ़्तार हुए और उन्हें अकेले जेल में रखा गया जहां क़लम, दवात, पेपर या अख़बार जैसा कुछ नहीं मिलता था, तब जैसे उनकी आत्मा से विद्रोह की तरह ये पंक्तियां निकल पड़ीं :

मता-ए-लौह-ओ-क़लम छिन गयी तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या; कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में जबां मैंने

5. दुःखों
6. व्यर्थ

फ़ैज़ की शायरी की ख़ूबसूरती का एक कारण जीवन के प्रति बड़ा दृष्टिकोण है। पूरी दुनिया में जारी जनसंघर्षों से वह लगाव को व्यक्त करते हैं और इन संघर्षों के परिणामस्वरूप जो लोग जेल यातनाएं, दमन और दुख को सहते हैं, उनके प्रति अपने मन के सम्मान भाव को व्यक्त करते हैं। स्वदेश दीपक की कृति 'मैंने मांडू नहीं देखा' में भी फ़ैज़ का ज़िक्र आता है जहां फ़ैज़ अंबाला के किसी मुशायरे में आये हुए हैं। स्वदेश दीपक उनसे कहते हैं, 'ख़ुशवंत सिंह और कुछ औरों का कहना है कि आपको नोबल प्राइज़ मिलना चाहिए।' इस पर फ़ैज़ का जवाब होता है 'वतन की ख़ातिर जेल की सजा काटना किसी भी ईनाम से बड़ा होता है।' पाकिस्तान में हुई दो बार की जेल, पहले 1953 और फिर 1959 में इस बात को प्रमाणित करते हैं कि फ़ैज़ उन चंद साहित्यकारों में थे जिन्होंने कविता और जीवन को कभी अलग-अलग नहीं माना तथा एक ही मूल्य का दोनों जगह निर्वाह किया। एडवर्ड सईद ने ठीक ही लिखा है कि 'फ़ैज़ की शायरी में कीट्स जैसी गहन ऐंद्रिकता (सेंसुअसनेस) और पाब्लो नेरुदा की कविताओं जैसी विषयगत व्यापकता मौजूद है।'

फ़ैज़ ने शब्द को केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं माना बल्कि उन्होंने उसे जीवन की तरह देखा। यानी शब्द ज़िंदा इनसान के लिए ही नहीं बने हैं बल्कि ख़ुद उनमें ज़िंदगी बसती है। इसीलिए वे एक-एक शब्द से प्यार करते हैं, उसे शायरी में सम्मान देते हैं और उसकी गहराइयों को पहचानते हैं। उनकी एक बहुचर्चित नज़्म की लाइन है : 'और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा'। इस लाइन में दुख की जगह अक्सर ग़म का इस्तेमाल भी होता है। कौन सा शब्द सही है, इस पर भी स्वदेश दीपक की उपर्युक्त कृति में उनसे सवाल किया गया था। उनका बड़ा संजीदा जवाब यह था : 'यह नज़्म शायद 1936 में मैंने लिखी थी। सही याद नहीं। लेकिन दुःख ही लिखा होगा। ग़म में इतनी गहराई और कसक कहां है।'

एक-एक शब्द की कसक और गहराई पहचानने वाला रचनाकार ही शायद बड़ा कवि या शायर हो सकता है। जिसमें यह क्षमता नहीं है, उसे यक़ीनन कुछ और काम ढूंढ़ लेना चाहिए। पर यह क्षमता आती कहां से है, यह भी समझना महत्वपूर्ण है। जो इनसानी दिमाग़ ज़िंदगी के व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही ज़िंदगी की सबसे सूक्ष्म और मामूली प्रतीत होने वाली चीज़ों को पैनी निगाहों से पकड़ पाता है और उनसे संवेदनात्मक लगाव का अनुभव करता है, वही दिमाग़ भाषा के हर शब्द, छोटे से छोटे या बड़े से बड़े शब्द से उतनी ही गहराई से जुड़ता है। यानी ज़िंदगी की सूक्ष्म व छोटी चीज़ों से उसकी बड़ी संवेदना जुड़ती है और यही प्रक्रिया भाषा के शब्दों पर लागू होती है। जो लोग ज़िंदगी के केवल तटस्थ भोक्ता और दर्शक हैं, उनके रचनाकर्म में वह गहराई नहीं होती जो ज़िंदगी और समाज के संघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी करने वालों की रचनाओं में होती है। इसीलिए फ़ैज़ ने ग़ालिब के हवाले से माना था कि 'क़तरों में दजला' देखना ही किसी रचनाकार की दृष्टि की शक्ति और क्षमता पर आधारित होता है। दजला इराक़ की नदी का नाम है और क़तरों में दजला यानी छोटी-छोटी बूंदों में भी बड़े जीवन-सागर को देख पाना। पर वह केवल देखने तक ही रचनाकार की विशेषता नहीं मानते बल्कि कहते हैं 'यों कहिए कि शायर का काम महज़ पर्यवेक्षण ही नहीं, पराक्रम करना भी उसका कर्तव्य है' और मानते हैं कि ज़िंदगी के 'बहाव में दख़लंदाज़ होना धारा को प्रभावित करना उसके शौक़ की दृढ़ता और ख़ून की गर्मी पर आधारित होता है।'

फ़ैज़ का बचपन सियालकोट, लाहौर, लायलपुर, श्रीनगर और धर्मशाला में बीता और प्रकृति के

निकट रहने के बावजूद भरे-पूरे परिवार में ही वह अधिक समय बिताते थे। अपने संस्मरणों में उन्होंने लिखा भी है :

> 'हमें इनसानों से जितना लगाव रहा, उतना कुदरत के मनाज़र (सीन-सीनरी) और नेचर के हुस्न देखने का नहीं रहा। फिर भी उन दिनों मैंने महसूस किया कि शहर के जो गली-मोहल्ले हैं, उनमें भी अपना एक हुस्न है जो दरिया व सहरा, कोहसार या सर्व-ओ-समन से कम नहीं। अलबत्ता इसको देखने के लिए बिल्कुल एक दूसरी नज़र चाहिए।' (*फ़ैज़* संपादन शमशेर बहादुर सिंह व मुग़ीसुद्दीन फ़रीदी, पृष्ठ-139)

फ़ैज़ की शायरी में इसी कारण प्रकृति के इतने विविध रंग नहीं हैं, बल्कि अलग तरह की रूमानियत है जो मनुष्य से संबंध या सामाजिक असंतोष की अभिव्यक्ति के रूप में मिलती है। उनकी राजनीतिक नज़्में बहुत ही उच्च कोटि की हैं, पर फ़ैज़ की शायरी को केवल राजनीतिक स्तर की शायरी के रूप में देखना फ़ैज़ के मूल्यांकन को सीमित करने जैसा होगा। उनकी शायरी का बड़ा हिस्सा उदासी, एकांत और दर्द से भरा हुआ है। यहां ऐसे रचनाकार का अंतःलोक भी दिखता है जो कविता पर आस्था रखकर ही ख़ुद की ज़िंदगी की जीने लायक़ बनाता है। वह लिखता है :

सहल यूं राह-ए-ज़िंदगी की है
हर क़दम हमने आशिक़ी की है
हमने दिल में सज़ा लिये गुलशन
जब बहारों ने बेरुख़ी की है।

फ़ैज़ ने अपने बचपन व किशोरावस्था के अनुभवों को व्यक्त करते हुए बताया है कि किस तरह घर की औरतों की सोहबत और क़िस्सा-दास्तान परंपरा की किताबों व उर्दू नॉवेलों ने उनकी ज़िंदगी की प्रभावित किया है। घर में औरतों की सोहबत इसलिए ज़्यादा रही क्योंकि उनके दोनों भाई घर की औरतों से बाग़ी होकर खेलकूद में लगे रहते थे पर फ़ैज़ 'अकेले इन ख़वातीन के हाथ आ गये'। इसका फ़ायदा उन्हें यह हुआ कि इंतिहाई शरीफ़ाना ज़िंदगी बसर करने पर उन्हें मज़बूर होना पड़ा और असभ्य व उजड्ड क़िस्म की बातें उनके मुंह से नहीं निकलती थीं। दूसरी ओर छठी-सातवीं जमात में किराये की किताबों की दुकान में दो पैसा किराया देकर जो किताबें उन्होंने पढ़ीं, उन्होंने उनके साहित्यिक संस्कारों को बनाने में बड़ा योगदान दिया। *तिलस्मे-होशरुबा* तथा *फ़साना-ए-आज़ाद* जैसे कृतियां और अब्दुल हलीम शरर के नॉवेल के बाद मीर, ग़ालिब और दाग़ के कलाम उन्होंने पढ़े। हालांकि बाद में फ़ैज़ के घर में काम करने वाले मुंशी ने फ़ैज़ के नॉवेल पढ़ने की शिकायत उनके अब्बा से कर दी। अब्बा ने उर्दू नॉवेल पढ़ने के लिए फ़ैज़ को डांटा-फटकारा और कहा कि 'नॉवेल ही पढ़ना है तो अंग्रेज़ी नॉवेल पढ़ो, उर्दू के नॉवेल अच्छे नहीं होते। शहर के क़िले में जो लायब्रेरी है, वहां से लाकर नॉवेल पढ़ा करो।' (वही, पृ. 137)। उर्दू के उपन्यास लेखन में जो अवरोध आये और अच्छे उपन्यासों का अकाल सा दिखता है, उसके पीछे एक कारण यह भी है कि सर सैय्यद अहमद खान के नेतृत्व में मुस्लिम समाज के आधुनिकीकरण की जो मुहिम शुरू हुई और अंग्रेज़ी में शिक्षित भद्रवर्ग बनाने का जो संघर्ष हुआ, उसने एक ओर तो भद्र वर्ग को क़िस्सा-दास्तान के लेखन से दूर किया तो दूसरी ओर मुस्लिम समाज की भौतिक स्थितियों ने यथार्थवादी उपन्यास लेखन का विकास नहीं होने दिया। मुस्लिम समाज का मध्यवर्ग भी भिन्न क़िस्म का रहा है क्योंकि संयुक्त परिवारों की टूटन, शिक्षा का विकास व व्यक्ति का उदय वहां अपेक्षाकृत देर से हुआ और परंपराओं से तरह-तरह

के समझौते पर भी टिका रहा है। धार्मिक जकड़बंदियां भी उपन्यास लेखन को अवरुद्ध करती हैं क्योंकि उपन्यास जिस विद्रोह व स्वतंत्रता की कामना से प्रेरित होता है, उसमें सबसे पहले उसका सामना धर्म व परिवार की निरंकुशता से ही होता है। इसीलिए फ़ारसी, अरबी इत्यादि भाषाओं में कई उपन्यास लिखे जाने के बावजूद उपन्यास विधा पूरी तरह विकसित न हो सकी और प्रायः पुराने ऐतिहासिक गौरव, रोमांच, वेश्यावृत्ति या कामेडी तक उनके विषय सीमित रहे हैं। आसपास की दुनिया के प्रति सजगता से पैदा तनाव वहां कम है। कारण यह भी है कि मुस्लिम समाज में अशिक्षितों की संख्या अधिक रही या फिर सामंती व अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भद्र वर्ग की जो मध्यवर्गीय मूल्यों से पूरी तरह जुड़ न सका। इसलिए मुशायरे की परंपरा तो ख़ूब फली फूली पर उपन्यासों का लेखन कोई व्यवस्थित रूप न ले सका।

फ़ैज़ की शायरी को पढ़ते हुए बार-बार 'ख़्वाब' शब्द से मुलाक़ात होती है। यह शब्द किसी दूर की गूंज की तरह उनकी नज़्मों, ग़ज़लों और शायरी में हर तरफ़ जैसे छाया हुआ है। पुरानी कविता व शायरी में ख़्वाब अक्सर अपनी प्रेमिका से मुलाक़ात का देखा जाता था, या ख़्वाब ज़न्नत का था जहां हूरें और मौजमस्ती का हर सामान मौजूद रहता है। कभी-कभार ख़्वाबों में सुंदर प्रकृति का भी चित्र उभर आता था। पर फ़ैज़ के यहां ख़्वाब और सपने का मतलब ही बदल गया और वह नयी दुनिया की कल्पना से जुड़ गया। पहले दुनिया-जहान के बारे में ज़िक्र आता था तो लगता कि दुनिया ने सिर्फ़ ग़म ही ग़म दिये हैं और शायर को दुनिया से दूर चले जाना चाहिए। दुनिया का सताया शायर सिर्फ़ अपने दुःखों में खो गया है। पर शायर का दिल भी अब 20वीं सदी का है जहां लोग जुल्म के ख़िलाफ़ खड़े हो गये हैं और साम्राज्यवाद से लेकर सामंतवाद और सैनिक तानाशाही के ख़िलाफ़ लड़ते हुए नयी दुनिया बनाने की कोशिश कर रहे हैं। जिस शायर का दिल इन संघर्षों से अछूता रह जाये, वह शायर कभी अपनी रचना की प्रासंगिकता भी नहीं स्थापित कर सकता है। ऐसे ही समय में फ़ैज़ जैसा शायर 'शायर लोग' नज़्म मे बड़े स्वाभिमान से कह सकता था : 'दुःख भरी ख़ल्क़ (जनता) का दुःख भरा दिल हैं हम।' फ़ैज़ के यहां दुनिया के ग़मों से शिकायत की जगह दुनिया के ग़मों को ही अपना लेने की बात भी बार-बार उठती है और अपने सुख के सपने पहले की तरह अहम नहीं रह जाते हैं। यानी दुनिया के ग़म अपने ही ख़्वाबों के साथ जुड़ जाते हैं। वह अपनी 'सोच' नज़्म में कहते हैं :

क्यूं नः जहां का ग़म अपना लें,
बाद में सब तदबीरें सोचें,
बाद में सुख के सपने देखें,
सपनों की ताबीरें सोचें।

फ़ैज़ की शायरी में राजनीतिक नज़्मों का भी बड़ा हिस्सा है और इन नज़्मों में सुदूर फ़िलिस्तीन, बैरूत, अफ़्रीका और ईरान के जनसंघर्षों के बारे में लिखा गया है। रूसी क्रांति की 50वीं सालगिरह पर उन्होंने 'इंक़लाब-ए-रूस' नामक नज़्म में लिखा : 'दस्त-ए-मज़लूम[7] में हथकड़ी की कड़ी/ऐसी चमकी कि तेग़-ए-कज़ा[8] बन गयी'। हथकड़ियों को तलवार में बदलते देखने का रूपक पूरी उर्दू शायरी को नयी ऊंचाई देता है और ज़िंदगी के रंगमंच पर उसकी भूमिका को बदलकर रख देता है। ख़ुद फ़ैज़ का मानना

7. अत्याचार सहने वाले हाथ
8. मौत की तलवार

था कि वह जिस दौर के शायर हैं उस दौर को व्यक्त करने लिए केवल शायरी का प्रचलित रूप ही काफ़ी नहीं है। बल्कि वर्तमान संघर्षों को व्यक्त करने के लिए शायरी का ज़्यादा बड़ा कोई रूप अपनाना पड़ेगा। कोई ऐसी चीज़ लिखनी होगी जो महान संघर्षों को बयां कर सके। पत्नी एलिस फ़ैज़ को 27 जुलाई 1954 को जेल से लिखे पत्र में वे लिखते हैं :

> 'छोटी-मोटी चीज़ें लिखने को जी नहीं चाहता। कुछ एत्माद (आत्मविश्वास) पैदा हो जाये तो इरादा है कि पुरानी रज्मिया (एपिक) नज़्मों के पैमाने पर कोई बड़ी चीज़ लिखूं जिसमें अपने दौर की अज़ीमुश्शान (महान) कश्मकशे-हयात (जीवन-संघर्ष) का बयान हो सके। इसलिए कि हमारा दौर शायद तारीख़ (इतिहास) का सबसे शुजाआना (शौर्यपूर्ण) और वलवला-अंगेज़ (उमंग भरा) दौर है। न जाने कभी लिख पाऊंगा या नहीं, लेकिन इरादा ज़रूर है।'

यह वही दौर था जब दुनिया में चीन की क्रांति हुए अभी पांच साल ही हुए थे और उपनिवेशवाद अपने अंतर्विरोधों व मुक्ति संघर्षों के संयुक्त कारणों से कई देशों से विदा होने लगा था। भारत जैसे देशों में साम्यवाद की स्थिति निरंतर मज़बूत हो रही थी और ख़ुद उर्दू में तरक़्क़ीपसंद लोगों की तुलना में अदब-बराय-अदब यानी 'कला कला के लिए' जैसे सिद्धांत पर शायरी करने वालों की संख्या कम हो रही थी। उनकी शायरी में इंगलैंड या अमेरिका का नाम कहीं नहीं आता है पर पढ़ने वाले समझ जाते हैं कि किस तरह उपनिवेशवाद का विरोध उनकी शायरी का सबसे प्रिय मक़सद है। फ़ैज़ को दो बार पाकिस्तान में कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध रखने के कारण जेल जाना पड़ा और उन्होंने ज़ंजीर, दर्द, क़ैद और सितम जैसे शब्दों को इस दौरान बार-बार इस्तेमाल किया। उनकी शायरी में ख़्वाब के साथ-साथ तरवैय्युल (कल्पना शक्ति) शब्द का भी गहरा प्रयोग मिलता है। वह जीवन के यथार्थ से पलायन को बुरा समझते थे पर यह भी जानते थे कि उपनिवेशवाद व सामंती मूल्यों में जकड़े भारतीय उपमहाद्वीप के इनसान को जिस यथार्थ का सामना करना पड़ता है, उसमें फ़ैंटेसी, कल्पना व सपनों के रूप में यथार्थ से कुछ दूर जाकर ही ख़ुद को बचा भी पाता है। उसका पलायन करना कल्पना में प्रति-संसार खड़ा करने जैसा होता है, जहां वह उस यथार्थ को जीना चाहता है जिसका वास्तविक जीवन में निरंतर दमन किया जाता है। इस प्रति-संसार में वह सामाजिक सेंसरशिप को भी समाप्त कर देता है। उसकी चेतना तत्कालीन दबावों से मुक्त कर स्वयं को न केवल नष्ट होने से बचाती है बल्कि अपना उदात्तीकरण भी करती है। जेल हो या तंग परिवेश, दोनों की सलाख़ें उसके लिए छोटी हो जाती हैं। जेल के दौर की उनकी नज़्मों में उदासी का रंग अगर कल्पना में गहराई तक घुल-मिल जाता है तो इसका कारण भी यही है। 1953 में जब वह जेल में थे तो अपनी शादी की सालगिरह पर जो पत्र उन्होंने पत्नी को लिखा, उसमें जैसे साहित्य व लेखक की इसी नियति को उन्होंने शब्द प्रदान कर दिये। उन्होंने लिखा :

> 'आदमी तखय्युल के बल पर गिर्दो-पेश (चारों ओर) की दल-दल से पांव छुड़ा सकता है। फ़रारियत (पलायन) बुरी बात है। लेकिन जब हाथ-पांव जकड़े हुए हों तो आज़ादी का वाहिद (एकमात्र) सुख यही रह जाता है। इसी नुस्ख़े के तुफ़ैल (बहाने) मुझे जेल की सलाख़ें बहुत ही हक़ीर (तुच्छ) और बेहक़ीक़त दिखायी देने लगी हैं और बेश्तर औक़ात उनकी तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता है।

फ़ैज़ की शायरी बहुस्तरीय है और व्यापक संवेदना वाली है। भारतीय उपमहाद्वीप में मनुष्यता की रक्षा के लिए जो संघर्ष हुए हैं और चल रहे हैं उन्हें किसी ठोस दस्तावेज़ की तरह उनकी रचनाएं व्यक्त करती

हैं। तरह-तरह के काले क़ानून, पुलिस आतंक, फ़ौज़ी दमन, तानाशाही, चुनावी धांधलियां और भ्रष्ट हुकूमतों के ख़िलाफ़ संघर्षों का रक्तरंजित इतिहास उसमें झलकता है। इसलिए फ़ैज़ की शायरी में बेहद निजी प्रतीत होने वाले सवाल भी जैसे पूरी मानवता के सवाल बन गये हैं। मैं और हम के बीच जैसे भेद ही ख़त्म हो गया है। अवाम का संघर्ष ही फ़ैज़ की शायरी का संघर्ष है और फ़ैज़ के सवालों में अवाम की ही आवाज़ सुनायी देती है। क़त्लेआम के शिकार सारे अवाम फ़ैज़ की क़लम के ज़रिये यह सवाल पूछते लगते हैं :

लाओ तो क़त्लनामा मेरा, मैं भी देख लूं
किस किस की मुहर है सर-ए-महज़र लगी हुई

मो. : 09711312374

9. आदेशपत्र,

सुर्ख़ चिराग़ की लौ

मोहम्मद ज़फ़र इक़बाल

यह छोटा-सा निबंध हिंदी-उर्दू दोनों की काव्य-परंपरा के रसज्ञ एक युवा आलोचक ने लिखा है। फ़ैज़ की शायरी के हर मोड़ पर सुर्ख़ चिराग़ किस तरह मौजूद है और वह किस तरह आशा की लौ से रौशन हो रहा है, यह इस टिप्पणी में बख़ूबी उजागर किया गया है। सं.

ऐसे समय में जब इधर की दुनिया उधर हो जाती है और एक पत्ता तक नहीं हिलता तो फ़ैज़ की याद आती है। प्रतिबद्धता को प्रश्नचिह्न के भीतर देखते हैं तो फ़ैज़ की याद आती है। 'बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे/बोल जहां अब तक तेरी है' का तावीज बनाकर गले में लटका लेने से प्रतिबद्धता नहीं आती। एक सजग कवि के लिए प्रतिबद्धता कोई प्रोपगेंडा नहीं होता बल्कि जीवन का एक सहज भाव होता है। फ़ैज़ *दस्ते-सबा* संग्रह की भूमिका में कवि की प्रतिबद्धता पर विस्तार से चर्चा करते हैं :

> ...यूं कहिए कि शायर का काम केवल देखना ही नहीं आत्मसंघर्ष भी उसका फ़र्ज़ है। आसपास के बेचैन पानी की बूंदों में ज़िंदगी के दजला (इराक की एक नदी) को देखना उसकी दृष्टि पर है, उसे दूसरों को दिखाना उसकी कला क्षमता पर, उसके बहाव में हस्तक्षेप करना उसकी इच्छाशक्ति और ख़ून की गर्मी पर।
>
> और ये तीनों काम निरंतर संधान और संघर्ष चाहते हैं।
>
> जिस दृष्टि ने मानवीय इतिहास के जीवन-समुद्र के चिह्न और चरण नहीं देखे उसने दजला को क्या देखा है। फिर शायर की दृष्टि अतीत तक पहुंच भी गयी। परंतु उनके चित्रण में कथ्य की वृद्धि न थी या अगले गंतव्य तक पहुंचने के लिए अगर वे तन और मन तथा प्रयास और इच्छा पर राजी न हुए तो जाहिर है कि शायर अपनी विधा से पूरी तरह न्याय नहीं करता।
>
> शायद इस लंबे और विस्तृत उद्धरण को सरल शब्दों में बताना अनावश्यक है। मुझे केवल यह कहना था कि मानव जीवन के सामूहिक संघर्ष तक पहुंचना और उस संघर्ष में इच्छानुसार वृद्धि, जीवन का उद्देश्य ही नहीं कला का भी उद्देश्य है।
>
> कला इसी जीवन का एक भाग है और कला के लिए संघर्ष इसी संघर्ष का एक पहलू है। यह तक़ाज़ा अनवरत जारी रहता है। इसलिए कला के विद्यार्थियों के संघर्ष में कोई मुक्ति नहीं। उसकी कला एक निरंतर प्रयास है और स्थायी संरचना भी।
>
> इस प्रयास में सफलता या असफलता तो अपनी-अपनी इच्छा और क्षमता पर है। लेकिन प्रयासरत रहना संभव भी है और आवश्यक भी।[1]

1. *नुस्ख़हाए वफ़ा*, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण - 2001, पृ. 103-04.

इस लंबे उद्धरण में फ़ैज़ ने कवि के रोल और कविता की रचना प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला है। फ़ैज़ की कविता पर ये सभी बातें लागू होती हैं।

फ़ैज़ की रचनात्मकता के कई आयाम हैं और फ़लक भी काफ़ी विस्तृत है। विविधता विषय वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर है। वे केवल नारेबाज़ी में गुम होकर नहीं रह गये बल्कि क्लासिकी ढंग की शायरी पर भी उनकी अच्छी पकड़ है। परंतु सोच का दायरा तो नया है ही। 'उनकी आवाज़ में पुराने शायरों के वज़न और कलाकारी का कमाल भी मिलता है और नयी ज़िंदगी की बेचैनी और इंक़लाबी हौसला उन्होंने परंपरा से केवल उतना ही हटने का प्रयास किया है जितना अपने विचारों को प्रकट करने के लिए ज़रूरी समझा है।'[2]

जैसा प्रायः सभी कवियों के साथ होता है। फ़ैज़ ने भी आरंभ में रूमानी ढंग की कविताएं लिखीं परंतु जल्दी ही उन्होंने अपना मिज़ाज बदल लिया और उनकी वे कविताएं सामने आयीं जिनके लिए हम फ़ैज़ को याद करते हैं। शायर को अंततः यह अनुभव हो गया कि 'और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा'। 'चूंकि प्रेमिका का दुःख और दुनिया का दुख तो एक ही अनुभव के दो पहलू हैं। इस नये अनुभव का आरंभ *नक़्शे-फ़रियादी* (पहला संग्रह) के दूसरे हिस्से की पहली नज़्म से होता है। उस नज़्म का शीर्षक है 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग'। ... उसके बाद तेरह-चौदह बरस तक 'क्यों न जहां का ग़म अपना लें' में गुज़रे।'[3]

फ़ैज़ की कविता के कई रंग हैं :

'फूल भी, शूल भी'

फ़ैज़ की कविता में फूल भी हैं और शूल भी। उर्दू कविता की परंपरा में प्रेम का अत्यधिक और समाज का अपेक्षाकृत कम चित्रण होता रहा है परंतु अलग-अलग संदर्भों में। फ़ैज़ के यहां आकर दोनों एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। समाज के लिए लड़ने की प्रेरणा प्रेम से ग्रहण करते हैं और समाज के लिए लड़ते हुए थक जाने पर प्रेम की छांव में विश्रांति पाते हैं। दोनों कहीं एक दूसरे के लिए बाधक नहीं हैं। एक ही कविता में जहां एक ओर महबूबा और उसकी मुहब्बत का वर्णन करते हैं तो दूसरी ओर 'जा बजा बिकते हुए कूचओ-बाज़ार में जिस्म/ ख़ाक में लुथड़े हुए ख़ून में नहाये हुए' भी याद आते हैं। वे अपनी प्रेमिका के इश्क़ में पड़कर खो नहीं गये बल्कि इस माध्यम से बहुत कुछ सीखा :

आजिज़ी[4] सीख़ी, ग़रीबों की हिमायत सीखी
यास व हिरमां[5] के, दुख दर्द के मानी सीखे
जेरदस्तों[6] के मसाइब[7] को समझना सीखा
सर्द आहों के, रुख़े-ज़र्द[8] के मानी सीखे

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 62)

2. *उर्दू अदब की तनक़ीदी तारीख़*, एहतेशाम हुसैन, एन.सी.पी.यू. एल, आर.के. पुरम, नयी दिल्ली, संस्करण 2009, पृ. 276.
3. *नुस्ख़हाए वफ़ा*, पृ. 310-11.
4. दीनता
5. यास-व-हिरमां-निराशा
6. पिछड़े हुए, दबे हुए
7. समस्या
8. पीला चेहरा

रचनात्मक प्रतिबद्धता

सन् 1951 से 1955 तक फ़ैज़ जेल में रहे और इस दौरान भी उनका लेखन लगातार जारी रहा। *दस्ते-सबा* और *ज़िंदांनामा* संग्रह की रचनाएं इसी दौरान की हैं। ये दोनों संग्रह फ़ैज़ की रचनात्मकता का श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सोना आग में तपने के बाद कुंदन बन जाता है। *दस्ते-सबा* संग्रह की शुरुआत कुछ इस ढंग से होती है।

'मताए-लौह-ओ-क़लम[9] छिन गयी तो क्या ग़म है,
कि ख़ूने दिल में डुबो ली हैं उंगलियां मैंने
ज़बां पे मुहर लगी है तो क्या कि रख दी है
हर एक हलक़ए-ज़ंजीर[10] में ज़बां मैंने।'

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 107)

फ़ैज़ के यहां 'लौह-ओ-क़लम' बार-बार आता है जो उनकी रचनात्मकता की अभिव्यक्ति का माध्यम है। शरीर को क़ैद किया जा सकता है मगर विचारों की अभिव्यक्ति को प्रतिबंधित करना इतना आसान नहीं। अभिव्यक्ति का ख़तरा उठाना आसान नहीं है बल्कि उसके लिए अपना लहू भी देना पड़ता है। पर यह शक्ति कहां से आती है? अपने संकुचित 'मैं' से 'हम' तक पहुंचने की प्रक्रिया के माध्यम से आती है। तब 'मैं' में हम और हम में मैं' की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। फ़ैज़ 'मैं' की शैली में नहीं बल्कि 'हम' की शैली में कविता लिखने को अच्छा मानते हैं। 'बल्कि मैं तो शेर में भी जहां तक संभव हो व्यक्ति-वाचक संज्ञा का प्रयोग नहीं करता, और 'मैं' के बजाय हमेशा से 'हम' लिखता आया हूं।'[11]

ये जहां, वो जहां

फ़ैज़ स्थान विशेष पर टिककर लिखने वाले कवि नहीं हैं। वे एक समय में अतीत से भविष्य तक की यात्रा करते हैं। वर्तमान को हम देखते हैं, पर अतीत बोलता है। उनके यहां हाफ़िज़, अमीर ख़ुसरो, ग़ालिब, इक़बाल सभी आते हैं। ऐसा लगता है कि फ़ैज़ की कविता में ये सभी बोल रहे हैं। साथ ही साथ तत्कालीन समय समाज की वैश्विक अनुभूति और अभिव्यक्ति फ़ैज़ के यहां बहुत है। सिकियांग, पीकिंग, लेनिनग्राड, Come on Africa, इरानी तुल्बा के नाम, फ़िलिस्तीन पर दो नज़्में शीर्षक कविता के माध्यम से इसे देखा जा सकता है। फ़िलिस्तीन पर इज़राइल के आक्रमण और अतिक्रमण का उन्होंने विरोध किया था जिसको वे अपनी रचनात्मक प्रतिबद्धता का अंग मानते हैं; इसी का उल्लेख *पाकिस्तान टाइम्स* में छपे 'किस्सागो फ़ैज़' शीर्षक आपबीती में मिलता है।

दुनिया भर के दुख दर्द को अपनाना, दमन-शोषण का विरोध करना फ़ैज़ ने जीवन भर नहीं छोड़ा। पर उनके भीतर एक नाजुक दिल था और उसमें दर्द भी था जिसे वे दबाये हुए थे। उनके बड़े भाई की मृत्यु ने उन्हें भीतर तक तोड़ दिया था। शायद यहीं से दुख-दर्द भी 'मैं' से 'हम' में बदल गया और फ़ैज़ ने पूरी मानवता के दर्द को अपना लिया। 'नौहा' (प्रकाशन-18 जुलाई 1952) नाम से एक कविता फ़ैज़ ने अपने भाई के निधन पर लिखी थी जो बहुत सरल भाषा में दर्द को पूरी तरह समेटे हुए है :

9. क़लम और तख़्ती रूपी संपत्ति
10. ज़ंजीर के घेरे में
11. *नुस्ख़हाए वफ़ा* : पृ. 307

मुझको शिकवा है मेरे भाई कि तुम जाते हुए
ले गये साथ मेरी उम्र-गुज़श्ता[12] की किताब
इसमें तो मेरी बहुत क़ीमती तस्वीरें थीं
इसमें बचपन था मेरा और मेरा अह्दे-शबाब[13]

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 153)

'उम्मीदे सहर की बात सुनो'

फ़ैज़ आशा और उत्साह के कवि हैं, अगर निराशा आती भी है तो थोड़ी देर के लिए। उनका स्थायी भाव आशा है। हर दौर की रचनाओं में आशा का स्वर मुखर है। पहले संग्रह *नक़्शे-फ़रियादी* में भी स्थान-स्थान पर आशा का स्वर है ऐसा लगता है कि जल्द ही सब कुछ ठीक हो जायेगा।

चंद रोज़ और मिरी जां! फ़क़त चंद ही रोज़
जुल्म की छांव में दम लेने को मजबूर हैं हम

लेकिन अब जुल्म की मियाद के दिन थोड़े हैं
इक ज़रा सब्र की फ़रियाद के दिन थोड़े हैं।

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 75)

फ़ैज़ की एक प्रसिद्ध कविता है 'सुब्हे आज़ादी अगस्त'47' जिसमें वे देश की आज़ादी से ख़ुश नहीं हैं। उन्हें लगता है कि देश के लोगों को छला गया है। 'वह इंतज़ार था जिसका यह वह सहर तो नहीं' और लोगों से आह्वान करते हैं कि 'चले, चलो कि वह मंज़िल अभी नहीं आयी'। फ़ैज़ लोगों को जगाते हैं और क्रांति का आह्वान करते हैं :

ऐ ख़ाक नशीनों उठ बैठो, वह वक़्त क़रीब आ पहुंचा है
जब तख़्त गिराए जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 138)

पर धीरे-धीरे उनकी यह शैली कुछ संयमित होती जाती है और क्रांति की बात दब-सी जाती है। पर दुनिया को बदलने का प्रयास जारी रहता है। पर यह प्रयास सामूहिक से वैयक्तिक होता जान पड़ता है। पाकिस्तान के स्वतंत्रता दिवस पर 1952, 1955 और 1967 में भी फ़ैज़ ने कविता लिखी है जिसे सन् 47 वाली कविता से जोड़कर देखा जा सकता है। 'अगस्त सन् 52' शीर्षक से जो कविता है उसकी अंतिम पंक्ति इस प्रकार है :

है दश्त[14] अब भी दश्त मगर ख़ूने-पा से फ़ैज़
सैराब[15] ख़्वारे-मुग़ीलां[16] हुए तो हैं

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 160)

---

12. बीते हुए दिन
13. युवावस्था
14. जंगल
15. सिंचित
16. बबूल का कांटा

इस तरह 'अगस्त सन् 55' शीर्षक कविता में भी कुछ इसी तरह का भाव है कि अब भी परिवर्तन की उम्मीद है पर आशा नहीं छोड़नी चाहिए और प्रयास करते रहना चाहिए :

फिर से बुझ जायेंगी शम्में जो हवा तेज़ चली
ला के रखो सरे-महफ़िल[17] कोई ख़ुर्शीद[18] अब के

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 288)

फ़ैज़ मार्शल लॉ के दौर में सरकार द्वारा बहुत सताये गये और उसका वर्णन भी उनकी कविता में मिलता है :

यहां से शहर को देखो तो हल्क़ा-दर-हल्का[19]
खिंची है जेल की सूरत हर सिम्त[20] फ़सील[21]

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 405)

पर सब कुछ के बाद अंततः कवि के पास आशा है। 14 अगस्त 1967 के दिन कविता के माध्यम से दुआ मांगते हैं :

आइए हाथ उठायें, हम भी
हम जिन्हें रस्मे दुआ याद नहीं
हम जिन्हें सोज़े मुहब्बत के सिवा
कोई बुत कोई ख़ुदा याद नहीं।

('नुस्ख़हाए वफ़ा', पृ. 429)

अंत में फ़ैज़ के उस भाषण के अंश को देखते हैं जो उन्होंने 1964 ई. में 'अंतर्राष्ट्रीय लेनिन शांति पुरस्कार' लेते समय दिया था।

> वैसे तो मानसिक रूप से दिवालिया और अपराधी लोगों के अतिरिक्त सभी मानते हैं कि शांति और आज़ादी बहुत सुंदर और चमकदार चीज़ है और सभी विचार कर सकते हैं कि शांति गेहूं के खेत हैं और सफ़ेदे के वृक्ष, दुल्हन का आंचल है और बच्चों के हंसते हुए हाथ, शायर का कलम है और चित्रकार के लिए तूलिका और आज़ादी उन सभी कारकों के लिए उत्तरदायी है और ग़ुलामी इन सब ख़ूबियों की क़ातिल है जो इनसान और हैवान में फ़र्क़ करती है।... अब मानव की बुद्धि विज्ञान और उद्योग के फलस्वरूप उस स्थिति तक पहुंच चुकी है कि जिसमें सब पोषित हो सकते हैं और सभी झोलियां भर सकती हैं। परंतु शर्त यह है कि यह अनमोल धरोहर पैदावार के ये असीमित खाद्यान्न भंडार, कुछ व्यापारियों और विशेष वर्ग के लालच को पूरा करने के लिए नहीं बल्कि सभी इनसानों की भलाई के लिए काम में लाये जायें।

17. महफ़िल के किनारे
18. सूरज
19. जगह-जगह
20. ओर, दिशा
21. चारदीवारी

मुझे विश्वास है कि मानवता जिसने अपने दुश्मनों से कभी हार नहीं खायी अब भी जीतकर रहेगी। और अंततः युद्ध और घृणा तथा अत्याचार और छल-कपट के बजाय हमारी आपसी ज़िंदगी की निर्मिति ही स्थायी ठहरेगी।[22]

इस उद्धरण को पढ़ने के बाद दिखता है कि फ़ैज़ की दृष्टि कितनी व्यापक थी, यह व्यापकता उनकी कविताओं में भी स्पष्ट रूप से परिलाक्षित होती है। विश्व के सामने तब जो संकट थे वे आज भी विद्यमान हैं। आइए हम सब मिलकर दुआ के लिए हाथ उठायें ताकि फ़ैज़ की जन्मशताब्दी पर शायद उनकी इच्छा किसी हद तक पूरी हो सके।

मो. : 09868584878

22. *नुस्ख़हाए वफ़ा*, पृ. 304, 305, 306

पंजाबी कविता

सतिंदर सिंह नूर

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने लगभग सारी शायरी उर्दू में लिखी। परंतु वे पंजाबी थे। उनका जन्म सियालकोट में हुआ था। सियालकोट ठेठ पंजाबी क्षेत्र है जो कि अब पाकिस्तान में है। उन्होंने अपनी प्राथमिक शिक्षा उर्दू, फ़ारसी तथा अरबी भाषा में ली। 1928 में उन्होंने अपनी पहली ग़ज़ल कही। 1933 में उन्होंने अंग्रेज़ी में एम.ए. पास किया और अंग्रेज़ी के प्राध्यापक भी पहले-पहल अमृतसर (पंजाब) में ही लगे। परंतु शायरी उन्होंने लगातार उर्दू में ही की। वे अक्सर इस बात का जिक्र करते रहे कि पंजाबी में भी उन्होंने कविता लिखनी है, क्योंकि वारिस शाह, सूफ़ी कविता व पंजाबी लोकगीतों के साथ उनकी मुहब्बत अथाह थी। फिर उन्होंने कुछ कविताएं पंजाबी में लिखीं।

तमाम उम्र उनका संबंध प्रगतिशील कविता से रहा। यों तो उन्होंने बहुत प्रभावशाली रूमानी कविता लिखी, क्योंकि यह समय व दौर रूमानी प्रगतिशील कविता का था। पंजाबी में जो उन्होंने प्रगतिशील कविता लिखी, उसका संबंध आम लोगों से है। उन्होंने किसान को जागृत होने को कहा, क्योंकि किसान सारे समाज को रोटी देता है, परंतु स्वयं सामाजिक व आर्थिक तौर पर कमज़ोर है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ किसान को मुर्दा हालत में नहीं देखना चाहते थे। ऐसी शायरी उन्होंने बहुत साधारण और ठेठ पंजाबी में कही। इस शायरी को उन्होंने पंजाबी किसान के लिए तराना कहा :

उठ उत्तां नूं जट्टा
मुरदा क्यों जानें
भुलिया, तूं जग दा अनदाता
तेरी बांदी धरती माता
तू जग दा पालनहारा
ते मुरदा क्यों जानें
उठ उत्तां नूं जट्टा
मुरदा क्यों जानें
जनरल, करनल, सूबेदार
डिप्टी, डी.सी. थानेदार
सारे तेरा दित्ता खावन
तूं जे न बेचे, तू जे न धावे
भुक्खे, माने सब मरजावन

एइ चाकर तूं सरकार
मुरदा क्यों जानें
विच कचहरी, चौकी, थाने
कीह इब भूल, ते कीह स्याने
कीह अशराफ़ ते कीह न माने
सारे खज्जल ख़्वार
मुरदा क्यों जानें
उठ उत्तां नूं जट्टा
एका कर लो, हो जाओ इकट्ठे
भूल जाओ रांगड़, चीमे चट्ठे
सभ्भे दा एक परिवार
मुरदा क्यों जानें
जे चढ़ आवन फ़ौजां वाले
तो वीं छोयां लंब कराले
तेरा हक़ तेरी तलवार
ते मुरदा क्यों जानें
दे अल्लाह हु दी मार
ते मुरदा क्यों जानें
उठ उत्तां नूं जट्टा

पाकिस्तान में उस समय जो पंजाबी कविता लिखी जा रही थी, उस में अधिकतर बौद्धिक जटिलता नहीं थी क्योंकि वह कविता अधिक से अधिक सामान्यजन के नज़दीक रहकर उनके यथार्थ की बात करना चाहती थी। इसीलिए इस कविता पर लोक संस्कृति का बहुत प्रभाव था तथा काव्य भाषा भी लोकभाषा के ज़्यादा से ज़्यादा क़रीब रहती थी। परंतु इस कविता पर प्रगतिवादी लहर या समाजवादी विचारधारा का बहुत प्रभाव था। इसीलिए फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने समस्त किसानों को इकट्ठा होने को कहा तथा सामाजिक दीवारों तथा जात-पांत को भूल कर एक परिवार बनने को कहा। ऐसी कविता चाहे किसान को संबोधित है परंतु यह केवल किसान के लिए नहीं है। किसान महज़ इसमें एक प्रतीक बन जाता ह। इस कविता की आवाज़ समूची लोकसत्ता की है।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने जो अन्य पंजाबी कविताएं लिखीं, उनका स्वर व विधि कुछ अलग है। पाकिस्तान की पंजाबी कविता में प्रगीतात्मक काव्य छाया हुआ है। समकालीन पंजाबी कविता में बहुत सुंदर प्रगीत लिखे गये, क्योंकि पाकिस्तान की पंजाबी संस्कृति लोक संस्कृति के अभी भी बहुत नज़दीक है। इसलिए वहां पंजाबी की प्रगीतात्मक कविता लोगों में बहुत मक़बूल है। यह कविता ठेठ पंजाबी में भी लिखी जाती है। ऐसी कविता में बेहिसाब बलूची शब्द भी हैं। पंजाबी किस्सों में हीर-रांझा, सोहनी-महीवाल या अन्य प्रेमी नायकों का ज़िक्र होता है, उनके प्रतीक ऐसी कविताओं में आम होते हैं। केवल यही नहीं अपितु इन प्रगीतों पर सूफ़ी शायरी का भी बहुत गहरा असर होता है। कई बार तो शाह हुसैन तथा बुल्ले शाह के अंदाज़ में ही वे प्रगीत लिखे मालूम होते हैं। जैसे बुल्ले शाह ने अपनी काफ़ी लिखी थी 'इल्मो बस करीं ओ यार', फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने भी एक नग़मा इन काफ़ियों की भांति ही लिखा :

वतने दियां ठंढ़ियां छांई ओ यार
टिक रौ थांई ओ यार
रोज़ी देवेगा सांई ओ यार
टिक रौ थांई ओ यार
हीर नूं छढ़ टुर गयी क्यों रंझीठे
खेड़ियां दे घर पे गये दासे
पिंड विच कढ़ढी होर शरीकां
यारां दे ढेह मुडासे
वीरां दिया टुर गय्यां वाई ओ यार
टिक रौ थांई ओ यार।

उनकी ऐसी प्रगीतात्मक कविता में रूमानी रंग घुला मिला है क्योंकि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ मूल तौर पर प्रगतिशील कवि हैं। इसलिए ऐसे रूमानी प्रगीत में भी जब वह अपने आंगन तथा झोंक के सब खैर की बात करते हैं तथा ग़ैरों के महल छोड़ने को कहते हैं, तब वे लौकिक अंदाज़ में एक विचारधारात्मक अवचेतन से जुड़े हुए हैं तथा इस प्रगीत में बड़ी सरलता से उसका संचार भी कर देते हैं। साथ ही उनकी काव्य पंक्तियां निराले लोकगीत की शैली में ढल जाती हैं

रोज़ी देवेगा सांई
काग उड़ावन मां वो बहनां
तिरले पावन लक्ख हज़ारां
खैर मनावन संगी साथी
चरखे ओले रोवन मट्यारां
हाडां कर दियां सुंजियां राई ओ यार
टिक रौ थांई ओ यार
वतने दियां ठंडियां छाईं
छड़ ग़ैरां दे महल चोमहले
अपने वेहड़े दी रीस न काई
अपनी झोक दियां सत्ते खैरां
बीबा तुस ने क़द्र न पाई
मोड़ महारां
ते आ घर बारां
मुड़ आके मोल न जांईं ओ यार
टिक रौ थांई ओ यार

पाकिस्तान में पंजाब के ज़्यादातर कवियों ने उर्दू के साथ-साथ पंजाबी में भी कविता कही है। मुनीर नियाज़ी, ज़फ़र इक़बाल तथा और बहुत सारे कवियों का पंजाबी शायरी में नाम लिया जा सकता है। उनके अनेक पंजाबी काव्य संग्रह भी हैं परंतु फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने पंजाबी में केवल कुछ ही कविताएं लिखीं। इसलिए मूल तौर पर वह उर्दू के ही शायर माने जाते हैं। पंजाबी में उन्होंने जो कविताएं लिखीं उनमें पंजाबी कविता की परंपरा को वे पूरी तरह निभाते हैं तथा पंजाबी कवियों ने उनकी चंद एक कविताओं की चर्चा भी की है।

मो. : 09811305661

कथा-साहित्य के संदर्भ में आलोचना-दृष्टि

अली अहमद फ़ातमी

मुम्ताज़ हुसैन ने फ़ैज़ के बारे में एक जगह लिखा था :

> 'फ़ैज़ जब भी महफ़िल में आये, एक छोटी सी किताब,
> एक क़ता, किसी नामुकम्मल ग़ज़ल के चंद अश्आर,
> कुछ मश्क़े सुख़न और कुछ माज़रत लेकर आये
> और हर बार कामयाब आये।'
>
> (फ़ैज़ नंबर फ़न और शख़्सियत)

अहले-इल्म वाक़िफ़ हैं कि फ़ैज़ का शेरी सरमाया कम है और नस्र का सरमाया इससे भी कम.... कुछ भूमिकाएं, कुछ लेख, कुछ ख़त या कुछ खुतबात वग़ैरह। यह सब कुछ अपनी कमियत के एतबार से ज़्यादा न सही लेकिन फ़िक्र व ख़याल, नज़र व नज़रिया के एतबार से बेहद अहम है। इनके बग़ैर फ़ैज़ की शायराना व दानिशवराना शख़्सियत को समझ पाना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन भी है।

उनके निबंध-संग्रह 'मीज़ान' में वैसे तो नज़रिया, मसायक, मोतक़द्दमीन, मोआसरीन के शीर्षक से तक़रीबन तीस लेख शामिल हैं। जिनमें कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें लेख नहीं कहा जा सकता। चूंकि वह लेख फ़ैज़ के हैं इसलिए किताबों में शामिल हैं। इसके विपरीत कुछ लेख मसलन, अदब का तरक़्क़ी पसंद नज़रिया, शायरी की क़द्रें, ख़यालात की शायरी, उर्दू शायरी की पुरानी परंपराएं, नये अनुभव, ग़ालिब और ज़िंदगी का फ़लसफ़ा, इक़बाल और जोश पर लेख ऐसे हैं जिनसे बहस और फ़िक्र के सोते फूटते हैं और जिन पर लंबी बातचीत की जा सकती है। वक़्त की तंगी की वजह से मैंने उनके फ़िक्शन से संबंधित लेख को ही बहस का विषय बनाने की कोशिश की है। यह कोशिश इसलिए भी कि उर्दू की साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपरा अजीबोग़रीब रही है। यहां एक ज़माने तक आम तौर पर साहित्य का मतलब शायरी और शायरी का मतलब ग़ज़लगोई समझा जाता रहा है। गद्य और दुनिया की चीज़ समझी जाती रही। हालांकि उन्नीसवीं सदी में ही कुछ शायरों और साहित्यकारों ने इस ख़याल को तोड़ने की कोशिश की। हाली, शिबली, आज़ाद वग़ैरह की इन कोशिशों को बीसवीं सदी में फ़ैज़, फ़िराक़, सरदार जाफ़री वग़ैरह ने आगे बढ़ाया। इसलिए कि ये सबके सब सिर्फ़ और सिर्फ़ शायर न थे बल्कि विचारक और चिंतक थे और शेरो-शायरी को सिर्फ़ व्याकरण और छंद में उलझाए रखने के बजाय ज़िंदगी और दुनिया के हवाले से देखते थे।

फ़ैज़ न सिर्फ़ तरक़्क़ीपसंद तहरीक के, बल्कि इक़बाल, जोश के बाद उस दौर के सबसे प्रिय, हरदिल अज़ीज़ और अहम शायर थे जिन्होंने कम उम्र से ही अपनी शायरी का लोहा मनवाया। भरी जवानी में, बल्कि भरे इश्क़ में वह महबूब की ज़ुल्फ़ों से निकल कर ज़िंदगी की ज़ुल्फ़ों को सुलझाने में व्यस्त हो गये और इस कमउम्री के दौर में साहित्य के तमाम विषयों पर कई लेख लिखे जिनमें फ़िक्शन से संबंधित उनके चार लेख हैं 'उर्दू नॉवेल', 'रतन नाथ सरशार की नोवल निगारी', 'शरर' और 'प्रेमचंद' ये चार लेख 1939 ई. और 1945 ई. के दरमियान लिखे गये हैं। उस वक़्त फ़ैज़ की उम्र और इसके साथ-साथ उस दौर की ज़िंदगी, वैश्विक उथल-पुथल और विश्वयुद्ध, हिंदुस्तान की जंगे-आज़ादी और अंजुमने तरक़्क़ी-पसंद लेखकों के क़याम वग़ैरह से अलग करके इन लेखों को समझना मुमकिन नहीं। यह वह दौर था जब साहित्य को समाज से अलग करके देख पाना मुमकिन ही न था, ख़ास तौर से कथात्मक साहित्य को। इसलिए 'उर्दू नॉवेल' लेख इस वाक्य से शुरू होता है... 'अदब की तारीख़ हमारी समाजी तारीख़ ही का एक हिस्सा है।' और आगे लिखते हैं ...'अदब समाज के इज्तेमाई (सामूहिक) फ़िक्र की पैदावार होता है। इसके फ़िक्र की सूरत बदलती है तो अदब का रंग भी दूसरा हो जाता है...'

उन्नीसवीं सदी के आख़िर और बीसवीं सदी की शुरुआती दहाइयों में शायद उर्दू अदब में पहली बार ऐसा हुआ था कि इनसान वर्गों में ही नहीं बौद्धिक वर्गों में बंट गया। इनकी अपनी-अपनी भावुक और समाजी समस्याएं थी जिन्हें बड़े पैमाने पर समझने का ज्ञान पहली बार हुआ। ज़ाहिर है कि इनके अंदर का यह एहसास दुनिया के इनसानी और चारित्रिक उथल-पुथल की वजह से पैदा हुआ था। विचार व सम्मान की बरबादी, इनसानी ज़िंदगी के ख़तरात, इनसान की इनसान से जंग, ज़ोर-ज़बरदस्ती, कमज़ोर और बलवान के आसार और आज़ार (तकलीफ़ें) ने इन्हें ऐसा सोचने पर मजबूर किया। इन तमाम सूरतेहाल की बेहतरीन झलक जिस क़दर फ़िक्शन में हुई, शायरी में इस शक्ल में न हो सकी। ऐसा इसलिए भी हुआ कि शायरी के मुक़ाबले में नॉवेल ज़िंदगी को ज़्यादा विस्तृत, पारदर्शी और शायद खुरदुरे अंदाज़ में देखता और दिखाता है। इसीलिए फ़ैज़ साफ़ तौर पर कहते हैं कि नॉवेल की सबसे बड़ी देन मध्यम वर्ग की खोज है और यह खोज समाजी फ़िक्र की सबसे बड़ी खोज है। जिन नावलों में यह वर्ग आया है और पूरे फ़िक्र व शऊर के साथ नहीं आया है, फ़ैज़ इसकी आलोचना करने में हिचकिचाते नहीं। वह सस्ते रूमानी जासूसी नावलों की ख़ूब-ख़ूब ख़बर लेते हैं और कहते हैं कि इस दौर के नॉवेल नये दौर की नुमाइंदगी नहीं करते। नये दौर के बदले हुए समाजी एहसास की तर्जुमानी ने सबसे पहले हक़ीक़त के समाजी मतलब को इतना विस्तार दिया कि उसे सही मायने में हक़ीक़त कहा जा सके। फ़िक्शन में वाक़यानिगारी की बड़ी अहमियत है जिसने आगे बढ़ कर अपनी तरक़्क़ीयाफ़्ता शक्ल में हक़ीक़त का शब्द क़ायम कर लिया। लेकिन यह हक़ीक़त भी एक ज़माने तक एक ख़ास मायने में सीमित रही। मसलन, नज़ीर अहमद के यहां हक़ीक़त किरदारी है। सिर्फ़ किरदार आता है। इसकी कमज़ोर पेशकश के कारण पाठक वर्ग की भिन्नता को समझने से वंचित रह जाता है। इसके विपरीत *उमराव जान अदा* या प्रेमचंद के नॉवेल के किरदार सिर्फ़ किरदार नहीं होते बल्कि पूरे वर्ग की अलामत (निशानी) होते हैं। फ़ैज़ की समाजी फ़िक्र इससे भी दो क़दम आगे बढ़ कर यह ऐलान करती है :

> किसी एक तबक़े की तर्जुमानी, ख़ास तौर से जब वह तबक़ा सोसाइटी या समाज का बहुत ही छोटा तबक़ा हो, सही मानों में वाक़ीयत नहीं। वाक़ीयत का सही मफ़हूम (मतलब) उस वक़्त तक अदा नहीं हो सकता

> जब तक लिखने वाला समाज के कोने छिदरे खंगालने में समाज को मजमूई हैसियत से न देखे। इस नौ (क़िस्म) की वाक़ीयत सही आवामी या जमहूरी (प्रजातंत्रात्मक) शऊर के बग़ैर पैदा नहीं हो सकती।
>
> (उर्दू नॉवेल)

जुज़ (हिस्सा) में कुल देखने का यह सूफ़ियाना मिज़ाज तो फ़ैज़ के यहां शुरू से ही था, लेकिन समाज को एक पूरी इकाई के तौर पर देखने का विज़न उनके समाजी दृष्टिकोण की देन का जो एक फ़िक्र, एक फ़लसफ़ा बनकर सिर्फ़ फ़ैज़ को ही नहीं बल्कि उस दौर के ज़्यादातर रचनाकारों को प्रभावित कर रहा था और ज़िंदगी की व्याख्या विस्तार आलोचना में, ज़िंदगी की मुश्किलें ज़िंदगी के फलसफ़े में, मावराईयत अरज़ियत (वास्तविकता) में, वैयक्तिकता सामूहिकता में बदल जाने के लिए बेचैन हो रही थी। यही वजह है कि प्रेमचंद के वक़्त से उर्दू नॉवेल का मिज़ाज ही नहीं कैनवस भी बदल जाता है, इसलिए कि उन्होंने ज़्यादा हक़ीक़त से काम लिया था लेकिन फ़ैज़ प्रेमचंद की हक़ीक़त से भी संतुष्ट न थे और उनका जोशीला समाजी नज़रिया प्रेमचंद पर भी एतराज़ करने से उन्हें रोक नहीं पाता। वह यह तो स्वीकार करते हैं कि प्रेमचंद उर्दू नॉवेल को सफ़ेदपोश शरीफ़ों की बैठकों से निकालकर देहात के चौपालों में ले गये, लेकिन जब वह अलग से प्रेमचंद पर बातें करते हैं तो ख़ास तौर पर कहते हैं

> हक़ीक़त एक जामे चीज़ है और उसकी वजाहत (व्याख्या) वही शख़्स कर सकता है जिसके ज़ेहन में समाज का मजमूई तसव्वुर (पूरी कल्पना) मौजूद हो और प्रेमचंद के ज़ेहन में यह तसव्वुर मौजूद न था। इसके अलावा ज़िंदगी के बहुत से ऐसे पहलू हैं जिनके मुताल्लिक़ न सिर्फ़ प्रेमचंद ख़ामोश रहते हैं बल्कि दानिस्ता तौर पर उनसे चश्मपोशी कर लेते हैं। मैं समझता हूं कि वह और जो कुछ भी हों हकीक़त निगार हरगिज़ नहीं कहला सकते।

प्रेमचंद 1936 ई. में इंतक़ाल कर गये। 1941 ई. में आग़ा अब्दुल हमीद से यह बातचीत की गयी। सच यह है कि उस वक़्त तरक़्क़ीपसंद हलक़ा में प्रेमचंद का तूती बोल रहा था। ऐसे में प्रेमचंद जैसे शोहरतयाफ़्ता नॉवेलनिगार पर इस क़िस्म की नुक़्ताचीनी करना, वह भी एक नौजवान शायर के लिए, हैरत और हिम्मत की बात है। वह उसी हिम्मत से आगे यह कहते हैं

> फ़न्नी तौर पर इनसानी जिस्म और उसकी अज़ली ख़्वाहिशात के मुताल्लिक प्रेमचंद को या तो कुछ मालूम नहीं है या वह इसके मुताल्लिक़ कुछ कहने की जुर्रत नहीं करते, हालांकि खाने के बाद जिन्सियात का मसला इनसानी ज़िंदगी में सबसे अहम मसला है। मिसाल के तौर पर 'चौगाने हस्ती' ले लो। सूफ़िया और विनय सिंह की मुहब्बत बिल्कुल बच्चों की सी मुहब्बत है, लेकिन वह दोनों बाक़ी मामलात में काफ़ी पोख़्ताकार हैं। एक और चीज़...प्रेमचंद मज़हब और समाज के बाज उसूलों को बग़ैर सोच-विचार के दुरुस्त मान लेते हैं। बाज़ रिवाज ऐसे होते हैं जो किसी समाजी ज़रूरत की वजह से पैदा होते हैं। कुछ अरसा के बाद समाजी हालात के बदलने से उनका अस्ल मक़सद फ़ौत (बरबाद) हो जाता है। लेकिन समाज में इतनी सलाहियत (योग्यता) नहीं होती कि उन्हें तर्क कर दे और लोग उन्हें एक बेकार बोझ की तरह अपने कंधों पर उठाये फिरतें हैं। मसलन, औरत के मुताल्लिक़ प्रेमचंद का नज़रिया यह कि उनके नज़दीक मिसाली औरत वह है जो किसी उसूल के लिए अपनी जान तक कुर्बान कर दे, ख्वाह वह उसूल ग़लत ही क्यों न हो। कुर्बानी पर प्रेमचंद बहुत ज़ोर देते हैं। ज़िंदगी की खुशियां छोड़ कर दुनिया को त्याग देना उनके नज़दीक क़ाबिले एहतेराम बात है हालांकि मौजूदा हालात में यह कुर्बानी बहादुराना नहीं बुज़दिलाना बात है।

और फिर आख़िर में यह भी कहते हैं

> 'बात यह है कि प्रेमचंद बेचारे निहायत शरीफ़ आदमी थे और समाजी तनक़ीद शुरफ़ा (शरीफ़ों) का काम नहीं।'

इन वाक्यों में नौजवान समाजवादी के बाग़ियाना तत्व छलके पड़ रहे हैं। जहां समझौते का दूर-दूर तक नाम नहीं, जहां नौजवान उमंगें सब कुछ उलट-पलट कर देना चाहती हैं। ज़ाहिर है कि यह सब कुछ मार्क्सिज़्म के ज़रिये हासिल हुआ था जो उस युग के नौजवानों की रगों में ख़ून बन कर दौड़ रहा था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रेमचंद ने मार्क्सिज़्म नहीं पढ़ा था या वह इससे प्रभावित नहीं हुए थे, लेकिन यह ज़रूर है कि वह अपनी उम्र के आख़िरी हिस्से में इस फ़लसफ़े के क़रीब आये। यही वजह है कि उनके आख़िरी दौर के लेखन में मार्क्सिज़्म या मार्क्सी सौंदर्य नज़र तो आता है लेकिन वह भी संजीदा और ठहरे हुए अंदाज़ में। इसके विपरीत फ़ैज़ जवान होते ही मार्क्सवादी हो गये। महमूदुज्ज़फ़र और रशीद जहां ने नौजवानी में ही मार्क्स की किताबें पकड़ा दीं और ललकार कर कहा कि दुनिया से इश्क़ करो, दुनिया भर के सताये इनसानों के लिए संघर्ष करो। ज़ाहिर है कि यह संघर्ष सिर्फ़ व्यावहारिक न था बल्कि इसके पीछे एक इल्म था, इनसानी फ़लसफ़ा था जिसने एक आंदोलन बन कर उस युग के तक़रीबन तमाम शायरों, फ़नकारों को एक ख़ास क़िस्म के विज़न और जोश व जज़्बे से भरपूर कर रखा था। जिसमें फ़ैज़ भी सराबोर थे। प्रेमचंद ने आधी से ज़्यादा ज़िंदगी गांधीवादी प्रभाव में गुज़ारी, अहिंसा के फ़लसफ़े पर यक़ीन रखा। यही वजह है 'होरी' सारे ज़ुल्म बरदाश्त करता है लेकिन अपने संस्कारों से अपने आपको अलग नहीं कर पाता बल्कि उस पर क़ुर्बान हो जाता है। प्रेमचंद के यहां औरत बाग़ी कम, सती सावित्री ज़्यादा है। ज़ाहिर है कि प्रेमचंद का यह शरीफ़ाना या कहीं-कहीं समझौतापूर्ण रवैया फ़ैज़ को पंसद नहीं आता और इसीलिए वह इन पर एतराज़ करते हैं और उन्हीं हवालों से वह उनकी वाक़यानिगारी और किरदारनिगारी पर खुलकर बहस करते हैं। यह बहस सिर्फ़ फ़िक्री और नज़रियाती नहीं है बल्कि नॉवेल की शक्ल और फ़न के हवाले से भी अहम है। प्रेमचंद की ज़बान के बारे में वह कहते हैं

> उनकी देहाती ज़बान सिर्फ़ इतनी है कि हुज़ूर को हुज़ूर और मुश्किल को मुस्किल लिख दिया जाये और मज़े की बात तो यह है कि एक ही देहाती एक तक़रीर (बात) में एक फ़िक़रा देहाती ज़बान में बोलता है तो दूसरा फ़िक़रा अच्छी ख़ासी लखनवी ज़बान में।

इस बात को फ़ैज़ कोई बड़ा एतराज़ तो नहीं मानते, लेकिन प्रेमचंद पर उनका अस्ल एतराज़ यूं सामने आता है

> वह कभी-कभी अपने अफ़सानों में खुल्लमखुल्ला वाज़ (उपदेश) शुरू कर देते हैं। यूं तो कोई आर्ट प्रोपेगैन्डा से ख़ाली नहीं होता लेकिन इसके ये मायने नहीं हैं कि एक नॉवेल नवीस के अफ़साने पर देहात सुधार के पम्फ़लिट का शुब्ह होने लगे।

आगे यह भी कहते हैं

> महज़ कहानी बयान कर लेना तो कोई ऐसा कमाल नहीं है जब तक उसमें एक इरादी सिफ़त, एक जंचा-तुला डिज़ाइन या नक़्शा मौजूद न हो।

प्रेमचंद के बारे में फ़ैज़ के इन ख़यालात से विरोध किया जा सकता है लेकिन यह बात बहरहाल दरमियान से निकलती है कि फ़ैज़ फ़िक्र के साथ-साथ फ़न के क़ायल थे। उनका ख़याल था कि फ़िक्र की पोख़्तगी के बग़ैर फ़न और फ़न के ज्ञान के बग़ैर फ़िक्र पूर्ण किरदार अदा नहीं कर सकते। साहित्य कोई भी हो वह प्रोपेगैंडा से अलग नहीं लेकिन हर प्रोपेगैन्डा साहित्य नहीं हो सकता। यह बात उन्होंने अपनी और दूसरों की शायरी के हवाले से भी बार-बार कही है और इसीलिए उन्हें प्रेमचंद की ख़ारज़ियत में फ़न का बिखराव नज़र आता है, जो ज़रूरी नहीं कि ठीक ही हो। फ़िक्शन की तमाम अहमियत के बावजूद उनका ख़याल है कि उसमें प्लाट, उसकी बनावट में बिखराव, ग़ैर ज़रूरी वार्तालाप और प्रोपेगैन्डे के दाख़िल हो जाने की संभावनाएं बनी रहती हैं लेकिन इन सब बहसों के बावजूद वह प्रेमचंद को एक समाजी और प्रजातंत्रात्मक नॉवेलनिगार मानते हैं और एतराज़ करते हैं कि उन्होंने अफ़सानवी अदब को सफ़ेदपोशों से निकाल कर चौपाल तक पहुंचाने का ऐतिहासिक काम अंजाम दिया है।

सरशार और शरर के अध्ययन में अगरचे ये समस्याएं नहीं हैं, इसलिए उनके विश्लेषण भी दिलचस्प और अर्थपूर्ण हैं। फ़ैज़, सरशार की नॉवेल निगारी का विश्लेषण शुरू में एक पाठक की हैसियत से करते हैं लेकिन धीरे-धीरे उनके अंदर का तारीख़ी और समाजी शऊर उन्हें उस युग के अवध में ले जाता है जो पतनशील है, जो एक परेशान और बेमक़सद ज़िंदगी के चौराहे पर खड़ा है, जहां से उनको कोई रास्ता सूझ नहीं रहा है। फ़ैज़ किस क़दर मज़े से लिखते हैं

> इस अफरात ओ तफ़रीत के बावजूद सरशार की तस्वीर में नवाबी के आख़री अह्द के बाद वो ख़ाल नुमायां और ज़िंदगी के मुताबिक़ हैं। पहली नज़र में यह दुनिया शोर ओ हंगामा, रौनक़ और गहमागहमी, राग-रंग, रक़्स ओ सुरूद, इश्क़ व मुहब्बत, रिंदी और बेफ़िक्री की दुनिया है। कहीं बेटेरों पर शर्तें बद रही हैं, पालियां हैं कि मैदाने जंग को मात करती हैं। कहीं मेलों-ठेलों का हुजूम हैं। कहीं शेर ओ शायरी की महफ़िल गर्म है। कहीं चांडू पिया जा रहा है। कहीं शादी-बयाह में तवायफ़ें आ रही हैं। मेहमानों में चुहलें हो रही हैं. ..नवाब, ओमरा (अमीर) शहसवार, बटेर बाज़, भटियारिनें, भांड ठिठोल, चोर गठकतरे, ओलमा, सूफ़ी, अफ़ीमची, कुमारबाज़, सब एक हमागीर बेमक़सद धकापेल में मसरूफ़ ओ मुनहमिक हैं।'

लेकिन जल्द ही फ़ैज़ का तारीख़ी शऊर उस नाज़ुक मोड़ की तरफ़ ले जाता है जहां से तस्वीर का दूसरा रुख़ नज़र आने लगता है और वह यह कहने पर मजबूर होते हैं

> सरशार ख़ूब जानते थे कि यह जगमग बुझती हुई शमा का आख़िरी संभाला है। यह रक़्से महफ़िल मौत का रक़्स है। ऐश ओ तरब महज़ यास और ख़ौफ़ से फ़रार का बहाना है। सरशार ने इसका इज़हार यूं किया है कि 'फ़सानए आज़ाद' के तमाम किरदार और उन किरदारों की तमाम सरगर्मियां महसूस और मौजूद होने के बावजूद क़तई ग़ैर हक़ीक़ी और ग़ैर वाक़ई मालूम होती हैं।

और फिर उनके अंदर का मार्क्सिस्ट आपने आपसे सवाल करता है

> किसी समाज या समाज के किसी तबक़ा में तनज्जुल (पतन) क्यों आता है और क्या सूरत अख़्तियार करता है। ग़ालेबन सबसे सीधी बात यह है कि जब माद्दी ज़राये में तरक़्क़ी हो जाने की वजह से दुनिया के एक़्तेसादी (आर्थिक) हालात बदलते हैं तो समाज को भी उनके साथ बदलना पड़ता है। लेकिन अगर कोई समाज या समाज का कोई तबका बदलने से इनकार कर दे या उस इंक़लाब का अह्ल न हो तो ज़िंदगी की रौ उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाती है...इस साकिन समाज के इर्द-गिर्द दुनिया का नक़्शा बदल जाता है।

> मोआशरत और तहज़ीब के सांचे नये ढाले जाते हैं लेकिन पसमांदा तबक़ा अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग चुनने में लगा रहता है...इस बेताल्लुक़ी का नतीजा यह होता है कि इस समाज में उस तबक़ा की सरगर्मियां व तदरीज ज़्यादा मोहमल, ज़्यादा बेमक़सद और ज़्यादा मोज़हकाख़ेज़ होती चली जाती हैं।'

इस ख़याल की बुनियाद पर वह लखनऊ के उन सारे तफ़रीही काम को एक सांचे में ढाल लेते हैं जहां एक गहरी बेइत्मीनानी, मायूसी और कभी-कभी क़रार के अलावा कुछ नज़र नहीं आता। सरशार के फ़सानों के साथ-साथ अवध की पतनशील सभ्यता का यह नक़्शा फ़ैज़ के समाजी, सियासी और इश्तेराकी विचार का आईनादार है जहां तारीख़ और सभ्यता की अपनी आर्थिक हालात एक नयी तहज़ीब को जन्म दे रही है लेकिन पुराने मौत के परदे के पीछे चालाकी से सिर्फ़ डुगडुगी बजा रहे हैं। फ़ैज़ ने सरशार के इस ज़ेहन को अपनी गिरफ़्त में ले लिया है जो कशमकश और शक का शिकार है और वह सब कुछ 'फ़सानए आज़ाद' में कहीं खोजी, कहीं आज़ाद और कहीं पूरे समाज के ज़रिये जलवागर होता है। सरशार को भी पुरानी दुनिया के जाने का ग़म है लेकिन उनकी ख़ूबी यह है कि नयी दुनिया का स्वागत भी करते चलते हैं। अगर एक तरफ़ बटेरबाज़ी है तो अख़बारात भी हैं। हुस्नआरा और सरवत है तो अंग्रेज़ी मिसें भी हैं। रेलें और मोटरें भी हैं। खोजी के बारे में उनका कहना है कि यह मज़ाकिया शख़्सियत पतनशील दरबारी तबक़े की आख़िरी मंज़िल है। इसी तरह वह आज़ाद को नये तबक़े का नुमाइंदा क़रार देते हैं और यह कहते हैं कि सरशार ने आज़ाद के ज़रिये यह कहना चाहा है कि यही वह तबक़ा है जो कुछ कर सकने का अहल है।

इसी तरह से शरर के नॉवेलों में भी उनकी राय तारीख़ के हवालों से दिलचस्प अंदाज़ में सामने आती है। शरर के यहां तारीख़ History है। Historicity वही जो ज़माने के साथ सफ़र करती है। लेकिन उनकी यह हिस्ट्री भी फ़ैज़ की निगाह में किसी एक बिंदु पर नहीं ठहरती। इसलिए कि शरर अपने नॉवेलों में जो तारीख़ी माहौल बनाते हैं वह उनकी ज़बान में न किसी दौर को समझने में मदद करती है और न ही किसी तारीख़ी शख़्सियत की कल्पना ज़ेहन में बैठती है। अलबत्ता एक दिलकश रूमानी फ़ज़ा ज़रूर क़ायम हो जाती है और यह फ़ज़ा अरब की हो सकती है और अफ़्रीका की भी, लेकिन वह शरर के नॉवेलों में उस दौर की समाजी तहज़ीबी ज़िंदगी और उसके बदलते हुए नक़्शे तलाश करना चाहते हैं जिसमें उनको मायूसी होती है और उसकी वजह से यह समझते हैं कि शरर समाजी फ़िक्र न रखते थे और न ही समाजी सरोकार रखते थे। वह अपने नॉवेलों में दो बादशाहों के दरमियान जंग तो दिखाते हैं लेकिन जहां तक अवाम और बाक़ी समाज का ताल्लुक़ है, शरर उनसे कोई वास्ता नहीं रखते। वह लिखते हैं

> ख़ालिस (शुद्ध) नॉवेलनवीसी के एतबार से शरर का रुतबा क्या है, इसका जवाब दिया जा चुका है। नॉवेल ज़िंदगी का चरबा होता है और शरर के नोवलों को ज़िंदगी से कुछ ज़्यादा ताल्लुक़ नहीं। इसकी बड़ी वजह यह है कि ज़िंदगी बहुत-सी छोटी-मोटी चीज़ों से मिलकर बनती है। इन सबका मुतालिबा करना, उनके बाहमी ताल्लुक़ात मालूम करना, अपनी-अपनी जगह पर बैठाना है, यह काफ़ी बारीक काम है और शरर बारीकियों से भागते हैं। मैं समझता हूं कि इनकी तहरीरों में सबसे बड़ा नुक़्स (ऐब) एक ख़ास क़िस्म की ज़ेहनी काहिली और सहल अंगारी है...

हालांकि ख़ुद फ़ैज़ इसको माफ़ कर देने की वजह भी निकाल लेते हैं कि शरर व्यस्त इनसान थे। वह एक साथ कई विभागों में काम करते थे। पत्रकारिता, सामाजिकता, मज़हब, साहित्य, तारीख़ सभी पर बराबर लिखते रहते थे और इन सब पर हावी सामाजिक सुधार, जिसके शिकार नज़ीर अहमद, शरर,

राशिदुलख़ैरी सभी थे ही। शरर को जहां भी अपनी क़ाबिलियत दिखाने का मौक़ा मिला अपने असरात (प्रभाव) छोड़ने में कामयाब हुए। नॉवेलों में 'अय्यामे अरब', 'फ़िरदौसे बरीं', 'ज़वाले बग़दाद' उनके अच्छे और कामयाब नॉवेल हैं। 'गुज़श्ता लखनऊ' भी एक यादगार किताब है। कुछ और चीज़ें भी हैं लेकिन फ़ैज़ इनका ज़िक्र नहीं करते। अपने पूरे लेख में 'फ़िरदौस बरीं' का नाम तक नहीं लाते जिसमें शेख़ अली वजूदी उस दौर के मज़हबी व्यवस्था और हुसैन उस दौर के नौजवानों की दीवानगी और पस्तहिम्मती की निशानी बनकर आते हैं। हुसैन तो 'ज़हरे इश्क़' के हीरो का विस्तार है जो ख़ुद कुछ नहीं सोच पाता और दीवानगी की हालत में उसका शोषण होता रहता है। यह अमल उस पूरी पतनशील व्यवस्था और मरदाना समाज की तरफ़ तलख़ और तीख़ा इशारा है जिससे उस दौर का समाज गुज़र रहा था। फ़ैज़ ने शरर के बारे में यह बात भी साफ़ तौर पर कही

> शरर नॉवेलनवीस नहीं क़िस्सागो हैं और क़िस्सागोई में उन्हें काफ़ी महारत हासिल है।

फ़ैज़ ने क़िस्सागोई और नॉवेलनवीसी के फ़र्क़ को अच्छी तरह से पेश किया है और इससे इनकार कर पाना मुश्किल है कि शरर वाक़ई क़िस्सागो ज़्यादा हैं, लेकिन वह नॉवेलनवीस थे ही नहीं, मज़बूती के साथ यह बात कहना शरर के साथ ज़्यादती है। कम लोग जानते हैं, और शायद फ़ैज़ के ज़ेहन में भी न होगा, कि शरर उर्दू के ऐसे नॉवेलनिगार हैं जिन्होंने पहली बार लफ़्ज़ नॉवेल का इस्तेमाल किया, अपनी क़िस्सानवीसी को बाक़ायदा नॉवेलनवीसी का नाम दिया, वरना उससे पहले नज़ीर अहमद वग़ैरह ने अपने नॉवेलों को नये तर्ज़ की क़िस्सानिगारी कहा है। शरर ने अपने रिसाले 'दिलगुदाज़' में नॉवेल विधा पर कई अच्छे लेख लिखे जिनमें नॉवेल विधा की अहमियत, मक़बूलियत और मक़सदियत पर अच्छी बहसें की हैं। यह बहसें उर्दू फ़िक्शन की आलोचना मे अपनी क़िस्म की पहली मानीख़ेज़ और कारआमद बहसें हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी के नॉवेल और तारीख़ी नॉवेल पढ़े थे। स्कॉट और ड्यूमा के तारीख़ी नॉवेलों को पढ़ने के बाद ही उन्हें उर्दू में तारीख़ी नॉवेल लिखने का ख़याल आया, वरना वह नज़ीर अहमद की तर्ज़ पर 'दिलचस्प' और 'दिलकश' जैसे समाजी नवेल लिख चुके थे जो ज़्यादा कामयाब न हुए थे। यह सच है कि उनके तारीख़ी नॉवेल रूमानी ज़्यादा हैं और उस रूमान पर भी एक ख़ास क़िस्म की मक़सदियत और खारज़ियत हावी रहती है जिससे नॉवेल की बनावट और उसका बरबाद नज़र आता है लेकिन यह भी न भूलना चाहिए कि शरर के सामने उर्दू में अच्छे नॉवेलों की मिसालें कम और समाजी ज़रूरतें ज़्यादा थीं। यह क्या कम बड़ी बात है कि जहां 'हुज्जते इस्लाम' जैसे पात्र समाज में हैं, वहां 'बदरुन्निसा की मुसीबत' जैसे नॉवेल में शरर परदे की सख़्त मुख़ालिफ़त (विरोध) करते हैं। 'ताहिरा' में मौलवी के पात्र की फक्कड़ी उड़ा कर मज़हबी व्यवस्था पर चोट करते हैं और 'ज़वाले बग़दाद' जैसा नॉवेल लिख कर लखनऊ के शिया-सुन्ने झगड़े पर गहरी चोट लगाते हैं। शरर फ़ौरन लिखने वाले थे और बहुत लिखते थे। उनकी लेखनी की भीड़ के बारे में फ़िराक़ ने दिलचस्प बात कही है

> शरर के नॉवेल आज ज़रा पुरानी चीज़ें मालूम होते हैं और उनकी तहरीर ज़्यादातर कल की बात मालूम होती है। हम प्रेमचंद के नॉवेलों और अफ़सानों और शरर के अफ़सानों से ज़्यादा मुतास्सिर हैं। लेकिन ज़रा यह तो सोचिए कि सरशार को छोड़कर शरर के हमउम्र और हम अस्र सैकड़ों नॉवेलनिगारों में आज किसका नाम ज़िंदा है। किरदार और मंज़र निगारी और तारीख़ी तख़य्युल की कुछ अहम ख़ामियों के बावजूद भी शरर के कई नॉवेल दिलफ़रेब, दिलकश और जानदार हैं। इसके अलावा सरशार के मुक़ाबले में शरर

के नॉवेलों का मंज़र कहीं ज़्यादा वसीअ है। एक सरशार पे क्या मौकूफ़ है उर्दू के किसी दूसरे नस्रनिगार ने इतने मौजूआत और इतनी चीज़ों को हाथ नहीं लगाया जिन पर शरर ने हज़ार सफ़हात लिख कर क़लम हाथ से डाल दिया...'

(अंदाज़े, पृ. 329)

ऐन मुमकिन है कि फ़िराक़ की यह मिसालें ग़ैर ज़रूरी सी लगें, लेकिन इनको पेश करने के दो मक़सद हैं पहला यह कि फ़िराक़ के लेख भी तक़रीबन उसी दौर में लिखे गये जब फ़ैज़ ने लिखे। फ़िराक़ फ़ैज़ से उम्र में बड़े ज़रूर थे लेकिन हालात और ज़माने के पेशे नज़र दोनों को समकालीन ही कहा जायेगा। दोनों अंग्रेज़ी के विद्यार्थी और अध्यापक थे। दोनों की आलोचना को व्यक्तिगत आलोचना के ख़ाने में लिया जाता है। फिर प्रेमचंद और शरर से संबंधित दोनों की रायों में इस क़दर दूरी और विरोध क्यों...? इस सवाल के जवाब की तलाश में फ़ैज़ और फ़िराक़ की बुनियादी फ़िक्र और तहज़ीब (सभ्यता) को समझना होगा। फ़िराक़ हिंदू थे और कायस्थ थे। कमउम्री में वालिद की मौत ने उन्हें तरह-तरह से बीमारियों और ज़िम्मेदारियों ने घेर लिया। वह हिंदू सभ्यता और संस्कृति के रसिया थे जिसने आगे चलकर उनकी रचनाओं को एक राह दी। ऐसा न था कि फ़िराक़ ने समाजवाद को पढ़ा और समझा न था, उनकी कविताओं और ख़तों में इसके प्रभाव बतौरे ख़ास दिखाई देते हैं, लेकिन वह समाजवाद की तरफ़ दिल से मायल न थे। इसके उल्टा फ़ैज़ मुस्लिम घराने की वजह से नहीं बल्कि ख़ुद अपने घर के विशेष मज़हबी माहौल की वजह से शुरू में तसव्वुफ़ से परिचित हुए। कहते हैं कि फ़ैज़ ने बचपन में ही आधे से ज़्यादा क़ुरआन याद कर लिया था और एक बार अल्लामा इक़बाल की अध्यक्षता में अंजुमने इस्लामिया सियालकोट के सालाना जलसे में क़ुरआन पाक पढ़ने का वाक़या उन्हें हमेशा याद रहा। ख़ुद लिखते हैं

मैं इतना छोटा था कि मुझे एक ऊंची मेज़ पर खड़ा कर दिया गया। जब मैं तिलावत (पढ़ना) कर चुका तो इक़बाल ने बड़े प्यार से सर पर हाथ फेरा और कहा कि तुम कितने ज़हीन बच्चे हो।

(हम कि ठहरे अजनबी)

कनाडा के एक इंटरव्यू में उन्होंने साफ़ कह दिया कि

मैं अपने आपको अदना तरीक़े से तसव्वुफ़ का पैरो समझता हूं। इस मस्लक पर थोड़ा बहुत इख़्तेलाफ़ हो सकता है...हमारी तो सारी की सारी तरबियत ख़ालिस दीनी माहौल में हुई और मेरी शायरी का मेरे ज़ेहनी अक़ायद से कोई तज़ाद नहीं है।

(अदबे लतीफ़ फ़ैज़ नंबर)

सूफ़ीवाद की दूसरी विशेषताओं के साथ-साथ एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वह दुनिया के कामों से ऊपर उठ कर अपनी बात हिम्मत के साथ कहना सिखाता है। मुमकिन है कि सादगी और निडरता से कहने का हुनर फ़ैज़ ने इसी माहौल से लिया हो।

फ़ैज़ जवान हुए। अंग्रेज़ी पढ़ी और अंग्रेज़ी के उस्ताद हो गये और फिर इश्क़ में गिरफ़्तार हुए। ठीक इन्हीं दिनों तरक़्क़ीपसंदी और समाजवाद का शोर बुलंद हुआ। महमूदुज्ज़फ़र और रशीद जहां ने इस आरज़ी इश्क़ पर शर्म दिलाई और मार्क्स की किताबें पढ़ने को दीं। फ़ैज़ के अनुसार

> यह किताब मैंने एक नशिस्त में पढ़ डाली बल्कि दो-तीन बार पढ़ी। इनसान और फ़ितरत, फ़र्द और मुआशरा, मुआशरा और तबक़ात और ज़राए पैदावार की तक़सीम...इनसानों की दुनिया के पेच दर पेच, तह दर तह रिश्ते नाते, क़द्रें, अक़ीदे, फ़िक्र वो अमल वग़ैरह-वग़ैरह के बारे में यूं महसूस हुआ कि किसी ने इस पूरे ख़ज़ीनए असरार को कुंजी हाथ में थमा दी।

इस तरह सूफ़ी फ़ैज़ के पेट से समाजवादी फ़ैज़ का जन्म हुआ। सूफ़ीवाद से लेकर मार्क्सवाद का यह सफ़र इन्हें अच्छा लगा और वह अपने आपको कामरेड समझने लगे, लेकिन उनका ख़याल अब भी था कि यह सूफ़ी लोग ही अस्ल कामरेड हैं। यह 1935-1936 ई. का वह ज़माना था जब इस्लामी चिंतक कहे जाने वाले उर्दू के महान शायर अल्लामा इक़बाल भी समाजवाद के रद्द व कबूल के रास्ते गुज़र चुके थे और इस तरफ़ मुब्बत और उम्मीद की निगाह से देख रहे थे। जोश इंक़लाब के नारे बुलंद कर रहे थे। हसरत मोहानी अपने आपको सूफ़ी मोमिन और समाजी मुस्लिम कहने पर फ़ख़्र महसूस कर रहे थे। और फिर इन सबके सामने नयी नस्ल, तरक़्क़ीपसंद नस्ल के तौर पर उभर कर आयी जो मग़रिब के तमाम सियासी और समाजी विचार और नज़रिया से बाख़बर थी, बाअमल थी। समाजी शऊर, सांस्कृतिक समझ, सामाजिक हवालों से अपने तमामतर जोश व जज़्बए हरकत वो हरारत के साथ सैलाब की तरह बह निकले थे। पूरे निज़ाम को हिला देने और आसमान से तारे नोच लेने की बातें सोची जाने लगी थीं और दुनिया से इस तरह से लड़ा जाने लगा था जैसे राबर्ट फ्रास्ट ने कहा था : 'मेरा और दुनिया का झगड़ा दो प्रेमियों का झगड़ा है।' दुनियावी और मुल्की हालात, नित नये नज़रियात और तजुर्बात नयी विधाएं एवं कलाएं और समाजी व इंक़लाबी रुझानात ने हयात वो कायनात को समझने-समझाने के तौर-तरीक़े ही बदल दिये थे। बक़ौल आले अहमद सुरूर

> शायर ज़िंदगी से मुहब्बत करता है और कभी-कभी ज़िंदगी के एक बुलंद तसव्वुर की ख़ातिर इसके सस्ते और कारोबारी तसव्वुर से लड़ता है। शायर के ख़्वाब महज ख़याली दुनिया की परछाइयां नहीं होते। इनमें गहरी और ताबिंदा हक़ीक़त की किरन होती है। इस किरन की ख़ातिर जुलमात से ही नहीं, सूरज से भी लड़ने को तैयार होता है। ज़िंदगी की बसीरत और एक दर्दमंद दिल यही शायर की दौलत हैं। यह बसीरत फ़ितरत से मिलती है, मगर इसमें जिला ज़िदगी के सोज़ वो साज़ दर्द के दाग़ से होती है।

मीर ने कहा था

ऐ आहूवाने काबा न एंडो हरम के गिर्द
खाओ किसी का तीर, किसी की शिकार हो।

इस पूरे पसमंज़र को पेश करने का मक़सद सिर्फ़ यह है कि फ़ैज़ के इन लेखों को, ख़ास तौर पर फ़िक्शन से मुताल्लिक़ लेखों को, इस माहौल, मिज़ाज, उम्र, ज़ेहन और जोश व जज़्बा से अलग करके नहीं देखा जा सकता। प्रेमचंद पर इनके ऐतराज़ात रौशनी के सूरज पर ऐतराज़ के बराबर हैं। इन लेखों में कबूल कम, रद्द ज़्यादा है। स्थानीयता कम, वैश्विकता ज़्यादा है। अशराफ़ियत कम, अवामियत ज़्यादा है। ख़ुद फ़ैज़ ने भी भूमिका में कहा है

> इनमें सुख़न ओलमा (विद्वानों) से नहीं, आम पढ़ने वालों से है जो अदब के बारे में कुछ जानना चाहते हैं।

फ़िक्शन के इन लेखों में आप फ़ैज़ के नापोख़्ता फ़ैसलों से मतभेद कर सकते हैं लेकिन उनके शौक़े मोतालआ (अध्ययन), इल्म की प्यास, निज़ामे दुनिया को समझने की जो ललक है, इनसानी व दुनियावी क़द्र व फ़िक्र में घुलने-मिलने का जो फ़िक्री व फ़ितरी जज़्बा है, उससे इंकार नहीं कर सकते। यह क्या कम है कि उर्दू का एक शायर जिसकी परवरिश शायराना व सूफ़ियाना माहौल में हुई, दास्तान, नॉवेल, सरशार, शरर, प्रेमचंद जैसे बुज़ुर्गों के लेखनी से रचे गये साहित्य को पढ़ रहा है, इस दुनिया के पेच ओ ख़म और कैफ़ ओ कम को समझने की कोशिश कर रहा है। इसके विषय, पात्रों, शैली सबके सब उसके पढ़ने का ही नहीं उसके चिंतन का हिस्सा बनते हैं। यह बिल्कुल मुमकिन है फ़ैज़ की इनकी क्लासिकी रूमानियत, नयी मक़सदियत को नया रूप देने में और उसके नफ़्स (आत्मा) को सभ्य करने में ये कृतियां मददगार साबित हुई हो।

एहतेशाम हुसैन ने फ़ैज़ पर ही लेख लिखते हुए कहा था कि फ़िक्र की यह रियाज़त मश्के सोख़न से कम तहज़ीबे नफ़्स से ज़्यादा पैदा होती है और फ़ैज़ के मोहज़्ज़ब, मुनज़्ज़िम, मुरत्तिब होने से किसे इंकार हो सकता है। इसीलिए कुछ लोग इन्हें सूफ़ी मुस्लिम और कुछ इन्हें समाजवादी मुस्लिम कहते हैं।

फ़ैज़ के गायक

सुहैल हाशमी

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की लोकप्रियता और उनकी शायरी के चाहने वालों की लगातार बढ़ती हुई तादाद का राज़ समझना कोई बहुत मुश्किल नहीं है। फ़ैज़ के बचपन का माहौल, उनके उस्ताद, फ़ैज़ के ख़यालात, उनके नज़रिये पर आज़ादी की तहरीक और बायें बाजू के ख़यालात का गहरा असर, फ़ैज़ की शायरी में समाज की बुनियादी सच्चाइयों का प्रतिबिंबन और मक़बूल संगीतकारों और गायकों का इस शायर को हाथोंहाथ लेना, वे बुनियादी चीज़ें हैं जिन्होंने मिल कर फ़ैज़ को बीसवीं सदी के सबसे लोकप्रिय शायरों और अदीबों की पहली क़तार में खड़ा किया है।

फ़ैज़ के परिवार में साहित्य को पढ़ना और उसके बारे में बातचीत करना इतना ही ज़रूरी था जितना ज़िदगी के दूसरे अहम काम करना। उर्दू, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी अदब से दिलचस्पी जो बचपन से घुट्टी में मिली थी, फ़ैज़ के साथ हमेशा रही। उन्होंने इन ज़बानों को कॉलेज और यूनिवर्सिटी के स्तर तक पढ़ा, और यही वजह है कि फ़ैज़ की शायरी की ज़बान इतनी समृद्ध है कि जितनी ग़ालिब और इक़बाल के बाद बहुत कम शायरों की है। अदब और शायरी का शौक़, घर के अदबी माहौल और बहुत से अच्छे उस्तादों की सरपरस्ती में जल्द ही उन्हें शायरी की तरफ़ ले गया।

शायद फ़ैज़ भी अपने काल के कई दूसरे शायरों की तरह, शमा, परवाना, गुलोबुलबुल, सैयाद, इश्क, विसाल और हिज्र के शायर ही रह जाते अगर जवानी के दिनों में उनकी मुलाक़ात तहरीके आज़ादी से जुड़े हुए उन अदीबों और दानिश्वरों से न हो जाती जिनका ताल्लुक़ या तो सीधा सीधा कम्युनिस्ट तहरीक से था, या उन लोगों से जो बायें बाजू के ख़यालात रखते थे।

इस ताल्लुक़ की वजह से, रोज़ होने वाली बहसों के कारण, दुनिया को एक नये नज़रिये से देखने की शुरुआत ने फ़ैज़ की शायरी पर बहुत असर डाला। फ़ैज़ की शायरी ने, जो अभी अपने शुरुआती दौर में ही थी, बड़ी तेज़ी से अपनी शक़्ल बदली और वह अब व्यक्तिगत सरोकारों के बजाय सामूहिक या सामाजिक सरोकारों की शायरी में तब्दील होने लगी। वह नया नज़रिया जो अब फ़ैज़ की शायरी का नज़रिया बन चुका था उसने फ़ैज़ को समाज में फ़नकार के मक़ाम और उसके फ़राइज़ के बारे में सोचने की तरफ़ प्रेरित किया । 1936 में अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की बुनियाद पड़ी और फ़ैज़ उसकी पंजाब सूबाई कमेटी के सेक्रेटरी चुने गये।

फ़ैज़ की शायरी का पहला संकलन *नक़्शे फ़रियादी* 1941 में छपा, और नूरजहां ने, जो उस वक़्त की सबसे मशहूर गायिका थीं, फ़ैज़ साहब से इजाज़त मांगी कि वे संकलन की एक नज़्म 'मुझ से पहली

सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग' गाना चाहती हैं। कहा जाता है कि वे इस नज़्म को सबसे पहले गाना चाहती थीं, फ़ैज़ साहब से इजाज़त मिलने के बाद उन्होंने जल्द ही इसे गाया और जल्द ही फ़ैज़ साहब को सुनाया भी, क़िस्सा मशहूर है कि फ़ैज़ साहब ने कहा कि आज से यह ग़ज़ल हमारी नहीं आपकी हो गयी। अब अगर इस कहानी में वक़्त का जो पैमाना दिया गया है उसके मुताबिक़ ये वाक़या 1943 में या हद से हद 1944 में हुआ होगा, उस रिकार्डिंग की सही तारीख़ तो पता नहीं, पर क़िस्सा दिलचस्प है और उस खलबली की तरफ़ इशारा भी करता है जो, *नक़्शे फ़रियादी* के छपने के साथ, उर्दू शायरी को समझने वालों के दिलोदिमाग़ में चल रही थी।

नूरजहां की अवाज़ में जब ये नज़्म अवाम तक पहुंची तो सब ने सुनी। नूरजहां जो मल्लिका-ए-तरन्नुम कहलाती थीं '40 के दशक में और उसके बाद भी लंबे अरसे तक ग़ज़ल और गीत गाने वालियों में सुपरस्टार थीं।

फ़ैज़ की शायरी एक नयी तर्ज़ की शायरी थी, एक ऐसी शायरी जो उर्दू शायरी की रवायती ज़बान का इस्तेमाल करते हुए एक नयी बात कह रही थी, कुछ इस अंदाज़ से कि उस रवायती ज़बान और शायरी के रवायती मुहावरे को नये अर्थ मिल रहे थे। अंजुमन तरक्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन से जुड़े हुए बहुत से दूसरे शायर जो ग़ज़ल के मैदान को सीमित और नये ख़यालों के इज़हार के लिए नाकाफ़ी समझ रहे थे, उन्हें यह एहसास होने लगा कि ग़ज़ल में अभी गुंजाइश है। यह एहसास बहुत हद तक फ़ैज़ की शायरी की देन है। ग़ज़ल के मैदान में जो काम फ़ैज़ ने किया है वह काफ़ी हद तक तरक्क़ीपसंद शायरी में ग़ज़ल को दोबारा इज़्ज़त का मुक़ाम दिलाने के लिए ज़िम्मेदार है और फ़ैज़ को ग़ैरमामूली हर-दिल-अज़ीज़ बनाने में भी।

नूरजहां की गायी हुई इस नज़्म में जो बात कही गयी थी वह शायद उर्दू शायरी में पहले नहीं कही गायी थी, कम से कम इतने साफ़ अंदाज़ में तो नहीं कही गयी होगी। प्यार करने वाला अपनी महबूबा से कहता है :

> और भी दुख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
> राहतें और भी हैं, वस्ल की राहत के सिवा
> मुझसे पहले सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग।

सुनने वालों में और सुनने की ख़्वाहिश जागी, फ़ैज़ की सियासी ज़िंदगी के लगातार उतार-चढ़ाव, अपने ख़यालों, अपने नज़रियात पर क़ायम रहने की उनकी तर्ज़, मद्धम मद्धम सुरों में मगर साफ़ आवाज़ में बिना लाग लपेट के अपनी बात कहना, बार बार लंबी लंबी सज़ाएं काटना और हर बार जेल से निकलते ही अपनी शायरी का एक और मजमुआ अवाम के सामने ले आना, ऐसी बातें थीं जिनकी वजह से अवाम में उनकी मक़बूलियत लगातार बढ़ रही थी।

हिंदोपाक में अवाम के जो हालात थे, एक तरफ़ ज़िंदा रहने की रोज़ की जद्दोजहद और दूसरी तरफ़ अवाम की तकलीफ़ों से हुक्मरानों की बेनियाज़ी, उनमें फ़ैज़ की शायरी अवाम के गुस्से और बेचैनी का आईना बन कर उभर रही थी। हिंदुस्तान और पाकिस्तान के गाने वालों ने फ़ैज़ की शायरी को अवाम तक, ख़ासतौर पर उन लोगों तक पहुंचाया जो या तो उर्दू पढ़ नहीं सकते थे या जिनकी यह औक़ात ही नहीं थी कि किताबें ख़रीद सकें।

बेगम अख़्तर ने बहुत ख़ूबसूरत ढंग से 'शाम-ए-फ़िराक़ अब न पूछ' गायी और मेहदी हसन ने 'गुलों में रंग भरे' को इस तरह गाया कि फ़ैज़ साहब ने एक बार दिल्ली में उस ग़ज़ल को सुनाने की फ़रमाइश पर कहा, 'भई वो तो हमने मेहदी हसन को दे दी है, अब उन से ही सुन लीजिएगा।' फ़ैज़ की कई ग़ज़लें मेहदी हसन ने गायीं। मगर वे लोग जिन्हें फ़ैज़ के हर शेर के सियासी संदेश में उनकी शायरी के ज़ाहिरी मतलब से ज़्यादा दिलचस्पी होती थी, और फ़ैज़ के चाहने वालों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत बड़ी होती थी, उन्हें मेहदी हसन के गाने का अंदाज़ ज़्यादा मीठा लगता था। इतने मीठे ढंग से फ़ैज़ को गाना कि उनकी शायरी का असल मक़सद ही धुंधला हो जाये, ज़ाहिर है उनके कुछ ख़ास काम का नहीं था, जो फ़ैज़ की शायरी को अवाम की जद्दोजहद में, नुक्कड़ नाटकों में, सियासी जलसों में, मज़दूरों के जुलूसों में, वियतनाम के लड़ाकू अवाम की हमदर्दी में किये जाने वाले धरनों में गाते थे, और मौक़ों पर, विनोद नागपाल ने, सफ़दर ने, काजल घोष ने, इप्टा ने, जन नाट्य मंच ने और बहुत सारे अन्य लोगों ने फ़ैज़ की शायरी को अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ नयी धुनों में ढाला और गाया।

यही वह दौर था जिसमें पाकिस्तान में गाने वालों की एक नयी पीढ़ी ने फ़ैज़ को गाना शुरू किया और इनमें इक़बाल बानो, फ़रीदा ख़ानम, टीना सानी, नायरा नूर के नाम सब से आगे आते हैं। फ़ैज़ को गाने वालों की यह वह पीढ़ी है जिसने फ़ैज़ की शायरी को गाने की शुरुआत की, जिसके सियासी तेवर सब से तीखे हैं, जैसे 'हम देखेंगे', 'ईरानी तुल्बा के नाम', 'इंतेसाब' वग़ैरह, इसी दौर में फ़ैज़ की आज़ाद शायरी जैसे 'तुम मेरे पास रहो' को गाने की शुरुआत हुई।

इस पीढ़ी के गाने वाले वालों में नायरा नूर की आवाज़ सबसे ज़्यादा सुरीली और मीठी है, और शायद यही वजह है कि मेहदी हसन की तरह नायरा नूर की आवाज़ भी उस तेवर की शायरी को रास नहीं आती जिस तेवर की शायरी फ़ैज़ साहब करते थे। इसके बावजूद कि फ़रीदा ख़ानम ने फ़ैज़ साहब की चंद ग़ज़लें, ख़ास तौर पर, 'न गंवाओ नाविके नीमकश' बहुत ख़ूबसूरत ढंग से अदा की हैं, इस दौर के गाने वालों में इक़बाल बानो का नाम सबसे ऊपर आता है, जिस वक़्त पाकिस्तान पर ज़ियाउल हक़ की तानाशाही थी। फ़ैज़ साहब पाकिस्तान आ नहीं सकते थे और उनकी शायरी गाना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। ऐसे वक़्त फ़ैज़ के जन्मदिन पर लाहौर में एक आम मीटिंग में इक़बाल बानो ने जो नज़्म गायी, उस वक़्त जो समां था उसका अंदाज़ा उस मीटिंग की वीडियो रिकार्डिंग सुन कर ही लगाया जा सकता है। हर शेर पर इंक़लाब ज़िंदाबाद के नारे लग रहे थे, हज़ारों लोग तालियां बजा रहे थे और इक़बाल बानो के साथ गा रहे थे।

अच्छी शायरी, ऐसी शायरी जो अवाम की ख़्वाहिशों का आईना हो, कितना जादुई हो सकती है अगर उसे उस ढंग से गाया जाये जिस ढंग की अदायगी की उसे ज़रूरत है। इसकी बेहतरीन मिसाल फ़ैज़ मेले में इक़बाल बानो की गायी हुई वह नज़्म है।

अभी फ़ैज़ की बहुत सारी शायरी को गाया जाना बाक़ी है, और फ़ैज़ की बहुत सी शायरी को दोबारा बदलते हुए वक़्त की ज़रूरतों के मुताबिक़ गाया जाना भी ज़रूरी है। फ़ैज़ की शायरी, ग़ालिब की शायरी की तरह, हर अच्छी शायरी की तरह, हर वक़्त के लिए नये अर्थ लेकर आती है। फ़ैज़ की शायरी तो कई सौ साल तक गायी जायेगी, उसके बारे में लिखने के वक़्त की तो अभी शुरुआत हुई है।

फ़ैज़ की ग़ज़लों-नज़्मों की गायिकाएं

फ़ैज़ के प्रति

रोशनी की आवाज़

(1988 के दिसंबर में कराची में पढ़ी गयी कविता)

देवी प्रसाद त्रिपाठी

लोग कहते हैं कि प्रकाश में आवाज़ नहीं होती
लेकिन फ़ैज़ की आवाज़ में एक अद्‌भुत रोशनी है
फ़ैज़ का जीवन एक प्रकाशपर्व है
फ़ैज़ आकाश की तरह उदार
समुद्र की तरह चेतन
धरती की तरह सुंदर हैं

वे हमेशा प्रेम से क्रांति की तरफ जाते हैं
कूए-यार से सूए-दार की तरफ़
क्रांति असल में इंसान की मुहब्बत है
फ़ैज़ हमेशा यही कहते हैं।

फ़ैज़ को समर्पित एक ग़ज़ल

नसीम अजमल

गुलों की बात करो ज़िक्र-ए-ज़ुल्फ़-ए-यार चले।
ख़िज़ां के दौर में अफ़साना-ए-बहार चले।

खिलें जो रौज़न-ए-ज़िंदां में याद की कलियां।
तो रंग भरती हुई बाद-ए-इत्र बार चले।

हज़ार पैकर-ए-गुल थे मियान-ए-सहन-ए-चमन।
तेरी अदा पे मगर जिस्म-ओ-जान वार चले।

तेरे फ़िराक़ में जोश-ए-जुनूं से दीवाने
रिवायतों की क़बा कर के तार-तार चले।

तुम्हीं से मौसम-ए-गुल है तुम्हीं से रंग-ए-चमन
न तुम हो साथ तो क्या मौसम-ए-बहार चले।

दहान-ए-ज़ख़्म से अबतक लहू टपकता है
ज़माना बीता है वायदों की जुलफ़िक़ार चले।

फिर आज होना है उनको क़तील-ए-ग़मज़ाओ नाज़
दिलों में लेके जो सरमस्ति-ए-बहार चले।

तेरे बदन की महक से फ़ज़ाए-रंग-ए-ग़जल
बहुत हसीन बहुत करके खुशगवार चले।

मेरे ख़याल को खूशबू चुरा नहीं सकती
नसीम गुलशन-ए-हस्ती में लाख बार चले।

अजीब ख़्वाहिश-ए-दीद-ए-बहार थी 'अजमल'
बहार आते ही दीवाना-ए-बहार चले।

फोन : 011-42773635

फ़ैज़ : जीवन-वृत्त

1911 जन्म, 13 फ़रवरी, गांव काला कादर, सियालकोट (पंजाब, पाकिस्तान में)
1914 *क़ुरान* कंठस्थ किया (पहले दो पारे)
1916 उर्दू-फ़ारसी-अरबी की प्रारंभिक शिक्षा
1921 स्कूल में भर्ती
1927 मैट्रिक पास किया (फ़र्स्ट डिवीज़न)
1928 पहली ग़ज़ल कही
1929 इंटरमीडिएट पास किया
1929 पहली नज़्म कही
1931 बी.ए., बी.ए. ऑनर्स (अरबी) किया
1933 एम.ए. पास किया (अंग्रेज़ी में)
1934 पहला लेख प्रकाशित
1934 अरबी में एम.ए. (फ़र्स्ट डिवीज़न)
1935 अंग्रेज़ी के प्राध्यापक हुए (एम.ए.ओ. कॉलेज, अमृतसर)
1936 पंजाब प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना
1938 *अदबे-लतीफ़* (लाहौर) का संपादन, रेडियो के लिए नाटक लिखे
1940 प्राध्यापक, हेली कॉलेज, लाहौर
1941 शादी, एलिस जॉर्ज से (नया नाम कुल्सूम)
1941 *नक़्शे-फ़रियादी* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1942 ब्रिटिश इंडियन आर्मी में कैप्टेन
1942 पहली बेटी सलीमा का जन्म
1943 मेजर के पद पर पदोन्नत
1944 कर्नल के पद पर पदोन्नत
1945 दूसरी बेटी मुनीज़ा का जन्म
1946 एम.बी.ई.
1947 आर्मी से इस्तीफ़ा दिया
1947 *पाकिस्तान टाइम्स* और दैनिक *इमरोज़* और साप्ताहिक *लैलो-निहार* का संपादन
1948 सैन्फ़्रांसिस्को की यात्रा

1949 जिनेवा की यात्रा
1951 रावलपिंडी षड्यंत्र केस में गिरफ़्तारी और जेल
1952 *दस्ते-सबा* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1953 मार्च 1955 तक सरगोधा, लायलपुर और मंटगोमरी जेल में
1955 जेल से रिहाई
1956 चीन की यात्रा
1956 *ज़िंदांनामा* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1957 बंबई की यात्रा
1958 सेफ़्टी एक्ट के तहत दुबारा गिरफ़्तारी और जेल
1958 पहली बार फ़िल्मी गाने लिखे
1958 अफ़्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन के लिए ताश्क़ंद की यात्रा
1962 ब्रिटेन, सोवियत संघ, हंगरी, क्यूबा, लेबनान, अल्जीरिया, मिस्र की यात्रा
1962 लेनिन शांति पुरस्कार से सम्मानित
1962 *मीज़ान* (लेखों का संग्रह) प्रकाशित
1964 प्रिंसिपल, अब्दुल्ला हारून कॉलेज, कराची
1964 *दस्ते-तहे-संग* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1968 इदारए-यादगारे-ग़ालिब क़ायम किया
1968 *नक़्शे-फ़रियादी* का दसवां संस्करण
1968 *दस्ते-सबा* का दसवां संस्करण
1968 सोवियत संघ की यात्रा
1969 ग़ालिब-शती समारोह का सफल आयोजन किया
1971 फ़ैज़ की साठवीं सालगिरह मनायी गयी
1971 *सरे-वादिए-सीना* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1971 *सलीबें मेरे दरीचे में* (जेल से एलिस फ़ैज़ के नाम लिखे पत्रों का संग्रह) प्रकाशित
1972 *सरे-वादिए-सीना* का दूसरा संस्करण
1972 अध्यक्ष, राष्ट्रीय कला-परिषद, पाकिस्तान
1973 अल्मा-अता (सोवियत संघ) में अफ़्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन में शामिल हुए
1973 फ़िलिपाइन की यात्रा
1973 इंडोनेशिया की यात्रा
1973 *मताए-लौहो-क़लम** प्रकाशित
1974 *सफ़रनाम-ए-क्यूबा*
1976 *हमारी क़ौमी सक़ाफ़त* प्रकाशित

---

* इसमें फ़ैज़ के चुने हुए भाषण, लेख, इंटरव्यू, भूमिकाएं, पत्र आदि, रेडियो और टेलीविज़न से प्रसारित सामग्री और चार नाटक संकलित हैं. अंत में फ़ैज़ से संबंधित चार विशिष्ट लेख हैं.

1978 *शामे-शहरे-यारां* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1978 कनाडा, हवाई और मास्को की यात्रा
1978 लुआंडा (अंगोला) में अफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन में भाग लिया
1978 अफ्रो-एशियाई लेखक संघ के मुखपत्र *लोटस* (बग़दाद) का संपादन-दायित्व संभाला।
1980 पाकिस्तान में 'जश्ने फ़ैज़'
1979 *फ़ैज़* नाम से शमशेर बहादुर सिंह ने फ़ैज़ पर पुस्तक का संकलन-संपादन किया।
1980 *महो-साले-आशनाई* (लेखों का संग्रह) प्रकाशित
1980 नयी दिल्ली में 'जश्ने फ़ैज़'
1981 *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर* (कविता-संग्रह) प्रकाशित
1982 *कलाम-ए-फ़ैज़* प्रकाशित
1984 *सारे सुख़न हमारे* (फ़ैज़ समग्र) लंदन से प्रकाशित
1984 *नुस्ख़हा-ए-वफ़ा* (फ़ैज़ समग्र) पाकिस्तान से प्रकाशित
1984 20 नवंबर को लाहौर में निधन
1986 *नुस्ख़ा-ए-वफ़ा* देहली से प्रकाशित
1987 1987 में *सारे सुख़न हमारे* हिंदी में अब्दुल बिस्मिल्लाह के संपादन में प्रकाशित
1990 द एविसेना एवार्ड (मरणोपरांत)
1990 निशाने-इम्तियाऩ (पाकिस्तान सर्वोच्च नागरिक सम्मान) (मरणोपरांत)
2002 *फ़ैज़ अहमद फ़ैज़* की शायरी पुस्तक में प्रकाशित, संपादन शमीम हनफ़ी